नाट्यम् 109-110

कालिदास विशेषांक

नाट्यम्

109–110
(अप्रैल 2024–सितम्बर 2024)

कालिदास नाट्य–विशेषांक

ISSN : 2229-5550, UGC Care Listed Journal

संरक्षक
नीलिमा गुप्ता
कुलपति

संस्थापक
राधावल्लभ त्रिपाठी

संपादक
आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

प्रबन्ध संपादक
सञ्जय कुमार

संपादक मण्डल
नौनिहाल गौतम, रामहेत गौतम
शशिकुमार सिंह, किरण आर्या

प्रकाशक
नाट्य परिषद्, संस्कृत-विभाग
डाक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय) सागर, (म.प्र.)

नाट्यम् **109-110, अप्रैल 2024-सितम्बर 2024**
रंगमंच एवं सौन्दर्यशास्त्र की पूर्वसमीक्षित त्रैमासिक शोधपत्रिका

ISSN : 2229-5550
UGC Care Listed Journal, S.N.17
नाट्य परिषद् **(पंजीकरण क्र. 100066)**
संस्कृत-विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, (म.प्र.)
दूरभाष-फैक्स (कार्यालय) 07582-264366 पिन-470 003

Natyam : A Quarterly Journal of theatre and aesthetics
published by Natya Parisad. Deptt. of Sanskrit,
Doctor Harisingh Gour University, Sagar,
Madhya Pradesh-Pin-470 003. India.
Phone-Fax (off.) : 07582-297149

सदस्यता शुल्क :
विशेषांक - 500/- रु.
प्रत्येक अंक - 200/- रु., वार्षिक - 800/- रु.
वार्षिक सदस्यता व्यक्तिगत - 2000/- रु.
पांच वर्षीय सदस्यता (संस्थागत) - 5000/- रु.
इस अंक का मूल्य - 200/- रु.

यह शुल्क ऑनलाइन मनीआर्डर, चेक या नगद दिया जा सकता है
जो भारतीय स्टेट बैंक नाट्य परिषद्, संस्कृत-विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर के नाम देय होगा।

पत्रव्यवहार :
प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, (म.प्र.) 470003
e-mail : sanskritsagar1946@gmail.com
natyamsagar@gmail.com
07582297149 Mob : +919425656284

© सर्वाधिकार सुरक्षित
आवरण चित्र - राजा रविवर्मा

मुद्रण : अजय जैन, **अमन प्रकाशन** नमक मंडी,
कटरा, सागर (म.प्र.) मो. 9826434225

नाट्यम् में प्रकाशित नाटकों के अनुवादों/रूपान्तरों या किसी भी अन्य सामग्री की किसी भी रूप में प्रस्तुति के लिए *नाट्य परिषद्* से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति अथवा विचारों से *नाट्य परिषद्*, संपादक या संपादक मंडल की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय

संस्कृत के कविशिरोमणि और नाट्यशिल्पी कालिदास के नाट्यसाहित्य से संपूर्ण भारतीय मनीषा प्रभावित है। वैश्विक स्तर पर उनके नाटकों ने जो जगह बनाई है वह उनकी प्रतिभा और चिंतन का उत्कर्ष कहा जायेगा। भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य विशेषज्ञों के द्वारा 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को कालिदास की महानतम नाट्यकृति कहा गया है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और उसमें भी शकुंतला के व्यक्तित्व का तुलनात्मक मूल्यांकन शेक्सपियर कृत 'टेम्पेस्ट' नाटक की नायिका मिरांडा से किया है और शकुंतला को मिरांडा से श्रेष्ठ स्त्री चरित्र स्वीकार किया है। बहुत सुखद है कि अनेक विश्वस्तरीय रचनाकारों ने शकुंतला के व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुए उसे कालिदास की अनमोल चरित्र सृष्टि बताया है। कहा भी गया है - ''काव्येषु नाटकं रम्यं,तत्र रम्या शकुंतला।''

वास्तव में कालिदास ने पौराणिक कथानकों को नया अर्थगौरव देकर उसे अपने युग- संदर्भ के अनुकूल बनाया है। उनकी नाट्यकृतियों को पढ़ते हुए हम एक ऐसे युग-परिवेश को संवेदना के उच्च धरातल पर जीने लगते हैं कि वहां हमारे युग के अनेक जीवित संदर्भ और समयानुकूल प्रश्न उभर आते हैं। सच कहें तो कालिदास का चिंतन युगों तक भारतीय समाज और संस्कृति को प्रेरणा प्रदान करने वाला है। उनके तीन नाटकों-'मालविकाग्निमित्रम्', 'विक्रमोर्वशीयम्' और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में उदात्त प्रेम उत्कर्ष- स्थिति को प्राप्त हुआ है। सत्य की प्रतिष्ठा के साथ समाज के आदर्श की खोज कालिदास के नाटकों का लक्ष्य रहा है। वे अपने युग की चेतना को नव स्वर, नव छंद और नव लय प्रदान करते हैं। अपने नाटकों की नायिकाओं के व्यक्तित्व में न्याय का रंग, नया ओज, नयी ऊर्जा भरते हुए कालिदास स्त्री की अस्मिता को प्रतिष्ठित करने में सफल रहे हैं। उनके नाटकों की स्त्रियां अपने प्रेम एवं प्रतिरोध की आभा से जन-मन को आलोकित करने में समर्थ हैं। नाटककार ने पौराणिकता के भाव-प्रभाव से सर्वथा मुक्त होकर उन्हें समसामयिक जीवन-मूल्यों से संवलित किया है। कालिदास नाट्य-शिल्प की बारीकियों को भी बखूबी जानते हैं। सौंदर्य का मनोरम और टटका बिम्ब-विधान कालिदास के द्वारा ही संभव हो सका है। भाषिक सौंदर्य, काव्यगुण, उपमाएं, सूक्तियां आदि की रचना कवि के व्यापक जीवन-दर्शन का प्रतिफलन है।

कालिदास की व्यापक संवेदना के अंतर्गत समाज, संस्कृति, अध्यात्म, प्रकृति, ज्ञान-विज्ञान, राष्ट्रप्रेम, धर्म, अर्थ, कला, प्रेम-सौन्दर्य, स्त्री आदि विविध संदर्भ समाहित है। संस्कृत ही नहीं, भारतीय भाषाओं के नाट्य साहित्य पर कालिदास के नाटकों का गहरा प्रभाव पड़ा। वस्तुतः कालिदास भारत की आत्मा का संस्पर्श करने वाले महान् रचनाकार हैं।

'नाट्म्' पत्रिका का प्रस्तुत अंक कालिदास के नाट्य साहित्य पर केन्द्रित है, जिसमें उनचास विद्वानों के लेख संग्रहीत हैं। इन लेखों में कालिदास के नाटकों के बहुविध पक्षों का गंभीर और तात्त्विक मूल्यांकन किया गया है। प्रायः सभी लेखकों ने परिश्रमपूर्वक नवीन दृष्टि से लेख प्रस्तुत किया है। इस मूल्यांकन से कालिदास के नाट्यसाहित्य के संदर्भ में विचारों के नये गवाक्ष भी खुलते हैं।

अंत में मैं 'नाट्यम्' पत्रिका के कालिदास नाट्य-विशेषांक में शामिल उन सभी लेखकों को हृदय से धन्यवाद देता हूं जिन्होंने शोध लेख लिखकर हमारा रचनात्मक सहयोग किया। प्रबंध संपादक डॉ. संजय कुमार की अकादमिक सक्रियता और लेखकों से संपर्क और सहयोग से प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई। एतदर्थ उन्हें बहुत धन्यवाद! विभागीय शिक्षकों के सहयोग से पत्रिका समय पर प्रकाशित हुई, इस हेतु मैं उन सभी के प्रति कृतज्ञ हूं।

आशा है कि 'नाट्यम' पत्रिका का कालिदास नाट्य-विशेषांक विद्वानों, शोधार्थियों, साहित्य प्रेमियों को पसंद आयेगा।

आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

अनुक्रम

सम्पादकीय

1. **कालिदास का नाट्य साहित्य : महानता के आयाम** 09
आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

2. **कालिदास के रूपकों पर वेदों का प्रभाव** 18
संगीता दास

3. **गृह्यसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में कालिदास के रूपकों का अवलोकन** 23
शिल्पा सिंह

4. **वैदिक वाङ्मय में कालिदास के अष्टमूर्ति शिवतत्त्व का चिन्तन** 27
कपिलदेव हरिकृष्ण शास्त्री

5. **कालिदास के रूपकों में प्रतिपादित शिवभक्ति** 34
रञ्जनलता

6. **कालिदास के रूपकों में आयुर्वेदिक तत्त्व** 40
राजकिशोर आर्य

7. **कालिदास के रूपकों में जीवन दर्शन** 46
चन्दनलाल गुप्ता

8. **कालिदास के रूपकों में भारतीय संस्कृति** 52
श्रीलेखा चौबे

9. **कालिदास के रूपकों में वर्णाश्रम व्यवस्था** 59
ऋचा मुक्ता

10. **कालिदास के रूपकों में स्त्री** 66
शालिनी

11. **कालिदास के रूपकों में नारी व प्रेम सौन्दर्य** 72
स्मिता दुबे

12. **कालिदास के रूपकों में स्त्रियों की दशा व दिशा** 76
मिन्टु मण्डल

13. **कालिदास के रूपकों में शिष्टाचार तत्त्व** 81
सर्वेन्द्र कुमार

14. **कालिदास के रूपकों में वर्णित दौत्यकर्म** 86
शुभ्रजित् सेन

15. **कालिदास के रूपकों में राष्ट्रीय चेतना** 91
प्रवीन कुमारी

16. **कालिदास के रूपकों में जनचेतना** 96
निकिता यादव

17. **कालिदास के दृश्य-काव्यों में शकुन-अपशकुन** 99
बाबूलाल मीना

18. **मालविकाग्निमित्रम् में हाशिये के लोग** 103
रामहेत गौतम

19. **मालविकाग्निमित्रम् का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण** 108
रश्मि यादव

20. **विक्रमोर्वशीयम् में धर्म विषयक मान्यताएं** 115
उष्मा यादव एवं विष्णुकान्त त्रिपाठी

21. **कालिदास के नाटकों में पर्यावरण संरक्षण** 120
सुशान्त कुमार पाण्डेय

22. **कालिदास के रूपकों में अर्थमीमांसा** 125
गट्टुलाल पाटीदार, रिपन कुमार

23. **कालिदास के नाटकों में प्रतिभासित कृषि विज्ञान** 134
अनिन्ध्य चौधुरी

24. **कालिदास के नाटकों में शैक्षिक तत्त्व** 143
हेमराज पलसानिया

25. **कालिदास के नाटकों में बिम्ब विधान** 148
अफरोज बेगम

26. **कालिदास के नाटकों में कालतत्त्व-विवेचन** 153
विकास शर्मा

27. **कालिदास की नाट्यकला** 161
सुकदेव वाजपेयी

28. **कालिदास का नाट्य-सौन्दर्य** 169
हाईतोरंग्बे जेलिअंग

29. **कालिदास के रूपकों में सौन्दर्य प्रसाधन** 175
आशा सिंह रावत

30. **अभिज्ञानशाकुन्तलम् की सौन्दर्यपरक अन्तर्दृष्टि** 182
ऋचा

31. **कालिदास के नाटकों में सौंदर्याधायक तत्त्व** 189
पूनम सिंह
32. **मालविकाग्निमित्रम् नाट्य शिल्प** 192
सचिन देव द्विवेदी
33. **मालविकाग्निमित्रम् की नाट्यशास्त्रीय समीक्षा** 197
शिवानी कुमारी एवं शांतिलाल सालवी
34. **विक्रमोर्वशीयम् की नाट्य समीक्षा** 202
राघवेन्द्र शर्मा
35. **अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नाट्यशास्त्रीय समीक्षा** 210
हेमन्त शर्मा
36. **कालिदास के रूपकों में नायकत्व -विचार** 220
शैलेन्द्र कुमार साहू
37. **अभिज्ञानशाकुन्तल में महर्षि कण्व का तप प्रभाव** 224
सूर्य प्रकाश शुक्ल
38. **कालिदास के नाटकों में विदूषक** 227
शशिकुमार सिंह
39. **रंगमंच का आधुनिक स्वरूप और कालिदास के नाटक** 236
अजय यादव
40. **कालिदास और शेक्सपियर के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन** 240
हेमन्त कुमार चतुर्वेदी
41. **हिन्दी नाटककारों पर कालिदास के नाटकों का प्रभाव** 243
आदित्य राज
42. **कालिदास और नागेश का संवाद (एक कल्पना)** 251
किरण आर्या
43. **कालिदास के रूपकों का सूक्तिसौन्दर्य** 258
नौनिहाल गौतम
44. **कालिदास के रूपकों में रसाभिव्यक्ति** 262
सुधीर कुमार, मौहरसिंह मीणा
45. **कालिदास के रूपकों में हास्य रस** 277
रिया दत्त
46. **अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अलंकार सौंदर्य** 281
घनश्याम यादव

47. **कालिदास की दृष्टि में अलंकार ध्वनि** 285
प्रभात कुमार
48. **कालिदास के नाटकों में रीति तत्त्व** 289
सन्दीप कुमार यादव
49. **कालिदास के रूपकों में छन्द विधान** 298
सञ्जय कुमार एवं सुकदेव भोई

लेखक परिचय 309

1

कालिदास का नाट्य साहित्य : महानता के आयाम

आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

संस्कृत वाङ्मय के विश्ववरेण्य कवियों और नाट्यशिल्पियों में प्रथम पांक्तेय कालिदास भारतीय ज्ञान- परंपरा के संवाहक और समर्थ आख्याता हैं। भारतीय संस्कृति और जीवन मूल्यों के प्रतिष्ठापक के रूप में उन्हें स्मरण किया जाता है। उनके साहित्य की सुकीर्ति शताब्दियों से भारत ही नहीं, वरन् विश्व के अन्यान्य देशों में भी प्रकाशमान है। अपने दिव्य ज्ञान-आलोक और सृजनात्मक प्रतिभा से कालिदास ने विश्व कवियों और नाट्यसृजनधर्मियों को चमत्कृत और प्रभावित किया है। भारतीय भाषाओं के रचनाकारों ने भी कविता, नाटक, उपन्यास, अनुवाद, आलोचना आदि विधाओं में कालिदास के जीवन एवं कृतित्व को आधार बनाकर उनके सर्जनात्मक व्यक्तित्व एवं प्रतिभा को रेखांकित किया है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कालिदास पर लिखा और शकुंतला की विशेष चर्चा की है। भारतीय संस्कृतज्ञों, हिंदी एवं भारतीय भाषाओं के लेखकों ने भी अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुरूप कालिदास का मूल्यांकन किया है। भारत में कालिदास की कृतियों के शताधिक काव्यात्मक हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। भारतीय भाषाओं के रचनाकारों ने कालिदास की रचनाओं से प्रेरित होकर अनेक सुंदर कृतियों की रचना की है। इस प्रकार कालिदास अपनी अद्‌भुत काव्यक्षमता और नाट्य रचना- कौशल तथा कलात्मक वैशिष्ट्य के लिए अत्यंत लोकप्रिय हैं। कालिदास ने कुल तीन नाटक लिखे- अभिज्ञान शाकुन्तलम् , विक्रमोर्वशीयम् और मालविकाग्निमित्रम्। ये तीनों ही नाट्य कृतियां नाट्यशास्त्र की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' उनकी नाट्य प्रतिभा का निकष कहा जाता है। यहां कालिदास का नाट्य-कौशल शिखर पर है जिसकी प्रशंसा भारत ही नहीं, अपितु विश्व के अनेक देशों के यशस्वी रंगकर्मियों, नाट्य-निर्देशकों और लेखकों ने की है। पश्चिम के लेखकों ने अपनी-अपनी भाषा में अभिज्ञान शाकुन्तलम् का अनुवाद किया है। कालिदास के नाट्य साहित्य की महानता अनेक पक्ष हो सकते हैं, उनमें कुछ पक्ष प्रमुख हैं।

लोक-मंगल के विधायक

कालिदास के नाट्य साहित्य में लोक मंगल का तत्त्व व्यापक रूप से विद्यमान है। प्रकृति से लेकर मनुष्य और मानवेतर प्राणियों के प्रति कालिदास की संवेदना और चिंतन का धरातल विराट् है। प्रेम के बृहत्तर स्वरूप में संपूर्ण जगत् समाहित है। इसमें करुणा और प्रेम का भाव सर्वोपरि है। नाटकों के प्रमुख पात्रों के चिंतन और जीवन-व्यवहार में हृदयगत् सात्विक और कोमल भावनाएं प्रकट हुई हैं। जीवन मूल्यों का संचरण

नाटक के प्रमुख पात्रों की कथनी और करनी में उज्ज्वल रूप में व्यक्त हुआ है। नाटककार ने 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक के प्रयोजनांतर्गत जनार्दन रूपी जनता के आराधन की बात कही है। देवताओं को यज्ञ प्रिय होता है। उसके नेत्रों को तृप्त करने वाला परम प्रिय यज्ञ इस नाट्यकला का अभिनय है, ऐसा मुनियों का अभिमत है। रुद्र महादेव जी ने अपनी अर्धांगिनी उमा के साथ इस नाट्ययज्ञ को अपने ही शरीर में द्विधा विभाजित करके ताण्डव और लास्य नाम की नृत्यकलाओं को आविर्भूत किया। सत्व, रज और तम गुणों से निर्मित इस सृष्टि में विद्यमान त्रिगुणात्मक लोकचरित को ही नाटकों में अनेक प्रकार के रस स्वरूप में प्रकट किया गया है। अतः भिन्न-भिन्न अभिरुचि वाली जनता को प्रसन्न करने के लिए एकमात्र साधन नाट्यकला ही है।

देवानामिदमापनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं, रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते, नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्।। (1/4)

उपर्युक्त श्लोक की अंतिम पंक्ति विशेष महत्त्व की है जहां जनता की प्रसन्नता के विषय में कालिदास ने अपनी चिंता व्यक्त की है। मालविकाग्निमित्र नाटक की कथा में कालिदास ने जीवन की प्रतिष्ठा की है। इस मनुष्य जीवन की सार्थकता लोक-मंगल के महाभाव में निहित है। लोक के कल्याण की प्रतिष्ठा के लिए कालिदास सर्वदा चैतन्य रहे हैं।

कालिदास के साहित्य में चित्रित लोक की परिधि बहुत व्यापक है। वह केवल अपने देश के भू-भाग और उसके प्राणियों तक सीमित न होकर अखिल भूमंडल पर रहने वाले समस्त प्राणियों को समाहित किए हुए है। यह कहना संगत होगा कि कालिदास विश्व मंगल की भावना से अभिप्रेरित होकर साहित्य सर्जना में रत रहे हैं। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया है कि त्याग, तपस्या और तपोवन के माध्यम से मानवता की रक्षा की जा सकती है। इस दृष्टि से 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक अप्रतिम उदाहरण है। कालिदास का विचार है कि तपोवन की गोद में पली हुई सभ्यता मानव का सच्चा मंगल करती है। उनका कहना था कि जब तक यह विश्व त्याग और तपस्या का आश्रय लेकर तपोवन की ओर नहीं मुड़ेगा, तब तक इसकी अशांति कभी न बुझेगी, पारस्परिक कलह कभी न समाप्त होगा तथा वैमनस्य का नाश कभी न होगा। राजा प्रजा के हित साधन में लगें, शास्त्र के अध्ययन से विद्वानों की वाणी सर्वत्र पूजित हो, शक्ति संपन्न भगवान शंकर समग्र जीवों का पुनर्जन्म दूर कर दें। राजा का प्रधान कार्य प्रजा का अनुरंजन करना है। राजा के बिना समाज उच्छिन्न हो जायेगा, परंतु राजा का प्रधान कर्तव्य समाज की रक्षा करना होना चाहिए। राष्ट्र की उन्नति तथा अभ्युदय के मार्ग पर ले जाने वाले उसके विद्वज्जन होते हैं। अतः उनकी सरस्वती का पूजन तथा समादर हमारा पवित्र कार्य है। राजा क्षात्र बल का प्रतीक है तथा विद्वज्जन ब्राह्मतेज के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों के परस्पर सहयोग से ही देश का सच्चा कल्याण हो सकता है।

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः, सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः, पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।।(7/35)

जीवन के प्रति गहन आस्थावान्

कालिदास अपने संपूर्ण साहित्य में जीवन के प्रति असीम अनुराग रखते हैं। मानवेतर प्राणियों के प्रति गहरा प्रेम भाव रखना मानवता की उच्च भूमि की प्रतिष्ठा है। अभिज्ञान शाकुन्तल में कालिदास का प्रकृतिव्यापी जीवन के प्रति गहन अनुराग है। रघुवंश महाकाव्य में वशिष्ठ के आश्रम में मृगों की महत्ता ऋषियों की संतान की तरह है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में राजा दुष्यंत द्वारा मृग पर शर-संधान के मध्य तपस्वी आकर

शिकार में बाधा डाल देते हैं। प्रेम के स्पंदन से पशु जगत् वंचित नहीं रहता है। शकुन्तला की विदाई के समय उसका पुत्रवत् पालित हिरण आकर उसकी राह रोक लेता है। वस्तुतः कालिदास की करुणा मानव के प्रति ही नहीं , जीव मात्र को अपने भीतर समाहित किए हुए है। दया भाव से नहीं, अपितु जीवन के प्रति गहरे अनुराग भाव से जुड़ा है। परोपकार, नैतिकता, प्रेम, मानवता आदि की उच्चतम भावना से प्रेरित होकर नाटक के नायकों का जीवन मनुष्यता की मिसाल बन गया है।

सत्य के उन्नायक

कालिदास जीवनपर्यंत सत्यान्वेषी बने रहे हैं। सत्य के प्रतिष्ठार्थ उन्होंने साहित्य की रचना की है। अपने काव्य और नाटकों के नायकों और नायिकाओं के जीवन में सत्य का अनुसंधान किया है। इस सत्य की प्रतिष्ठा के लिए उन्हें संघर्ष -पथ पर गतिशील रहना पड़ा है। सत्य मानव जीवन का सबसे बड़ा मूल्य है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी मांग है। प्रेम की कसौटी भी सत्याश्रित है। यह सृष्टि के मंगल का आधार है। मानवीय सरोकारों से संबद्ध है। इसकी महत्ता का गुणगान देवी- देवता, ऋषि- मुनि, यक्ष -गंधर्व, किन्नर आदि सभी ने किया है। प्रसंगवश हम कहना चाहते हैं कि 'रघुवंशम् काव्य में रघुवंशी राजाओं का संपूर्ण जीवन सत्य की प्रयोगशाला रहा है। राम कथा के राम सत्य के सबसे बड़े अनुसंधानकर्ता रहे हैं। पिता के वचनों का पालन करते हुए वनवास का जीवन व्यतीत करना उनकी सत्यनिष्ठा का प्रमाण कहा जायेगा। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुंतला राजा दुष्यंत के द्वारा न पहचाने जाने पर अपने सत्य पर दृढ़तापूर्वक अडिग बनी रहती है। वह विपरीत परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होती है। दुष्यंत के न पहचानने और ठुकरा दिए जाने पर भी उसने अपने धैर्य, संयम, विवेक और बुद्धि का परिचय दिया है। शकुन्तला स्वाधीन चेतना सम्पन्न स्त्री है। वह अपने स्वाभिमान को बचाये रखकर राजा दुष्यंत से प्रतिवाद करती है। वह गंधर्व विवाह कर एक बालक को जन्म देती है और उसका पालन-पोषण कर उसे वीर बनाती है। अपने सत्यपथ पर चलते हुए शकुंतला संघर्षशील बनी रहती है। दुष्यंत के न पहचाने जाने पर भी वह अपनी सत्यनिष्ठा से नहीं डिगती है। वह कदापि विचलित नहीं होती है, पूरी दृढ़ता से अपना पक्ष रखती है।

प्रेम और सौंदर्य के प्रतिपादक

कालिदास का संपूर्ण साहित्य प्रेम और सौंदर्य का प्रतिमान है। प्रेम और सौंदर्य भारतीय समाज-जीवन और चिंतन-परंपरा का विशिष्ट तत्त्व है । यह सृष्टि का नियामक तत्त्व और उदात्त जीवन-मूल्य है। यह संपूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है। प्रेम/अनुराग का महाभाव मनुष्य की चेतना में विद्यमान है जो संपूर्ण चेतन-अचेतन को आबद्ध किये हुए है। मानवेतर जगत् के प्रति अनुराग मनुष्य की नैसर्गिक वृत्ति रही है; क्योंकि दोनों की पारस्परिकता से ही सृष्टि सुंदर और मंगलकारी बनी है। प्रेम और सौंदर्य आत्मा का विषय है। रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार, ''कालिदास के लिए रूप-रस-गंधमय सौंदर्य निर्जीव नहीं है, न वह अतीन्द्रिय चेतना की ओर ही काल्पनिक उड़ान भरते हैं। वह सूक्ष्म इंद्रियबोध और मार्मिक करुणा से समृद्ध जीवन के अद्वितीय कवि हैं।''(कालिदासपरिशीलन,संराधावल्लभत्रिपाठी, पृष्ठ 3)

कालिदास ने प्रेम के उदात्त स्वरूप की प्रतिष्ठा अपने पात्रों के जीवन में बड़ी सहजता के साथ अनुस्यूत की है। देव, किन्नर, यक्ष, मनुष्य, प्रकृति सभी को एक धरातल पर ले आकर प्रेम के सागर में डुबकी लगवाने का प्रयास अत्यंत मनोरम और मानवीयता से परिपूर्ण है। मानव के बाह्य और आंतरिक सौंदर्य के चित्रण के साथ ही संपूर्ण जगत् में जो कुछ सौंदर्यमय है वह कालिदास को प्रिय है। प्रकृति और मानव के संवाद

में हृदय की संवेदना और प्रेम तथा सौंदर्यानुभूति का चटक रंग और रूप खुलकर सामने आया है। प्रेम और सौंदर्य कालिदास के साहित्य में जीवन-दर्शन बनकर समाहित है। कालिदास के सौंदर्य बोध का मूल आधार उनका जीवन-प्रेम है। यह जीवन मनुष्य, पशु, और वनस्पति में सर्वत्र है। उनके लिए यह जीवन गोचर है, इंद्रियों के बोध से अभिन्न हैं। धरती से कवि का गहरा जुड़ाव रहा है।

प्रेम के प्रति गहरी अनुरक्ति को कालिदास के द्वारा नाटकों में प्रत्यक्षीकृत किया गया है। रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखते हैं -''नाटक के प्रारंभ में ही शांत सौंदर्ययुक्त एक संपूर्ण जीवन, एकांतवासी पुष्प पल्लवों के बीच में नित्य के आश्रम धर्म, अतिथि सेवा, सखी स्नेह और विश्व वात्सल्य लेकर हमको सामने दिखाई दिया। यह ऐसा अखंड और आनंदमय है कि हमें यह आशंका होती है कि कहीं धक्का लगने से टूट न जाए। उस समय राजा दुष्यंत को दोनों हाथ उठाकर रोकते हुए पुकार कर यही कहने की इच्छा होती है की बाण ना मारना, बाण न मारना। इस परिपूर्ण सौंदर्य को न तोड़ना ! ''(राधावल्लभ त्रिपाठी, कालिदास परिशीलन, पृष्ठ 23)

दुष्यंत का राजा होने का दर्प भी शकुंतला के प्रति प्रेम-भाव की विस्मृति का कारण हो सकता है। शकुंतला से अपने संबंधों का इंकार दुष्यंत की निष्ठुरता और कठोरता का प्रभाव कहा जा सकता है। इसीलिए शकुंतला को वे सदा के लिए भूल नहीं पाते हैं। प्रेम के ताप को राजा दुष्यंत महसूस करते हैं। विधाता ने उन्हें कठिन दुःख में डालकर वास्तविक प्रेम का अधिकारी बना दिया। शकुन्तला और दुष्यंत के बीच अमंगल का भाव सदा के लिए तिरोहित हो जाता है। 'विक्रमोर्वशीयम्' में पुरूरवा-उर्वशी के प्रेम की पराकाष्ठा अद्‌भुत है। उर्वशी का प्रेम पुरूरवा के लिए एकछत्र संपूर्ण पृथ्वी के राज्य से बढ़कर है।

भारतीय संस्कृति के आख्याता

कालिदास का संपूर्ण साहित्य भारतीय संस्कृति का आख्यान है। 'रघुवंशम्' महाकाव्य में रघुकुल का रीति-रिवाज, परंपरा, मर्यादा, आदर्श, लोकजीवन का सौंदर्य आदि का निदर्शन भारतीयों के लिए सदैव प्रेरणादायक रहा है। किंतु, अपने नाटकों विशेषतः 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' में भारतीय संस्कृति के मान्य गुणों को देखा जा सकता है। धर्म और अध्यात्म का समन्वित स्वरूप कालिदास की जीवन-दृष्टि का उज्ज्वल पक्ष है। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत में नाटककार की आस्था प्रबल है। पुरूषार्थ चतुष्टय की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति के अनुरूप है।

स्त्री-गौरव के प्रतिष्ठापक

अपने नाट्य साहित्य में कालिदास ने भरतीय नारी के मन, रूप-सौंदर्य और जीवन-दर्शन का आख्यान सुंदर भावों से रचा है। उनके नाटकों की नारियां भारतीय समाज और संस्कृति का प्रातिनिधिक चरित्र हैं। स्त्री की अस्मिता और स्वतंत्रता को हम नाटकों में जीवन की समस्त सम-विषम परिस्थितियों में देख सकते हैं। पतिपरायणा स्त्री कालिदास कालीन युग का आदर्श है। पति के लिए पत्नी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गृहस्थ जीवन की सफलता का आधार आदर्श एवं प्रेमपरक दाम्पत्य जीवन है- 'संतुष्टोभार्याभर्ता भत्याभावां तथैव च। यस्मिन्नेक्कुले नित्यं कल्याणं तत् ध्रुवम।।' कण्व ऋषि ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती हुई अपनी पुत्री शकुंतला को शिक्षा दी है - 'शुश्रुषस्वगुरून कुरू प्रियसखी वृत्तिं सपत्नीजने'...(4/18) इत्यादि। विक्रमोर्वशीयम् में तापसी कहती है- अब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो और परिवार एवं राज्य का भार धारण करो। शकुन्तला कालिदास की अपूर्व नारी सृष्टि है। वह स्त्री अस्मिता का प्रतिनिधि चरित्र है। वह स्त्री के उदात्त व नैसर्गिक प्रेम, स्वातंत्र्य और स्वाभिमान का दिव्य स्वरूप है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शकुंतला और शेक्सपियर के टेम्पेस्ट नाटक की

नायिका मिरंडा से तुलना करते हुए शकुंतला के व्यक्तित्व की प्रशंसा तथ्यों के आधार पर की है। ''शकुन्तला की सरलता अपराध, दुख, अभिज्ञता, क्षमता, धैर्य आदि से परिपक्व, गंभीर और स्थाई है।''(वही, पृष्ठ 34) 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में पुरुरवा की प्रेयसी उर्वशी है। वह श्रापवश लता बन गई है, क्योंकि वह स्त्रियों के लिए निषिद्ध वन में चली गई थी। यौवन और सौंदर्य से कालिदास के प्रेम का घनिष्ठ रिश्ता है। दुष्यंत का पहचानने से इन्कार कर दिए जाने पर शकुंतला का स्वाभिमान आहत होता है। शारद्वत के यह कहने पर कि पति की प्रभुता सर्वतोमुखी है, वह चाहे पत्नी को छोड़ें, चाहे ग्रहण करें। शांर्गरव उसे पति के घर में दासी बनकर रहने की सलाह देते हैं। शकुन्तला क्रोध से दुष्यंत को फटकारती है - ''अनार्य, दूसरों को अपने जैसा समझते हो। तृणों से ढके हुए कुंए की तरह कौन तुम्हारे सिवा धर्म का ढ़ोंग करेगा?'' आगे भी वह कहती है - ''तुमने मुझे स्वच्छंदचारणी बना डाला सो ठीक किया। मैं पुरवंश का विश्वास करके तुम जैसे व्यक्ति के हाथ पड़ गई जिसके मुंह में मधु है और हृदय में विष है।'' कालिदास ने शकुंतला के व्यक्तित्व में प्रतिरोध का भाव व्यक्त कर पितृसत्ता के समक्ष चुनौती खड़ी की है। शकुंतला के उत्तरार्ध जीवन में आधुनिक स्त्री के स्वर को पहचाना जा सकता है।

प्रकृति - वैभव के अनन्य चितेरे

प्रकृति और मनुष्य का संबंध नैसर्गिक है। मानव जीवन की प्रत्येक गतिविधि में प्रकृति की भूमिका रही है। कालिदास प्रकृति और उसके अनुपम सौंदर्य के पारखी हैं। उनके संपूर्ण साहित्य में चित्रित जीवन की रंगस्थली प्रकृति ही है। प्रकृति की विराटता और सौंदर्य का अद्‌भुत अंकन कालिदास के साहित्य का अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष है। उनके प्रकृति चित्रण में अत्यंत सजीवता, रमणीयता और स्वाभाविकता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। प्रकृति पर मानवीय चेतना का आरोपण बड़ी उपलब्धि है। धरती से लेकर अंतरिक्ष तक व्याप्त अनंत रमणीय और विस्तृत प्रकृति के नाना रूपों, जड़ और चेतन में सर्वत्र भावना का स्पंदन, मनुष्य के प्रति संवेदनशीलता और सहानुभूति, हर्ष और विषाद की अनुभूति कालिदास के कल्पना चक्षुओं के सम्मुख चेतनायुक्त है। 'विक्रमोर्वशीयम्' के चतुर्थ अंक में उर्वशी के विरह में व्यथित पुरुरवा को देखकर मानो समस्त प्रकृति सहानुभूति से व्याकुल हो उठती है। पुरुरवा को भी यह प्रकृति सजीव और मानवीयता से भरी हुई प्रतीत होती है। दूसरा उदाहरण 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में शकुंतला का प्रकृति प्रेम का महाभाव दर्शनीय है। शकुंतला वनदेवी की दुलारी है। तपोवन के पशु-पक्षियों और प्रकृति का शकुंतला के लिए अपरिमित स्नेह अविस्मरणीय है। शकुंतला के रूप-सौंदर्य की निर्मिति में प्रकृति के नैसर्गिक सौंदर्य का बड़ा योगदान है। ऋषि कण्व के अनुसार शकुंतला तरुलता आदि को बिना सींचे जल पीना भी उचित नहीं मानती थी। उस शकुंतला की विदाई के समय समस्त तपोवन विरहाकुल हो उठता है। प्रकृति के प्रति कालिदास की संवेदनशीलता अप्रतिम है। प्रकृति के व्यापारों से उनके अंतःकरण के तार झंकृत हो उठते हैं। इसीलिए प्रकृति की व्यथा - व्याकुलता और शोक - कातरता का अनुभावन उन्हें सदैव होता रहा है। मानवेतर प्राणियों के प्रति कालिदास की संवेदना अद्‌भुत है। यह उनकी अतिरिक्त संवेदनशीलता का परिचायक है। पुरुरवा अपने प्रति समस्त प्रकृति की सहानुभूति और सदाशयता को अनुभव कर उसके लिए अपने हृदयगत भावों को प्रकट करना जरूरी मानता है। कालिदास द्वारा वर्णित प्रकृति शकुंतला के आंतरिक चरित्र में उन्मेषित है। हिमालय कालिदास की दृष्टि में देवतात्मा है न कि जड़ पदार्थ। वह तपस्वियों की तपस्थली भी है। प्रकृति निखिल विषमता दूर कर समता के अभ्यास में निरत रहती है। हिंसक पशु भी नैसर्गिक शान्ति के कारण अपनी प्रकृति भूलकर परस्पर मैत्री भाव से

निवास करते हैं। कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में शकुंतला के माध्यम से तपोवन के महत्त्व को प्रतिपादित किया है जहां समस्त सांसारिक प्रपंचों और वैमनस्य का शमन हो जाता है और त्याग और तपस्या की संस्कृति विकसित होती है। तपोवन के पावन वातावरण में शकुंतला पली-बढ़ी है। प्रकृति के प्रति शकुंतला का गहरा अनुराग अद्भुत है। तरुओं को सिंचित करना, उनके प्रति भावनात्मक लगाव रखना, प्रकृत से कुटुम्बवत् व्यवहार करना शकुंतला के प्रकृति प्रेमी होने का प्रमाण है। महर्षि कण्व अपने पति गृह जाती हुई शकुंतला को निर्दिष्ट करके वृक्षों की ओर देखते हुए कहते हैं -

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या, नादत्ते प्रियमण्नाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः भवत्युत्सवः, सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।(4/9)

शकुन्तला का प्रकृति प्रेम विश्व साहित्य में एक विरल उदाहरण है। तपोवन के समस्त जड़- चेतन के प्रति गहन अनुराग शकुंतला की विदाई के समय प्रकट होता है। वहां के वनदेवताओं और तरु-लताओं ने अलौकिक वस्त्राभूषण आदि उसके लिए उपहारस्वरूप प्रदान किया है। चेतन-अचेतन सभी के साथ ऐसी अंतरंग आत्मीयता, प्रीति और कल्याण का ऐसा बंधन अन्यत्र किसी भी साहित्य में दुर्लभ है। आश्रम को छोड़कर जाने के लिए शकुन्तला के पैर नहीं उठते हैं। सखी प्रियंवदा ने कहा कि केवल तुम्हीं तपोवन के विरह से व्याकुल नहीं हो रही हो, तुम्हारे होने वाले वियोग की आशंका से तपोवन की भी यही दशा है-

उग्गलिअब्दभकवला मिआ परिच्चित्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ।।(4/12)

मृगियों के मुंह से चबाया हुआ तृण नीचे गिर रहा है। मोरों ने नाचना छोड़ दिया, पुराने पत्तों के गिरने के ब्याज से लतायें आंसू गिरा रही हैं। वन के साथ मनुष्य का विछोह इतना मर्मभेदी और करुणा से परिपूर्ण हो सकता है, यह बात संसार के साहित्य में केवल अभिज्ञान शाकुंतलम् नाटक के चतुर्थ सर्ग में उपलब्ध है।

इस संदर्भ में रवीन्द्रनाथ टैगोर का यह कथन ध्यातव्य है- ''इस गूंगी प्रकृति को किसी नाटक के भीतर ऐसा प्रधान, ऐसा अत्यंत आवश्यक स्थान दिया जा सकता है, यह बात शायद संस्कृत साहित्य के सिवा अन्यत्र देखने को नहीं मिल सकती। प्रकृति को मनुष्य बनाकर उसके मुख से बातचीत कराकर 'रूपक' नाट्य की रचना की जा सकती है, किंतु प्रकृति को असली रूप में रखकर उसे ऐसा सजीव, प्रत्यक्ष, व्यापक और अंतरंग बना लेना शाकुंतल के सिवा और कहीं नहीं देखा जा सकता है।'' राधावल्लभ त्रिपाठी(सं), कालिदासपरिशीलन, पृष्ठ 25)

मानवेतरजगत् के प्रति स्नेहोद्भावक

प्रकृति और मनुष्य के व्यापक रिश्तों में मानवेतरजगत् भी समाहित है। मनुष्य का जीवन अधूरा और एकांगी है मानवेत्तरजगत् के बिना। सत्य की रौशनी को अंधेरे का साम्राज्य भी ढ़ंक नहीं सकता है। कहीं न कहीं से रौशनी हमारे हृदय के आर-पार पहुंच जाती है। संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन कवियों के काव्य में मानवेत्तर प्राणियों को स्थान मिला है। कण्व का आश्रम मनुष्य और मानवेतर प्राणियों के साहचर्य का केन्द्र है। शकुंतला का मृगियों से संबंध अनूठा है। शकुंतला पुत्र भरत को सिंहशाव के साथ क्रीड़ा अद्भुत है। विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अंक में हथिनी के विरह में व्याकुल हाथी की दशा का वर्णन कवि की भावकुता को प्रदर्शित करता है। हंस, चकवा पक्षी का प्रसंग भी मन को भावप्रवण बना देता है। सम्पूर्ण नाट्य साहित्य में अनेक प्रसंग मिलते हैं जहाँ कालिदास की भावुकता व्यक्त हुई है।

उदात्त चिंतन के उन्मेषक

कालिदास महान् ज्ञानी व्यक्ति थे। उन्हें जीवन और जगत् के विभिन्न क्षेत्रों का गहन और व्यापक अनुभव था। उन्होंने तात्विक रूप से अपने अनुभवों की अतुलनीय ज्ञानराशि को सूक्तियों में अभिव्यक्त किया है। विचार गांभीर्य उनके लेखकीय जीवन का सबल पक्ष था। वे उपदेशक कदापि नहीं थे, किन्तु उनके विचार साधारण जनों के हृदय और मस्तिष्क को ऊर्जस्वित करते हैं, मानव -संवेदना का विस्तार करते हैं और हर स्तर पर मनुष्य को विचारसंपन्न बनाते हैं। उनकी उक्तियां हमें ज्ञान से समृद्ध करती हैं। चिंतन का नया गवाक्ष खोलती हैं। जीवन में मूल्यवान सिद्धांतों की प्रतिष्ठा करना कालिदास का उद्देश्य था। कालिदास के संपूर्ण साहित्य में सूक्तियों का अक्षय भण्डार है, जिसके अवगाहन से मनुष्य का जीवन समृद्ध ही नहीं होता बल्कि परिष्कृत और परमार्जित होता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं -

- विनीतवेषेण प्रवेष्ट व्यानितपोवनानि नाम। (तपोवन में विनम्रतासूचक वेशभूषा धारण करके ही प्रवेश करना चाहिए।)
- भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र। (होनी के द्वार सर्वत्र खुल जाते हैं)
- सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः। (जहां संदेह हो, वहां सज्जन के अंतःकरण की प्रवृत्ति ही सत्य का निर्देश करती है।)

कालिदास का साहित्य उदात्त भावों की सुंदर अभिव्यक्ति है। कवि हृदय की कोमल संवेदनाओं का सुंदर प्रतिबिंबन उसके संपूर्ण साहित्य में हुआ है। इससे भी बढ़कर कालिदास अपने साहित्य में कोई न कोई गंभीर व समाजोपयोगी बात कहते हैं। पुरुषार्थ चतुष्टय का प्रतिपादन कांता की-सी मधुर वाणी में किया गया है। आत्मोन्नति का आधार उदारमना व्यक्तित्व का होना अपरिहार्य है। महानता सदैव अहंकार और दुरभिमान से निरपेक्ष होती है। प्रजाहितैषी राजा ही अपने उदात्त चिंतन और कार्य-व्यवहार से लोकप्रिय हो सकता है। कालिदास के नाटकों के नायक सत्यानुगामी हैं। अपने विचारों के प्रति दृढ़ संकल्पित हैं। वे कुपंथ की ओर आकृष्ट नहीं होते हैं। दुष्यंत सबसे बड़ा उदाहरण हैं। सत्य से परिचित होने पर वह पुनः शकुंतला को स्वीकार कर लेता है। 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक में राजा अग्निमित्र दर्शन के उदात्त तत्त्व चैतन्य की सर्वव्याप्ति का रमणीय प्रतिपादन कवि का उद्देश्य है। शिव और पार्वती के माध्यम से प्रेम और समाधि दोनों को एक ही स्थल पर अभिव्यक्ति का प्रयास कालिदास के काव्य का वैशिष्ट्य है। इस संदर्भ में कवि का उद्देश्य है प्राणिमात्र का परम पुरुषार्थ, अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों को एक साथ प्राप्त करना है। यही भाव 'कुमारसंभव' के पूरे पंचमसर्ग में व्याप्त है। लौकिक काम और श्रृंगाररस में विद्यमान सूक्ष्मतापूर्ण भावनाओं का अंकन मेघदूत में हुआ है। यक्ष की अंतिम हार्दिक इच्छा है - ''माभूदेवंक्षणमपि च तेविद्युताविप्रयोगः।'' अर्थात् हे मेघ! इस प्रकार तुम्हारा कभी बिजली से वियोग न हो।

कालिदास ने अपने साहित्य में धर्म, अर्थ और काम की प्रतिष्ठा बहुत सुंदर ढंग से की है। जीवन की सफलता त्रिवर्ग के सामंजस्य में है। इनमें धर्म सर्वोपरि है। कालिदास की रचनाओं में गीता के इस वाक्य - ''धर्माविरुद्धः कामोऽस्मिलोकेषुभरतर्षभ'' की सत्यता प्रमाणित है। कालिदास जगत् के कल्याण के लिए चिंतित होते हैं। उनका यह चिंतन युगानुकुल है कि काम को धर्मानुकूल बनाया जाना चाहिए। इसी के मूल में समाज हित चिंतन जुड़ा हुआ है। कालिदास का एक पात्र नरपति भारतीय समाज का अनुकरणीय आदर्श पेश करता है। कालिदास कहते हैं कि शैशवास्था में विद्या का अभ्यास, यौवनकाल में विषय वासनाओं के प्रति आकर्षण, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति ग्रहण के उपरांत दुनिया के सारे प्रपंचों से उपरांत होकर निवृत्ति मार्ग का

अनुयायी बनना तथा अंत में योग द्वारा अपना शरीर त्याग कर परमपद में लीन हो जाना मनुष्य जीवन का का परम उद्देश्य रहा है।

मानव -मनोविज्ञान के विश्लेषक

नाटक के पात्रों के मनोभावों के चित्रण में कालिदास की दक्षता अद्भुत है। उन्होंने काव्य की अपेक्षा अपनी नाट्य कृतियों में पात्रों के भावजगत् के व्यापक सौंदर्य और उदात्तता के साथ ही मन की सारी हलचलों को बड़ी गरिमा और उदात्तता के साथ वर्णित किया है। विद्वानों ने मानव -मनोविज्ञान के अद्भत विश्लेषक के रूप में कालिदास की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनकी यह महानता है कि उन्होंने स्त्री पात्र शकुंतला के जीवन की हर धड़कन को बहुत करीब से और बड़े करीने से सुना- समझा और उसके व्यक्तित्व को बहुत संवेदनशीलता के साथ जिया और गढ़ा है। स्त्री की जो छवि शकुंतला के रूप में कालिदास ने निर्मित की है वह यथार्थवादी और आधुनिक है। उसमें आधुनिक युग की स्त्री की छवि को हम देख सकते हैं जिसमें अपना स्वाभिमान और हक पाने के लिए प्रतिरोध का स्वर मुखरित हुआ है। कालिदास ने अपने नाटकों में पुरुष और स्त्री पात्रों के अंतरंग मनोभावों का कुशल निस्पादन किया है। वे स्त्री मनोभावों का अभिव्यक्ति में ज्यादा पारंगत है। प्रेम-विवाह, जीवन के विविध प्रसंगों में कालिदास की मनोविश्लेषक के रुप में उपस्थिति अत्यंत सार्थक है। पात्रों का कार्य-व्यवहार,चिंतन और भावाभिव्यक्ति में मनोविज्ञान की भूमिका स्पृहणीय है।

नाट्य कौशल में सिद्धहस्त

नाट्य-कौशल में कालिदास की सिद्धहस्तता सर्वमान्य है। संपूर्ण काव्य और नाटकों में रचनात्मकता का वैभव दृष्टिगत होता है। उदाहरण के लिए शकुन्तला के स्वभाव और व्यक्तित्व - सृजन में नाटककार को महारत हासिल हुई है। नायिका शकुंतला की चंचलता और धैर्य, स्वभाव और नियम, नदी और समुद्र के मुहाने पर खड़ा दिखाना कौशल ही कहा जाएगा। तपोवन की कल्पना अद्भुत है, जहां तपस्या और स्वभाव, सौंदर्य और संयम का एकत्रीकरण उल्लेखनीय है। कण्व ऋषि के आश्रम का सारा दृश्य मनोरम है और प्रकृति से शकुंतला का घुल-मिल कर संवाद स्थापित किया जाना अद्भुत है। ऐसा नाट्य-कौशल कालिदास की कला का सजग परिणाम है। वैसे तो सारे नाटकों में पदे-पदेनाट्य कला का अभिनव रूप दृष्टिगत होता है, पर अभिज्ञान शाकुन्तलम् का रचना विधान और नाट्य कौशल अप्रतिम है।

उपमा के उद्गायक

कालिदास अपनी उपमाओं के लिए भी संस्कृत जगत् में बहुत प्रसिद्ध हैं। उनमें सृष्टि की विभिन्न वस्तुओं के बीच परस्पर साम्यता देखने की अनूठी दृष्टि विद्यमान है। उनके अधिकांश उपमान उनके सूक्ष्म इंद्रियबोध और सौंदर्य ग्राहिका वृत्ति के परिचायक हैं। मौलिक उपमानों के प्रयोग में भी वे सफल हुए हैं। इंदुमती हो या शकुंतला, उनके देह के सौंदर्य के लिए जो उपमाएं दी हैं, वह अद्भुत हैं। अधिकतर उपमान प्रकृति से लिए गए हैं। उपमा का एक उदाहरण 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' से उद्धृत है -

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानकारिणौबाहू।
कुसुममिवलोभनीयंयौवनमंगेषुसन्नद्धम्।।(1/21)

शकुंतला के अधर नये पत्तों के तुल्य लाल हैं। दोनों भुजाएं कोमल शाखाओं के सदृश हैं। इसके अंगों में फूल की तरह मनोहर यौवन व्याप्त हैं। शकुन्तला के अछूते सौंदर्य को देखकर राजा दुष्यंत ने उपमानों की झड़ी लगा दिया है -

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैरनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधि।।(2/10)

यह शकुंतला तो बिना सूंघा हुआ फूल है, अनछुआ पत्ता है,अनविधा रत्न है, अनचखा मधु है, न जाने कितने संचित पुष्पों के फल जैसी इसे (शकुंतला) पता नहीं है कि विधाता ने किसके भाग्य में लिखा है। वास्तव में उपमा के प्रयोग में कालिदास अद्वितीय हैं। उनकी उपमाएं यथार्थ हैं, कहीं शास्त्रीय हैं और कहीं आध्यात्मिक रंग लिए हुए हैं। सच में कालिदास उपमाओं के कुशल शिल्पी हैं। कहा गया है-'उपमा कालिदासस्यनोउत्कृष्टेति में मम।'

सुकुमार संवेदनशील सर्जक

कालिदास की कला का श्रृंगार उनकी सुकुमार संवेदनाएं हैं। उनमें जीवन का स्पंदन और भावनाओं का गहन एवं मार्मिक उद्वेलन है। इस दृष्टि से उनके नाटक पर्याप्त समृद्ध हैं। सुकुमार संवेदनशीलता उनके संपूर्ण साहित्य में पदे-पदे झलकती है, किंतु कण्व ऋषि के आश्रम में रहने वाली शकुंतला का सुकुमार संवेदनशील व्यक्तित्व विशिष्ट है। उसमें भावनाओं का कोमल संसार रचा-बसा हुआ है। अन्य पात्रों के व्यवहार और आचरण में भावनात्मक लगाव दृष्टिगत होता है। दरअसल यह सुकुमार संवेदनशीलता कालिदास का स्वयं का अर्जन है जो उनके नाटकों की थाती है। मानवीयता का अंकुरण इसी भावभूमि से हुआ है, जो चेतना के महाविस्तार में समाहित हो कर लोककल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है।

समग्रत : कालिदास का नाट्य साहित्य अपनी विविध नाट्य प्रवृत्तियों, नाट्यकला, जीवन-दर्शन, अभिव्यक्ति कौशल, रंग-प्रयोग, सामाजिक और सांस्कृतिक चिंतन आदि के आधार पर विश्वस्तरीय है। आधुनिक नाट्य शिल्पियों के लिए कालिदास के नाटक प्रेरणा के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रतिमानों पर कालिदास की नाट्य कृतियां अद्वितीय हैं और शताब्दियों तक अपनी महानता के आयामों की खोज में सृजनकर्ता को प्रोत्साहित करती रहेंगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ -

कालिदास ग्रन्थावली : सं. आचार्य पं. सीताराम चतुर्वेदी, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, षष्ठ संस्करण सं. 2063 विक्रमाब्द।

2

कालिदास के रूपकों पर वेदों का प्रभाव

संगीता दास

भारतीय नाट्य साहित्य की अजस्र धारा वैदिक काल से ही प्रवाहित हो रही है। वेदों में संवाद, संगीत, नृत्य तथा अभिनय आदि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते रहे हैं। इसीलिए पंचमवेद नाट्य की रचना के लिए ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रसों को ग्रहण किया - **जग्राह पाठमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च। यजुर्वेदादद्भिनयान् रसानाथर्वणादपि।।**[1] चारों वेदों का स्मरण कर बनाया गया धर्म, अर्थ एवं यशस्ययुक्त सर्वकर्मानुदर्शक, सर्वशास्त्रार्थ सम्पन्न तथा सर्वशिल्प प्रदर्शक नाट्यशास्त्र ही है। **वेदोपवेदैः सम्बुद्धौ नाट्येदों महात्मना, एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना।।**[2] भारतीय आचार्यों ने नाटक को 'दृश्यकाय' की संज्ञा दिया है। काव्य के समस्त रूपों में इसे सर्वाधिक मनोरम माना गया है। इसीलिए कालिदास के तीन रूपकों - मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी वेदों का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होता है। वेदविद् ऋषियों ने वेदों में मानव जाति के कल्याण हेतु प्रकृति-पूजन के महत्व को प्रतिपादित किया। उन्होंने चारों वेदों में सूर्य, पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि, वृक्ष, वनस्पतियाँ एवं पर्यावरण संशोधन हेतु यज्ञीय क्रिया-कलापों का अत्यनत विशदता के साथ वर्णन किया है। वैदिक काल में आर्य प्रकृति के आश्रय में ही अपनी सम्पूर्ण गतिविधियों को सम्पादित करते थे इसीलिए वे प्रकृति के मूलतत्त्वों के महत्व की अनुभूति करके उनमें अलौकिक शक्ति की परिकल्पना की और उनकी देवों के रूप में स्तुति करने लगे। यथा- यज्ञ के रूप में, यज्ञीय क्रियाकलाप के रूप में, नदियों की पूजा के रूप में, देवों के माहात्म्य वर्णन के रूप में। इस स्तुति के माध्यम से ही वैदिक आर्य स्वकल्याण के साथ-साथ विश्वकल्याण की कामना करते थे। कालिदास द्वारा विरचित प्रथम नाटक है ''मालविकाग्निमित्रम्''। इस रचना के मंगलाचरण में ही वैदिक ज्ञान गूढ़स्थ है। इस नाटक का मंगलाचरण भगवान शंकर की अष्टमूर्तियों को उनकी विशेषताओं के साथ आख्यायित करते हुए सामद्धृत किया गया है-

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणबहुफलो यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्तादयतीनाम्,
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदति तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमान्।
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसी वृत्तिमीशः।।[3]

अपने भक्तों को मनोवाच्छित फल देने के लिए अपने पास अपार भण्डार होते हुए भी जो केवल हाथी

की खाल ओढ़कर ही अपना काम चला लेते हैं, अपने आधे अंग पर अपनी प्रकृति को निहित करते हुए भी जो संसार के भोगों से अपना मन दूर हटायें रहते हैं और अपने आठों रूपों से सम्पूर्ण संसार का पालन करते हुए भी जो अभिमान को समीप आने नहीं देते, ऐसे संसार के स्वामी भगवान् शंकर, पाप की ओर ले जाने वाली आप लोगों की बुद्धि को इस प्रकार नष्ट कर दें कि आप लोगों का मन अच्छे कार्यों के सम्पादन में उन्मुख हो जाय। भगवान् शिव वैदिक देव है। अतः उनकी अष्टमुर्तियों के सम्बन्ध में जानकारी करने के लिए वेदों का ही आश्रय लेना पड़ेगा, ''मालविकाग्निमित्रम्'' के मंगलाचरण का श्लोक आशीर्वादात्मक है। एवं अपने अन्तस् में वैदिक-ज्ञान गंगा को समाहित किये हुए है।

कालिदास शिव भक्त थे, यद्यपि उन्होंने अपने ग्रन्थों में ब्रह्मा, विष्णु एवं अन्य देवी देवताओं की भी पूजा अर्चना की है, तथापि शिव उनके इष्टदेव थे। अतः उनकी विशेष रूप से उपासना करते थे। इस प्रकार यदि उनके ग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन किया जाये तो कालिदास वेदान्ती प्रतीत होते है। कालिदास अपने काव्य में शाब्दिक विग्रह के भव्य स्वरूप के साथ-साथ वैदिक तत्त्वों के संस्कारों एवं मर्यादाओं से जीवन्त करने की चेष्टा करते है। कालिदास के अन्य रचनाओं के साथ ''मालविकाग्निमित्रम्'' में भी प्रकृति का सजीव वर्णन केवल कल्पना के आधार पर नहीं अपितु वेदों और उपनिषदों के विभिन्न सूक्तों में वर्णित प्रकृति के उन स्वरूपों एवं स्वभाव का शास्वत कथन है। नदी, झील, झरने, वृक्ष, पहाड़ लताए आदि से वार्तालाप पूर्ण रूप वैदिक एवं पौराणिक है। महाकवि कालिदास के इस नाटक में नीतिवचन, ज्योतिषशास्त्र एवं मनोविज्ञान तथा अन्य अनेकों पौराणिक एवं वैदिक विषयों का दृष्टान्त प्राप्त होता है।

मालविकाग्निमित्रम् नाटक में भी प्रकृति वर्णन को प्रमुखता प्रदान किया गया है। कालिदास ने इस नाटक के तृतीय अंक में वसन्त के आगमन का उल्लेख किया है-

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां, सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्तां पृच्छतेव।
अङ्गे चूतप्रसवसुरभिर्दीक्षिणो मारुतो मे, सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन।।[4]

मतवाले कोकिलों की कानों को सुहाने वाली कूकों में मानों वसन्त ऋतु दया दिखलाते हुए पूछ रहा हो- क्यों प्रेम की पीड़ा सही जा रही है? इधर खिली हुई आम्रमंजरियों के गन्ध में बसा हुआ दक्षिण पवन राजा के शरीर को स्पर्श करता हुआ इस प्रकार ज्ञात होता है, जैसे वसन्त ने अपना सुखद हाथ राजा के ऊपर रख दिया हो। महाकवि कालिदास द्वारा कृत तीन रूपकों में द्वितीय है ''विक्रमोर्वशीयम्''। नाटक का उपजीव्य ऋग्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण में वर्णित पुरुरवा और उर्वशी की प्रेम कथा है। कालिदास ने कथावस्तु में किंचित परिवर्तनों के साथ नूतन रूप प्रदान किया है। नाट्य कथा की प्रत्येक घटना किसी न किसी विशेष उद्देश्य से प्रेरित है तथा इतनी सार्थक है कि उसकी गतिशीलता में निरन्तर चमत्कार उत्पन्न होता रहता है। इस त्रोटक की मूलकथा ऋग्वेद के पुरुरवा उर्वशी की आख्यान पर आश्रित है।

ऋग्वेद में पुरुरवा एवं उर्वशी की प्रणय गाँथा पूर्ण रूप से प्रकृति एवं जीव की गाँथा है। प्रकृति का अमर्यादित दोहन, अनियन्त्रित उपभोग सर्वथा अमंगलकारी है। ऋग्वेद की इस कहानी को कविशिरोमणि कालिदास ने अपने ''विक्रमोर्वशीयम्'' त्रोटक में किंचित परिवर्तन करके पूर्णरूप से लौकिक एवं व्यवहार्य स्वरूप प्रदान किया है। जहाँ एक और ऋग्वेद की नायिका उर्वशी एक शुद्ध प्रकृति तत्त्व है तथा पुरुरवा शुद्ध जीव है, वहीं पर कालिदास की उर्वशी एक अप्सरा मात्र होकर एक पतिपरायणा नारी तथा पुरुरवा एक आदर्श नायक है। वैदिक आख्यान के इस संदर्भ को ग्रहण करके कवि कालिदास ने वेदों में वर्णित गूढ़ रहस्यों से पर्दा

उठाने का एक सर्वजनवदनीय कार्य किया है। तथा एक ओर जहाँ शुद्रवर्ग वेदों को न पढ़ सकते थे न बोल सकते थे वहीं पर इन नाटकों की प्रस्तुति के माध्यम से प्रकृति के रहस्यों को जन साधारण तक प्रेषित करने की दृढ़ इच्छाशक्ति का भी अवलोकन प्रसंगों एवं सन्दर्भों से होता है। कालिदास ने वैदिक आख्यान को नवीन रूप प्रदान किया है। यथा- भरतमुनि का उर्वशी का मर्त्यलोक में जाने का शाप, कार्तिकेय का नियम कि उसके उपवन में आने वाली स्त्री लता बन जायेगी, उर्वशी का लता बनना और पुरुरवा का विलाप आदि। वैदिक आख्यान का अभिप्राय यह है कि पुरुरवा का अर्थ 'मेघ' होता है अधिक एवं 'रवस्' का अर्थ होता है ''शब्द करने वाला'' इस प्रकार से पुरुरवा एवं उर्वशी का वैदिक तात्पर्य कदाचित मेघ एवं उसमें अन्तर्व्याप्त विद्युत से है। निरूक्त में पुरूरवा का अर्थ मेघ होता है। 10-46 निरुक्त शूक्त में स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया गया है तथा यजुर्वेद के 15-19 सूक्त में उर्वशी को विद्युत कहा गया है। इस प्रकार पुरुरवा एवं उर्वशी को वैदिक वांगमय में मेघ एवं विद्युत के रूप में अभिकथित किया गया है। ऋग्वेद में इसको केवल आध्यात्मिक स्वरूप ही प्रदान किया गया है। पुरुरवा एवं उर्वशी के संवाद के माध्यम से स्रष्टा को सृष्टि के घटक भूत जीव एवं प्रकृति के मध्य सम्बन्धों की विविधपक्षता का अत्यन्त गूढ़ विवेचन किया गया है। कविकुल गुरु कालिदास इन्हीं वैदिक एवं पौराणिक आख्यानों को आधार बनाकर अपने प्रसिद्ध नाट्यकाव्य ''विक्रमोर्वशीयम्'' के विषय-वस्तु को अतीव सजीवता के साथ भाषा बद्ध किया है। साथ ही काव्य की आत्मा ध्वनि को अपने इस त्रोटक में उपयुक्त किया है। काव्य अथवा रचनाकृति वही कालजयी एवं चिरपुरातन होकर भी चिरनवीन एवं सार्वकालिक प्रासंगिक होती है, जिसमें मानवीय मूल्यों के आदर्श के साथ-साथ उस राष्ट्र एवं समाज की उत्कृष्ट मान्यताएँ एवं उसकी अपनी संस्कृति पूर्णरूप से मुखरित एवं तीव्रतम रूप से अद्भासित होती है। कालिदास द्वारा विरचित ''अभिज्ञानशाकुन्तलम्'' संस्कृत जगत का अद्वितीय नाटक है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी वैदिक संस्कृति का अत्यन्त ही मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है।

(1) यज्ञीय-क्रियाकलाप -

महाकवि कालिदास के ''अभिज्ञानशाकुन्तलम्'' में वैदिक संस्कृति के प्रमुख तत्त्व-यज्ञ अथवा यज्ञीय क्रियाकलापों का सुन्दर निदर्शन मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में कालिदास यज्ञों के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए ही यज्ञशाला का चित्रण करते हैं- **अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं बिना छन्दोमयूयावाण्या।**[5] उन्होंने नाटक के राजा दुष्यन्त को ही यज्ञों की सुरक्षा हेतु उपस्थित किया हैं। द्वितीय अंक में यज्ञीय क्रियाकलापों में विघ्न डालने वाले राक्षसों से रक्षा करते हुए जब दोनों ऋषि कुमार राजा दुष्यन्त से निवेदन करते हैं कि आप कुछ दिन सारथी के साथ रहकर आश्रम को सनाथ कीजिए- **तत्र भवतः कण्वस्य महर्षे रसानिध्याद्रक्षासि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति। तत् कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रममिति।**[6]

तब राजा दुष्यन्त यज्ञ की रक्षा करने हेतु रूकने की सहर्ष स्वीकृति प्रदान करता है। इससे यज्ञीय क्रियाकलापों की महत्ता का दिग्दर्शन होता है। दुष्यन्त के इस कार्य के माध्यम से महाकवि कालिदास नाटक के दर्शकों एवं पाठकों के मन में वैदिक संस्कृति के मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं। इसी प्रकार चतुर्थ अंक में भी जब ऋषि काश्यप शकुन्तला को विदाई के समय आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि पुत्री आओ अभी हवन की गई अग्नियों की प्रदक्षिणा करो- **वत्से इतः सद्योहुताग्नीन प्रदक्षिणीकुरुष्व।**[7] पुत्री ये समिधाओं से प्रज्वलित, वेदी के चारों ओर प्रतिष्ठित, किनारे पर बिछे हुए कुशों से युक्त यज्ञीय अग्नियाँ हव्य वस्तुओं की सुगन्ध से पापों विघ्नों को नष्ट करती हुई तुझे पवित्र करें। महाकवि कालिदास ने सम्पूर्ण अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक की रचना

ही वैदिक संस्कृति के आश्रम व्यवस्था को केन्द्रबिन्दु में रखकर किया है। अधिकांश घटनाएँ ऋषि कण्व एवं ऋषि मारीच के आश्रम में सम्पन्न होती हैं। इससे यह प्रतिध्वनित होता है कि कालिदास वैदिक संस्कृति से पूर्ण रूप से प्रभावित थे।

(2) प्रकृति पूजन -

वैदिक संस्कृति में प्रकृति पूजन का प्रमुख स्थान है। ऋग्वेदिक आर्य अपने सम्पूर्ण गतिविधियाँ प्रकृति के केन्द्र में ही सम्पादित करते थे। इसीलिए वेदों में ऋषियों के द्वारा अग्नि, सूर्य, वायु, जल, पृथ्वी आदि की स्तुति मुक्तकण्ठ से की गई है। ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों में इन प्राकृतिक शक्तियों की ही स्तुति विविध देवों के रूपों में की गई है। वैदिक संस्कृति में प्रतिपादित प्रकृति पूजा महाकवि कालिदास को अत्यन्त प्रिय थी। इसलिए उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों-महाकाव्यों, खण्डकाव्यों एवं नाटकों में प्रकृति को प्रमुखता से चित्रित किया है। ऋतुसंहार नामक खण्डकाव्य तो पूर्णरूपेण प्रकृति वर्णन पर ही आधारित है। किन्तु प्रकृति का अनुपम दृश्य अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने नाटक का प्रारम्भ और समापन प्रकृति वर्णन से ही किया है। वैदिक संस्कृति में प्रकृति अधिकांशतः स्तुत्य रूप में थी, किन्तु अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मानव के सहगामी (भावनात्मक) सम्बन्धों की निर्वाहिका है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रकृति एवं मानव का ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया है, जिसमें दोनों को एक-दूसरे की चिन्ता है तभी तो पंचम अंक में जब राजा प्रतिहारी के द्वारा यह सूचना प्राप्त करता है कि ऋषि कुमार महर्षि काश्यप का सन्देश लेकर आए हैं तो वह सशंकित होता है कि क्या मेरे किन्हीं कुकृत्यों से लताओं में फल-फूल आदि आना रूक गया है- **'आहोस्वित प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरूधां'।**[8] वैदिक संस्कृति में प्रकृति का मानवीकरण किया गया है। जिन प्राकृतिक शक्तियों (अग्नि, जल, वायु, आकाश, पृथ्वी और सूर्य आदि) का विवेचन ऋषियों ने सम्पूर्ण वैदिक संहिताओं में विभिन्न रूपों में किया है उनका महात्म्य महाकवि कालदास ने ''अभिनशाकुन्तलम्'' के मंगलाचरण में किया है-

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्रणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।

अर्थात् जो विधाता की सर्वप्रथम सृष्टि है (अर्थात् जलरूप मूर्ति) जो विधिपूर्वक हवन की गई हवि को देवताओं के पास ले जाती है (अर्थात् अग्निरूप मूर्ति) जो होता है (अर्थात् यजमान रूप मूर्ति) जो दो समय का निर्धारण करती है (अर्थात् सूर्य और चन्द्र रूपी मूर्तियाँ जो दिन और रात को बनाती हैं) शब्द जिसका गुण है और जो विश्व में व्याप्त होकर विद्यमान है (अर्थात् आकाश रूपी मूर्ति) जिसको (विद्वान) समस्त बीजों का कारण कहते हैं (अर्थात् पृथ्वी रूप मूर्ति) और जिससे सभी प्राणी जीवित रहते हैं (अर्थात् वायुरूप मूर्ति) उन प्रत्यक्ष आठ मूर्तियों से युक्त ईश्वर (शिव) आप लोगों की रक्षा करें। इस प्रकार नाटक के आरम्भ में ही कालिदास ने प्रकृतिमय देवी देवताओं की स्तुति के माध्यम से प्रकृति-पूजा के महत्व को पाठकों और दर्शकों के माध्यम से पाठकों और दर्शकों के सम्मुख विस्तृत रूप से वर्णित कर दिया है। वे अपने इस स्तुति में सम्पूर्ण सृष्टि का कारक एवं संचालक जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश एवं वायु को बताते हैं और इन समस्त तत्त्वों को शिव में समाहित करते हुए कहते हैं कि वह शिव आप सबकी रक्षा करें अर्थात् वैदिक सिद्धान्त

''एक सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'' को भी यहाँ पर स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया गया है। जिस प्रकार ऋषियों ने उस एक परमात्मा को विविध रूपों (पृथक् पृथक् देवताओं के रूप में) वर्णित किए है, उसी प्रकार कालिदास ने भी एकमात्र परमेश्वर शिव अर्थात् ईश्वर को विविध रूपों (अष्टमूर्तियों के रूप में) वर्णित किया है। वैदिक काल में वर्णित प्रकृति पूजा का यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् का आरम्भ ही इन प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति किया गया है। इसी प्रकार चतुर्थ अंक में शकुन्तला के विदाई गमन के समय कालिदास वायु की स्तुति करते हुए कहते हैं कि वायु शान्त एवं अनुकूल हो तथा कल्याणकारी हो- ''शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थः।'' वेदों में प्राकृतिक शक्तियों के रूप में नदियों की स्तुति भी प्रमुखता से की गई है। यथा- सरस्वती, शतद्रू, विपाशा आदि। इन नदियों के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए ही कालिदास ने नाटक में महर्षि कण्व का आश्रम मालिनी नदी के तट पर वर्णित किया है। नाटक की प्रमुख घटना अंगूठी (अभिज्ञान का माध्यम) का खोना भी शची तीर्थ में सम्पादित करवाना नदियों के प्रति दर्शकों और पाठकों का ध्यान केन्द्रित करने हेतु ही प्रयोजित की हुई प्रतीत होती है। नदियाँ जल का प्रमुख स्रोत हैं। मानव का जीवन जल पर आश्रित है। अतः उन नदियों का संरक्षण करना व स्वच्छ रखना मानव का परम कर्तव्य है। इसी उद्देश्य से महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नदियों का चित्रण किया है।

(3) अहिंसा-

अहिंसा वैदिक संस्कृति की प्रमुख विशेषता है, जिस पर वैदिक ऋषियों ने विशेष बल दिया है। इस विशिष्टता का चित्रण अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में भलीभाँति दृष्टिगत होता है- ''आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।'' इस प्रकार महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में वैदिक संस्कृति के सभी प्रमुख पक्षों यज्ञ अथवा यज्ञीय क्रियाकलाप, प्रकृति-पूजा, अहिंसा धर्म एवं सदाचरणों को प्रसंगतः सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। महाकवि कालिदास के रूपकों में वैदिक क्रिया-कलापों यथा- यज्ञ, प्रकृति-पूजा इत्यादि का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। तत्कालीन समाज के लोगों का यह दृढ़ विश्वास था कि इस सृष्टि में जो कुछ भी हो रहा है, वह सब कुछ यज्ञादि क्रियाओं के प्रभाव से हो रहा है। इसी भावना से ओत-प्रोत होकर तत्कालीन समाज के लोग खूब यज्ञादि करते थे। जिससे वायुमण्डल शुद्ध होता था तथा प्रकृति में सन्तुलन बना रहता था। लेकिन वर्तमान में मानव भौतिकवादिता की होड़ में आकर मोटरकारादि साधनों से क्लोरोफ्लोरो-कार्बन जैसी अनेक प्रदूषित गैसों का विसर्जन वायुमण्डल में कर रहा है, जिससे अनादृष्टि अतिवृष्टि सूखा इत्यादि समस्याएँ उत्पन्न हो रही है। आवश्यकता है कि मानव प्रकृति का दोहन करें, किन्तु प्रकृति का शोषण करने पर प्रकृति मनुष्य को अपने अनुकूल चलने के लिए विवश कर देती है।

सन्दर्भ -

1. *नाट्यशास्त्र 1.17*
2. *नाट्यशास्त्र 1.18*
3. *मालविकाग्निमित्रम् 1.1*
4. *मालविकाग्निमित्रम् 3.4*
5. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4,3 के बाद*
6. *वही, 2,15 के बाद*
7. *वही, 4,7 के बाद*
8. *वही, 5.9 के बाद*
9. *वही, 1.1*
10. *वही, 4.11*
11. *वही, 1,9 के बाद*

3

गृह्यसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में कालिदास के रूपकों का अवलोकन

शिल्पा सिंह

विश्वसाहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ वेद है। वेद के छः अंग हैं-शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष। 'हस्तौकल्पः' वेदपुरुष का हाथ कल्प को स्वीकृत किया गया है। वेदांगों में कल्पशास्त्र के ज्ञान के बिना कोई भी यज्ञ कार्य सम्पादित नहीं हो सकता है। 'कल्प' वेदविहित कर्मों की क्रमपूर्वक व्याख्या करने वाला शास्त्र है- 'कल्पयते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र इति'। कल्पसूत्रों की संख्या चार हैं- श्रौत्र सूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्बसूत्र। इनमें एक एकाग्नि साध्य जातकर्मादि संस्कार कर्मों के प्रतिपादक गृह्यसूत्र होते हैं। वेद शाखा भेद से गृह्यसूत्र अनेक हैं। श्रुति परम्परा होने से ऋषि के नाम से यह गृह्यसूत्र है, यथा आपस्तम्ब महर्षि द्वारा प्रणीत आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र (कृष्णयजुर्वेद), बौधायन ऋषि प्रणीत बौधायन-गृह्यसूत्र (कृष्णयजुर्वेद), आश्वलायन ऋषि प्रणीत आश्वलायन-गृह्यसूत्र (ऋग्वेद), पारस्कर ऋषि प्रणीत पारस्कर-गृह्यसूत्र (शुक्लयजुर्वेद) आदि हैं। 'गृह्य' शब्द का अर्थ योगरूढ़ है। गृह के लिये और गृहस्थाश्रम धर्म के हित के लिये 'गृह' एक यौगिक प्रयोग है, खादिरगृह्यसूत्र के अनुसार-**'यस्मिन्नग्निपाणिं गृह्णीयात् स गृह्यः'**।[1] 'गृह' शब्द के पर्याय के रूप में 'औपासन' और 'आवसथ' प्रयुक्त होते हैं। स्मार्ताग्नि की 'गृह्य', 'औपासन' और 'आवसथ्य' संज्ञायें हैं। पारस्कर-गृह्यसूत्र में यह उद्धरण प्राप्त होता है- **स्थालीपाकानां कर्म**[2] **आवसथ्याधानम्**[3]**, औपासनस्य परिचरणम्**[4] **।** इस प्रकार गृहाग्नि में होने वाले कर्मों की संज्ञा 'गृह्य' है और उन कर्मों का संक्षेप में कथन ही 'गृह्यसूत्र' है। संस्कृत-साहित्य अत्यन्त विशाल एवं सर्वांगपूर्ण साहित्य है। इसकी विशालता एवं व्यापकता को समझने के लिये चारों वेदों, उपवेदों, व्याकरण, ज्योतिष आदि छः वेदांगों, माण्डूक्य, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों, ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणों, आरण्यकों, अष्टारह पुराणों, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त-मीमांसा, सांख्य-योगादि षड्दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्य के सभी अंगों, महाकाव्यों, खंडकाव्यों, चम्पूकाव्यों, कथा तथा नाट्यशास्त्र, दशरूपक, काव्यालंकार, काव्यादर्श, ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। इन सबका अवलोकन कर लेने के पश्चात् संस्कृत-साहित्य की व्यापकता एवं सर्वांगीणता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। संस्कृत-साहित्य में मानव के लिये निर्धारित चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का विवेचन अत्यन्त ही मार्मिक ढंग से हुआ है। संस्कृत-साहित्य में आध्यात्मिक अनुष्ठान के लिये श्रेय और भौतिक विकास के साधन के लिये प्रेय दोनों का सम्यक् विवेचन किया गया है।

कवि के कर्म को काव्य कहा जाता है 'कवेःकर्म काव्यम्' कवि अपार काव्य संसार का स्रष्टा है और उसका कर्मकाव्य सृष्टि भी अलौकिक गुणों से विभूषित होती है। कवि में दर्शन एवं वर्णन दोनों का ही अनुपम

सामर्थ्य विद्यमान है। वह अपने प्रातिभचक्षु से न केवल वर्तमान अपितु अतीत, भविष्य व्यवहित- अव्यवहित सभी पदार्थों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवलोकन करने में समर्थ होता है। इसलिये वह क्रांतदर्शी कहलाता है। उसके लिये यह उक्ति चरितार्थ होती है- 'यत्र न रविस्तत्र कवि' यही उसका स्वरूप भी है।

कालिदास ने वेद, वेदांत, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र, संगीत, आयुर्वेद आदि विविध शास्त्रों का अध्ययन किया था। उन्होंने सम्पूर्ण भारत के पर्वतों, नदियों, वनों का सजीव वर्णन किया है। कालिदास जन्मतःब्राह्मण थे। वे सामान्यतः देवतामात्र के प्रति श्रद्धालु होते हुये भी शिव के प्रति अधिक आस्थावान् थे। उनका वर्णाश्रम धर्म के प्रति अटूट विश्वास था। वह राजप्रसाद से लेकर आश्रमों तक के जीवन से पूर्णतया परिचित थे। आश्रम प्रधान संस्कृति तथा कर्तव्यनिष्ठ तपपूर्ण जीवन के पक्षधर थे। उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त था, यह बात उनकी रचनाओं की उन अगणित सूक्तियों से प्राप्त होती हैं जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की, प्रत्येक परिस्थिति में हमें शिक्षा देती हैं और हमारा मार्गदर्शन भी करती हैं।

कालिदास के रूपकों में तीन रूपक विशेष रूप से हमारे सामने उपस्थित होते हैं-मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल। संस्कृत वाङ्मय में भगवान् वेदव्यास एवं महर्षि वाल्मीकि के पश्चात् सर्वाधिक लोकप्रिय महाकवि कालिदास हैं। संस्कृत-साहित्य में महाकवि कालिदास को कविरत्न स्वीकृत किया गया है। कालिदास की अद्वितीय रचनाओं में उनके तीन रूपक मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान शाकुन्तल का नाम जगत् प्रसिद्ध है। गृह्य कर्मों का उद्गम या केन्द्र विवाह-संस्कार ही है इसलिये पारस्कर-गृह्यसूत्र में सर्वप्रथम विवाह- संस्कार का विवेचन है। विवाह पद्धति के अन्तर्गत पारस्कर-गृह्यसूत्र के भाष्य में भाष्यकार गदाधर स्मृतियों का उद्धरण देते हुये विवाह के भेद बतलाते हैं-

अथविवाहभेदाःमनुः-

ब्राह्मोदैवस्तथाचार्षः, प्राजापत्यस्तथाऽसुरः। गान्धर्वोराक्षसश्चैवपैशाचस्त्वष्टमोमतः।।
चत्वारो ब्राह्मणस्याद्या, राज्ञांगान्धर्वराक्षसौ। राक्षसश्चासुरो वैश्ये, शूद्रे चान्त्यस्तुगर्हितः।।
अन्त्यःपैशाचः। याज्ञवल्क्यः गान्धर्वादिष्वपि पतिभावाय पश्चाद्धोमादिसप्तपदीपर्यन्तं कार्यम्,
गान्धर्वासुरपैशाचाविवाहो राक्षसश्च यः। पूर्वपरिग्रहस्तेषुपश्चाद्धोमोविधीयते।।[5]

स्पष्ट है कि गान्धर्व-विवाह में भी पति के लिये होमादि सप्तपदी पर्यन्त विधि कर्म करना चाहिये। महाकवि कालिदास के रूपक अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीय अंक में गान्धर्व-विवाह का दृश्य आता है। जहाँ शील, संकोच की प्रतिमूर्ति दुष्यन्त के प्रति आसक्त चिंत्ता रहती है साथ ही धर्म का ज्ञान होने से भयभीत भी रहती है। शकुन्तला के सदृश दुष्यन्त के हृदय में भी प्रेमभाव रहता है। दुष्यन्त शकुन्तला के हृदय के भाव जानकर कहता है- **भीरु! अलंगुरुजनभयेन। दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभावान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः। अपि च- गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः। श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिंनन्दिताः।।**[6] अर्थात् हे भय शीले! गुरुजनों से डरो मत तुम्हें देखकर धर्म को जानने वाले पूज्य कण्व इस विषय में दोष नहीं मानेंगे और भी बहुत सी राजर्षियों की कन्यायें गान्धर्व-विवाह के द्वारा विवाहित हुयी हैं और वह पिता आदि के द्वारा अनुमोदित भी की गयी है, ऐसा सुना जाता है। इस प्रकार कन्या तथा वर के पारस्परिक प्रणय इच्छा से दोनों की स्वीकृति द्वारा होने वाला विवाह 'गान्धर्व- विवाह' कहलाता है। पारस्कर गृह्यसूत्र में कथन है कि गृहाग्नि में पंच महायज्ञ करना चाहिये **'पंचमहायज्ञा इति श्रुतेः'।।**[7] अर्थात् प्रत्येक गृहस्थ को पंचमहायज्ञ (ब्रह्म, देव, पितृ, भूत,

नृयज्ञ) करना चाहिये। अतः पंचमहायज्ञ का आधार अग्नि है। महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुंतल में पंचमहायज्ञ की चर्चा दृष्टिगोचर होती है- दुष्यन्त के प्रति आसक्त शकुन्तला अपनी सखियों से कहती है-

तद्यपिवामनुमतं तथा वर्तेथां यथातस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि।अन्यथाऽवश्यं सिञ्चतं मे तिलोदकम्।[8]

अर्थात् यदि तुम दोनों की अनुमति हो तो वैसा प्रयत्न करो जिस प्रकार में उस राजर्षि (दुष्यन्त) की कृपापात्र हो जाऊं, नहीं तो अवश्य ही मुझे तिलमिश्रित जल देना। तिलमिश्रित जल देने का कार्य पितृतर्पण में होता है। पंचमहायज्ञ में पितृतर्पण का कार्य ही 'पितृयज्ञ' है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में दुष्यन्त के कण्व ऋषि के आश्रम आने पर अतिथि सत्कार 'नृयज्ञ' है। वहीं चतुर्थांक में कण्व ऋषि कहते हैं-

शममेष्यति मम शोकःकथं नु वत्सेत्वयारचितपूर्वम्। उटजद्वारविरूढं नीवारबलिंविलोकयतः।।[9]

'नीवारबलि' एक धान्य विशेष है। इसका 'बलिवैश्व' या 'भूतयज्ञ' के लिये आश्रम के ऋषि उपयोग करते थे। पशु आदि जीवों को खाने के लिये जिन नीवार धान्यों को शकुन्तला ने कुटीर के द्वार पर बिखेर दिया था, वह जल के संयोग से उग आये हैं। शकुन्तला से कण्व ऋषि कहते हैं कि- तुम्हारे पतिगृह जाने पर उन नीवार धान्यों को देखकर मैं अपने कष्ट को कैसे रोक सकता हूँ। इस प्रकार यहाँ भूतयज्ञ का संकेत स्पष्ट है। भूतयज्ञ में भूत से अभिप्राय पशु-पक्षी आदि विविध जीव से है। शकुन्तला द्वारा बलि के रूप में बिखेरा गया नीवार-धान्य पक्षियों का भोजन बनता है। इस प्रकार पंचमहायज्ञों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

गृह्यसूत्रों में निर्देशित जातकर्म-संस्कार का वर्णन महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल में दृष्टिगत होता है। राजा दुष्यन्त द्वारा बालक सर्वदमन के हाथ से गिरने वाले रक्षासूत्र को उठा लिया जाता है क्योंकि वह रक्षासूत्र माता-पिता के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं उठा सकता था-

प्रथमा-श्रृणोतु महाराजः। एषाऽपराजितानामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवतामारीचेन दत्ता। एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरोभूमिपतितां न गृह्णाति।[10]

विक्रमोर्वशीय के पंचम-अंक में भी जातकर्म-संस्कार का उल्लेख प्राप्त होता है। राजा पुरूरवा को अपने पुत्र के होने का ज्ञान तापसी द्वारा प्राप्त होता है-

तापसी- श्रृणोतु महाराजः। एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एक उर्वश्या किमपिनिमित्तमवेक्ष्य मम हस्तेन्यासी—तः। यत्क्षत्रिय कुमारस्य जातकर्मादिविधानंसदस्य भगवताच्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्। गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः।[11]

अर्थात् तापसी कहती है कि- सुनिये महाराज! जब यह चिरञ्जीवी उत्पन्न हुआ तभी कुछ विचार कर उर्वशी इसे मेरे पास छोड़ गयी। क्षत्रिय कुमार के जितने जातकर्मादि संस्कार हैं, वह सब भगवान् च्यवन ऋषि ने कर दिये और विद्या ग्रहण करने पर धनुर्वेद की शिक्षा से भी शिक्षित कर दिया है। गृह्यसूत्रों में उपनयन-संस्कार के अन्तर्गत वेदाध्ययन एवं ब्रह्मचर्य-व्रत का निरूपण विस्तार के साथ प्राप्त होता है- **अधः शाय्यक्षारालवणाशी स्यात्। दण्डधारणमग्निपरिचरणंगुरुशुश्रुषा भिक्षाचर्या। मधुमांसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतदत्तादानादिवर्जयेत्। अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणिवेदब्रह्मचर्यचरेत्। द्वादश द्वादश वा प्रतिवेदनम्। यावद्ब्राह्मणंवा।।**[12]

ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य में रहता हुआ अड़तालीस वर्ष तक वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य का पालन करें अथवा प्रत्येक वेद को बारह-बारह वर्षों में पढ़े अथवा जब तक वेद का ज्ञान न हो जाये तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करे। ब्रह्मचर्य-आश्रम के पश्चात् ही गृहस्थ-आश्रम धर्म का क्रम आता है। विक्रमोर्वशीय में उल्लेख है-

तापसी-वत्से! गृहीतविद्य आयुःसाम्प्रतंकवचहरःसंवृत्तः।[13]अर्थात् हे महाराज! विद्या ग्रहण कर चुका यह कुमार अब कवच धारण करने योग्य हो गया है। **राजा-अयि वत्स! उषितंत्वयापूर्वस्मिन्नाश्रमे। द्वितीयध्यासितुंतव समयः।**[14] अर्थात् वत्स ! तुम ब्रह्मचर्य आश्रम में रह चुके हो अब तुम्हें द्वितीय गृहस्थ आश्रम में जाकर रहना चाहिए। साहित्य समाज का दर्पण होता है। इसका अभिप्राय यही है कि जिस काल में जिस साहित्य का निर्माण होता है उस साहित्य में तत्कालीन समाज आदि की स्थिति भी कवि के द्वारा अनायास ही वर्णित हो जाती है। कालिदास के रूपकों में हम देखते हैं कि वर्णाश्रम व्यवस्था उस समय अपने अस्तित्व में था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। ब्राह्मण का मुख्य कर्म अध्ययन-अध्यापन और यज्ञादि कृत्यों का सम्पादन था। महर्षि कण्व और मारीच ऐसे ही ब्राह्मण महर्षि थे। क्षत्रिय लोग देश की रक्षा और शासन करते थे, प्रजापालन ही उनका मुख्य कर्तव्य था। वैश्यों को 'श्रेष्ठा' कहा जाता था। धनमित्र भी ऐसा ही धनी वैश्य था। शूद्र का कर्म समाज की सेवा करना था। शिक्षा पर यदि दृष्टि डाली जाये तो उस समय शिक्षा व्यवस्था आश्रमों के गुरुकुल में होती थी। महर्षि कण्व का आश्रम भी एक गुरुकुल था। कुलपति के संरक्षण में ब्रह्मचर्य धारण करते हुये शिष्य-शिष्यागण शिक्षा प्राप्त करते थे। शार्ङ्गरव, शारद्वत, अनसूया तथा प्रियंवदा आदि शिष्य-शिष्यायें कण्व के गुरुकुल में विद्याध्ययन में संलग्न थे। विवाह के अन्तर्गत यदि देखा जाये तो उस समय गान्धर्व-विवाह का अस्तित्व था। इस प्रकार गृह्यसूत्रों के तत्त्वों का समावेश महाकवि कालिदास के रूपकों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

सन्दर्भ -

1. *खादिरगृह्यसूत्र 1/5/1*
2. *वही, 1/1/1*
3. *वही, 1/1/1*
4. *वही, 1/8/1*
5. *वही, 1/8/14-21, पृष्ठसंख्या 112*
6. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 3/22*
7. *पारस्करगृह्यसूत्र 1/2/6*
8. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् ,तृतीय अंक, पृष्ठ संख्या 109*
9. *वही, 4/21*
10. *वही, सप्तम अंक, पृष्ठ संख्या 316*
11. *विक्रमोर्वशीयम्, पंचम अंक, पृष्ठ संख्या 225*
12. *पारस्कर गृह्यसूत्र 2/2/10-15*
13. *विक्रमोर्वशीयम्, पंचम अंक, पृष्ठ संख्या 228*
14. *वही, पंचम अंक, पृष्ठ संख्या 228*

4

वैदिक वाङ्मय में कालिदास के अष्टमूर्ति शिवतत्त्व का चिन्तन

कपिलदेव हरिकृष्ण शास्त्री

वेद हिन्दु धर्म के मूल है -**'वेदोऽखिलो धर्म मूलम्'**। यदि किसी धार्मिक मान्यता या अवधारणा मूल खोजना है तो वेदों में जाना होगा। वहीं जाकर स्पष्ट होगा कि मूल धारणा क्या थी, वह कैसे और किस रूप में उत्पन्न हुई? ब्राह्मण ग्रन्थों में शिवजी के आठ अभिधानों को लेकर एक सुन्दर कथा निर्माण किया गया है। कथा का प्राचीनतम रूप संभवतः ऋग्वेदीय कौषितकी ब्राह्मण में प्राप्त होता है। इसमें कहा गया है कि अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमा इन चार ज्योतियों के सम्मिलित तेज से एक सहस्रहस्त, सहस्रचरण और सहस्राक्ष विशालपुरुष जन्म हुआ। जन्म होते ही उसने प्रजापति को जाकर तुरन्त मिला। जब प्रजापति ने उससे पूछा कि तुम क्या चाहते हो तो उसने कहा कि मेरा कोई नाम रखो। जब तक किसी व्यक्ति का कोई नाम नहीं होता तब तक वह संसार की योग्य वस्तुओं का उपभोग करने का अधिकारी नहीं होता- स प्रजापतिः हिरण्मयं चमसमकरोद् इषुमात्रं ऊर्ध्वमेवं तिर्यञ्च। तस्मिन् रेतः समसिञ्चत तत उदतिष्ठत् सहस्राक्षः सहस्रपात् सहस्रेण प्रतिहिताभिः। स प्रजापतिं पितरमभ्यागच्छत्। तमब्रवीत् कथा मां अभ्यच्छसीति। ''नाम मे कुर्वीत'' इत्यब्रवीत्, ''न वै अविहितेन नाम्ना अन्नम् अत्स्यामीति''। कौ.ब्रा.6.1. प्रजापति उसके क्रमशः आठ नाम रखते हैं जो अष्टमूर्ति शिव के हैं,उस प्रत्येक नाम का एक-एक अर्थ बताते हैं, या उस नाम का एक-एक भौतिक या दैविक तत्त्व से तादात्म्य करते हैं। जो इस प्रकार है - भवः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रदेवः, महानदेवः, रुद्रः, ईशानः तथा अशनिः इनका क्रमशः इन तत्त्वों से तादात्म्य किया गया है- 1.भवः=आपः, 2.शर्वः=अग्निः, 3.पशुपतिः=वायुः, 4. उग्रदेवः=औषधयः, 5. महानदेवः=आदित्यः, 6.रुद्रः=चन्द्रमाः, 7.ईशान=अन्नम्, 8. अशनिः=इन्द्रः। जब प्रजापति उस सहस्राक्ष पुरुष रुद्र के आठ नाम रखते हैं और इन नामों का अर्थ उस पुरुष को बताते हैं तो वह सन्तुष्ट हो जाता है और अपना 'अशनि' नाम सुनकर कहता है कि मेरे इतने नाम पर्याप्त है और अधिक नाम रखने की आवश्यकता नहीं है।

संस्कृत के महाकवियों में कालिदास ही ऐसे कवि हैं, जिन्हें शिवजी का अष्टमूर्ति विशेषण विशेष प्रिय है, अपने काव्यग्रंथों में कई स्थानों पर इसका प्रयोग किया है, रघुवंश में नंदिनी द्वारा उद्भावित मायासिंह दिलीप को अपना परिचय देता हुआ कहता है -

कैलास गौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रह पूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भ मित्रम्।।[1]

यहाँ कालिदास रचित काव्यों के यशस्वी टीकाकार कोलाचलमल्लिनाथ यादव कोश से उदाहरण देते हुए इस शब्द की व्याख्या में कहते हैं कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा तथा सोमयाग का अनुष्ठान करने वाला यजमान ये शिवजी के आठ मूर्तियाँ हैं -–

पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च। सूर्यचंद्रमसौ सोम्याजी चेत्यष्ट मूर्तयः।।

कालिदास ने स्वकीय सर्वोत्कृष्ट अभिज्ञानशकुन्तलम् नाटक के सर्वप्रथम मांगलिक श्लोक से आरम्भ में ही शिवजी की आठ भौतिक मूर्तियों द्वारा विश्व में प्रत्यक्षतया अवभासित किया है, जिनकी सत्ता की पुष्टि के लिए अन्य किसी 'अनुमान' या 'शब्द' आदि प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वे शिवजी आप लोगों की रक्षा करें। मगंलाचरण का शब्द विन्यास इस प्रकार है-

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।[2]

इस श्लोक में कालिदास ने शिवजी की विभिन्न मूर्तियों का नामतः उल्लेख नहीं करते, अपितु उस उस भौतिक तत्त्वों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उस मूर्ति विशेष को ध्वनित करते हैं। शिवजी की प्रथम मूर्ति वह है जो स्रष्टा की सर्वप्रथम सृष्टि है (जल), द्वितीय मूर्ति वह है जो विधिपूर्वक हवन की गई हवि को देवताओं के पास ले जाती है (अग्नि), तृतीय मूर्ति वह है जो इस हवी को यज्ञाग्नि में डालती है (यजमान), चतुर्थ और पञ्चम मूर्ति वे हैं जो समय का निर्धारण एवं नियमन करती हैं (सूर्य और चन्द्र) षष्ठ वह है जो समस्त विश्व को व्याप्त किया हुआ है और जिसका गुण शब्द है (आकाश), सप्तम मूर्ति समस्त प्राणियों की उद्गम स्थली है (भूमि), और अन्तिम अष्टमूर्ति वह है जिससे विश्व के प्राणी प्राणवान रहते हैं (वायु), कालिदास ने इन अष्टमूर्तियों के लिए प्रत्याक्षाभिः यह पद प्रयुक्त किया है, अर्थात् ये आठ मूर्तियाँ संसार में प्रत्यक्ष दृष्टीगोचर होती हैं। इससे कालिदास का संकेत है कि प्रत्यक्ष मूर्तियों को धारण करने वाला इस जगत के नियामक की सत्ता संदेह से परे है। अपितु सत्य तो यह है कि विश्व का प्रत्येक कण उनकी सत्ता को व्यक्त करता है। कालिदास ने कुमारसंभव में शिवजी को विश्वमूर्ति कहा है -–**न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः।**[3] कालिदास ने अनेक स्थलों पर अत्यन्त आदरपूर्वक वेद का उल्लेख किया है। संभवतः वे स्वयम् श्रोत्रिय थे। अभिज्ञानशाकुन्तलं में वे यज्ञ संपादन हेतु पशु मारण के लिये बाध्य श्रोत्रिय का पक्ष लेते हैं- **पशु मारण कर्म दारुणः अनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रियः।**[4] महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलं नाटक की चतुर्थ अंक में वे कण्वऋषि द्वारा वैदिक त्रिष्टुप छन्द के मंत्र से शकुन्तला को आशिर्वाद दिलवाते हैं जिससे उनका वैदिक संहिताओं से परिचय निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध होता है। अतः शिवजी की विषयवस्तु को समझाने के लिए वैदिक वाङ्गमय में प्रवेश करना होगा। ऋग्वेद में रुद्र के स्वरुप पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि उनके लिये ऋषिगण उग्र तथा ईशान विशेषणों का प्रायः प्रयोग करते हैं- **मृगं ना भीममुपहत्नुमुग्रम्।**[5] **स्थिरेभिरङ्गः पुरुरूप उग्रो।**[6] **उग्रं मरुद्भि रुद्रं हुवेम।**[7] रुद्र स्वरुपों में जो रौद्रता या भयंकरता है, उसको देखते हुए उनके लिए 'उग्र' विशेषण का प्रयोग स्वाभाविक है। प्रथम उदाहरण में संग्रथित 'भीम' शब्द उनकी भयंकरता का वाची है। 'ईशान' का अर्थ होता है ईश्वर, संसार पर राज्य करने वाला, सृष्टि का नियामक। रुद्र के ऐश्वर्य को दृष्टि में रखते हुए ऋग्वेद का ऋषि कहता है- **ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद् रुदादसुर्यम्।**[8]

अस्य भूरेः ईशानः का अर्थ है इस विशाल भुवन के नियामक, रुद्र शिव कि शक्ति एवं सामर्थ्य को देखते हुए उन के लिए इस विशेषण का प्रयोग भी योग्य है। लौकिक संस्कृत मे भी ईशान, ईश, ईश्वर, महेश तथा महेश्वर शब्द से शिवजी को द्योतित करते हैं। तथा अथर्ववेद में रुद्र के स्वरुप का विश्लेषण करने पर और दो प्रमुख विशेषणों पर दृष्टि जाती है, यह है पशुपति और महादेव। पशुपति शब्द लगभग दश स्थलों पर रुद्र के लिए प्रयुक्त किया गया है-

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्।[9]
मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मामवतु।[10]

'महादेव' उपाधि रुद्र के लिए सर्वप्रथम अथर्ववेद में प्रयुक्त हुआ है। अनन्तर धीरे धीरे शिवजी के लिए प्रयुक्त सर्वाधिक प्रचलित विशेषण बन गया। शतपथब्राह्मण (1.7.3.8.) में ''शर्व और भव को कालाग्निरुद्र के दो पृथक नाम हैं। पूर्व में रहने वाले अग्नि को शर्व कहते हैं और पश्चिम में उसी को भव'' कहते हैं। **अग्निर्वै स देवः तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते, भव इति वाहीका। पशूनां पतिः रुद्रोऽग्निरिति।।**[11] इस प्रकार वैदिक वङ्गमय में रुद्र, के लिये उग्र, पशुपति, ईशान, शर्व, महादेव तथा भव ये 6 प्रमुख नाम अथवा विशेषण हैं। एक सातवां विशेषण और है जिसे कहीं 'भीम' और कहीं 'अशनि' वज्रशब्द से अभिहित किया गया है। 'भीम' का अर्थ भयंकर यह ऋग्वेद में रुद्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'अशनि' वज्र को कहते हैं। रुद्र को ऋग्वेद में वज्रबाहु कहा गया है- **श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियौसि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।**[12]

इस प्रकार वैदिकवङ्मय में 1. रुद्र, 2. उग्र, 3. ईशान, 4. पशुपति, 5. महादेव, 6. भव, 7. शर्व, 8.भीम/अशनि ये आठ नामों की प्रमुख विशेषण हैं। विश्व का निर्माण करने वाले पञ्चमहाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तथा आकाश तो उसके स्वरूप हैं ही, साथ ही सूर्य एवं चन्द्रमा तथा यजमान शिवभक्त भी उनकी अन्य तीन मूर्तियां हैं और इस प्रकार वे अष्टमूर्ति हैं; क्योंकि ये अष्टमूर्तियां प्रत्येक मनुष्य के समक्ष सदा सर्वदा उपस्थित हैं, वह सर्वदा इनका अनुभव करता रहता है। इसलिये कहा जा सकता है कि उसे शिवजी की सत्ता की हर समय प्रत्यक्ष अनुभूति होती रहती है। ऐसे शिवजी के अस्तित्व के लिये किसी भी अन्य प्रमाण को उपन्यस्त करने की आवश्यकता नहीं।

अष्टमूर्ति की यह अवधारणा संस्कृत साहित्य में सामान्यतया परिज्ञात या प्रचलित नहीं है और बहुलतया उपलब्ध नहीं होती। पुराणों मे भी इसका विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं होता। इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कालिदास को यहा अवधारणा कहां से प्राप्त हुई? कब से यह अवधारणा शिवजी के साथ जुड़ी हुई है और क्या यह अपने मूलरूप में भी ऐसी ही थी या इसमें विकास की कुछ कडियां खोजी जा सकती है? वेद हिन्दु धर्म के मूल है -'वेदोखिलो धर्म मूलम्'। यदि किसी धार्मिक मान्यता या अवधारणा मूल खोजना है तो वेदों में जाना होगा। वहीं जाकर स्पष्ट होगा कि मूल धारणा क्या थी, वह कैसे और किस रूप में उत्पन्न हुई? ब्राह्मण ग्रन्थों में शिवजी के आठ अभिधानों को लेकर एक सुन्दर कथा निर्माण किया गया है। कथा का प्राचीनतम रूप संभवतः ऋग्वेदीय कौषितकी ब्राह्मण में प्राप्त होता है। इसमें कहा गया है कि अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमा इन चार ज्योतियों के सम्मिलित तेज से एक सहस्रहस्त, सहस्रचरण और सहस्राक्ष विशालपुरुष जन्म हुआ। जन्म होते ही उसने प्रजापति को जाकर तुरन्त मिला। जब प्रजापति ने उससे पूछा कि तुम क्या चाहते हो तो उसने कहा कि मेरा कोई नाम रखो। जब तक किसी व्यक्ति का कोई नाम नहीं होता तब

तक वह संसार की योग्य वस्तुओं का उपभोग करने का अधिकारी नहीं होता- स प्रजापतिः हिरण्मयं चमसमकरोद् इषुमात्रं ऊर्ध्वमेवं तिर्यंच। तस्मिन् रेतः समसिञ्चत तत उदतिष्ठत् सहस्राक्षः सहस्रपात् सहस्रेण प्रतिहिताभिः। स प्रजापतिं पितरमभ्यागच्छत्। तमब्रवीत् कथा मां अभ्यच्छसीति। **''नाम मे कुर्वीत'' इत्यब्रवीत्, ''न वै अविहितेन नाम्ना अन्नम् अत्स्यामीति''**।[13] प्रजापति उसके क्रमशः आठ नाम रखते हैं और प्रत्येक नाम का एक-एक अर्थ बताते हैं, या उस नाम का एक-एक भौतिक या दैविक तत्त्व से तादात्म्य करते हैं। जो इस प्रकार है भवः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रदेवः, महानदेवः, रुद्रः, ईशानः तथा अशनिः इनका क्रमशः इन तत्त्वों से तादात्म्य किया गया है- 1. भवः=आपः, 2. शर्वः=अग्निः, 3. पशुपतिः=वायुः, 4. उग्रदेवः=औषधयः, 5. महानदेवः=आदित्यः, 6.रुद्रः=चन्द्रमाः, 7.ईशान=अन्नम्, 8.अशनिः=इन्द्रः।

जब प्रजापति उस सहस्राक्ष पुरुष रुद्र के आठ नाम रखते हैं और इन नामों का अर्थ उस पुरुष को बताते हैं तो वह सन्तुष्ट हो जाता है और अपना 'अशनि' नाम सुनकर कहता है कि मेरे इतने नाम पर्याप्त है और अधिक नाम रखने की आवश्यकता नहीं है। कौषितकी ब्राह्मण के इसी प्रसंग को शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण.6.1.3. में भी सुन्दर रूप से प्रस्तुत किया है। संवत्सर के उषा में निक्षिप्त तेज से एक तेजस्वी बालक का उत्पन्न होता है। उत्पन्न होते ही वह रोने लगता है। प्रजापति उससे पूछते हैं - 'कुमार' क्यों रो रहे हो? इस पर वह कहता है कि अभितक मेरा कोई नाम नहीं है। इसलिये मैं अभि दुर्लक्षणों से युक्त हूं। यही मेरा दुरूख है। प्रजापति कहते हैं तुम रोए हो इसलिये तुम्हारा नाम रुद्र है। रुद्र श्रेष्ठ नाम है। अग्नि को ही रुद्र कहते हैं। अतः इस प्रकार तुम अग्नि हुए। इस पर कुमार कहता है कि नहीं, मैं अग्नि से भी अधिक बडा हूं, उससे भी अधिक महान् हूं। मेरा कोई और नाम रखो। प्रजापति कहते हैं कि उन्हे 'शर्व' नाम रखता हूं। जल को 'शर्व' कहते हैं।

इस नाम से तुम्हारा जल से तादात्म्य हो जायेगा। रुद्र को यह भी नाम पसन्द नहीं आता। वे अपने को जलों से भी बडा समझते हैं। तब प्रजापति उनको ओषधि, वायु, विद्युत्, पर्जन्य, चन्द्रमा तथा आदित्य से तादात्म्य प्रतिपादित करते हैं। अब कुमार को उसका अष्टम नाम 'ईशान' बताते हैं तो वह उससे पूर्ण सन्तुष्ट हो जाता है और प्रजापति से कहता है अब ठीक है। वस्तुतः मै इतना ही हूं, अर्थात् इस सभी भौतिक पदार्थों का सम्मिलित रूप हूं, अब इससे अधिक नाम मत रखो-

संवत्सर उषसि रेतः असिञ्चत। स संवत्सरे कुमारः अजायत। स अरोदीत्। तं प्रजापतिरब्रवीत कुमारं किं रोदिषि? सौब्रवीत् अनपत हतपाप्मा वा अस्मि, अहित नामा। नाम मे धेहीति। तमब्रवीत् रुद्रोऽसि तद् यदस्य नाम अकरोत् अग्निस्तद्रूपमभवत्। अग्निर्वै रुद्रः। सौब्रवीत् ज्यायान् वा अतः अस्मि। धेहि एव मे नाम इति। तमब्रवीत् शर्वोऽसि। आपस्तद्रूपमभवत्। पशुपतिरसि..... ओषधय- स्तदूपमभवत्। उग्रोऽसि ..... वायुस्तद्रूपमभवत्। अशनिरसि .... विद्युत् वा अशनिः। भवोसि पर्जन्यो वै भवः। महान् देवोसि ... चन्द्रमास्तद्रूपमभवत् .....ईशानोसि .... आदित्यो वा ईशानः। सोब्रवीत् एतावान् वा अस्मि। मा इतः परो नाम धाः।।[14]

स्पष्ट है कि कौषितकी तथा शतपथ दोनों ही ब्राह्मणग्रन्थों में शिवजी के आठ अभिधानों का प्रकृति के आठ तत्त्वों से तादात्म्य करते हैं। उनकी दृष्टि में शिवजी के ये अभिधान एक-एक तत्त्वों के वाची हैं और उनसे घनिष्ट सम्बन्ध हैं। किन्तु यहां पर ध्यान देने योग्य है कि शिवजी के अभिधानों में पूर्णतया साम्य होने पर भी जिन प्राकृतिक या दैवीतत्त्वों के ये वाची हैं। उनमें पर्याप्त वैभिन्य दृष्टि गोचर होता है। निम्नोक्त तालिका से स्पष्ट होता है-

प्राकृतिक तत्त्व		
अभिधान	कौषितकी ब्राह्मणम्	शतपथ ब्राह्मणम्
1. रुद्र	चन्द्रमा	अग्नि
2. उग्र	औषधीयां	वायु
3. पशुपति	वायु	औषधीयां
4. ईशान	अन्न	आदित्य
5. महानदेव	आदित्य	चन्द्रमा
6. भव	आपस्	पर्जन्य
7. शर्व	अग्नि	आपस
8. अशनि	इन्द्र	विद्युत्

उपर्युक्त सूची पर दृष्टि देने से विदित होगा कि शतपथ ब्राह्मण में अभिधानों के प्राकृतिक तत्त्वों से तादात्म्य करते समय कुछ अधिक तर्क संगत दृष्टि से सोचा गया है। रुद्र का अग्नि से, पशुपति का औषधीयों से, भव का आपस से तथा ईशान का आदित्य से सम्बन्ध उचित लगता है। कौषितकीब्राह्मण कथा के प्राचीनतर रूप को सुरक्षित रखता है। अब यदि हम शतपथब्राह्मण के उन प्राकृतिक तत्त्वों पर दृष्टि दें, जिनका रुद्र शिवजी के साथ तादात्म्य किया गया है तो हमारे सम्मुख निम्नोक्त स्थिति आती है- 1.जल (आपस्)–शर्व। 2. वायु-उग्र। 3. अग्नि-रुद्र। 4. औषधियां-पशुपति। 5. विद्युत्-अशनि। 6. सूर्य–ईशान। 7. चन्द्रमा–महान देव। 8. मेघ-भव।

इस सूचि का ध्यान से अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि कालिदास द्वारा अभिज्ञानशाकुन्तल की नान्दी में उल्लेखित आठ में से पांच (जल, वायु, अग्नि, सूर्य, तथा चन्द्रमा) तो शतपथ ब्राह्मण में ही प्राप्य है। अब प्रश्न है कि शेष तीन पृथ्वी, आकाश, एवं यजमान कहां से आए? यहां हमें तीन असंगत तत्त्व प्राप्त होते हैं औषधियां, विद्युत् तथा मेघ, जिसे कौषितकीब्राह्मण में 'अन्न' की संज्ञा दी गई है। इन्ही तीन तत्त्वों को हटाकर वैदिकयुग में पृथ्वी,आकाश और यजमान को सूचि में सन्निविष्ट किया गया है। ओषधियां पृथ्वी पर उत्पन्न होती हैं। कालिदास ने पृथ्वी को सब बीजों की आदि प्रकृति 'यामाहुः सर्वबीज प्रकृतिरीति .. कहा है। जैसे-जैसे पञ्च महाभूतों के सिद्धान्त का विकास हुआ होगा, वैसे-वैसे इस सूचि में 'पृथ्वी' को जोड़ने की आवश्यकता अनुभूत की गई होगी। उपनिषदों के समय तक आते आते पञ्च महाभूतों की सृष्टि के मूल भौतिक कारणों के रूप में पूर्णतया प्रतिष्ठा हो चुकी होती। अतः प्रतीत होता है कि उस समय तक ओषधीयों का स्थान पृथ्वी ने ले लिया होगा। सूचि में आकाश को सन्निविष्ट करने के लिये निश्चय ही विद्युत् को वहिष्कृत किया गया है। विद्युत् एक अस्थायी प्राकृतिक दृश्य है। जगत् के मूल भौतिक कारणों के साथ इस दृश्य की परिगणना पूर्णतया असंगत और तर्करहित थी। अतः उसे निकालकर उसके स्थान पर आकाश को प्रतिष्ठित किया गया है। अब मेघ या अन्न ही एकमात्र तत्त्व बचता है जिससे 'यजमान' के लिये स्थान रिक्त किया। 'यजमान' अथवा 'सोमयाजी' का परिगणना क्यों रुद्र–शिव की प्रत्यक्ष मूर्तियों में किया गया, इसका पता तभी चल सकता है,जब वैदिककर्मकाण्ड का सूक्ष्म एवं दार्शनिक विश्लेषण किया जाए। यज्ञ का तादात्म्य ब्राह्मणग्रन्थों में निरन्तर विष्णु से किया गया है 'यज्ञो वै विष्णुः'।

रुद्र के लिये यज्ञ में कोई भाग कल्पित नहीं किया जाता। रुद्र यज्ञ का उपभोग करने वाले नहीं, उसे सम्पादित करने वाले हैं, वे यजमान हैं। यज्ञ सम्पादन करने वाला रुद्र स्वरुप होता है। परवर्ति धार्मिक मान्यतों के अनुसार भक्त भगवान् का स्वरूप होता है। यदि यजमान शब्द को हम अधिक संकीर्ण अर्थ में न लें तो इसकी हम शिव भक्त या भगवद् भक्त के रूप में भी व्याख्या कर सकते हैं। भक्त और भगवान् में एकात्म्य है। उपास्य और उपासक एक है। हिन्दू देवोपसना में अर्चक वास्तविक पूजा से विधि मन्त्रादि के न्यास से अपने शरीर को इष्ट देवतामय बनाता है। अपनी देह को वह इष्टदेवता की देह में बदल देता है और तब इष्टदेवता का रूप धारण करके वह इष्टदेवता का पूजा करता है- देवो भूत्वा देवं यजेत्। स्पष्ट है कि यजमान का शिवार्चक शिवजी का स्वरूप होगा, वह उसी की एक मूर्ति होगा। तथा अर्चक के प्रभाव से शिला भी ईश्वर बनता है। अर्चकस्य प्रभावेण शिला भवतीश्वरः। शिवजी से संबन्धित प्रसिद्ध और महनीय स्तोत्र श्रीपुष्पदन्तप्रणीत शिवमहिम्नस्तोत्र में शिवजी के आठ नामों की उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इन में से प्रत्येक का वेद में व्याख्यान प्राप्त होता है। जब वेद-श्रुति ही इन नामों का गुणगान करती हो तो उस परमपिता शिवजी जो महाकवि कालिदास के आराध्य देव हैं, उनकी महिमा का क्या कहना है- –

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्र सहमहांस्तथा-भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्।
अमुष्मिन् प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि प्रियायास्मै धाम्ने प्रविहितनमस्यौस्मि भवते।।[15]

श्री पुष्पदन्त ने अपने शिवमहिम्न स्तोत्र में यजमान को 'आत्मा' का स्थान दिया है जो उनकी वेदान्त से प्रभावित सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि का परिचायक है। हमें पता नहीं कि पुष्पदन्त से पूर्व भी किसी ने अष्टमूर्ति के रूप में 'सोमयाजी' या 'यजमान' के स्थान पर प्रत्यंग आत्मा की परिकल्पना की थी या नहीं, यजमान स्थूलरूप को छोडकर उसके सूक्ष्मरूप की ओर बढ़ना, यजमान के स्थान पर मनुष्यमात्र की, अपितु कहना चाहिए कि प्राणिमात्र की, जीवात्मा को परमशिव का या परमेश्वर का एक रूप परिकल्पना करना निश्चय ही भारतीय प्रज्ञा की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसी सन्दर्भगत श्लोक में आगे पुष्पदन्त यह भी कहते हैं कि हे शिव! आपको जानने वाले भले ही यह कहते रहें कि आप अमुक हैं, अमुक हैं, किन्तु वस्तुतः मैं तो इस जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं जानता जो आप न हों इसलिये यह अष्टमूर्ति की परिकल्पना तो वस्तुतः आपके स्वरुप की अव्याप्ति है- –

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः, त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं, न विद्मस्तत् तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि।।[16]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समग्र भारतीय दर्शन, साहित्य तथा संस्कृत के मूल उस वेदभगवान का सम्यक् अध्ययन किये विना भारतीय धर्म और दर्शन से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न का सम्यक् उत्तर देना सभी के लिये असम्भव है। इस प्रकार वैदिकवाङ्गमय में महाकवि कालिदास के अष्टमूर्ति स्वरूप शिवतत्त्व का परिकल्पना करना निश्चय ही शोधकार्य का एक महत्त्व अङ्ग है।

सन्दर्भ -

1. *रघुवंश महाकाव्यम्-2.35,(2013). कालिदसप्रणीतम्, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी*
2. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् -1.1,(2010). कालिदसप्रणीतम्, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी*
3. *कुमारसंभवम् -5.7.8,(2008). कालिदसप्रणीतम्, अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी,*
4. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् -6.1,(2010). कालिदसप्रणीतम्, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी*

5. ऋग्वेद संहिता-2.33.11,(1994). नाग प्रकाशक, दिल्ली
6. ऋग्वेद संहिता-3.33.9,(1994). नाग प्रकाशक, दिल्ली
7. ऋग्वेद संहिता-10.126.5, (1994). नाग प्रकाशक, दिल्ली
8. ऋग्वेद संहिता- 2.29.9,(1994). नाग प्रकाशक, दिल्ली
9. अथर्ववेद संहिता-2.34.1,(1994). नाग प्रकाशक, दिल्ली
10. अथर्ववेद संहिता-5.24.12, (1994). नाग प्रकाशक, दिल्ली
11. शतपथ ब्राह्मणम् -17.68,(1998) चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी
12. ऋग्वेद संहिता- 2.33.3.,(1994). नाग प्रकाशक, दिल्ली
13. कौषितकी ब्राह्मणम् -6.1.(2003) राष्ट्रीय संस्कृत संस्थानम्, दिल्ली
14. शतपथ ब्राह्मणम् -6.1.3.8-17,(1998) चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
15. शिवमहिम्न स्तोत्रम्-श्लो.28,(2014). पुष्पदन्त विरचित, चौखम्बा विद्या भवन,वाराणसी,
16. शिवमहिम्न स्तोत्रम् -श्लो.26,(2014). पुष्पदन्त विरचित, चौखम्बा विद्या भवन,वाराणसी

5

कालिदास के रूपकों में प्रतिपादित शिवभक्ति

रञ्जनलता

अनादिकाल से ही भक्ति का प्रवाह शाश्वत रूप से चला आ रहा है। सृष्टि के प्रारंभ में उद्भूत वेद ही समस्त ज्ञान के मूल हैं। उनमें ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड, यजुर्वेद कर्मकाण्ड, सामवेद उपासना काण्ड तथा अथर्ववेद को इन तीनों विषयों से सम्पन्न मानते हुए कहते हैं कि सामवेद का उपासना काण्ड ही भक्ति का मूल है। **''मनसाधारणम्, धार्यमाणेवा विषये समान प्रत्यय प्रवाहः उपासनेति श्रीशङ्करमाह।''**[1] भक्तिशब्दभजसेवायाम्[2] धातुसेक्तिन्प्रत्ययकर के निष्पन्न हुआ है समनोयोगपूर्वक ध्यान केंद्रित करके आराध्य के प्रति सेवाभाव रखना, यही भक्ति का अर्थ है। आराध्य कौन हो? यह भक्त की भक्ति पर निर्भर करता है। भक्ति का अर्थ है धारणा, उस भगवद्भाव के प्रति।" यदि हमारा मन उस भगवद्भाव के प्रति धारणा रखता है तो यह अनुभूति हमारे मन में तत्काल एक दिव्यप्रेम उत्पन्न करती है।''[3] हृदय तब शान्त नहीं रह सकता। यह तुरन्त पिघल जाता है। यह द्रवीभूत चित्त भक्ति के दिव्य भाव में पिघल जाता है। यह ज्ञानी के ज्ञान की तरह शुष्क नहीं होता, जो प्रत्येक वस्तु को प्रमाणों अथवा तर्क के आधार पर ही स्वीकार करते हैं परन्तु भक्ति में यदि व्यक्ति के हृदय में उस भगवद्भाव के प्रति धारणा हो जाती है तो इस अवस्था में चित्त इतना उत्थान कर जाता है कि हम इसकी कल्पना भी सम्भवतः नहीं कर सकते। श्रीमानूरूप गोस्वामी ने 'भक्ति रसामृत सिंधु' में भक्ति भेदों के निरूपण के पूर्व विभाग में चार लहरियों में क्रमशः सामान्यभक्ति, साधनाभक्ति, भावभक्ति व प्रेमभक्ति को सही रूप से विवेचित किया है।[4] शास्त्रों तथा शास्त्रकारों ने भक्त शिरोमणि नारद को प्रथम भक्त माना है, जिनके अनुसार भक्ति का अर्थ है – **'ईश के प्रति उग्र प्रेम'**[5] वह कहते हैं कि अपने सब कर्मों को भगवान को अर्पण कर तथा भगवान का थोड़ा सा भी विस्मरण होने पर परम व्याकुल होना ही भक्ति है।[6] शाण्डिल्य तथा नारद भक्ति के कुछ विशेष भाष्यकार हैं। शाण्डिल्य ने कहा है – ''साप्रानुरक्ति ईश्वरे''[7] नारदभक्ति सूत्र में भी शाण्डिल्यभक्ति के बारे में कहा गया है – **''आत्मरत्याविरोधेनेतिशाण्डिल्यः''**[8] **''अन्याश्रयाणांत्यागोऽनन्यता।''**[9] स्वयं नारद कहते हैं कि भगवान को छोड़कर दूसरों के आश्रयों के त्याग का नाम अनन्यता है। पद्मपुराण व चौतन्य चरितामृत मध्य लीला में कहा गया है कि **''पूर्णशुद्धोनित्यमुक्तो- अभिन्नत्वान्नामनामिनोह।''**[10] कठोपनिषद् कहता है-

''नित्योऽनित्यानांचेतनश्चेतनाना मेकोबहूनां यो विदधाति कामान'' अर्थात् भगवान की पूजा इसलिए क्योंकि जो नित्य चेतन (परमात्मा) बहुत से नित्य, चेतन आत्माओं के कर्मफल भोगों का विधान करता है।[11] जैसे लौकिक जगत् में प्रिय-प्रिया का अटूट प्रेम होता है, उसी तरह अलौकिक जगत् में परमात्मा के प्रति अटूट प्रेम होना चाहिए। ध्यान भी एक तरह की अटूट भक्ति या प्रेम ही है जिस पर लक्ष्य करके ध्यान किया जा

रहा है। बस उसी में चित्त रमा रहता है। यह बंधनरहित प्रेम है। जहां सारे संदेह निवृत्त हो जाते हैं। केवल स्मरण ही देखने व मिलने जैसा लगता है। अन्ततः सभी भक्ति की परिभाषाओं का निचोड़ है – ''भगवान् में अनुराग हो'' धार्मिक वास्तविकताओं पर मानसिक प्रयासों की पंक्तिबद्ध सफलता ही भक्ति है। इनमें शिवभक्ति भारतीय मानस परम्परा के जन-जन में अनुस्यूत है। शिव सब देवों में सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। शिव की ही परम्परा को उनके शिष्यों बृहस्पति, विशालाक्ष, शुक्र, सहस्राक्ष, महेन्द्र, प्राचेतसमनु, भरद्वाज, अगस्त्य, नन्दी, कार्तिकेय, भैरवनाथ आदि ने आगे बढाया। शिव को ही आदियोगी भी कहा गया है। नाथ-पंथ इस संबन्ध में कहता है –

'योगशास्त्रम् पठेत्नित्यंकिमन्यैः शास्त्रविसतरैः। यत्स्वयंचादिनाथस्यनिर्गतम्वदनांबुजात्।'[12]

शिव का उल्लेख रुद्र नामक वैदिक देवता के नाम से ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में यह एक भयकारक देवता के रूप में जाना जाता है।[13] शिव का नाम प्रथम बार श्वेताश्वतरोपनिषद् में उपलब्ध होता है।[14] शिव का उपयोग एक विशेषण के रूप में भी किया जाता है। यद्यपि कुछ लोग इन्हें द्रविड देवता भी मानते हैं परन्तु इसका कोई साहित्यिक अथवा पुरातत्त्वीय साक्ष्य उपलब्ध नही है।[15] मोहन जोदड़ो में भी शिव की उत्पत्ति के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। मार्शल नामक पाश्चात्य विद्वान् शिव पशुपति को शिव नाम के पूर्व मानते हैं। लिंग पूजा संभवतः महाकाव्यीय युग की देन है।[16]

समस्त भारतीय वाङ्मय के पारङ्गत, अप्रतिम प्रतिभा से सम्पन्न, सरस्वती के वरद पुत्र महाकवि कालिदास के रूपकों में कोई भी विषय ऐसा शेष नहीं दिखाई देता जिसका समावेश आपके रूपकों में प्रसंगवश न हुआ हो, भले ही उस विषय का उपयोग उस स्थान पर प्रधान अथवा गौण रूप से हुआ हो। कालिदास ने अपनी कृतियों में तीन रूपकों को स्थान दिया है।

इस दृष्टि से जब हम कालिदास के रूपकों में शिव-भक्ति पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें भगवान श्री कृष्ण की यह उक्ति स्मरण हो आती है– ''येयथामांप्रपद्यन्तेताँस्तथैवभजाम्यहम्।।''[17] अर्थात् जो मुझे जिस रूप में देखते अथवा भजते हैं उसे उसी भावरूप के दर्शन कराने के लिए मैं वैसा ही रूप धारण कर लेता हूँ। ठीक यही दशा महाकवि की रचनाओं में उपन्यस्त समस्त शास्त्रीय विषयों की भी है। इनकी रचनाओं में जिस तरह का विद्वान्जिस विषय को देखना चाहता है, उसे उसी विद्या के दर्शन सङ्क्षेप अथवा विस्तार से अवश्य हो जाते हैं। यही महाकवित्व की कसौटी तथा उसका सार्वभौम स्वरूप भी है। इसी कारण कालिदास का सुयश सर्वत्र फैला हुआ भी है। अतः इस शोधपत्र का मुख्य ध्येय कालिदास के रूपकों में प्रतिपादित शिवभक्ति के स्वरूप का अनुशीलन होगा। महाकवि कालिदास के रूपकों का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि महाकवि कालिदास की शिवभक्ति उनकी समस्त कृतियों में सर्वत्र परिलक्षित होती है तथा विशेषकर उनके रूपकों में भी व्याप्त है तथा इससे महाकवि कालिदास की अचल आत्माभिव्यक्ति का भी आभास होता है क्योंकि इनके प्रारम्भिक जीवन से ज्ञात होता है कि इन्होंने काली माता की भक्ति की थी।[18] ये माँ काली के परम उपासक भी थे जिसके आशीर्वाद स्वरूप उन्हें विद्या का वरदान मिला था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि वह माँ काली जो नौ देवियो में पार्वती का ही एक रूप मानी जाती हैं उन्हीं के उपासक थे। माँ काली अथवा पार्वती स्वयं शिव की उपासिकार हीं हैं। वास्तव में शिव की सिसृक्षा अर्थात् सृष्टि करने की इच्छा का नाम ही शक्ति है। शिव व शक्ति में वागर्थ की तरह अभेद है। 'वागर्थाविवसंपृक्तौ' इसी प्रकार देवी भागवत में कहा गया है कि –

''नशिवः शक्तिरहितोनशक्तिः शिववर्जिता। तादात्म्यमनयोर्नित्यंवह्निदाहकयोरिव।।''[19]

अतः महाकवि कालिदास की कृतियों में शिवस्वरूप की भक्ति के दर्शन यत्र-तत्र सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए सर्वप्रथम उनके रूपकों के मङ्गलाचरण को देखा जा सकता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल –

''यासृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं याहविर्या च होत्री।
येद्वेकालंविधत्तः श्रुतिविषयगुणाः या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरितियया प्राणिनः प्राणवन्तः।
प्रत्यक्षाभिःप्रपन्नस्तनूभिरवतुवस्ताभिरष्टाभिरीशः।।[20]

यहाँ पर महाकवि कालिदास पर ब्रह्मस्वरूप परमात्म शिव की अष्टमूर्तियों की नमस्कारात्मक वन्दना करते हैं। सर्वप्रथम तो परमात्म शिव उस जल मूर्ति के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं जिसे ब्रह्मा ने सबसे प्रथम आविर्भूत किया था। द्वितीय मूर्ति के रूप में आप शिव अग्निमूर्ति के रूप में दिखाई देते हैं जो विधिपूर्वक दी हुई हवि का ग्रहण करते व कराते हैं। तीसरे रूप में वे उस होता पुरोहित के रूप में दृष्टिगत होते हैं जिसका कर्म ही यज्ञ करना अर्थात् पूजा, दान व साधु-संगति करण हेतु की पूर्ति कर रहा है। चौथे व पाँचवें रूप में वे सूर्य अथवा चन्द्रमूर्ति के रूप में दर्शन दे रहे हैं जो निरन्तर अथक रूप से दिन व रात का निर्धारण करते हुए जगत् की रक्षा कर रहे हैं तथा उसे भी निरन्तर इसी प्राकृतिक नियम का पालन करने का सन्देश दे रहे हैं। वे षष्ठ रूप में उस आकाश-मूर्ति के तुल्य भी हैं जो शब्द के रूप में समस्त संसार में व्याप्त है। सप्तम रूप में वे उस धरती माता के तुल्य दिखाई देते हैं जो समस्त पदार्थों की जनयित्री है तथा भरण-पोषण कर्ता भी है। अन्तिम अष्टमूर्ति उस शिव की वायु के रूप में है जिसके बिना जीव-जीवन का अस्तित्वहीन ही है। अतः इन अष्टमूर्तियों के माध्यम से उस शिव के शिवत्व की व्यापकता के दर्शन कालिदास अपने रूपक अभिज्ञानशाकुन्तल के माध्यम से कराते हैं।

उपर्युक्त अष्टमूर्तियों के वर्णन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि कालिदास की दृष्टि में शिव मात्र कैलाशवासी भैतिक जगत में व्याप्त शिव ही नही हैं अपितु उनका शिव परक चिन्तन उस परमात्म तत्त्व ब्रह्मस्वरूप का व्यापक रूप भी है। अभिज्ञानशाकुन्तल के भरत वाक्य में भी शिव से ही लोकमङ्गल की कामना की गयी है। **''ममापि चक्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।।''**[21] यहाँ शिव की उपासना के लिए नीललोहित कहकर भी कालिदास का शिव-भक्ति के साथ स्थिर भक्ति का एकीभाव स्थापित हुआ है। यहाँ यह भी प्रार्थना की गयी है कि पुनर्जन्म का आवागमन समाप्त करने का कार्य मात्र उस शिव द्वारा ही संभव हो सकता है अतः उसके समक्ष कालिदास स्वयं नतमस्तक होकर न केवल अपने लिए अपितु समस्त जन-समाज के लिए भी अपने इस रूपक के भरत-वाक्य में प्रार्थना करते हैं। अब उनके दूसरे रूपक को देखते हैं –

विक्रमोर्वशीयम्- यह रूपक कालिदास की अभिज्ञानशाकुन्तल से पूर्व की रचना प्रतीत होती है। इसके मंगलाचरण में भी कालिदास शिव की स्थिर भक्ति योग की उपासना करते हैं -

''वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुष व्याप्यस्थितं रोदसी, यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमित प्राणादिभिर्मृग्यते, स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तुवः।।''[22]

महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् नामक त्रोटक के मङ्गलाचरण पद्य में स्पष्ट रूप में वन्दना के माध्यम से शिव की स्थिर भक्ति-योग का परिचय दिया है। यहाँ वह कहते हैं कि वेदान्तों (द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि) में जिसे एक ऐसा पुरुष कहा गया है, जो आकाश तथा पृथिवी में व्याप्त है, जिसका ईश्वर यह नाम सार्थक है और इस ईश्वर नाम से अन्य कोई नहीं पुकारा जा सकता। मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक पुरुष जिसे प्राणायाम द्वारा अपने हृदय के भीतर ढूढ़ा करते हैं। वह स्थिर भक्तियोग (सच्चीभक्ति) द्वारा प्राप्त होने वाला परम देव शिव आप सबका कल्याण करें।[23] परम शैव महाकवि कालिदास ने अपने ग्रन्थ विक्रमोर्वशीयम् नामक

रूपक के मङ्गलाचरण में लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर शिवजी के उस स्थाणुरूप की वन्दना की है जो सदैव समाधि अवस्था में ही मग्न रहते हैं व एकासनासीन रहते हैं और जिनकी प्राप्ति तो स्थिर भक्ति योग के द्वारा ही सम्भव थी। वह शिव जो सर्वसुलभ भी हैं तथा कठिन हृदयजनों के लिए दुष्प्राप्य हैं। न जाने कितने वर्षों के स्थिर योग के परिणाम हैं। यह शिव सामान्य सरल हृदय के स्वामी हैं जो तपस्या से शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं परन्तु इनकी तपस्या कर इन्हें प्राप्त करना कितना कठिन है यह तो आदि शक्ति माँ पार्वती की तपस्या से जाना जा सकता है।

अन्यत्र भी इस त्रोटक में शिव स्थान-स्थान पर परम आराध्य के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। शिव चूंकि मङ्गल कारक स्वरूप में ही कालिदास द्वारा उपास्य हैं अतः वह शिव के सर्वजन मङ्गल की भावना को स्वयं में भी आत्मसात करते हुए विक्रमोर्वशीयम् में कहते हैं – **सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु। सर्वःकामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु।।**[24] अर्थात् सभी जन कठिन मार्गों को पार करें , सभी भद्र अर्थात अच्छा ही देखें सभी की सदकामनाएं पूर्ण हो तथा सभी मिलाकर आनन्दित रहें। यह प्रार्थना कालिदास में विराजमान शिवत्व की ही है। अब इनके तीसरे रूपक मालविकाग्निमित्रम् में शिव-भक्ति को देखते हैं –

मालविकाग्निमित्रम् - यह रूपक भी मालविका तथा अग्निमित्र की प्रेमकथा पर आधारित है परन्तु कालिदास ने अपने प्रत्येक रूपक की भांति इस रूपक का मंगलाचरण भी शिव की उपासना से ओत -प्रोत रखा है -

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणत बहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः, कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यःपरस्ताद्यतीनाम्। अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपितनूभिर्बिभ्रतो नाभिमानः, सन्मार्गलोकनाय व्यपनवतु सवस्तामसीं वृत्तिमीशः।।[25]

महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम् नामक नाटक के मङ्गलाचरण पद्य में भी वन्दना के माध्यम से शिव-भक्ति का परिचय दिया है। वह लिखते हैं कि अपने भक्तों को मनोवांछित फल देने के लिए अपने पास अपार भण्डार होते हुए भी जो केवल हाथी की खाल ओढ़कर ही अपना काम चला लेते हैं। अपने आधे शरीर में अपनी पत्नी गौरी को बसाये रहने पर भी जो संसार के भोगों से अपना मन दूर हटाये रहते हैं और अपने आठों रूपों से सम्पूर्ण संसार का पालन करते हुए भी जो अभिमान को पास फटकने नहीं देते हैं ऐसे संसार के स्वामी शङ्कर भगवान् पाप की ओर ले जाने वाली आप लोगों की बुद्धि को इस प्रकार नष्ट कर दे कि आप लोगों का मन अच्छे कार्यो के सम्पादन में उन्मुख हो जाये।

यहाँ शिव की उपासना तो ऐसे स्वरूप से की गयी है जिसमें सर्वत्र विरोधाभास ही दृष्टिगत होता है। शिव जो अपने पास अपार भण्डार होते हुए भी केवल हाथी की खाल ओढ़कर ही अपना काम चला लेते हैं। अर्थात वह भारतीय संस्कृति के तेनत्यक्तेन भुंजी था' के नियम को अपनाने वाले हैं। प्रवृत्ति व निवृत्ति किसे कहते हैं। यह तो कालिदास के शिव से सीखिए जो अपने आधे शरीर में अपनी पत्नी गौरी को बसाये रहने पर भी संसार के भोगों से अपना मन दूर हटाये रहते हैं। अपने आठों रूपों से सम्पूर्ण संसार के स्वामित्व के साथ जगत का पालन करते हुए भी जो अभिमान को अपने पास फटकने नहीं देते हैं क्योकि 'मागृधःकस्यस्विदधनम्' यह धन किसी का नहीं है। इसका अथवा सांसारिक शक्तियों का अभिमान कैसा? यहाँ कालिदास द्वारा अष्टमूर्तियों के माध्यम से उस शिव के शिवत्व की व्यापकता के दर्शन कालिदास अपने रूपक अभिज्ञानशाकुन्तल के माध्यम से पूर्व ही करा चुके हैं उसी की यहाँ भी पुनरावृत्ति भिन्न स्वरूप से है। कालिदास की शिवभक्ति के विभिन्न उदाहरण उनके रूपकों के अतिरिक्त उनके अन्य ग्रन्थों में भी देखे जा सकते हैं जैसे – रघुवंशम् के मङ्गलाचरण में 'वागर्थाविवसम्पृक्तौ पार्वती परमेश्वरौ'[26] कहकर शिव भक्ति ही प्रदर्शित है। इसी

प्रकार कुमार सम्भव में पार्वती द्वारा यह कथन शिव की महिमा का ही गुणगान कर रहा है- **'अकिंचनः सनप्रभवः ससंपदांत्रिलोकनाथः पित्रुसद्मगोचरः, सभीमरूपः शिवइत्युदीर्यतेनसन्तियथार्थविदः पिनाकिनः।'**[27] आदि कहकर यही प्रतिपादित किया गया है कि सामान्यतया शिव के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना जा सकता है। वह तो सामान्यतपोयोग से दुर्लभ, त्यागी, तपस्वी साधनारत, स्थिर- भक्तियोगी, अर्धनारीश्वर, भगवान आशुतोष, अष्टमूर्ति, सर्वबीजप्रकृति, पिनाकी, भृगुपति, सर्वेश्वर, मंगलमूर्ति, त्यागमूर्ति, सर्वकामना पूर्ति भगवान महादेव स्वयं भी तपस्या में रत हैं।

भगवान शिव जो ऋषि-महर्षि के द्वारा भी अप्राप्य है उनकी प्राप्ति के लिए पार्वती द्वारा की गई कठोर तपस्या भी शिव भक्ति ही है। मेघदूतम् में यक्ष-यक्षिणी का एक वर्ष का विरह होने पर भी एक-दूसरे के लिए प्राण धारण करना, एक दूसरे की प्रतीक्षा करना भी शिवभक्ति की कृपा ही है। मेघदूतं के माध्यम से कालिदास अपनी शिव-भक्ति के प्रतिपूर्ण समर्पित हैं। उज्जयिनी के महाकाल वर्णन में आपने अपने समर्पण को श्लोकों के माध्यम से उकेर के रख दिया है। इसी प्रकार उनके रूपक अभिज्ञानशाकुन्तल में एक दिन के सम्बन्ध से 12 वर्ष का शकुन्तला का विरहाग्नि में झुलसना तथा अन्ततः सुखान्त मिलन शिवभक्ति की कृपा का ही परिणाम है। इसी कारण इसके भरत वाक्य में भी शिव कृपालु को धन्यवाद दिया गया है। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्रम् में भी उसी शिवभक्ति की कृपा के दर्शन होते हैं। यही घटना विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी व विक्रम के अनन्य प्रेम के आराधक शिव ही हैं।

इस प्रकार शिवभक्ति की कृपा ही से ही सकल जन सदाशिव आशुतोष स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। यह शिवभक्ति की व्यापकता ही है कि प्रत्येक प्रेमिका अपने आराध्य को अपने प्रिय में एकात्म कर लेती है। सम्भवतः यही शिव का अद्वैतभाव है जहाँ आराध्य-आराधक में द्वैतन रह जाय। यही शिव का शिवत्व भी है कि वह सबके कल्याण या शिवत्व की कामना करे मात्र तब ही शिवभक्ति का भक्तित्व सार्थक है। यह तथ्य उनके प्रत्येक रूपक में परिलक्षित भी होता है। वहाँ प्रत्येक पात्र ही सबके कल्याण की कामना में रत है। स्वयं नायक-नायिका का अभिलषित भी तब ही पूर्णता को प्राप्त होता है जब उनके मन शिवत्व भाव से ओत-प्रोत हो चुके होते हैं। उन्हें जब शिव के उदारता व्याप्त कर लेती है मानवता ही सर्वत्र परिलक्षित होने लगती है, एकात्म ही एकात्म सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। यही शिव का शिवत्व है जिसमें कालिदास का मन सर्वथा उन्मुक्त रूप से ही रत है।

अन्ततः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कालिदास का शिव-भक्ति पक्ष तपस्या से रहित नही था। संभवतः उनका जीवन भी उस शिव की स्थिर भक्ति योग का स्वरूप रहा हो जिसने उन्हें इस प्रकार की कृतियों के प्रणयन की शक्ति दी क्योंकि प्रत्यभिज्ञा हृदयं में कहा भी गया है कि वह शिव ही देह धारण करके स्वयं को भिन्न-भिन्न रूपों में आवृत्त कर रखा है- **'तत्परिज्ञानेचित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्या-रोहात्चितिः'**[28] इस प्रकार शिवत्व दशा को प्राप्त कालिदास का सन्देश है कि सर्वविध समृद्धि की प्राप्ति के लिए शिवभक्ति का मार्ग ही सर्वोत्तम है। इसी का प्रमाण विभिन्न स्थलों पर उनके रूपकों में प्राप्त होता है।

सन्दर्भ -

1. *भक्तिरसामृतसिन्धु, रूपगोस्वामी, श्लोक 18 बोनमहाराज, ओन बिहाफ ऑफ ओरियेन्टल फिलोसफी बृन्दावन, उ.प्र., 1965*

2. धातुपाठ, पाणिनि, भ्वादिगण, पृ.22/2/724, रामलालकपूर ट्रस्ट, अमृतसर, 1985
3. भक्ति रसामृत सिन्धु, रूपगोस्वामी, श्लोक 10, बोनमहाराज, ओन बिहाफ ऑफ ओरियेन्टल फिलोसफी बृन्दावन, उ.प्र., 1965
4. भक्तिरसामृतसिन्धु, रूपगोस्वामी, 7 बोनमहाराज, ओन बिहाफ ऑफ ओरियेन्टल फिलोसफी बृन्दावन, उ.प्र., 1965
5. नारदभक्तिसूत्र, 3 (सा तस्मिन् परमप्रेमरूपा)
6. नारदभक्तिसूत्र 19, ''नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमाकुलतेति।।''
7. शाण्डिल्यसूत्र,2
8. नारदभक्तिसूत्र 18
9. नारदभक्तिसूत्र 10
10. पद्मपुराण व चौतन्य चरितामृत मध्यलीला ,17/133
11. कठोपनिषद्, 2/2/13
12. गोरक्षपद्धति , मुक्तिसोपान अध्याय, उत्तरशतक , 100
13. Macdonell, A.A., Vedic mythology, 1897
14. ibid
15. Keith, A.B., Religion and philosophy of the Veda and the Upanishad
16. Samakarananda, S., Vedic Culture and the prehistoric Indus, 2 Vols., 1943&44
17. गीता, 4/11
18. संस्कृत साहित्य का इतिहास , उमाशम्कर शर्मा
19. हजारी प्रसाद द्विवेदी , नाथ सम्प्रदाय , पृ. 62
20. अभिज्ञानशाकुन्तल, 1/1
21. अभिज्ञानशाकुन्तल, 7/35
22. विक्रमोर्वशीयम्, 1/1
23. कालिदाग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2009, पृ.473
24. विक्रमोर्वशीयम्, 5/25
25. मालविकाग्निमित्रम् 1/1
26. रघुवंश 1/1
27. कुमारसंभव, 5/77
28. प्रत्यभिज्ञाहृदयं, सूत्र 13

6

कालिदास के रूपकों में आयुर्वेदिक तत्त्व

राजकिशोर आर्य

महाकवि कालिदास मूलतः प्रकृति के कवि हैं। उनकी सभी रचनाओं में प्रकृति वर्णन का चरमोत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। उनके अधिकांश पात्र प्रकृति के परिवेश में ही परिवर्धित हुए हैं। कवि की दृष्टि में प्रकृति मानव की चिरसङ्गिनी है, दोनों का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। कालिदास की कृतियों का गहन अध्ययन उनके काव्य के एक और पक्ष को उजागर करता है, और वह पक्ष है - आयुर्वेदिक विषयों का अनुशीलन। महाकवि ने अपने रूपकों में तत्कालीन समाज में वर्णित प्राचीन भारतीय चिकित्सा के सिद्धान्तों का वर्णन अपने रूपकों में किया है। इस शोध पत्र में मुख्यतः उनके रूपकों में स्थालीपुलाकन्याय से आयुर्वेदिक विषयों के अन्वेषण का प्रयास किया जाएगा। महाकवि कालिदास ने तीन रूपकों की रचना की है। मालविकाग्निमित्रम् - यह पाँच अंकों का नाटक है। इसमें शुङ्ग वंशीय राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रणय कथा का मनोहर तथा हृदय ग्राही चित्रण है। विक्रमोर्वशीयम् - इस नाटक में कुल पाँच अंक हैं। चन्द्रवंशीय राजा पुरुरवा तथा अप्सरा उर्वशी के प्रेमाख्यान का वर्णन है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् - कालिदास की नाट्यकला की चरम परिणति शाकुन्तल में हुई है। इसमें सात अंक है। इसमें पुरुवंशीय राजा दुष्यन्त तथा शकुन्तला की प्रणय - कथा का अतीव मनोरम वर्णन है। आयुर्वेदीय वाङ्मय का इतिहास ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवों से सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त प्राचीन, गौरवास्पद है। भगवान् धन्वन्तरि ने इस आयुर्वेद को **'तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरं चेति'**[1] कहा है। लोकोपकार की दृष्टि से इस विस्तृत आयुर्वेद को बाद में आठ अंगों में विभक्त कर दिया गया। तब से इसे अष्टाङ्ग आयुर्वेद[2] कहा जाता है।

तन्त्र	**आधुनिक चिकित्सा का निकटतम विभाग**
शल्यतन्त्र	शल्यक्रिया
शालाक्यतन्त्र	कण्ठ, नासिका, कर्ण विज्ञान
कायचिकित्सा	सामान्य दवा
भूतविद्या तन्त्र	मनश्चिकित्सा
कौमारभृत्य	बालचिकित्सा
अगदतन्त्र	विषचिकित्सा
रसायनतन्त्र	जराविद्या और जराचिकित्सा
वाजीकरणतन्त्र	पौरुषीकरण का विज्ञान

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में महाकवि कालिदास कहते हैं कि यह आश्रम का स्थान है और मेरी दाहिनी भुजा फड़क रही है। यहाँ भुजा फड़कने का फल कहाँ से प्राप्त हो सकता है।[3] दाहिनी भुजा फड़कने का फल सुन्दर स्त्री की प्राप्ति बतलाया गया है। प्राचीन और नवीन की तुलना में नवीन के उचित महत्त्व पर बल देते हुए कालिदास ने कहा है –

पुराणमित्येव न साधु सर्व न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।[4]

अष्टाङ्गहृदयम् में भी वाग्भट्ट कहते हैं कि

ऊर्ध्वमेति मदनं त्रिवृताधो वस्तुमात्रक इति प्रपद्ये।
मद्विधो यदि वदेदथवात्रिः कथ्यतां क इव कर्मणि भेदः।।
साध्वसाध्विति विवेकवियुक्तो लोकपङ्क्तिकृतभक्तिर्विशेषः।
बालिशो भवति नो खलु विद्वान् सूक्त एव रमते मतिरस्य।।[5]

तुम्हारे हृदय से मेरे द्वारा किये गये परित्याग का दुःख दूर हो जाय उस समय मेरे मन में कुछ विलक्षण ज्ञान उत्पन्न हो गया था। क्योंकि शुभ वस्तुओं के विषय में प्रबल तमोगुण वाले लोगों की प्रवृत्तियाँ ऐसी ही हो जाती हैं।[6] यहाँ पर कालिदास ने तमोगुण का कथन किया है।[7]

शुक, सारिका आदि पक्षियों को रखने की परम्परा का संकेत कालिदास की रचनाओं में मिलता है।[8] वाग्भट्ट ने राजाओं के मनोरंजन के साथ उसकी रक्षा के लिए इन पशु पक्षियों की व्यवस्था का विशद् वर्णन किया है। सविष अन्न के प्रयोग से उनकी क्या दशा होती है इससे उनकी स्थिति का पूरा चित्रण होता है।

दृष्ट एवं चास्मिंश्चकोरस्याक्षिणी विरज्येते। कोकिलस्य स्वरो विकृतमेति। हसस्य गतिःस्खलति। कूजति भृगराजः।...हृष्यति मयूरो दर्शनादेव चास्य विषं मन्दतामुपैति।[9]

पूर्णकलश, शंखध्वनि, श्रीवत्स, लक्ष्मी, पारिजात आदि माङ्गलिक भावों का वर्णन कालिदास ने किया है।[10] वाग्भट्ट ने भी 108 माङ्गलिक भावों का निर्देश किया है।[11]

शरीर के अङ्गों में स्थित सामुद्रिक चिह्नों से दीर्घायु, सौभाग्य, चक्रवर्तित्व आदि के बोध की परम्परा कालिदास के काल में प्रचलित थी, क्योंकि शकुन्तला के पुत्र की हथेलियों के विषय में कहते हैं कि जिस प्रकार प्रातःकाल खिले हुए कमल की पंखुडियों के बीच में अन्तर नहीं होता, उसी प्रकार बालक के हाथ की अङ्गुलियों के बीच में भी अन्तर नहीं है। अङ्गुलियों के बीच में अन्तर न होना सौभाग्यसूचक माना जाता है। सामुद्रिक शास्त्र में ऐसे बालक को चक्रवर्ती सम्राट होना बतलाया गया है। अष्टाङ्गसङ्ग्रह के शारीर स्थान में भी इसी प्रकार के लक्षण बताए गए है।[12] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त कहते हैं कि उचित समय पर जिसमें बीज बोया गया है ऐसी और महान् फल को प्रदान करने में समर्थ पृथ्वी की भाँति वंश की प्रतिष्ठा स्वरूप धर्मपत्नी शकुन्तला के गर्भ में पुत्र के रूप में अपने आप को संरोपित कर दिया। दुष्यन्त के कथन का अभिप्राय यह है कि पुत्र पितरों का श्राद्ध-तर्पण आदि करता है। अभी तक तो मैं अपने पितरों को श्राद्ध-तर्पण आदि करता हूँ किन्तु मेरे पुत्र नहीं है। अतः मेरे पितरों को संशय होने लगा है कि मुझ दुष्यन्त के बाद उन्हें श्राद्ध-तर्पण आदि मिलेगा अथवा नहीं। अष्टाङ्गहृदय के उत्तर स्थान में भी इसी तथ्य को कहा गया है –

अच्छायः पूतिकुसुमः फलेन रहितो द्रुमः। यथैकश्चौकशाखश्च निरपत्यस्तथा नरः।।
अकृष्टपुत्रपौत्रस्य कुलतन्त्वनुवर्त्तिनः। संसारसुखबाह्यस्य कीदृशं नाम जीवितम्।।[13]

रसविद्या का बड़ा महत्व माना गया है। रसचण्डाशुः नामक ग्रन्थ में कहा गया है-

शताश्वमेधेन कृतेन पुण्यं गोकोटिभिः स्वर्णसहस्रदानात्।
नृणां भवेत् सूतकदर्शनेन यत्सर्वतीर्थेषु कृताभिषेकात्।।[14]

अर्थात् सौ अश्वमेध यज्ञ करने के बाद, एक करोड़ गाय दान देने के बाद या स्वर्ण की एक हजार मुद्राएँ दान देने के पश्चात् तथा सभी तीर्थों के जल से अभिषेक करने के फलस्वरूप जो पुण्य प्राप्त होता है, वही पुण्य केवल पारद के दर्शन मात्र से होता है। रसशास्त्र में रत्नों, उपरत्नों का विशेष महत्त्व बताया गया है।

सूर्यकान्त अर्थात् जो रत्न सूर्य को प्रिय है। यह माना जाता है कि सूर्य की किरणों के सम्पर्क में आने से उन मणियों से तत्काल अग्नि निकलने लगती है। इसे अर्कमणि भी कहते हैं। कालिदास ने इस रत्न का सुन्दर, हृदयावर्जक वर्णन अभिज्ञान - शाकुन्तल के एक प्रख्यात पद्य में किया है, जहाँ कि ऋषियों के क्रोध की तुलना सूर्यकान्त मणियों से की है।[15] चन्द्रकान्तमणि का उल्लेख विक्रमोर्वशीय में भी हुआ है, जहाँ राजा पुरुरवा अपने पुत्र के स्नेहयुक्त स्पर्श की तुलना शीतल चन्द्रकान्त मणि से करता है, जो मणियाँ चन्द्रमा के सम्पर्क में आने के कारण शीतल हो जाती हैं –

सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेन मामुपगतेन। आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव।।[16]

अर्थात् कहा जाता है कि पुत्र का स्पर्श करते ही सम्पूर्ण शरीर सुखी हो जाता है। अतः तुम भी मेरे समीप आकर वैसा ही आनन्द दो जैसे चन्द्रमा की किरणें चन्द्रकान्त मणि को आनन्दित करती हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शापवश शकुन्तला के प्रत्याख्यान के पश्चात्, षष्ठांक में मत्स्योदर से अँगूठी प्राप्त होने के पश्चात् दुष्यन्त को शकुन्तला के साथ गान्धर्व विवाहादि सम्पूर्ण घटनाएँ याद आ जाती हैं और वे अत्यन्त पश्चाताप करते हैं। विरह संताप के कारण दुष्यन्त अत्यन्त दुर्बल हो जाते हैं। उनकी इस दयनीय दशा का चित्रण कालिदास इस प्रकार करते हैं-

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं, बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते।।[17]

अर्थात् केवल बाएँ हाथ के सोने के एक भुजबन्ध के अतिरिक्त उन्होंने शोभावर्धक सभी आभूषण उतार दिए हैं। उनकी श्वासों से ओष्ठ लाल हो गया है, और चिन्ता के कारण रातभर जागने से उनकी आँखें भी अलसाई हुई हैं, किन्तु इतना दुःखी होने पर भी वे अपनी तेजस्विता के कारण उसी प्रकार दुर्बल नहीं लग रहे हैं जैसे खराद (शाण) पर चढ़ाकर घिसा हुआ महामणि (बड़ा रत्न) छोटा हो जाने पर भी अपनी चमक के कारण छोटा नहीं लगता है। पुनः 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में ही कवि ने शकुन्तला को ''अनाविद्धं रत्नम्'' अर्थात् न बींधा गया रत्न कहा गया है।[18] कालिदास का यह उल्लेख भी यह संकेत करता है कि खान से निकाले रत्नों को बींधा जाता था जिससे कि रत्न मालाएँ बनाई जाती रही होंगी। आयुर्वेद में रस के कुल सोलह संस्कार संपन्न किये जाते हैं जिनमे पहले आठ संस्कार रोग मुक्ति हेतु, औषधि निर्माण, रसायन और धातुवाद के लिए आवश्यक हैं जबकि शेष आठ संस्कार खेचरी सिद्धि, धातु परिवर्तन, सिद्ध सूत और स्वर्ण बनाने में प्रयुक्त होते हैं। **स्वेदनं मर्दनं चौव मूर्च्छनोत्थापने तथा। पातनं बोधनं चैव नियामनमतः परम्।। दीपनञ्चेति संस्काराः सूतस्याष्टौ प्रकीर्तिताः।।** रसशास्त्र एवं भैषज्य कल्पना के ग्रन्थ रससूत्रसङ्ग्रह में कहा गया है कि वैक्रान्त, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, राजावर्त, लाल, पेरोजा तथा विषनाशक और अग्नि का स्तम्भन करने वाले नील, पीत और अन्य प्रकार के मणि जिनकी गणना रत्न परीक्षकों ने उपरत्नों में की है।[19] रत्नों को शरीर पर धारण करने से सूर्यादि ग्रह पीड़ा का नाश, दीर्घायु तथा आरोग्य की प्राप्ति, सौभाग्य प्राप्ति, भाग्योदय, वैभव, प्रसन्नता तथा धैर्य की

प्राप्ति होती है। रत्न शरीर की निस्तेजता और मालिन्य के कारण उत्पन्न दारिद्रय का नाश करते हैं। रत्नों का धारण भूतादि बाधाओं का भी नाश करता है।[20]

विक्रमोर्वशीय में कहा गया है कि वसन्त का अवतरण होने पर रक्ताशोक की कलियों का रंग और भी चटकीला हो गया है और वे फूट पड़ने की तैयारी में होती है- **''रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति''**।[21] मालविकाग्निमित्रम् में स्त्रियों के ओठों की प्रसाधन-लालिमा से रक्ताशोक की लाली को अधिक आकर्षक बतलाया है- **''रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः''**।[22] मालविकाग्निमित्र में ही कवि समय प्रसिद्ध अशोक दोहद का उल्लेख है। मान्यता थी कि यदि वसन्त में समय पर अशोक में पुष्पोदय न हो तो उसमें अलंकृता सुन्दरी से पाद प्रहार कराने पर पुष्प निकल आते हैं। तृतीय सर्ग में यह बात प्रमुख घटना के रूप में वर्णित है-

अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा, नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन संभावितः।
अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न संपत्स्यसे, वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम्।।[23]

आयुर्वेदानुसार अशोक रस में कटु, कषाय, वीर्य में शीत, ग्राही, रक्त संग्राहक, वर्ण-उज्ज्वालक, अस्थि संयोजक, प्रिय, सर्वप्रदर ज्वर सन्धिवातज पीडानाशक है।[24] स्त्रियों के स्वप्नदोष पर भी अशोक रस लाभप्रद होता है। जैसा कि भाव प्रकाश में कहा गया है :- **ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमाचरेत्। आर्तवं वायुरादाय कुशौगर्भंकरोति हि।**[25] अशोक वसंत ऋतु में सुनहरे लाल रंग के सुंदर फूलों के साथ खिलता है। ये कसैले-कड़वे, ठंडे, शमन करने वाले, रंग और चमक को बढ़ाने वाले और प्यास, जलन और रक्तस्राव में उपयोगी होते हैं।

अशोकस्य पुष्पं वसन्ते स्फुटं स्वात् सुवर्णाभरक्तं मनोहारि हृद्यम्।
कषायं हिमं तिक्तकं ग्राहि वर्ण्य तृषादाहरक्तस्रुतिध्वंसि धन्यम्।।[26]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में पूजा हो चुकने पर उन तपस्विनियों ने शकुन्तला के रहने के लिए एक पत्तों की कुटिया दे दी, जिसमें हिंगोट के तेल का दीपक जल रहा था और नीचे मृगचर्म बिछा था। कण्वाश्रम के पास कहीं तो वृक्षों के नीचे नीवार के दाने बिखरे हैं, कहीं इधर-उधर पड़े हुए चिकने पत्थर बता रहे हैं कि उन पर हिंगोट के फल कूटे गए हैं।[27] विदूषक राजा दुष्यन्त से कहता है कि शकुन्तला को शीघ्र ग्रहण कर लीजिए ऐसा न हो कि वह हिंगोट के तेल से चिकने सिर वाले किसी तपस्वी के हाँथ लग जाए। विदा के समय शकुन्तला को मृगशावक रोकता है उसी सन्दर्भ में कण्व कहते हैं कि हे वत्स काँटे से छिदे हुए जिसके मुँह को अच्छा करने के लिए तू उस पर हिंगोट का तेल लगाया करती थी वही पुत्र के समान मृग शावक तुम्हें रोक रहा है।[28] आयुर्वेदीय द्रव्यगुण विज्ञान के अनुसार गुण - लघु, स्निग्ध, रस - तिक्त कटु, विपाक - कटु, वीर्य - उष्ण, प्रभाव - कृमिघ्न, कर्म - यह उदरशूल, मिरोग, जीर्णकास, श्वांस, कुष्ठ आदि चर्मरोगों में, विष में प्रयुक्त होती है। यथा- सुश्रुत ने लिखा है- **कृमिघ्नमिङ्गुदीतैलमीषतिक्तं तथा लघु। कुष्ठामयकृमिहरं दृष्टिशुक्रवलापहम्।।**[29]

इंगुदी के फूल मधुर-कड़वे, चिकने, गर्म होते हैं तथा वात-विकार और कृमियों को नष्ट करते हैं, कफ को शांत करते हैं और घाव भरने वाले होते हैं।

इङ्गुदीपुष्पमुष्णं स्यात् स्त्रिग्धं स्वादु च तिक्तकम्। हन्ति वातामयान् जन्तून् श्लेष्माणं व्रणरोपणम्।।[30]

मालविका सुन्दरता में राजा को इस प्रकार दिखाई देती है, जैसे बसन्त के पके हुए पत्तों वाली किसी कुन्द लता में गिने हुए फूल बचे रह गये हों[31], परन्तु आयी हुई शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त सोचते हैं कि जैसे

प्रातः काल ओस पड़े कुन्द पुष्प पर भौंरा न तो बैठता है और न उसे छोड़कर ही जाता है, वैसे ही मैं भी न तो ग्रहण ही कर रहा हूँ न छोड़ ही पा रहा हूँ।[32]

आयुर्वेद के अनुसार कुन्दपुष्प - शीत वीर्य, लघु शिरोरोग, कफ तथा पित्त प्रकोप निवारक, विषनाशक, पाचन हृद्य वात शामक तथा रक्त विकार नाशक है। इसकी मूल आर्तवजनन, सर्पदंश प्रतिबन्धक है।[33]

आम्र का वर्णन सामान्यतया कामोद्दीपन के लिये किया गया है। वसन्त के प्रारम्भ होते ही इसमें नव किसलय और पुष्प-मंजरियाँ फूट पड़ती हैं। मंजरियाँ बहुत सौरभ विखेरती हैं। अतः भ्रमर उनके ऊपर मंडराते रहते हैं। कोकिल आम्र पर बैठकर बोलती है। उसका नाद विरहोद्दीपन का काम करता है। वह मानिनियों के मन को शान्त करता है। इसलिये कोकिल को मदन-दूती कहते हैं- **''त्वां कामिनो मदन दूतिमुदाहरन्ति''**।[34] विक्रमोर्वशीय में पुरुरवा कहता है कि काम पहले से ही मुझे पीड़ित कर रहा है, फिर पीले पत्तों के गिर जाने पर उपवनों के आमों में जब नये अङ्कुर निकलने लगे हैं, तब तो कहना ही क्या- **किमुत मलयवातोन्मूलितापाण्डु। पत्रैरूपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्करेषु।।**[35]

शाकुन्तल में वनज्योत्सना और सहकार का विवाह सम्पन्न कराने के उद्देश्य के शकुन्तला और अनसूया कहती हैं- ''इयं स्वयंवर वधूः सहकारस्य त्वयाकृतनामधेया वन ज्योत्स्ना नवमालिकेति।'' शकु.- ''रमणीये खलु एतस्य पादप मिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्सना, स्निग्धपल्लवतया च उपभोगक्षमः सहकारः।''[36] आम्र का उल्लेख प्रायः लताओं के वर के रूप में मिलता है।[37] आयुर्वेदीय कैयदेवनिघण्टु में आम्र के फूल कसैले, शीतल, कफ और पित्त का शमन करने वाले, स्वाद बढ़ाने वाले प्रमेह, अतिसार और रक्त विकारों में उपयोगी होते हैं।

आम्रपुष्पन्तु शिशिरं कषायं ग्राहि रोचनम्। कफपित्तहरं मेहातीसारासृग्गदान् जयेत्।।[38]

पारिजात की गणना देववृक्षों में की गयी है। पारिजात पुष्पों की कोमलता का प्रमाण यह कथन है जिसमें उर्वशी अपनी मनोदशा का वर्णन भूर्जपत्र लेख के द्वारा करती है कि नाथ अनुराग परिपूर्ण हृदय वाले आपके प्रति मेरी उदासीनता, जिसे कि आपने स्थिर कर रखा है, यदि वस्तुतः होती तो कोमल पारिजात पल्लवों की शय्या में नन्दन वन से आने वाली ये शीतल हवाएं भी क्यों मेरे शरीर को तपा डालती ? -

सामिअ संभाविया जहा अहं तुए अणुमिआ, तह अणुरत्तस्स जइ णाम तुह उवरि अहं।
किं मे ललिअ पारिआअ सणिज्जअंम्मि होन्ति, णं दणवण वादा वि अच्चुण्हआ सारीर ए।।[39]

पारिजात के फूल लाल और रसीले होते हैं। ये कसैले होते हैं और पित्त विकारों और कान के रोगों में उपयोगी होते हैं।

पारिभद्रस्य पुष्पं स्याद् रक्तवर्णं रसाप्लुतम्।
तुवरं पित्तरोगघ्नं कर्णव्याधिविनाशनम्।।[40]

निष्कर्ष रूपेण कहा जाता है, कि महाकवि के रूपकों का विहंगावलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के अन्तः एवं बाह्य स्वरूप को भली-भांति प्रत्यक्ष किया था। वस्तुतः ऋषियों, महर्षियों एवं महापुरुषों को संसार के अतीत एवं समस्त पदार्थ निर्मूल से प्रतीत होते हैं। ये कहने में कोई अतिशय नहीं है, कि महाकवि कालिदस का साहित्य समस्त आध्यात्मिकताओं के साथ-साथ चिकित्सकीय तथ्यों से भी परिपूर्ण है। महाकवि कालिदास ने अपने रूपकों में दैवव्यापाश्रय चिकित्सा के अन्तर्गत शुभाशुभ चिकित्सा, त्रिदोष, त्रिगुण, पञ्चमहाभूत, रसशास्त्र के अन्तर्गत रत्न चिकित्सा, द्रव्यगुण विज्ञान में अशोक, आम्र, इंगुदी, पारिजात आदि वनस्पतियों द्वार प्राचीन भारतीय चिकित्सा कर्म का वर्णन संक्षेप में किया गया है।

सन्दर्भ -

1. सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, 1/19
2. अष्टाङ्गहृदयम्, सूत्रस्थान, 1/5
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/16
4. मालविकाग्निमित्रम्, पृ. 343
5. अष्टाङ्गसङ्ग्रह, उत्तरस्थान, 40/138-39
6. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 7/24
7. अष्टाङ्गसङ्ग्रह, 1/29
8. विक्रमोर्वशीयम्, 2/22
9. अष्टाङ्गसङ्ग्रह, सूत्रस्थान 8/23
10. रघुवंशम् 6/19
11. अष्टाङ्गसङ्ग्रह, शारीरस्थान, 12/18
12. अष्टाङ्गसङ्ग्रह, शारीरस्थान, 8/23
13. अष्टाङ्गसङ्ग्रह, उत्तरस्थान, 50/17-18
14. रसरत्नसङ्ग्रह,6
15. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2/7
16. विक्रमांकदेवचरितम्, 5/11
17. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6/6
18. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2/10
19. रसचण्डांशु, पृ. 68
20. सूर्यादिग्रहनिग्रहोपहरणं दीर्घायुरारोग्यदम् । सौभाग्योदयभाग्यवश्यविभवोत्साहप्रदं धैर्यकृत् ।।
    दुश्छायाचलधूलिसङ्गतिभवालक्ष्मीहरं सर्वदा । रत्नानां परिधारणं निगदितं भूतादिनिर्णाशनम् ।। रसचण्डांशु, पृ. 70
21. विक्रमोर्वशीयम्, 2-7
22. मालविकाग्निमित्रम्, 1/5
23. मालविकाग्निमित्रम् 3/17
24. शालिग्राम निघण्टु, पृ. 384
25. वनौषधि विशेषांक, पृ. 228
26. भावप्रकाशनिघण्टु, 4/46
27. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/14
28. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, गद्य 2/11
29. सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान 4/5
30. शालिग्राम निघण्टु, पृ. 512
31. मालविकाग्निमित्रम् 3/8
32. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5/19
33. वनौषधि विशेषांक, पृ. 2
34. विक्रमोर्वशीयम्, 4/11
35. विक्रमोर्वशीयम्, 2/6
36. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/19 के बाद गद्य
37. कालिदास युगीन समाज और संस्कृति, पृ. 405
38. कैयदेवनिघण्टु, 1/338
39. विक्रमोर्वशीयम्, 2/12
40. कैयदेवनिघण्टु, 1/889

7

कालिदास के रूपकों में जीवन दर्शन

चन्दनलाल गुप्ता

कवि कालिदास अपने रूपकों के माध्यम से यह स्थापित करने में सफल रहे हैं कि व्यक्ति वर्णाश्रम व्यवस्था के पालन द्वारा पुरुषार्थ चतुष्टय का सम्पादन करता हुआ व्यक्तिगत उन्नति और कल्याण के साथ-साथ समस्त जगत् का भी मंगल सम्पन्न करता है। स्त्री और पुरुष सांसारिक जीवन और सृष्टि के अभिन्न अंग हैं। भगवान् विष्णु की स्तुति करने वाले देवताओं के मुख से कवि ने कहलवाया है कि हे भगवन्! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के फलों का ज्ञान, चतुर्युगों का काल परिमाण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों वाला संसार, सभी चतुर्मुख वाले तुमसे ही उत्पन्न हुआ है। तुम्हीं सबके आदि कारण हो।[1] यहाँ कवि के ऋग्वेद के पुरुष सूक्त[2] का अनुसरण करने पर भी वर्णों की उत्पत्ति में समरूपता है। अगर गीता[3] के 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' की बात करें तो कृष्ण कहते हैं कि मेरे द्वारा ही गुण और कर्म के विभागपूर्वक चतुर्वर्णों की रचना की गयी है। इसके आधार पर वर्ण व्यवस्था कर्माधारित है और समाज में सभी वर्णों का समान महत्त्व है। वर्तमान काल की विसंगतियों को देखकर इस व्यवस्था के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए सामाजिक कर्तव्यों का विभाजन ही इसका आधार रहा है। जिससे सभी अपने निर्धारित कर्मों को अबाध गति से करते रहें और सामाजिक उन्नति होती रहे।

अभिज्ञानशाकुन्तल में भी कवि ने वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा की है। पंचम अंक में कवि ने पुरोहित के माध्यम से राजा दुष्यन्त को चारों आश्रमों और चारों वर्णों के रक्षक के रूप में बताया है। पुरुवंशी राजाओं ने अपने क्षत्रिय धर्म को निष्ठा से निभाया है। ये लोग विपत्ति में फंसे हुए लोगों को अभय प्रदान करने के यज्ञ में दीक्षित रहते आये हैं।[4] राजा दुष्यन्त वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों को पालन करने वाला है। राजाओं को वर्णों से कर के रूप में जो धन प्राप्त होता है, वह नश्वर होता है। लेकिन तपस्वियों द्वारा प्रदत्त तपस्या का छठा भाग अविनश्वर होता है।[5] ऋषि बालक के माध्यम से गृहस्थ आश्रम के महत्त्व को स्थापित करते हुए कवि कहता है कि यह राजा दुष्यन्त भी सबके द्वारा आश्रय ग्रहण करने के योग्य गृहस्थाश्रम में निवास करते हुए प्रजापालन रूपी अनुष्ठान के द्वारा प्रतिदिन तप का संचय करता है अर्थात् अपने निर्धारित कर्तव्यों को पूरा करता है।[6] दूसरे भी अपने-अपने कर्तव्यों का सम्यक् तरीके से पालन करते हैं। दुष्यन्त मर्यादा का त्याग नहीं करता है, इसके राज्य में निम्न वर्ण का भी व्यक्ति कुमार्ग पर नहीं चलता है।[7] जिस प्रकार वायु रात-दिन बहता रहता है, उसी प्रकार राजा का यह धर्म है कि वह प्रजा पालन में सदैव तत्पर रहे।[8] मालविकाग्निमित्रम् में कहा गया है कि

अग्निमित्र के राज्य में प्रजाओं की समस्त इच्छाएं पूरी की जाती हैं।[9] नगर रक्षकों को जब धीवर के पास से दुष्यन्त के नामाक्षरों से युक्त अंगूठी मिलती है, तब वह कहता है कि मैं जाल, कांटा आदि से मछली पकड़ने के द्वारा अपने परिवार का भरण पोषण करता हूँ। आगे वह कहता है कि निन्दित होता हुआ भी स्वाभाविक कर्म अर्थात् वंश परम्परागत कर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। दया से कोमल हृदय वाला भी वैदिक ब्राह्मण यज्ञ में पशु हिंसा कर्म कठिन होने पर भी करता ही है।[10] गीता में भी कहा गया है कि दोषयुक्त होने पर भी स्वाभाविक कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि धुंयें से अग्नि की तरह समस्त कर्म दोष से युक्त होते हैं।[11] पुरुरवा जब अपने पुत्र का मुख देख लेता है, तब शाप समाप्त हो जाने पर इन्द्र की आज्ञानुसार उर्वशी को स्वर्गलोक जाना होगा। इस बात से शोकग्रस्त होकर वह कहता है कि तुम्हारे स्वर्गलोक चले जाने के बाद मैं भी आज कुमार आयु के कन्धों पर राज्य का भार सौंपकर इधर-उधर भ्रमण करने वाले हरिणों से व्याप्त तपोवन का आश्रय ले लूँगा अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर जाऊंगा।[12]

विदाई के अवसर पर कण्व के द्वारा शकुन्तला को दिये गये उपदेश गृहस्थाश्रम को सफल बनाने वाले हैं। जब शकुन्तला पिता कण्व से पूछती है कि मैं पुनः तपोवन को कब देखूंगी? तब कण्व कहते हैं कि चारों दिशाओं में फैली हुई पृथ्वी की सौत बनकर, अद्वितीय पराक्रमी दुष्यन्त पुत्र को उत्पन्न करके, उसको साम्राज्य का भार सौंपकर, दुष्यन्त के साथ इस शान्त आश्रम में पुनः निवास करोगी।[13] मनुस्मृति कहती है कि जब व्यक्ति अपने सिर पर श्वेत केश और शरीर में झुर्रियां देखे तथा पुत्रों के भी पुत्र उत्पन्न हो जायें, तब उसे वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। शास्त्रों का आदेश है कि व्यक्ति अपनी पत्नी को पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर अथवा उसके साथ वन में प्रवेश करे।[14] अभिज्ञानशाकुन्तल में कण्व पति और पत्नी दोनों को एक साथ वन में आने का निर्देश देते हैं। दुष्यन्त को एक आदर्श राजा के रूप में चित्रित करते हुए कवि वैतालिक के मुख से कहलवाता है कि हे राजन्! आप अपने सुख से निस्पृह रहकर प्रजाओं के कल्याण के लिए प्रतिदिन दुःख सहन करते हैं। आपके इस कार्य की उपमा केवल उपकारी वृक्ष से ही दी जा सकती है, जो अपने सिर से धूप को सहन करता है और अपने आश्रय में आये हुए जीवों के संताप को दूर करता है।[15] विक्रमोर्वशीयम् में भी वैतालिक कहता है कि आप और सूर्य दोनों बिना विश्राम के अपना-अपना कर्तव्य नित्य समानभाव से सम्पन्न करते हैं। पुरुरवा भी अपनी प्रजा के दुःख को दूर करने में निरन्तर लगा हुआ है।[16]

कवि की रचनायें जीवन की सभी परिस्थितियों में आशा की किरण का संचार करती हैं। एक तरफ चन्द्रमा अस्ताचल के शिखर पर जा रहा है और दूसरी ओर अरुण को आगे करके सूर्य उदित हो रहा है। इस प्रकार चन्द्रमा और सूर्य अपनी अवनति और उन्नति के द्वारा लोक को शिक्षा देते हैं कि अवनति और उन्नति परिवर्तनशील है। मनुष्य को इन दोनों ही अवस्थाओं में समभाव रहना चाहिए।[17] विक्रमोर्वशीयम् में कवि पुरुरवा के माध्यम से उर्वशी से कहता है कि दुःख के बाद ही सुख का वास्तविक आनन्द मिलता है। इसलिए दुःख से कभी घबराना नहीं चाहिए। दुःख के बाद जो सुख मिलता है, वह अत्यन्त आनन्ददायी होता है, वैसे ही जैसे कि धूप में तपकर आये हुए व्यक्ति को वृक्ष की छाया विशेष सुख देती है।[18] निरपराध जीवों के प्रति हमें दया रखनी चाहिए। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में वैखानस कहता है कि हे राजन्! यह आश्रम का मृग है, इसे नहीं मारना चाहिए। तुम्हारे शस्त्र पीड़ितों की रक्षा के लिए है, निरपराधों पर प्रहार के लिए नहीं।[19] विक्रमोर्वशीयम् में चित्रलेखा ने पुरुरवा को पीड़ितों पर अनुकम्पा करने वाला कहा है।[20] गीता[21] के निष्काम कर्म को प्रियंवदा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। प्रियंवदा शकुन्तला से कहती है कि हम लोग ग्रीष्म ऋतु में फूल

देने वाले वृक्षों को सींच चुकी हैं, अब उन वृक्षों को भी सींच लें जिनके फूलने का समय बीत चुका है, इससे निष्काम कर्म जन्य महान् धर्म होगा।[22] प्रकृति संरक्षण के इस कार्य को कवि ने धर्म कर्म कहा है। श्रृंगार रस प्रधान रचना में भी कवि ने आदर्श और नैतिक मर्यादा का पूरा ध्यान रखा है। स्त्री स्वयंवर के द्वारा स्वेच्छा से अपने पति का चुनाव करती थी। दुष्यन्त और शकुन्तला के गान्धर्व विवाह को कण्व ऋषि से स्वीकृति मिल जाने के कारण नैतिकता का उल्लंघन नहीं हो पाता है। दुष्यन्त कहता है कि बहुत सी राजर्षि कन्यायें गान्धर्व विवाह की रीति से विवाह के बन्धन में बंधी और बाद में उनके पिता ने उनका समर्थन किया है।[23] भारतीय संस्कृति में विवाह एक पवित्र बन्धन है, जिसमें वासनात्मक भोग गौण है। विवाह का उद्देश्य संतानोत्पत्ति द्वारा वंशपरम्परा को आगे बढ़ाना और सृष्टि चक्र को बनाये रखना है। इसको धर्मकर्म से भी जोड़ दिया गया है। तप और दान से उत्पन्न पुण्य परलोक में सुख देने वाला होता है। परन्तु पवित्र वंश में उत्पन्न हुई सन्तति इस लोक और परलोक दोनों में ही सुख देने वाली होती है।[24] कण्व शकुन्तला को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि जैसे शर्मिष्ठा ने सम्राट् पुत्र पुरु को प्राप्त किया, उसी प्रकार तुम भी सम्राट् पुत्र को प्राप्त करो।[25] षष्ठ अंक में संतानहीन बनिये के मर जाने पर उसकी संपत्ति राजसम्पत्ति बन जाती है। इस बात से दुष्यन्त बहुत दुःखी होता है और सोचता है कि मेरे बाद वंश में वेदोक्त विधि से पितरों को श्राद्ध और तर्पण करने वाला कोई नहीं है, इस बात से पितर शोक को प्राप्त हो रहे हैं।[26] यहीं पर राजा से दासी कहती है कि आप अन्य रानियों से अपने अनुरूप पुत्र प्राप्ति द्वारा पितृऋण से मुक्त हो जायेंगे।

आधुनिक विज्ञान ने बहुत बाद में प्रयोगों से सिद्ध किया कि वृक्षादि भी विभिन्न परिस्थितियों में मानव की तरह सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। लेकिन कालिदास के काव्यों में प्रकृति के प्रति संवेदना और उनमें भी जीवों की तरह सजीवता की सिद्धि बहुत पहले ही हो चुकी है। हमारे जीवन में अपने परिवार की तरह प्रकृति का भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रकृति के प्रति कालिदास की संवेदना ने प्रकृति संरक्षण हेतु नूतन दृष्टिकोण प्रदान किया है। तत्त्वदर्शियों में इस प्रकार की संवेदना होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि इस परिवर्तनशील जगत् में जो कुछ भी है, वह सब ईश्वर से व्याप्त है।[27] व्यक्तियों में आज प्रकृति के प्रति संवेदना का अभाव ही प्रकृति के विनाश का प्रमुख कारण है। वृक्षों से हमें अपने जीवन निर्वाह के लिए समस्त वस्तुएं प्राप्त हो जाती हैं। जब ऋषि कण्व हारीत को वृक्षों से फूल लाने के लिए भेजते हैं, तब किसी वृक्ष ने उन्हें चन्द्रमा के सदृश धवल मांगलिक रेशमी वस्त्र दिया, किसी ने पैरों में लगाने के लिए सुन्दर महावर निकालकर दिया, अन्यों ने पल्लवों की कान्ति से स्पर्धा करने वाले आभूषण दिए।[28] शकुन्तला के विदाई के अवसर पर लतायें पीले पत्ते को गिराकर मानों आँसू बहा रही हैं।[29] समाज में सभी अपने सत्कर्मों के प्रति सचेत हैं। जब दुष्यन्त को पता चलता है कि कण्व ने ऋषियों को उससे मिलने के लिए भेजा है, तब वह कहता है कि क्या तपस्वियों की तपस्या में विघ्न पड़ा है अथवा तपोवन में रहने वाले प्राणियों के प्रति किसी ने अनुचित आचरण किया है अथवा मेरे बुरे कर्मों से लताओं का फूलना-फलना रुक गया है?[30]

कवि ने विष्णु के वामनावतार के वैशिष्ट्य को दिखाया है। जिसमें उन्होंने अपने द्वितीय पादक्षेप से आकाश को नाप लिया था।[31] गीता में भगवान् के अवतारों के प्रयोजन के विषय में बताया गया है।[32] मारीच आश्रम की समृद्धि को देखकर राजा कहता है कि अन्य मुनिगण तपस्याओं के द्वारा जिन वस्तुओं की कामना करते हैं, उनके बीच में रहकर इस आश्रम के मुनिगण तपस्या करते हैं।[33] आश्रम में भोग की वस्तुएं विद्यमान थी, फिर भी मुनि लोग परमपुरुषार्थ मोक्ष की कामना से तप कर रहे हैं। आश्रमों में लोक से सम्बद्ध विषयों पर

चर्चा होती थी। सप्तम अंक में महर्षि मारीच ऋषि पत्नियों के साथ बैठी हुई अदिति को पतिव्रता के धर्म का उपदेश देते हैं।

पुरुवंशी राजा चारों आश्रमों का नियमपूर्वक पालन करते हैं। बालक सर्वदमन पौरव वंश का है, जब यह बात दुष्यन्त को पता चलती है, तब उसे आश्चर्य होता है कि यह इस बाल्यावस्था में तपोवन में कैसे रह रहा है? वह कहता है कि पुरुवंशी राजा पहले युवावस्था वाले गृहस्थाश्रम में पृथ्वी की रक्षा के लिए चूने से श्वेत भवनों में निवास करते हैं, उसके बाद उनके लिए वृक्षों के मूल स्थल घर हो जाते हैं, जहाँ नियमित रूप से वानप्रस्थी का जीवन व्यतीत करते हैं।[34] विक्रमोर्वशीयम् में पुरुरवा अपने पुत्र आयु से कहता है कि तुम ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण कर चुके हो, अब तुम्हारे गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का समय आ गया है।[35] रघुवंशी राजाओं के चरित्र वर्णन में कवि ने चारों आश्रमों का एकत्र स्पष्ट निर्देश किया है। रघुवंशी राजा बाल्यावस्था में समस्त विद्याओं का अभ्यास कर लेने वाले, युवावस्था में विषयों के भोग की इच्छा वाले, वृद्धावस्था में मुनियों की तरह जीविका वाले और अन्त में योग विद्या से शरीर का त्याग करने वाले हैं।[36] विक्रमोर्वशीयम् में तपस्विनी पुरुरवा से कहती है कि कुमार आयु के क्षत्रियोचित जितने भी जातकर्मादि संस्कार होते हैं, उन सबको महर्षि च्यवन ने सम्पन्न करा दिए हैं। विद्याध्ययन के पश्चात् धनुर्विद्या की भी उचित शिक्षा दे दी गई है।[37] कवि ने अपने रूपकों में कई स्थलों पर योग्य गुरु और योग्य शिष्य के विषय में निर्देश दिया है। गणदास कहता है कि मेघ का जल जैसे समुद्र सीपी में गिरकर मोती बन जाता है, वैसे ही योग्य पात्र में दी गई शिक्षा उत्कर्ष को प्रकट करती है।[38] श्रेष्ठ शिक्षक के विषय में कहा गया है कि किसी के पास ज्ञान अधिक होता है तो किसी के पास पढ़ाने की अच्छी कला होती है, लेकिन जिसमें दोनों गुण हों वही शिक्षकों में प्रधान माना जाना चाहिए।[39]

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय धर्म और दर्शन का आधार है। कवि के रूपकों के पात्रों का इसमें अटूट विश्वास है। यह विश्वास कठिन परिस्थितियों में भी जीवन को आशावान् और प्रेम से परिपूर्ण बना देता है। दुष्यन्त के द्वारा त्याग दी गई शकुन्तला का जब मारीच आश्रम में उससे पुर्नमिलन होता है, तब राजा शकुन्तला के चरणों में गिर जाता है। वह उसको उठाती हुई कहती है कि निश्चित ही मेरे पूर्व जन्म के दुष्कर्मों के फलित होने के कारण दयालु होते हुए भी उस समय आर्यपुत्र मुझ पर निर्दय हो गए थे।[40] इस तरह उन दोनों का गृहस्थ जीवन विषादयुक्त होने से बच गया। प्रारब्ध कर्मों का फल सभी को भोगना ही पड़ता है। सिद्ध महात्मा के कहे अनुसार मालविका का एक वर्ष तक दासी का जीवन व्यतीत करना और उसके बाद योग्य स्वामी की प्राप्ति का वर्णन प्रारब्ध कर्मों के फलों का ही भोग है। इसीलिये परिव्राजिका मालविका के राजकुमारी होने के वृत्तान्त को गोपनीय रखती है।[41] कवि के वैदिक संस्कृति के प्रति अत्यन्त लगाव को भरत वाक्य में देखा जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि वेदादि शास्त्रों के ज्ञान से पूरित कवि की वाणी का कोई परित्याग न करे। भगवान् शिव ही कवि के आराध्य हैं, इन्हीं को वह सर्वशक्तिमान् और भव बन्धन से मुक्त कराने वाला कहा है। वह कहता है कि स्वयंभू शंकर मेरे पुनर्जन्म को निवृत्त कर दें।[42] शरीरधारियों की मृत्यु निश्चित है, इस तथ्य को राजा अग्निमित्र परिव्राजिका से कहता है- हे भगवति! देहधारियों के लिए मरना स्वाभाविक है, आपके भ्राता ने स्वामी ऋण चुकाने में अपने प्राण दिए हैं।[43] उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया है, आपको शोक नहीं करना चाहिए। यहाँ गीता[44] का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। कवि का मन्तव्य है कि प्राचीन और नवीन दोनों में से जो उत्तम हो उसे स्वीकार करना चाहिए। प्राचीन होने से न सब अच्छा होता और नवीन होने से न सब बुरा होता है। बुद्धिमान् परीक्षा करके उत्तम का ग्रहण करते हैं। दूसरों के विश्वास के आधार पर अपना विचार बनाना तो मूर्खों का कार्य है।[45] समाज में विचारवान् व्यक्ति होने चाहिए।

कवि के तीनों रूपकों में श्रृंगारपूर्ण प्रणय का चित्रण है। लेकिन तीनों में कवि के उद्देश्यों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कवि का उद्देश्य आदर्श प्रेम के चित्रण के साथ धर्म, दर्शन, लोक संस्कृति, कर्तव्य पालन, स्त्रियों की स्वतन्त्रता, राजनैतिक आदर्श, राजा के कर्तव्य, प्रकृति और मानव के अन्तर्सम्बन्ध आदि की शिक्षा देना भी रहा है। विक्रमोर्वशीयम् में पुरुरवा और उर्वशी के प्रेम में अभिज्ञानशाकुन्तलम् वाली गम्भीरता, नैतिकता और मर्यादा नहीं है। अन्य विषय भी गौण हैं। उर्वशी पुरुरवा से मिलने में लोक लाज को त्याग देती है और पुरुरवा उर्वशी के वियोग में अपने कर्तव्यों को भूलकर पागलों की तरह उसे खोजता रहता है। उर्वशी के प्रेम को वह एकछत्र सम्पूर्ण पृथ्वी के राज्य से भी बढ़कर मानता है।[46] अन्य दो रूपकों में प्रेम की परिणति पुत्र प्राप्ति में होती है। लेकिन मालविकाग्निमित्रम् में अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र अश्वमेध यज्ञ के अश्व की रक्षा के लिए विजय यात्रा पर गया है और महल में अग्निमित्र और मालविका का प्रेम प्रसंग चल रहा है। यहाँ भी अन्य विषयों का वर्णन कम हुआ है।

महाकवि कालिदास के जीवन दर्शन में धर्म और अध्यात्म से समन्वित वैदिक संस्कृति का ही उत्कर्ष दिखाई देता है। कवि के रूपकों में स्त्री और पुरुष का समान महत्त्व है। पार्वती से सम्पृक्तसर्वव्यापक अर्द्धनारीश्वर भगवान् शङ्कर कवि के आराध्य और परमपद प्रदान करने वाले हैं। कवि का स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रकृति ही जीवन का आधार है, अतः आत्मीय सम्बन्धों के साथ उसका संरक्षण करना चाहिए। संसार सुख-दुःखात्मक है, दुःखों से घबराकर संसार मार्ग का त्याग उचित नहीं है। मनुष्य को अपने कर्तव्य कर्मों का पालन किए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती है। मुनष्य वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए पुरुषार्थ चतुष्टय का सम्पादन कर लेता है। किसी भी आश्रमों और किसी भी पुरुषार्थों का आपस में विरोध नहीं है। सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए सामाजिक कर्तव्यों का विभाजन ही इसका आधार रहा है। जिसके पालन द्वारा व्यक्ति व्यक्तिगत उन्नति और कल्याण के साथ-साथ समस्त जगत् का भी मंगल सम्पन्न करता है।

सन्दर्भ -

1. *चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः।*
   चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात्।। रघुवंशमहाकाव्य 10/22
2. *ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।*
   ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।ऋग्वेद 10/90/12
3. *गीता 4/13* 4. *आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः। अभिज्ञानशाकुन्तलम् 2/16*
5. *वही 2/13* 6. *वही 2/14* 7. *वही 5/10* 8. *वही 5/4*
9. *मालविकाग्निमित्रम् 5/20*
10. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 6/1*
11. *सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।। गीता 18/48*
12. *अहमपि तव सुनावद्य विन्यस्त राज्यं विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि। विक्रमोर्वशीयम् 5/17*
13. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/20* 14. *मनुस्मृति 6/2-3*
15. *स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः प्रतिदिनमथवा ते सृष्टिरेवंविधैव।*
    अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्।। अभिज्ञानशाकुन्तलम् 5/7

16. *विक्रमोर्वशीयम् 2/1*
17. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/2*
18. *यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम्।*
    निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः।। विक्रमोर्वशीयम् 3/21
19. *आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि। अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/10*
20. *आपन्नानुकम्पिना महाराजेन प्रतिहताः खलु ते त्रिदशपरिपन्थिनो हताशा दानवाः। विक्रमोर्वशीयम् 1/9 के पश्चात्*
21. *कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। गीता 2/47*
22. *तेन अनभिसन्धिगुरुको धर्म भविष्यति। अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/15 के पश्चात्*
23. *वही 3/20*
24. *रघुवंशम् 1/69*
25. *पुत्रं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि। अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/7*
26. *वही 6/25*
27. *ईशा वास्यामिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। ईशावास्योपनिषद् 1*
28. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/5*
29. *वही 4/12*
30. *वही 5/9*
31. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7/6*
32. *गीता 4/7*
33. *यद्वांछन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तत्रृस्मस्तपस्यन्त्यमी। अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7/12*
34. *वही 7/20*
35. *राजा- उपितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे द्वितीयमध्यासितुं तव समयः। विक्रमोर्वशीयम् 5/12 के पश्चात्*
36. *रघुवंशम् 1/8*
37. *विक्रमोर्वशीयम् 5/10 के पश्चात्*
38. *मालविकाग्निमित्रम् 1/6*
39. *मालविकाग्निमित्रम् 1/16*
40. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7/25*

14\. *मालविकाग्निमित्रम् 5/12 के पश्चात्*

42. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7/34*
43. *मालविकाग्निमित्रम् 5/11 के पश्चात्*
44. *जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।। गीता 2/27*
45. *मालविकाग्निमित्रम् 1/2*
46. *विक्रमोर्वशीयम् 3/19*

8

कालिदास के रूपकों में भारतीय संस्कृति

श्रीलेखा चौबे

कालिदास कृत रूपकों में चारों ही वर्णों के मनुष्य भिन्न-भिन्न आश्रम एवं स्ववर्णानुमोदित दायित्वों के अनुरूप जीवन यापन करते दिखाई देते हैं। कालिदास के कालखण्ड तक वैदिक वर्ण परम्परा शनैः-शनैः शिथिलता की ओर अग्रसर हो रही थी। अतः चार मुख्य वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) के साथ-साथ तब तक धीवर, वणिक, श्रेष्ठी, सार्थवाह, लुब्धक आदि भी प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अंग बन चुके थे। ब्राह्मण वर्ग वर्ण-व्यवस्था के उच्चतर सोपान पर स्थित था। वे प्रायः सत्वगुण प्रधान वृत्ति के होते थे। राजा तक ब्राह्मणों के समक्ष झुकते थे। अध्ययन-अध्यापन,यज्ञ, हवन, पूजा, अर्चना आदि में ब्राह्मण वर्ग की विशेष अभिरुचि होती थी। कालिदास का मानना है कि स्वयं को उच्च पद प्राप्त हो गया है, ऐसा सोचकर जो ब्राह्मण शास्त्रार्थ से डरते हैं और जिसका शास्त्र ज्ञान परनिन्दा को सहन करता है वह ब्राह्मण, वास्तव में वणिक ही है-

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।।[1]

ब्राह्मणों का समाज में इतना वर्चस्व था कि राजा भी उनका शासक नहीं बल्कि रक्षक ही होता था। ब्राह्मण वर्ग प्रायः कुलगुरु, तपस्वी एवं पुरोहित के रूप में कार्य किया करते थे। शाकुन्तलम् में कण्व ऋषि और विक्रमोर्वशीयम् में च्यवन ऋषि के तपोवन की चर्चा की गई है। पुरुरवा-उर्वशी के पुत्र ने च्यवन ऋषि के आश्रम में ही शिक्षा पाई थी। शाकुन्तलम् के पंचम अंक में दुष्यंत पुरोहित से सम्मति लेता है कि वह शकुन्तला को ग्रहण करे या नहीं? राजा के पास आए अतिथियों के स्वागत का दायित्व भी इन्हीं पुरोहितों पर होता था। शाकुन्तलम् में ब्राह्मण तपस्वियों की विशेषताएँ बताते हुए कहा गया है -

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः। स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति।।[2]

अर्थात् यद्यपि ऋषि लोग बड़े शान्त स्वभाव के होते हैं फिर भी उनमें इतना तेज होता है कि यदि कोई उन्हें कष्ट दे तो वे उसे जलाकर उसी प्रकार भस्म कर देते हैं जैसे स्पर्श में शीतल सूर्यकान्त मणि सूर्य के प्रकाश से आग उगलने लगती है। मालविकाग्निमित्रम् के प्रथम अंक में आचार्य गणदास और हरदास को देखकर अग्निमित्र उनका आदर करते हुए उन्हें स्थान देते हैं तो वहीं अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पाँचवें अंक में शारंगरव एवं शारद्वत को देखकर दुष्यंत उनका स्वागत करते हैं और उनसे कण्व की कुशलता पूछते हैं। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक आरम्भिक 25 वर्ष तक गुरुकुल में रहकर अपने अपने वर्णानुमोदित व्यवसाय

सम्बन्धी शिक्षा ग्रहण करता था। उसके बाद विवाह कर गृहस्थ जीवन का परिपालन करता था। 50 वर्ष तक की आयु सीमा पार कर वे वानप्रस्थी हो जाते थे और 75 वर्ष की आयु के उपरान्त वे संन्यास ग्रहण कर तपोवन की ओर प्रस्थान करते थे। इसीलिए अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में अपनी विदाई के अवसर पर जब शकुन्तला कण्व से पूछती है कि ''पिताजी अब मैं इस आश्रम में कब आऊँगी'' तब कण्व ने कहा था कि पुत्रोत्पत्ति कर जब तुम उस पुत्र को राज्यभार सौंप चुकी होगी तब पुनः शाँति प्राप्त करने इस आश्रम में आओगी-

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं प्रसूय।
तस्मिन्निवेशितधुरेण सहैव भर्ता, शान्त्यै करिष्यामि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्।।[3]

पुरुषार्थ-चतुष्टय- कालिदास के तीनों ही नाटकों में प्राचीन भारतीय संस्कृति द्वारा अनुमोदित पुरुषार्थ-चतुष्टय का कुशल व्यवहार दिखाई देता है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय के सुसंपादन का उद्योग इनकी कथा संरचना को अभिरामता के नए सोपान पर ले जाती है। धर्म रहित अर्थ-काम आदि निकृष्ट माने गए हैं। तदनुरूप ही मनुष्य की आयु को चार भागों में बाँटकर किशोरावस्था में विद्यार्जन, युवावस्था में भोग, प्रौढ़ावस्था में संयम और चतुर्थ चरण में परमात्मा का चिन्तन करते हुए शरीर त्याग करना ही क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास रूपी आश्रमों का प्रतीक कहा गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में ऋषि कण्व आजन्म ब्रह्मचारी थे। अतः शकुन्तला के बारे में भी उसकी सखियों से दुष्यंत पूछता है कि इनका तपस्विनी वेश विवाह होने तक ही रहेगा या यह भी सारा जीवन मृगियों के साथ ही बिताएँगी-

वैखानसं किमनयाव्रतमाप्रदानाद्, व्यापाररोधि मदस्य निशेवितव्यम्।
अत्यन्तमात्ममदिरे क्षणवल्लभाभिः, आहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः।।[4]

इससे सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज में विवाह ऐच्छिक था अनिवार्य नही!

राजा की कर्तव्य परायणता- कालिदास ने अपने नाटकों में राजा का आदर्श रूप प्रस्तुत किया है। उनके तीनों ही नाटकों सें राजतंत्रीय शासन प्रणाली की पुष्टि होती है। लेकिन तत्कालीन राजा निरंकुश नहीं होता था क्योंकि प्रजा के सुखी जीवन यापन की व्यवस्था करना उसका कर्त्तव्य माना जाता था। इस संदर्भ में कालिदास जी की मान्यता है कि जिस प्रकार सूर्य एवं वायु बिना किसी प्रलोभन के अपने कार्य में अनवरत संलग्न रहते हुए प्राणियों का संरक्षण करते हैं उसी प्रकार से राजा को भी अपने कर्तव्य में निरंतर संलग्न रहना चाहिए क्योंकि राजा तो प्रजा की आय का छठाँ भाग उनसे कर के रूप में ग्रहण करता है। अग्निमित्र हो या पुरुरवा अथवा दुष्यंत ये सभी एक राजा के रूप में अपने उत्तरदायित्वों को भलीभाँति समझते और पूरा करते हैं। इसीलिए तपस्वी जन भी अपनी तपोराशि का षष्ठांश राजा को कर के रूप में देते थे। निःसन्तान अवस्था में मृत हुए व्यक्ति की समस्त सम्पत्ति राजकोष में चली जाती थी। यदि मृतक की कोई पत्नी गर्भवती हो तो उसकी सम्पत्ति पर होने वाले पुत्र का अधिकार होता था। शाकुन्तलम् के पाँचवें अंक में दुष्यंत अपनी प्रजा का संतानवत् पालन करता दिखाई देता है-

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम्।
यूथानिसंचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः।।[5]

राज्य को अनावश्यक संघर्ष से बचाने तथा शान्ति बनाए रखने के लिए दो उत्तराधिकारियों में राज्य का विभाजन भी स्वीकार्य था। मालविकाग्निमित्रम् के पंचम अंक में राजा अग्निमित्र यज्ञसेन तथा माधवसेन के बीच विभाजन को स्वीकारते हुए दो राज्य स्थापित करने का प्रस्ताव रखते हैं-

तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टामुत्तरदक्षिणे । नक्तं दिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव।।

द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ धुरं रथाश्वाविव संग्रहीतुः। तौ स्थास्यतस्ते नृपतेनिर्दशे परस्परोपग्रहनिर्विकारौ।।[6]

विविध संस्कार एवं विवाह - प्राचीन भारत में पाणिग्रहण संस्कार के रूप में प्रसिद्ध विवाह पद्धति के अनेक रूप समाज में प्रचलित थे। गान्धर्व विवाह का चित्रण अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्राप्त होता है। विवाह का उद्देश्य, विवाह में प्रेम की भूमिका, प्रेम-सौंदर्य एवं आध्यात्मिकता, प्रेमपत्र, लेखन आदि विविध बिंदु कालिदास के नाटकों में यत्र-तत्र अभिव्यक्त हुए हैं। उनकी प्रथम नाट्य रचना मालविकाग्निमित्रम् में अग्निमित्र ने क्षत्रिय कन्या मालविका से विवाह किया। इसी प्रकार शाकुन्तलम् नाटक में क्षत्रिय राजा दुष्यंत क्षत्रिय पिता और अप्सरा माता की संतान शकुन्तला से विवाह करता है। अतः कहा जा सकता है कि उस समय विवाह सम्बन्धी नियम विशेष कठोर नहीं थे। सम्पन्न पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर लेते थे, जिन्हें पूर्व पत्नी/पत्नियाँ इच्छा अथवा अनिच्छापूर्वक स्वीकार कर ही लेती थीं। शाकुन्तलम् नाटक में दुष्यंत की कई रानियाँ थीं, ऐसा संकेत प्राप्त होता है- बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते (तृतीय अंक) किमन्तःपुरविरह पर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन (तृतीय अंक)। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्रम् में इरावती और धारिणी नामक दो पूर्व पत्नियों एवं पुत्र वसुमित्र के होते हुए भी अग्निमित्र मालविका से विवाह करता है। विक्रमोर्वशीयम् में भी पुरुरवा काशीनरेश की पुत्री औशीनरी से विवाहित था तथापि वह उर्वशी के साथ सम्बन्ध बनाता है।

शिक्षक के गुण धर्म एवं आदर्श- शिक्षक के गुण धर्म एवं आदर्श की विवेचना करते हुए कालिदास ने कहा हैं कि कुछ लोग स्वयं के गुणों को भली प्रकार से जानते हैं जबकि कुछ अन्य लोग दूसरों को सिखाने में निपुण होते हैं, किन्तु जिन लोगों में ये दोनों गुण समान रूप से हो, वही शिक्षक वास्तव में प्रतिष्ठा प्राप्त करने योग्य होता है-

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्थासंक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।।[7]

जो विद्वानों की सभा में भी अपना प्रभुत्व अर्थात् चमक बनाए रखे उसे ही वह उत्तम शिक्षा मानते हैं-

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः। श्यामायते न विद्वत्सु यः कांचनमिवाग्निषु।।[8]

अतिथि सत्कार - दैनिक जीवन में सदाचार पालन करते हुए अतिथि सेवा में संलग्न रहना ही सच्ची मानवता को परिभाषित करता है। अतः कालिदास भी 'अतिथिदेवो भव' की परम्परा में अटूट विश्वास रखते हैं। भारतीय संस्कृति की इसी मान्यता को परिपुष्ट करते हुए शाकुन्तलम् नाटक में ऋषि कण्व सोमतीर्थ प्रस्थान करते समय पुत्री शकुन्तला को अतिथि स्वागत का उत्तरदायित्व सौंप कर जाते हैं- अद्यैवानवद्यां दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्कारायसंदिश्य.....(प्रथम अंक) हला शकुन्तले! उचितं नो·तिथिपर्युपासनम्। तदेहि उपविशामः।..... (प्रथम अंक) आतिथेय अतिथि की श्रेष्ठता से प्रभावित होकर कभी-कभी उसे अपनी कन्या भी समर्पित कर देते थे। दुष्यंत के आगमन पर प्रियंवदा कहती है- यदि, तात आज आश्रम में होते तो इस अतिथि को अपनी सबसे प्रिय वस्तु (शकुन्तला) दे देते- सख्यौ-हला शकुन्जले! यद्यत्राद्य तातः संन्निहितो भवेत्। शकुन्तला-ततः किं भवेत्?

सख्यौ -इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति।.....(अभिज्ञानशाकुन्तलम, प्रथम अंक) कालिदास के नाट्यों के अनुशीलन से पता चलता है कि अतिथि का प्रीतिवचनों से विशेष सत्कार करने की परम्परा थी। अतिथि एवं उसके बन्धु बान्धवों का कुशल क्षेम पूछकर तथा उसके आने का प्रयोजन जानकार आतिथेय

उसकी इच्छापूर्ति का प्रयास करता था। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यंत का परिचय एवं उनके आने का प्रयोजन अनसूया बड़ी चतुराई एवं सौम्यता से पूछती है।

नारी का सम्मान- कालिदास की रचनाओं में स्त्रियों के प्रति विशेष सम्मान दिखाई देता है। त्रोटक विक्रमोर्वशीयम् में तो आरम्भ ही स्त्री-सम्मान की रक्षा का उद्योग करते हुए दिखाया गया है। ग्रन्थारम्भ में ही पुरुरवा नायिका उर्वशी को केशी नामक दैत्य के बंधन से मुक्त करता है-

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते। दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा सम्प्रति त्वया।।[9]

मालविका, उर्वशी और शकुन्तला तीनों की अद्भुत सुन्दरता के कारण ही क्रमशः अग्निमित्र, पुरुरवा और दुष्यंत उनकी ओर आकर्षित होते है। अद्भुत सुन्दरी मालविका को दासी रूप में कार्यरत देखकर अग्निमित्र को उससे सहानुभूतिमूलक प्रेम हो जाता है। उर्वशी तो राक्षसों के ग्रहण में फँस कर करुणाजनक स्थिति में थी ही। इसी प्रकार शकुन्तला भी सुकोमल एवं अद्भुत रूपवती होते हुए भी बड़े-बड़े घड़ों में पानी लेकर हॉफते हुए वृक्ष सिंचन कर रही थी। इस प्रकार तीनों ही नायिकाओं का प्रथम दृष्टि में ही नायकों का ध्यानाकृष्ट कर लेना स्वाभाविक बन पड़ा है।

नारी जीवन के विविध पक्ष, जैसे कि विन्यास, साज सज्जा, वस्त्र-धारण, संगीत एवं कला में उनकी दक्षता आदि भी स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है। शकुन्तला को प्रतिदिन वृक्ष सिंचन करते और अतिथिसत्कार के लिए जल एवं फल का प्रबन्ध करते देखते हैं। तत्कालीन समाज में स्त्रियाँ भी शिक्षा ग्रहण करती थीं। राजा दुष्यंत जब शकुन्तला को अंगूठी देते हैं तो सखियाँ उस पर राजा का नाम पढ़ लेती हैं। शकुन्तला द्वारा पत्र लेखन तथा रानी हंसपदिका द्वारा (पंचम अंक में) गीत गायन किया जाता है। विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय अंक में उर्वशी चित्रलेखा के साथ प्रमदवन में जाती है वहीं भोजपत्र पर अपनी व्याकुलता के विषय में पत्र लिखती है। मालविकाग्निमित्रम् में तो मालविका को गणदास के पास नृत्य संगीत आदि की शिक्षा ग्रहण के लिए ही रखा गया था। अतः कहा जा सकता है कि संगीत, चित्रकारी, नृत्य, चिकित्सा एवं गृहकार्य में स्त्रियों की विशेष निपुणता रहती थी तथा समाज में स्त्रियों के साथ सभ्य व्यवहार किया जाता था। संपत्ति के स्वामित्व के सन्दर्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि मृतक पति की सम्पत्ति पर स्त्रियों का कोई अधिकार नहीं होता था। तथापि स्त्रियॉ सभी प्रकार से अपने पति के प्रति समर्पित रहा करती थीं और पति की प्रसन्नता के निमित्त सपत्नी-दुःख को भी वे सहन कर लेती थीं-

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः। अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम्।।[10]

परोपकार की अनुशंसा- भारतीय संस्कृति हमेशा से ही परोपकार प्रधान रही है। कालिदास के तीनों ही रूपकों के प्रमुख पात्र दुष्यंत, पुरुरवा तथा अग्निमित्र नैतिकता के उच्च प्रतिमानों को जीवंत करने वाले हैं। वृक्ष, वायु, मेघ आदि का उदाहरण सामने रखकर नाटककार ने मनुष्य मात्र को बड़ी कुशलता से परोपकारी बनने की प्रेरणा दी है-

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिः भूरिविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।।[11]

प्रकृति प्रेमः- कालिदास की रचनाऍ प्रकृति प्रेम से ओतप्रोत है। भले ही उनके तीनों नाट्य राजघराने की प्रेमकथाओं को संजोए हुए हैं तथापि उनकी पृष्ठभूमि प्राकृतिक अंचल ही है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नायिका शकुन्तला तो मानों साक्षात् प्रकृति पुत्री है।वह वृक्ष सिंचन किए बिना स्वयं जलपान नहीं करती। आभूषणप्रिया होने पर भी वृक्षों के फूल-पत्ते नहीं तोड़ती। वृक्षों में प्रथम पुष्पोद्भव होने पर उसका उत्सव मनाती है-

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति युष्मास्वपीतेषु या, नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुम प्रसूति समये यस्या भवत्युत्सवः, सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।[12]

यही कारण है कि उसकी विदाई के समय आश्रम के पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी सभी उसके वियोग की संभावना से अत्यंत व्याकुल हो जाते हैं-

उद्गलितदर्भकवला मृगाः परित्यक्तनर्तना मयूराः। अपसृतपाण्डुपत्रा मुंचन्त्यश्रूणीव लताः।।[13]

प्रकृति प्रेम एवं प्रकृति संरक्षण के साथ ही साथ प्राकृतिक ओषधियों से रोगोपचार करना भी भारतीय समाज में प्राचीनकाल से ही प्रचलित था। मालविकाग्निमित्रम् के द्वितीय अंक में विदूषक के माध्यम से कहलाया गया है कि भोजन उचित समय पर कर लिया जाना चाहिए अन्यथा रोगों की सम्भावना बनी रहती है। पुनः तृतीय अंक में बताया गया है कि मदिरापान के बाद मीठा खाने से मदिरा का नशा और भी अधिक बढ़ जाता है-**एतत्खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता।** पुनः चतुर्थ अंक में विदूषक के सर्पदंश प्रसंग में विषनिदान का संकेत किया गया है-

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्। एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः।।[14]

लोक परम्पराओं का सम्मान- कालिदास के सभी नाट्य ग्रन्थों में भारतीय संस्कृति एवं मर्यादा का बड़ी कुशलता से निर्वाह किया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथावस्तु से ज्ञात होता है कि पर-स्त्री को राग भाव से देखना दुष्यंत के संस्कारों में नहीं था। इसीलिए शकुन्तला की ओर आकृष्ट होता हुआ भी वह पहले सुनिश्चित करता है कि यह ऋषि पुत्री उसके ग्रहण योग्य है भी अथवा नहीं। चतुर्थ अंक में तो भारतीय समाज की मर्यादा एवं लोक व्यवहार का अत्यंत रमणीय रूप देखने को मिलता है। पुत्री शकुन्तला की विदाई के समय तपस्वी कण्व का हृदय व्याकुलता से व्याप्त हो जाता है। अश्रु प्रवाह को रोकने के कारण उनके कण्ठ से आवाज नहीं निकल पा रहा था -

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया, कण्ठः स्तम्भित वाष्पवृत्ति कलुषश्चिंताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः, पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः।।[15]

पुत्री-स्नेह से सिक्त होने पर भी पिता कण्व उसे सफल दाम्पत्य तीवन का रहस्य समझाना नहीं भूलते-

शुश्रूषस्व गुरुन्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने, भतुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी, यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।[16]

अर्थात् सास-ससुर की सेवा करना, सपत्नियों के साथ प्रिय सखी जैसा व्यवहार करना, पति के द्वारा क्रोध किए जाने पर भी उनके विपरीत आचरण मत करना। सेवकों के प्रति उदार बनी रहना और अपने भाग्य पर घमंड मत करना। ऐसा आचरण करके ही स्त्रियाँ सम्मान प्राप्त करती है। 'शकुन्तला' को पतिगृह भेजने के पश्चात् पिता कण्व की निश्चिंतता एवं उनके संतुष्ट हृदय का चित्रण भी अत्यंत सराहनीय बन पड़ा है-

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।[17]

यज्ञ परम्परा में विश्वास- यज्ञ प्राचीन भारतीय पूजन-पद्धति का अभिन्न अंग रहा है। यज्ञ के द्वारा न केवल देव-प्रसादन एवं आत्मिक कल्याण होता है बल्कि पर्यावरण की शुद्धि और सुरक्षा भी होती है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में कण्व शकुन्तला को आशीर्वाद देते हैं कि ये यज्ञ की अग्नियाँ तुम्हारे जीवन से दुःख-दरिद्रता का निवारण कर तुम्हें सुख समृद्धि प्रदान करें-

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्ण दर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैः वैतानास्त्वां वन्हयः पावयन्तु ।।[18]

आध्यात्मिकता एवं धर्म की प्रधानता - कालिदासकृत तीनों ही नाट्य यूँ तो प्रेम की पृष्ठभूमि पर अवलम्बित हैं तथापि उनमें आध्यात्मिकता एवं धर्म की प्रधानता भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। शाकुन्तलम् के प्रथम अंक में ही दुर्भाग्य की शान्ति के लिए तीर्थ यात्राएँ करने का वर्णन प्राप्त होता है। ऋषि कण्व स्वयं अपनी पुत्री शकुन्तला के दुर्दैव की शान्ति का उपाय करने के लिए सोमतीर्थ जाते हैं- इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलमातिथिसत्काराय नियोज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अंक) धर्मप्रधान संस्कृति के संरक्षक होने के कारण वह अपने नाटकों में मानव जीवन में भाग्य एवं पुरुषार्थ की भूमिका पर भी उत्तम प्रकाश डालते है। कण्व के आश्रम की पृष्ठभूमि में पहुँच कर जब दुष्यंत की दाहिनी भुजा फड़कने लगती है तो तपोवन में सुन्दर स्त्री की प्राप्ति को असंभव मानता हुआ भी इस प्रसंग में वह भाग्य को ही सर्वोपरि मानता है- **अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र**[19]। इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् के तृतीय अंक में भरत मुनि का शिष्य भी कहता है कि मनुष्य की बुद्धिन्द्रियाँ भी होनहार का अनुसरण करती है- **''भवित व्यतानुविधायीनीन्द्रियाणि।''**[20] मनुष्य के सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य का सृजन उसके त्रिविध (प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण) कर्मो के माध्यम से ही होता है। अतः श्रेष्ठ कर्मों के सम्पादन एवं पुनर्जन्म में आस्था भी कालिदास के नाटकों में स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के भरतवाक्य में वह स्वयं के लिए पुनर्जन्म से मुक्ति की कामना करते देखे जाते हैं-

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।।[21]

वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श - कवि कालिदास की तीनों ही नाट्य रचनाएँ सर्व कल्याण की कामना एवं प्रेरणा से मुखरित हैं। उनका मानना है कि नागरिकों की मानसिक क्षुद्रता से समाज का पतन होता है। अतः मनुष्य को सदैव अच्छे लोगों की संगति में रहना चाहिए। मालविकाग्निमित्रम् में उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार निर्मली के फल के संपर्क में आकर दूषित जल भी निर्मल हो जाता है ठीक उसी प्रकार से विद्वानों की संगति प्राप्त कर मूर्ख भी शनैः-शनैः कौशल प्राप्त कर लेते हैं-

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः। पंकच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः।।[22]

मनुष्य मात्र के कल्याण एवं प्रसन्नता की कामना करते हुए विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक में उन्होंने कहा है कि सभी सामाजिकों को सभी प्रकार के कष्टों से मुक्ति प्राप्त हो -

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु। सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु।।[23]

निष्कर्षः - इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास के रूपकों में प्राचीन भारतीय संस्कृति का अत्यंत सहज एवं स्वाभाविक चित्रण हुआ है। तत्कालीन संस्कृति शांतिप्रधान एवं स्नेहमूलक होने के कारण आधुनिक सामाजिक संस्कृति की तुलना में अधिक मानवतावादी थी। तत्कालीन समाज में सभी मनुष्य एक बड़े परिवार के सदस्य की तरह परस्पर प्रेमपूर्वक रहते थे। अतः समाज में समग्र दृष्टि से संगठन एवं सन्तुलन बना रहता था। जनजीवन के मूल में भी सर्वत्र नैतिकता का वास था। वास्तव में कालिदास ने अपने रूपकों में कर्तव्यनिष्ठ जीवन की सर्वत्र अनुशंसा की है। विक्रमोर्वशीयम् में 'लक्ष्मीस्वयंवर' नामक नाटक की प्रस्तुति के समय उर्वशी अन्यमनस्कता के कारण प्रमादस्खलित हो जाती है। अतः 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर उसकें मुख से ''पुरुरवा''

उच्चरित हो जाता है। फलतः उसे भरत मुनि से श्राप प्राप्त होता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी अतिथि-सत्कार रूपी कर्त्तव्य से च्युत होने पर दुर्वासा-श्राप मिलने के कारण शकुन्तला अपने जीवन में अनेक कष्ट पाती है। वास्तव में अधिक प्रेमासक्ति के फलस्वरूप उर्वशी और शकुन्तला दोनों ने प्रमाद किया परिणामतः वे अभिशप्त भी हुईं। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य जीवन में अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य का महत्व अधिक है। यहाँ तक कि कर्तव्यों का सुनिर्वाह करते रहने से शाप से मुक्ति तक प्राप्त की जा सकती है, जैसा कि राजा पुरुरवा के साथ हुआ। पुरुरवा ने क्षत्रियधर्म का पालन करते हुए जब अपने अप्रतिम शौर्य से दानवों पर विजय प्राप्त किया तो उन्हें पुरस्कार स्वरूप इन्द्र से उर्वशी को पास रखने की अनुमति मिल जाती हैं। निष्ठापूर्वक स्वधर्म पालन करने में ही भारतीय संस्कृति का अखण्ड विश्वास है और इसका प्रकाशन कालिदास के रूपकों में भलीभाँति हुआ है। उन्होंने एक ओर जहाँ प्रेम के संयोग एवं वियोग उभय पक्षों का बड़ी तन्मयता से चित्रण किया है वहीं दूसरी ओर यज्ञ, दान और तप रूपी जिन तीन कर्मों की (श्रीमद्भगवद्गीता में आध्यात्मिक जीवन के संदर्भ में) बारम्बार अनुशंसा की गई है उनका भी बड़ा ही सुन्दर एवं सार्थक प्रयोग अपने रूपकों में कर दिखाया है। अतः उनके द्वारा स्थापित आदर्श एवं आस्थाएँ भारतवर्ष के आन्तरिक दार्शनिक चेतना के अत्यंत निकट हैं।

सन्दर्भः-

1. *मालविकाग्निमित्रम् 1/17*
2. *अभिज्ञानाशाकुन्तलम् 2/7*
3. *वही, 4/21*
4. *वही, 1/23*
5. *वही, 5/4*
6. *मालविकागिनमित्रम् 5/13.14*
7. *वही, 1/16*
8. *वही, 3/6*
9. *विक्रमोर्वशीयम् 1/14*
10. *मालविकागिनमित्रम् 5/19*
11. *अभिज्ञानाशाकुन्तलम् 5/13*
12. *वही, 4/9*
13. *वही, 4/12*
14. *मालविकागिनमित्रम् 4/4*
15. *अभिज्ञानाशाकुन्तलम् 4/6*
16. *वही, 4/19*
17. *वही, 4/23*
18. *वही, 4/8*
19. *वही, 1/14*
20. *विक्रमोर्वशीयम्/तृतीय अंक*
21. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7/36*
22. *मालविकाग्निमित्रम् 2/7*
23. *विक्रमोर्वशीयम् 5/25*

9

कालिदास के रूपकों में वर्णाश्रम व्यवस्था

ऋचा मुक्ता

मानव जीवन के लिए 100 वर्षों की आयु की कामना की गयी है, जो चार आश्रमों में विभक्त है और मोक्ष की प्राप्ति हेतु उनका पालन अनिवार्य है- **तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम् प्रब्रवाम् शरदः शतम् अदीनाः स्याम् शरदः शतम् भूयश्च शरदः शतात्।।**[1] अर्थात् जो ब्रह्म सबका द्रष्टा धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा सृष्टि के पूर्व, पश्चात और मध्य में सरसस्वरूप में विद्यमान रहता है। जगत का पालन करने वाला है उसी ब्रह्म को हम सभी सौ वर्षों तक देखें, सौ वर्षों तक हमारी तेज नेत्र ज्योति बनी रहे, सौ वर्षों तक हमारी सुनने की शक्ति बनी रहे, सौ वर्षों तक सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करें तथा सौ वर्षों तक मधुर वाणी से युक्त रहे उसी परमेश्वर की आज्ञा का पालन व कृपा से सौ वर्षों के उपरान्त भी हम लोग देंखे सुने, सुनाए और स्वतंत्र रहे। वर्णाश्रम व्यवस्था जीवन की एक ऐसी पद्धति है जिसमें प्रत्येक वर्ण के मानव को हर परिस्थिति में परिश्रम करना पड़ता है। आश्रम शब्द आ उपसर्ग पूर्वक श्रम धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर बना है जिसका अर्थ होता है श्रम करना या प्रयास करना। मनुष्य समाज का अभिन्न अंग है और पुरूषार्थ उसके चार अंग माने जाते है। आश्रम व्यवस्था पुरूषार्थ चतुष्ट्य की सिद्धि के लिए सोपान स्वरूप है, आश्रम व्यवस्था को वर्णाश्रम धर्म भी कहा जाता है। वर्णाश्रम व्यवस्था का तात्पर्य चार आश्रमों से है, जो कि पूर्णतः कर्म पर आधारित है। श्रीमद्भगवदगीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विध्यकर्तारमण्यम्।।[2]

अर्थात् गुण एवं कर्मों के विभाग से चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं। मैं उसका कर्ता हूँ और तुम मुझे अकर्ता और अविनाशी समझो। समाज के सुचारू संचालन एवं व्यवस्था हेतु इन चारों वर्णों का होना आवश्यक हैं। मनुस्मृति में भी पहले अध्याय के अन्तर्गत चारों वर्णो यानि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मो का निर्धारण गुण एवं कर्म के आधार पर किया गया है। प्राचीन समाज को सुव्यवस्थित, सुगठित और सुसस्ंकृत रूप प्रदान करने के लिए हमारे मनीषियों ने आश्रम चतुष्ट्य एवं वर्ण चतुष्टय के सिद्धान्त की कल्पना की। हमारा समस्त शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास आश्रमधर्म पर आधारित है। भारतीय साहित्य की विभिन्न रचनाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था का उल्लेख प्राप्त होता हैं। संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककार कालिदास हैं। महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञानशाकुन्तलम् इन नाटकों की रचना की। मालविकाग्निमित्रम् कालिदास की पहली रचना है। विदिशा का राजा अग्निमित्र प्रस्तुत नाटक का नायक

है, जो धीरोदात्त की अपेक्षा धीरललित नायक अधिक है। मालविका नायिका है। इन दोनो की प्रणयकथा का वर्णन है। विक्रमोर्वशीयम् में पुरूरवा तथा अप्सरा उर्वशी की प्रसिद्ध पौराणिक कथा को वर्णित किया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक विश्व साहित्य का सर्वोत्कृष्ट नाटक है, इसमें महाराज दुष्यंत एवं मेनका पुत्री शकुन्तला के प्रणय का चित्रण है। कालिदास ने अपने ग्रन्थो में प्रत्यक्ष रूप से बौद्ध धर्म का विरोध नहीं किया है तथापि उनकी वैदिक धर्मदर्शन तथा उसके अनुसार व्यवस्थित वर्णाश्रम धर्म में गहन आस्था थी। कालिदास के रूपकों का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज चार वर्णो में विभक्त था और प्रत्येक वर्ण अपने कुल क्रमागत कर्म को ही करने में अपना गौरव समझता था। कालिदास के रूपक तत्कालीन समामजिक रचना का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते है। उनके नाटकों का प्रमुख उद्देश्य लोकरंजन था इसलिए उनमें समसामयिक समाज का यथार्थ चित्रण हुआ है। कालिदास के रूपकों में समाज में व्याप्त वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, विवाह, परिवार आदि का सुन्दर चित्रण किया गया है।

कालिदास ने सामान्यताः मनु के द्वारा प्रतिपादित समाज कल्याण के लिए सर्वाधिक उपयोगी व्यवस्था का अनुकरण किया क्योंकि इसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक निश्चित स्थान एवं कार्य के द्वारा समाज की सुव्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। कालिदास ने इसी का अनुसरण करते हुए समाज के व्यक्तियों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों में बाँटा है तथा प्रत्येक को अपने कार्य सम्पादन में गर्व का अनुभव भी कराया है इसलिए अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा, रक्षकों के द्वारा धीवर की आलोचना करने पर कवि का वर्णव्यवस्था समर्थक हृदय उद्वेलित हो जाता है तथा शास्त्र विहित निकृष्टतम कार्यों की आलोचना भी करने को तैयार हो जाते है-

सहजं किल यद् विनिनिन्दतम् न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्। पशुमारणकर्मदारूणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः।।[3]

अर्थात् निन्दित जो भी कर्म वंश परम्परा से प्राप्त हैं, उसको त्यागना नही चाहिए। यह तर्क वर्णव्यवस्था का परिपोषक तथा मनुस्मृति एवं गीता आदि धार्मिक कार्यों का समर्थक है। कालिदास ने अनेक स्थलों पर 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया है, तथा उसके चातुर्वर्ण्य पर भी प्रकाश डाला है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में ब्राह्मणादि चारों वर्णों का वर्णन प्राप्त होता है। कण्व, माधव्य, ऋषिकुमार, हारीत, शारंगरव शारद्वत, गालव, भारती एवं पुरोहित ये ब्राह्मण वर्ण के है। इनकी कार्यशैली को देखकर प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों की दो कोटियाँ थी। (1) इसमें प्रथम सादा जीवन उच्च विचार के पोषक आश्रमवासी ब्राह्मण थे (2) राजाश्रय में सुख-सुविधाओं का उपभोग करने वाले ब्राह्मण थे। ब्राह्मण ऋषि मुनि आदि का कर्म अध्ययन अध्यापन, यज्ञानुष्ठानादि धार्मिक कर्तव्यों का सम्पादन करना था। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में वर्णित कण्व मारीच आदि ऋषियों के आश्रमों में पूर्वोक्त कर्म ही सम्पादित होते थे। यज्ञानुष्ठानों में पशु-बलि का विधान था- **पशुमारणकर्मदारूणोऽनुकमपामृदुरेव श्रोत्रियः।**[4] यद्यपि कालिदास ने अपने रूपको में ब्राह्मण के अध्ययन का कोई स्पष्ट रूप प्रस्तुत नहीं किया है, फिर भी अध्यापन रूपी कार्य के वर्णन से अध्ययन का कार्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। अध्ययन के बिना अध्यापन सम्भव नही होता है। शारंगरव एवं शारद्वत जैसे ऋषि कुमार तो नित्य अध्ययन में ही रत है। कण्व जैसे ब्राह्मण पात्र अपने यजन और याजन से प्रजा में नित्य सुख शान्ति फैलाते है। राज्य के सुख का आधार भी उनके द्वारा सम्पादित किया गया यज्ञ ही है। दुष्यन्त का पुरोहित भी इसी प्रकार के ब्राह्मणों का प्रतिनिधित्व करता हुआ दिखाया गया है। विषम परिस्थितियों में राजा उससे परामर्श लेता है (अनुशास्तु मां भवान्)।[5] अमात्यों की नियुक्ति भी ब्राह्मणों द्वारा की जाती थी- तं ज्ञानपण्यं वाणिजं वदन्ति।[6] वेतन लेकर कार्य करने वाले ब्राह्मणों की निदा की गयी है।

धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रिय तथा राजन्य वर्ग का कार्य देशरक्षा तथा प्रजापालन था। प्रजा का सर्वथा हित करना राजा का नैतिक कर्तव्य था जैसा कि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के भरतवाक्य में संकेत दिया है- **प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः।**[7] कालिदास ने अपने सभी रूपकों में उक्त कार्यो का क्षत्रियों के लिए अक्षरशः पालन किया है। कालिदास के रूपकों में अग्निमित्र के अतिरिक्त सभी क्षत्रिय पात्र अपने प्रजापालन रूपी कार्य में सचेष्ट दृष्टिगोचर होते है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त अपने इस प्रधानकार्य में इतना संलग्न है कि ग्रन्थारम्भ में ही मुनि कन्याओं की पुकार पर उनकी रक्षा के लिए तत्काल दौड़ पड़ते है- **राजा (सत्वरमुपसृत्य) - कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्। अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्किन्यासु।।**[8] राजा दुष्यन्त मुनियों की रक्षा तथा माता के व्रत का पालन रूपी कार्य में रक्षा को ही प्राथमिकता देते है। पाँचवे अँक में वैतालिक उनके क्षत्रियत्वयुक्त कार्यों पर प्रकाश डालते हुए कहता है- **बन्धुकृत्यं प्रजानाम्।**[9] विक्रमोर्वशीयम् का नायक पुरूरवा भी अप्सराओं के करूण क्रदन को सुनकर चित्रलेखा के साथ उर्वशी को केशी दैत्य से छुड़ाकर लाता है- **राजा - सूत ! ऐशानी दिशं प्रति चोदयाश्वानासु गमनाय।**[10] इस प्रकार वह भी अपने प्रजापालन रूपी कार्य में संलग्न है। मालविकाग्निमित्रं का अग्निमित्र नृत्य, गीत, संगीत एवं विलासिता में अधिक रूचि रखता है तो रानी धारिणी उसे अपने प्रति सचेत करती हुई कहती है- **देवी- राजानमवलोक्य- यदिराजकार्येष्वीदृश्यमुपायनिपुणतार्यपुत्रस्य तत् शोभनं भवेत्।**[11] अर्थात् यदि आप राजकार्यों में इतना समय लगाते तो कितना अच्छा होता। क्षत्रियों को चारों वर्णों एवं आश्रम का रक्षक बताया गया है- **असावत्रभवान् वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेवमुक्तावासनो।**[12] अभिज्ञानशाकुन्तलम् का नायक दुष्यन्त कर्तव्यच्युत होकर शकुन्तला के साथ गन्धर्व विवाह करता है जिसके परिणामस्वरूप कालिदास उसको पश्चाताप् की अग्नि में जलाते है।

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविध्नाः क्रियाः समलोक्य। ज्ञास्यसि कियद् भुजो ये रक्षति मौर्वीकिंणाक इति।।[13]

वैखानस ऋषि राजा दुष्यन्त से कह रहे कि हे राजन्! आपको कण्व ऋषि के आश्रम में प्रवेश करके अतिथि सत्कार स्वीकार करना चाहिए ताकि धार्मिक यज्ञानुष्ठान, अध्ययन, अध्यापन आदि कार्यो को स्वयं देख सके क्योंकि आश्रमों की सुरक्षा व्यवस्था राजा के अधीन होती है।

भारतीय समाज का तीसरा वर्ण वैश्यों का है। वैश्य वर्ण का मुख्य व्यवसाय वाााणिज्य था। वैश्यों को श्रेणी भी कहा जाता था। मनुस्मृति के अनुसार पशुपालन, दान, अध्ययन, यज्ञ, वाणिज्य तथा कृषि उनका मुख्य कार्य है। कालिदास के रूपको में भी वैश्य का वाणिज्य आदि कार्य करते हुए देखा गया है तथा कभी भी धर्मविरोधी कार्य को करते हुए नहीं देखा गया है। कालिदास के रूपको में वैश्य के लिए वाणिज्य ही मुख्य कर्म तथा जीविकोपार्जन का साधन बताया गया है। वैश्यों के लिए नैगमणि वाणिज्य (तं ज्ञानपव्यं वणिजं वदन्ति)[14], श्रेष्ठी- इदानीमेय सांकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वत्तपुसावना जाया श्रुयते।[15] तथा 'सार्थवाह'शब्दों का प्रयोग किया गया है। अभिज्ञानशकुन्तलम् के छठे अंक में वैश्य के लिए 'श्रेष्ठी' एवं 'सार्थवाह' शब्दों का प्रयोग वैश्यों के वाणिज्य कर्म का द्योतक है। धनमित्र नामक व्यापारी के नामकरण में भी कालिदास ने मनु के मत का अनुसरण किया है।

समस्त धर्मशास्त्रियो के मतानुसार शूद्रों का मुख्य कर्म सेवा ही है। कालिदास के रूपकों में ये पात्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। विक्रमोर्वशीयम् में यवनी एवं निपुणिका, मालविकाग्निमित्र में मधुकटिका, निपुणिका आदि तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् मे रैवतक, करभक, कंचुकी, चतुरिका, परिभृतिका, मधुरिका, प्रतिहारी एवं

यवनी आदि है। कालिदास के समय में सभी लोग सुख सम्पन्न एवं समृद्धिशाली थे तथा अपने वर्णगत नियमों का पालन करना अपना परम कर्तव्य समझते थे। लोग अपने वर्णक्रमागत कुल कर्म को सहज कर्म समझकर उसके सदोष अथवा निन्दनीय होने पर भी नही त्यागते थे। अभिज्ञानशाकुन्तलम् का धीवर इसका प्रमाण है जो अपने कुलकर्म को हेय न मानकर श्रेष्ठ मानता है-सहज यत्किल विनिन्दतम।[16] धीवर जल से मछली पड़ककर अपने परिवार का भरण-पोषण करने वाला मछुआरा है। मानव निरन्तर परिश्रम के द्वारा जीवन के विभिन्न भागों में अपनी उन्नति एवं अभ्युदय हेतु पुण्य का संचय करता था, इसलिए इन भागों को आश्रम की संज्ञा दी गई-आसमन्तात् श्रमोत्रेत्ल्याश्रम शब्दस्यार्थः वा आश्रमन्ति अनैने वा इति। अर्थात् इन चारों आश्रमों में मनुष्य परिश्रम द्वारा धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरूषार्थों को प्राप्त करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। महाकवि कालिदास ने भी अपने रूपकों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों का उल्लेख दिया है।

कालिदास वर्णव्यवस्था की भाँति आश्रमव्यवस्था में आस्था रखते थे, उनके समय में आश्रमों का सम्मानपूर्ण स्थान था। वे राजाओं की शिक्षा व्यवस्था एवं वानप्रस्थी स्थिति को संभालते थे। सहशिक्षा की व्यवस्था थी। ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी बालक तदनुकूल वल्कल वस्त्रों को धारण कर विद्याध्ययन करते थे। कण्व के आश्रम में शार्ङ्गरव और शारद्वत आदि ब्रह्मचारी तथा अनुसूया और प्रियंवदा आदि ब्रह्मचारिणियाँ अध्ययनरत थी। तपस्वियों का आदर राजवर्ग भी करता था, इसलिए तपोवन में प्रवेश करते ही राजा कहता है- **विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवननिनाम्।**[17] ब्रह्मचर्य काल में ये ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणियाँ पुरूषोचित तथा स्त्रियोचित विद्याएँ ग्रहण करते थे। वृक्षसेचन, अतिथि सत्कार, संगीत आदि स्त्रियों को सिखाया जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में 'कुलपते' शब्द का प्रयोग है जिसका तात्पर्य है कि दस हजार शिष्यों, मुनियों व आचार्यों के पालन पोषण एवं शिक्षा आदि की व्यवस्था का भार वहन करने वाला कुलपति कहा जाता था। महाकवि ने एक स्थल पर राजा के माध्यम से आश्रमों के वातावरण का दृश्य भी प्रस्तुत भी किया है-

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः, प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपला।
विश्वासोपगमौदभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते, मृगास्तोयाधारयथाश्चवल्कलशिखानिष्पन्दरेखांकिताः।।[19]

इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम एवं द्वितीय अंक में अनेक स्थलों पर ब्रह्मचर्य जीवन का उल्लेख प्राप्त होता है।

महाकवि कालिदास ने अपने रूपको में ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के पश्चात् गृहस्थाश्रम का उल्लेख किया। ब्रह्मचर्य काल पूर्ण होने पर द्विज वर्ग को विधिवत् गृहस्थाश्रम में प्रवेश की अनुमति दी जाती थी और उन्हें आवश्यक शिक्षाएँ भी दी जाती थी जैसे कि अभिज्ञानशाकुन्तलम् में चतुर्थ अँक में कण्व ऋषि ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती हुई अपनी पुत्री शकुन्तला को शिक्षा दी है-

शुश्रुषस्व गुरून् कुरू प्रियसखीवृतिं सपत्नीजने, भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी, यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।[20]

जिस प्रकार समाज का आधार वर्णव्यवस्था उसी प्रकार आश्रमों का आधार गृहस्थाश्रम है। जीवन का मुख्य लक्ष्य चर्तुवर्ग फल प्राप्ति है, उनमें अर्थ एवं काम की प्राप्ति का साधनभूत यही आश्रम है। कवि के अनुसार गृहस्थाश्रम इस लोक तथा परलोक दोनों के कल्याण की प्राप्ति का आधार हैं क्योंकि इसी आश्रम में सन्तानोत्पत्ति होती है। मनु ने पंच महायज्ञों तथा वर्णविहित कार्यों का सम्पादन ही गृहस्थाश्रम का मुख्य कार्य माना है, और कालिदास के रूपकों में सभी पात्र चाहे वह दुष्यन्त हो या अग्निमित्र, सार्थवाह हो या पुरूरवा,

नित्य शास्त्रोक्त धर्म पालन से तनिक भी विचलित नही होते बल्कि तन्मयता से उसका पालन करते है। कालिदास के अनुसार गृहस्थाश्रम का आधार दाम्पत्यजीवन एवं दाम्पत्य का आधार आपसी स्नेह एवं विश्वास होता है। कालिदास एक पत्नीत्व के आदर्श को ही सर्वश्रेष्ठ मानते है। क्योंकि इसी में दाम्पत्य की समृद्धि तथा वंश की वृद्धि सम्भव है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त शास्त्र सम्मति के बिना बहुपत्नी का पालन किया जिसके परिणामस्वरूप वह निरन्तर पश्चाताप् की अग्नि में प्रज्ज्वलित होता है। यही स्थिति अग्निमित्र की भी हुई। वह दो - दो पत्नियों के रहते तीसरी से विवाह की इच्छा के कारण उन्हे पत्नियों से प्रताड़ित होना पड़ा। पुरूरवा भी रानी ओशनरी के रहते उर्वशी से विवाह कर लेता है, जिसका प्रतिफल वह जीवन भर कष्ट भोगता है। मनु आदि धर्मशास्त्रियों का अनुसरण करते हुए कालिदास ने भी पत्नी पर पति का पूर्ण अधिकार बताया है इसीलिए अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अन्तर्गत जब दुष्यन्त शकुन्तला को अस्वीकार करता है तो शारंगरव दुष्यन्त को फटकारता हुआ कहता है कि चाहे वह उसे स्वीकार करे या न करे उसका शकुन्तला पर पूर्ण अधिकार है-

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैना गृहाण वा। उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।।[21]

कालिदास की दृष्टि में पति के लिए पत्नी का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है- क्रियाणां खलु धर्म्याणां सपत्न्यो मूलकारणम्। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में पत्नी का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है तथा गृहस्थाश्रम की सफलता के लिए आदर्श एवं प्रेममय दाम्पत्य आवश्यक है-

संतुष्टोभार्ययाभर्ता भर्त्याभावा तथैव च। यस्मिन्नेवकुले नित्यं कल्याणं तत् ध्रुवम्।।[22]

विक्रमोर्वशीयम् में जब तापसी आश्रम में लौटने लगती है तो कुमार आयुष भी उसके साथ जाने की इच्छा करता है, किन्तु वह उसे मना करती हुई कहती है- तापसी- वत्स ! उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमें द्वितीय मध्यासितुंतव समय।[23] अर्थात् अब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो और परिवार एवं राज्य का भार धारण करो।

महाकवि कालिदास अपने रूपकों में जहाँ गृहस्थाश्रम पर अधिक बल देते है वही वानप्रस्थाश्रम की उपेक्षा भी उन्होने कही नही की है। वानप्रस्थाश्रम को कई संज्ञाओं से विभूषित किया गया है जैसे मुनिवृत्ति, शान्तिमार्ग तथा वैखानस[24] आदि संज्ञाओं से विभूषित किया गया है और वास्तविक शान्ति हेतु वन्यवृत्ति ही इसका वास्तविक अर्थ बताया गया है। मनुस्मृति के अनुसार जब शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाये, पुत्रों के भी पुत्र हो जाये, केश श्वेत पड़ जाये तो आयु के तीसरे चरण में वन जाना चाहिए।[25] मनु के अनुसार गृहस्थ धर्म के पालन के बिना वानप्रस्थ में प्रवेश में वर्जित है। कालिदास भी इन विचारों से सहमत जान पड़ते है, उनके अनुसार जब संस्कार सम्पन्न तथा ब्रह्मचर्य से परिभूत संतति कुटुम्ब का भार धारण करने योग्य बन जाए तो गृहस्थ संसार के कल्याण के लिए तथा आत्मीय शान्ति हेतु वन जाएँ, जीवन की यही अवस्था वानप्रस्थ कहलाती है। कालिदास ने अपने रूपको मे कही भी इसका लक्षण या नियम का उल्लेख नही किया है परन्तु उनके पात्रों के इस आश्रम में उपस्थिति से स्पष्ट होता है कि मानसिक शान्ति एवं मोक्षप्राप्ति के लिए शरीर को योग्य बनाने वाली वृत्ति ही वानप्रस्थाश्रम है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में पतिगृह गमन करती हुई शकुन्तला जब अपने पिता से भाव -विहवल होकर कहती है। कि- तात ! क्या फिर कभी मैं इस आश्रम को देख पाऊँगी तो कण्व इसका उत्तर देते हुए कहते है-

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तिमप्रतिरथ तनयमिवेश।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं, शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्।।[26]

अर्थात् वह अपने पति के साथ आश्रम में प्रवेश कर सकती है, इस कथन से वानप्रस्थ आश्रम की ओर स्पष्ट संकेत है।

कालिदास के रूपकों में चित्रित आश्रमवासी पात्रों के क्रियाकलापों को देखकर ही वानप्रस्थ के नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है। कण्व, गौतमी, मारीच, वाल्मीकि, वशिष्ठ आदि वानप्रस्थ से सम्बन्धित पात्र है, इनमें से अधिकांश पात्र सपत्नी वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते है, मारीच स्वयं अपनी पत्नी के साथ तपोवन में रहते है-

स्वायम्भुवान्ममरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः। सुरासुरगुरूः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति।।[27]

मनु[28] एवं याज्ञवल्क्य[29] का कथन है कि गृहस्थाश्रमी व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ या उसे पुत्रों के पास छोड़कर वानप्रस्थ में प्रविष्ट कर सकता है, इन्हीं नियमों का पालन करते हुए कालिदास ने भी विक्रमोर्वशीयम् में वर्णन किया है- उर्वशी के स्वयं जाने के लिए तैयार होने पर पुरूरवा अकेले ही वानप्रस्थाश्रम जाने के लिए तैयार है-

राजा-अहमपि तवसूनावापुषि न्यस्त राज्यो। विरचितं मृगयथान्याश्रमिष्ये वनानि।।[30]

कालिदास के रूपकों में वर्णित वानप्रस्थी पात्र नित्य अतिथि सत्कार इत्यादि कार्यो में संलग्न है। कण्व अपनी अनुपस्थिति में अपनी धर्मपुत्री शकुन्तला को अतिथि सत्कार इत्यादि कार्यभार सौंपते है। आश्रम में आए हुए अतिथि दुर्वासा का सत्कार न करने के कारण शकुन्तला को शापग्रसित होना पड़ता है।[31] व्रिक्रमोर्वशीयम् में जब उर्वशी स्वर्ग जाने के लिए तैयार होती है तो पुरूरवा भी पुत्र पर राज्यभार छोड़कर वानप्रस्थाश्रम के प्रति प्रस्थान करने को तैयार हो जाता है।[32]

महाकवि कालिदास ने अपने रूपकों में संन्यास आश्रम की चर्चा करते हुए इसे अंतिम आश्रम माना है। धर्मशास्त्रियों द्वारा इसे संन्यास योगी तथा यति (कौशिक्य यति वेषया नियतैकयति व्रतानि पश्चात्)[33] आदि संज्ञाओ से विभूषित किया गया हैं। कालिदास के संन्यासी पात्रों के अनुसार जो सांसारिक मोहमाया एवं अपनी समस्त चिन्ताओं से विमुख होकर योगसाधना के माध्यम से मोक्ष प्राप्ति में स्वयं को समर्पित कर देते है वही संन्यासी कहे जाते है। मनुस्मृति के अनुसार-

आसां महर्षिचर्याणां त्याक्त्वाऽन्यतमयातनुम्। वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते।।[34]

अर्थात् ब्रह्मचर्य के बाद सीधे संन्यास आश्रम में प्रवेश करने वाला नरकगामी होता है जबकि सभी आश्रमो का पालन करने वाला मोक्षगामी होता हैं। इसीलिए कालिदास ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद ही शकुन्तला को वानप्रस्थाश्रम या संन्यासाश्रम में प्रवेश करने की बात कही है-

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीयसी। दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।।[35]

कालिदास द्वारा मालविकाग्निमित्रं के प्रथम अंक में अमात्य माधवसेन की विधवा बहन कौशिकी को यति धर्म का निर्वाह करने वाले पण्डित कौशिकी संज्ञा से सम्बोधित परिव्राजिका के रूप में चित्रित किया गया है- **उपस्थिता देवी पीठमर्दिकां पण्डित कौशिकी पुरस्कृत्य तत्र भवति धारिणी।**[36] महाकवि कालिदास के समय में नारियों को सन्यास में प्रवेश करने का अधिकार था। इसी कारण से परिव्राजिका के भगवती आदि सम्बोधनों से सम्बोधितकरते हुए अन्य पात्रों से श्रद्धा एवं सम्मान दिलाते है- **भगवती! अभिवादये, भगवती कृयतामासन परिग्रहः।**[37] यति वेशधारण करने वाली कौशिकी मंगल से अलंकृत लग रही है। कालिदास द्वारा किया गया यह सम्मान, प्रशंसा तथा पवित्रता कौशिकी के यति धर्म पालन का अनुमोदन करता है। कौशिकी नगरवासिनी विधवा है, वनवासिनी नही।

कालिदास के रूपकों में वर्ण एवं आश्रम धर्म को महत्व दिया गया है। कालिदास ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास वाली जीवन दशाओं का अत्यन्त प्यार एवं सम्मान के साथ वर्णन किया है। सामाजिक

जीवन की उन्नति के लिए कालिदास वर्णाश्रम धर्म के समर्थक है। वर्णों एवं आश्रमों की व्यवस्था भारतीय संस्कृति में समाज के जीवन को सुचारू रूपेण संचालित करने के लिए ही की गई थी।

सन्दर्भ -

1.	*यजुर्वेद- 36/14/5*	*2.*	*श्रीमद्‌भगवदगीता- 4/13*	*3.*	*अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 6/14*
4	*अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 6/1*	*5-*	*वही, 5*	*6.*	*मालविकाग्निमि=- 1*
7.	*अभिज्ञान'ाकुन्तलम-7/34*	*8.*	*,, - 1/21*	*9.*	*,, - 5/8*
10.	*विक्रमोर्वशीयम् -1*	*11.*	*मालविकाग्निमित्रं- 1*	*12.*	*अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 5*
13.	*,, - 1/12*	*14.*	*मालविकाग्निमित्रं -1*	*15.*	*अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 6*
16.	*,, - 6/1*	*17.*	*,, - 1*	*18.*	*,, - 1/12*
19.	*,, - 1/13*	*20.*	*,, - 4/18*	*21.*	*,, -5/26*
22.	*मनुस्मृति -3/60*	*23.*	*विक्रमोर्वशीयम् -5*	*24.*	*अभिज्ञानशाकुन्तलम्-7/7, 1/27*
25.	*मनुस्मृति-6/2*	*26.*	*अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 4/20*	*27.*	*,, - 7/9*
28.	*मनुस्मृति - 6/3*	*29.*	*याज्ञवल्क्य टीका- 3/45*	*30.*	*विक्रमोर्वशीयम- 5/17*
31.	*अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 4/1*	*32.*	*विक्रमोर्वशीयम- 5/17*		

33. मालविकाग्निमित्रं - 1/14, अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 7/20

34. मनुस्मृति -6/32

35. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 4/20

36. मालविकाग्निमित्रं-1

37. ,, - 1

10

कालिदास के रूपकों में स्त्री

शालिनी

कालिदास ने अर्धनारीश्वर भगवान् शंकर को अपना अभीष्ट माना है। शिव और पार्वती की जगत् के माता और पिता के रूप में आराधना की है। कवि ने स्त्री और पुरुष के विषय में कोई भेद-भाव नहीं किया है। इसीलिए कालिदास के रूपकों में स्त्री के चरित्र चित्रण में जितनी उदारता देखने को मिलती है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। वह प्राचीन परम्पराओं के अन्धानुयायी नहीं थे। यह सर्वप्रथम मालविकाग्निमित्रम् में दृष्टिगोचर होता है। जब ''नाटकं ख्यात् वृत्तं स्यात्''[1] की मान्य परम्परा को छोड़कर वह ''पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः''[2] का समर्थन करते हैं। उन्होंने स्त्री में अन्तर्निहित गुणों ममता, दया, सदाचार, सहनशीलता, धैर्य, साहस के साथ ही उसकी छिपी अन्तर्शक्ति को भी उजागर किया है। केवल नारी ही नहीं अपितु प्रकृति के विभिन्न उपादानों को भी नारी रूप देकर जीवन्त व्याख्या की है। कालिदास ने अपने काव्यों में नारी को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की है। जैसे सीता, इन्दुमती आदि का स्वयंवर उस काल में नारी की इच्छा और उसके चुनाव के प्रति आदर के साथ ही उसकी स्वतन्त्रता को भी दर्शाता है। हम जानते हैं कि मनु की व्यवस्था में नारी को पुरुष के समान स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी ''न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।''[3] पर कालिदास इस विषय में इतने अधिक प्रगतिवादी हो गए कि दुष्यन्त और शकुन्तला के गान्धर्व विवाह को महर्षि कण्व से स्वीकृति दिलवा देते हैं।[4] इसी प्रकार अभिज्ञाशाकुन्तलम् में ''उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी''[5] कहलवाकर और उसे शकुन्तला के द्वारा तिरस्कृत करवाकर कालिदास ने मनु की उस व्यवस्था को चुनौती दी है कि पति चाहे दुष्ट और गुणहीन ही क्यों न हो, परन्तु पत्नी को उसका आदर करना चाहिए।

उस काल में भी कालिदास ने नारी को घर की चहारदीवारी तक सीमित नहीं रखा, वह घरेलू कार्यों के साथ ही बाहरी कार्यों में भी दक्ष थी। विशेष निर्णयों में पुरुषों के समान स्त्रियों की भी सहमति ली जाती है। नाट्याचार्यों गणदास और हरदत्त में श्रेष्ठता को लेकर जब विवाद उत्पन्न हो गया तब राजा ने परिव्राजिका कौशिकी से परीक्षक बनने का निवेदन किया। जिसे उन्होंने राजा के साथ अच्छी तरह निभाया।[6] शकुन्तला भी आश्रम में प्रत्येक पादप, लताएं, पशु, पक्षी इत्यादि की देखभाल स्वयं करती है। प्रकृति के प्रत्येक उपादान के प्रति उसका निष्काम अनन्य प्रेम है। इतना अधिक है कि ग्रीष्म ऋतु में फल देने वाले वृक्षों को सींचने के बाद जिनके फल देने का समय बीत चुका है, उन वृक्षों का भी वह सिंचन करती है।[7] राजसभा में भी वह निडरता से अपनी बात रखती है। वह अपने सतीत्व पर आक्षेप सहन नहीं कर सकती है। न पहचानने के कारण राजदरबार

में दुष्यन्त शकुन्तला पर झूठ बोलने का आरोप लगाते हुए कहता है कि जब मनुष्य जाति से भिन्न स्त्रियों में भी बिना शिक्षा के ही चतुरता देखी जाती है, तब ज्ञान सम्पन्न उनका कहना ही क्या?[8] इस पर शकुन्तला कुपित होकर कहती है कि अनार्य! अपने हृदय के अनुमान से ही सबको देखता है अर्थात् जैसा वञ्चक हृदय है, वैसा ही दूसरों को भी समझता है।[9] सामान्य स्त्री पात्र भी व्यवहार कुशल और शिक्षित हैं। दुष्यन्त का परिचय पूछते हुए अनुसूया कहती है कि आपकी मधुर बातों से उत्पन्न विश्वास मुझे पूछने के लिये प्रेरित कर रहा है, आप किस राजर्षि वंश को अलंकृत करते हैं? अथवा किस देश को अपने वियोग से उत्कण्ठित किया है? अथवा सुकुमार आपने किस प्रयोजन से तपोवन में चलने के परिश्रम में शरीर को लगाया है? यहाँ अनुसूया की विनम्रता, शालीनता और शिष्टता का सुन्दर चित्रण हुआ है।[10]

नारी चित्रण द्वारा कालिदास ने जीवन के उस प्रतिमान को प्रस्तुत किया है, जहाँ धैर्य और संतोष के पथ पर अग्रसर रहकर विषम परिस्थितियों को भी पार किया जा सकता है। धैर्य और संतोष का यह प्रतिमानमेघदूतम् में यक्षपत्नी के रूप में दृष्टिगोचर होता है। उसका धैर्य पार्वती की तपस्या से किसी भांति कम नहीं है, जहां नवयौवन के प्रथम चरण में वियोग को सहते हुए भी शुद्ध हृदय से उसने अपनी कुलीनता की रक्षा की है। पति के प्रवासकाल में हमारे शास्त्रों में भारतीय नारी हेतु जो नियम बताये गये हैं, उसका निर्वहण यक्षपत्नी द्वारा उत्कृष्ट रूप से निभाया गया है। इसी प्रकार मालविका भी विषम परिस्थितियों को धैर्यपूर्वक सहन करती है। वह जन्मना विदर्भ देश की राजकुमारी है, पर दुर्भाग्यवश वह धारिणी के पास एक वर्ष तक दासी बनकर जीवन व्यतीत करती है। वह अपने इस जीवन से असन्तोष प्रकट नहीं करती और किसी को अपनी वास्तविकता का परिचय नहल देती है।[11] राज प्रसाद में जन्म लेने वाली सीता ने विवाह पश्चात् पति संग वनवास में रहने के कार्य को शिरोधार्य किया। वन में उत्पन्न कन्दमूल फल से जीवन निर्वाह करते हुए युवावस्था में ही उन्होंने उस व्रत का पालन किया, जिस व्रत को सूर्यवंशी राजा लोग वृद्धावस्था में किया करते थे। कवि ने नारी को पुरुष के समान वानप्रस्थ, संन्यास और मोक्ष का अधिकारी माना है। स्त्रियां भी पति के साथ वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में प्रवेश करती थीं। कण्व शकुन्तला से कहते हैं कि पुत्र को गृहस्थ का भार सौंप कर पुनः दुष्यन्त के साथ इस तपोवन में प्रवेश करोगी।[12]

कालिदास के रूपकों की नारी शिक्षित होने के साथ ही विभिन्न कलाओं में दक्ष है। शकुन्तला पदरचना भी जानती थी, इसीलिए अपनी सखियों के कहने पर वह प्रेम पत्र के अनुरूप गीत की रचना कर दुष्यन्त के पास भेजने का प्रयास करती है।[13] विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी भी अपने मनोरथों को भूर्जपत्र पर लिखती है।[14] मालविकाग्निमित्रम् से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कौशिकी और मालविका नृत्य और संगीत कला में निपुण थीं।[15] उस काल में स्त्रियों को नृत्य एवं संगीत की शिक्षा भी दी जाती थी। इस कार्य हेतु अग्निमित्र के महल में गणदास एवं हरदत्त नामक दो आचार्य नियुक्त किए गए थे। परिव्राजिका संन्यासिनी होते हुए भी नृत्यकला में अत्यन्त निपुण थी। विदुषी कौशिकी को सर्पदंश की चिकित्सा का भी ज्ञान था।[16] उर्वशी नृत्य के साथ ही अभिनय में भी दक्ष थी। रूपकों के नारी पात्र भाग्य और कर्मफल में विश्वास रखते हैं। दुष्यन्त और शकुन्तला का जब मारीच आश्रम में पुनर्मिलन होता है, तब राजा शकुन्तला के चरणों में गिरकर पश्चाताप करता है। वह उसको उठाती हुई कहती है कि निश्चित ही मेरे पूर्व जन्म के दुष्कर्मों का ही परिणाम है कि उस समय दयालु होते हुए भी आर्यपुत्र मुझ पर निर्दय हो गए थे।[17] जिस कामदेव ने देवताओं के कार्य की सिद्धि हेतु शंकर की कोपाग्नि में प्राणों की आहुति दे दी, उसकी विधवा पत्नी के प्रति सहानुभूति के दो शब्द कहने भी कोई नहीं आता। साध्वी रति ने इसके लिए किसी को कोई उलाहना नहीं दिया, अपितु देवगति समझ कर स्वयं को तथा अपने भाग्य को ही कोसती रही।[18]

आचार्य चाणक्य मानते हैं कि महिलाओं में साहस छह गुना अधिक और लज्जा चार गुना अधिक होती है।[19] लज्जा से आशय सामाजिक और पारिवारिक सम्मान से है। इसका सुन्दर सम्मिश्रण कुमारसम्भवम् में तब दृष्टिगोचर होता है, जब पार्वती अप मन में संकल्पित पति के लिए माता पिता की आज्ञा लेना अति आवश्यक समझती है। उनकी शालीनता और लज्जा का उदात्त रूप तब दिखता है, जब अपनी तपस्या के प्रस्ताव को अपने पिता हिमवान के समक्ष उन्होंने सखी के द्वारा भिजवाया। शकुन्तला भारतीय नारी के उस स्वरूप को दर्शाती है, जहाँ स्त्री किसी पुरुष से जब नाता जोड़ती है, तो जीवन भर उसे निभाती है। शकुन्तला में कन्या सुलभ लज्जाशीलता है। दुष्यन्त के प्रति मन में उत्कट प्रेम भाव उद्बुद्ध हो जाने पर भी इस भाव को अपनी सखियों से तब तक उद्घाटित नहीं करती, जब तक कि प्रेम का विकार अधिक नहीं बढ़ जाता है।[20] जब दुष्यन्त उससे प्रणय निवेदन करता है, तब भी शकुन्तला अपने शील संकोच की तिलांजलि नहीं देती और उससे पुरुवंश की मर्यादा का अतिक्रमण न करने का आग्रह करती है- पौरव! रक्ष रक्ष विनयम्।[21] उर्वशी भी अपने प्रेम भाव को प्रच्छन्न रखती है, जबकि प्रथम दर्शन में ही उसका पुरुरवा के प्रति आकर्षण भाव जागृत हो जाता है।[22] कालिदास ने प्राचीन परम्परा से हटकर अप्सराओं के सौन्दर्य पर मानव के तप, तेज और शक्ति की विजय दिखाई है। उर्वशी कालिदास का एक ऐसा पात्र है, जिसके रूप में नारीत्व के गौरव से वंचित एक नर्तकी का उद्धार कर उसे गृहिणी, पत्नी और मातृत्व के सम्मानजनक पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। कालिदास ने उर्वशी को महर्षि से शाप दिलवाकर उसे मानवी रूप प्रदान कर देवलोक से मनुष्य लोक में रहने के लिए भेज दिया।

प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व में वात्सल्य भाव की अनुभूति है, परन्तु माँ के वात्सल्य भाव की समता कहीं नहीं है। वेदव्यास जी कहते हैं - नास्ति गंगा समं तीर्थं नास्ति विष्णु समः प्रभुः। नास्ति शम्भुसमः पूज्यो नास्ति मातृसमो गुरुः।[23] कालिदास ने इस भाव का चित्रण अद्भुत कला से किया है। प्रेम और वात्सल्य भाव द्वारा मानव और प्रकृति के घनिष्ठ सम्बन्ध को शकुन्तला और नन्दिनी के माध्यम से दिखाया गया है। अनसूया बताती है कि शकुन्तला राजर्षि कौशिक और मेनका की पुत्री है।[24] मेनका शकुन्तला को जन्म देकर छोड़ गई, लेकिन वात्सल्य भाव नहीं छोड़ पायी। सप्तम अंक में मारीच ऋषि के कथन से पता चलता है कि परित्याग के कारण विकल शकुन्तला को अप्सरस्तीर्थ के घाट से मेनका उठा ले गई और मारीच आश्रम में दाक्षायणी के पास पहुँचा देती है।[25] इससे पता चलता है कि मेनका सदैव उसका ध्यान रखती थी। उर्वशी शाप के कारण हृदय वत्सला होते हुए भी अपने पुत्र को अपने से दूर रखती है। इस पीड़ा को केवल वही समझ सकती है। उसके पुत्र आयु को जब राजसभा में लाया जाता है, तब वह भाव-विभोर हो जाती है। उसकी चोली स्नेह निस्यन्द से भींग जाती है।[26] वह वात्सल्य भाव में निमग्न हो जाती है, उसे शाप की घटना भी याद नहीं रहती है। पश्चात् जब राजा के मुख से इन्द्र का नाम सुनती है, तब उसकी तन्मयता भग्न होती है और वह दुःखी हो जाती है।[27] शकुन्तला का प्रकृति के विभिन्न उपादानों के प्रति अनुराग है। वृक्ष सिंचन से पहले वह स्वयं जल ग्रहण नहीं करती और आभूषण प्रिय होने पर भी वह उनके पत्तो को नहीं तोड़ती है।[28] राजाओं की कई रानियाँ होने पर भी उनमें आपस में प्रेम था। परिव्राजिका कहती है कि जैसे महानदियां अपने साथ दूसरी नदियों को भी समुद्र से मिलवाती हैं, वैसे ही साध्वी ललनाएं अपनी सौतों के द्वारा भी पति का प्रिय करती हैं।[29] महाभारत में स्त्री को गृहस्थ जीवन की आत्मा के रूप में चित्रित किया गया है- **न गृहं गृहमित्याहुः गृहणी गृहमुच्यते। गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम्।।**[30] अर्थात् घर तो गृहिणी के कारण ही घर कहलाता है, बिना गृहिणी तो घर जंगल के समान है। अपने दुःखों और कष्टों को भूलकर अन्यों के हित की न केवल कामना करना अपितु उस हेतु

प्रयासरत रहना एक गृहिणी का सर्वश्रेष्ठ गुण है। कालिदास ने नारी को आदर्श प्रेमिका के साथ ही उसके उत्कृष्ट गृहस्थ जीवन को भी दिखाया है। गृहस्थ जीवन में छोटी-छोटी बातों पर नाराज होना ठीक नहीं होता है। इसी बात को परिव्राजिका रानी से कहती है कि तुम बिना कारण पति से क्यों रूठ रही हो? समर्थ होने पर भी कुल ललनाएं किसी खास कारण के होने पर ही पतियों पर कोप करती हैं।[31] आदर्श गृहिणी पातिव्रत्य धर्म से विचलित नहीं होती है। जैसे दुष्यन्त से गान्धर्व विवाह हो जाने के बाद शकुन्तला के लिए वह सर्वस्व हो जाता है, उसके द्वारा त्याग दिये जाने पर भी मारीच आश्रम में वह पातिव्रत्य धर्म का पालन करती है।

दूसरों के प्रति अच्छा व्यवहार व आदर भाव रखना, बिना द्वेष और निःस्वार्थ भाव से किया गया सम्मान शिष्टाचार है। सद्भावना, सहानुभूति व सहयोग शिष्टाचार के मूलाधार हैं। मालविकाग्निमित्रम् में जब धारिणी अग्निमित्र के प्रति ''अहो अविनयमार्यपुत्रस्य''[32] कहकर रोष प्रकट करती है तो इन शब्दों को भी वह स्वगत ही कहती है। जब कभी वह अग्निमित्र के कार्यों में दोष देखती है तो बड़े भाव से सुधारात्मक भाषा का प्रयोग करती है जैसे ''यदि राजकार्येष्वीदृश्युपायनिपुणतार्यपुत्रस्य ततः शोभनं भवेत्''[33] अर्थात् आर्यपुत्र राजकार्यों के विषय में भी इसी निपुणता से सोचते तो कितना अच्छा होता। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अनुसूया और प्रियंवदा अपने शिष्टाचार द्वारा ही अनुनय-विनय कर क्रोधित दुर्वासा के शाप की समाप्ति का उपाय जान पाती हैं।[34] वनवास के कष्टों को सहकर वापस आने पर सीता जिस विनम्र भाव से कहती हैं कि पति को क्लेश देने वाली मैं अलक्षणा सीता हूं, यह कहकर कौसल्या और सुमित्रा के चरण स्पर्श करती हैं। यह उनकी शिष्टाचार की पराकाष्ठा है।[35] जीवन में स्वाभिमान परमावश्यक है, जिस मनुष्य के पास स्वाभिमान नहीं है, उसका जीवन व्यर्थ है। महाभारत में भी कहा गया है ''न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना''[36] अर्थात् जो स्वयं अपना ही अनादर करता है, उसे समुचित वैभव प्राप्त नहीं होता है। कालिदास के स्त्री पात्रों को लोकाचार का भी ज्ञान दिया जाता है। शकुन्तला को लोकाचार की शिक्षा देते हुए कण्व कहते हैं कि गुरुजनों की सेवा करो, सौतों से प्रिय सखी के समान व्यवहार करो, तिरस्कृत होने पर भी क्रोध में आकर पति के प्रति प्रतिकूल आचरण न करो, आश्रित जनों के प्रति अधिक उदार बनो, भाग्य को प्राप्त कर अभिमान मत करो। इस प्रकार के आचरण वाली युवतियां गृहिणी के पद को प्राप्त करती हैं।[37] इन्हीं उपदेशों को सार्थक करती हुई शकुन्तला मारीच आश्रम में निवास करते हुए अपने पातिव्रत्य धर्म का निर्वहन करती है। दुष्यन्त से पुनर्मिलन पर वह अपने कर्मफल को ही दोष देती है। जिसे सभी को भोगना ही पड़ता है।[38]

मानव और प्रकृति के सहसम्बन्धों का वर्णन वैदिक साहित्य में भी मिलता है। जहाँ एक ओर प्रकृति के प्रत्यक्ष रूपों- सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि वर्णित हैं, वहीं दूसरी ओर इनमें व्याप्त सत्ता के रूप में वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि शक्तियों का भी चित्रण मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् और मालविकाग्निमित्रम् की महत्त्वपूर्ण घटनाएं वनों और उपवनों में ही चित्रित हैं। इनमें प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ को भाव पूरित कर मानवीय रूप प्रदान किया गया है। शकुन्तला की विदाई के अवसर पर सारी प्रकृति द्रवित हो उठती है। शकुन्तला के जाने के दुःख से हरिणी ने कुश के ग्रास को उगल दिया है, मोरनी ने नृत्य का परित्याग कर दिया है और लतायें पीले पत्तों को गिराकर मानों विलाप कर रही हैं।[39]

कालिदास ने अपने रूपकों में मानव सौन्दर्य का हृदयावर्जक चित्रण किया है। वह मानते हैं कि नारी के रूप में जो सौन्दर्य विद्यमान है, वही मानो प्रकृति के विभिन्न पदार्थों में प्रतिबिम्बत होता है। शकुन्तला के वर्णन में अपनी अप्रतिम कल्पना से प्रत्येक अंग में सौन्दर्य का संचार किया है। उसके अधर कोपलों के सदृश

रक्त वर्ण वाले हैं, भुजाएं कोमल शाखाओं के समान हैं और इसका नव यौवन लुभावने फूल के समान भासित होता है।[40] दुष्यन्त कहता है कि तपोवन के ऐसे सौन्दर्य ने अन्तःपुर में मिलने वाले सौन्दर्य को निष्फल कर दिया है। निस्सन्देह वनकी सुशोभित लताओं ने अपने गुणों से उद्यान की लताओं को निष्फल कर दिया है।[41] स्वाभाविक सौन्दर्य के लिए कोई मामूली पदार्थ भी आभरण बन जाता है, जैसे काई में लिपटा कमल, कलंक सहित चन्द्रमा शोभा को ही धारण करते हैं। वैसे ही वल्कल वस्त्र धारण किए हुए भी शकुन्तला की शोभा मन को अत्यधिक लुभावनी प्रतीत होती है।[42]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि कालिदास ने अपनी कला शक्ति से नारी का जो चित्रण किया है, उसे वास्तविकता में प्राप्त करना इस युग का लक्ष्य बन गया है। नारी सशक्तिकरण का अर्थ केवल महिलाओं को सफल होने के उपकरण प्रदान करना ही नहीं है, अपितु उस सामाजिक संरचना में सुधार लाना है, जो उन्हें प्रत्येक क्षेत्र में पीछे रखती है। नारी स्वयं की समानता, स्वतन्त्रता और अन्य अधिकारों को प्राप्त करने हेतु प्रयासरत है। परम्पराओं से हटकर उन्होंने तत्कालीन समय और वर्तमान हेतु आदर्श नारी के स्वरूप को प्रस्तुत किया है। उनके रूपकों की नारी प्रत्येक कला में दक्ष होने के साथ ही अपने अधिकारों से भली-भांति परिचित है। गरिमामय जीवन के पथ पर अकेले ही अग्रसर होने में भी वह विचलित नहीं होतीहै। जिसे शकुन्तला, सीता आदि के चरित्र में देखा जा सकता है। संघर्षमय जीवन के बाद भी संतोष सहित चारित्रिक उदात्तता नारी चित्रण की पराकाष्ठा है। केवल प्रतिष्ठा मात्र के लिए सामाजिक नियमों का समर्थन करना कालिदास का व्यक्तित्व नहीं अपितु सामाजिक गरिमा को बनाए रखने के साथ ही सर्वकल्याणकारी नियमों और परम्पराओं का वह समर्थन करते थे। उनके काव्यों की नारी स्वयं को प्रत्येक परिस्थिति के अनुरूप बनाने में सक्षम है। कालिदास ने शकुन्तला प्रत्याखान के बाद उनके स्वाभिमान को जिस प्रकार से वर्णित किया है, वह दर्शाता है कि यह कितने अधिक प्रगतिवादी विचारधारा के थे। कालिदास के स्त्री पात्रों शकुन्तला, उर्वशी, मालविका, धारिणी, अनुसूया, प्रियंवदा, परिव्राजिका आदि में तत्कालीन स्त्रियों की दशा और उनके मनोभावों की झलक देखने को मिलती है, जो वर्तमान समय में भी उपयोगी है। ये स्त्रियां आदर्श भारतीय समाज की स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

सन्दर्भ -

1. *साहित्यदर्पण 6/7*
2. *मालविकाग्निमित्रम् 1/2*
3. *मनुस्मृति 9/3*
4. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/5 के पश्चात्*
5. *वही 5/28*
6. *मालविकाग्निमित्रम् 1/15 के पश्चात्*
7. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/14 के पश्चात्*
8. *वही 5/22*
9. *वही 5/22 के पश्चात्*
10. *वही 1/21 के पश्चात्*
11. *मालविकाग्निमित्रम् 5/12*

12. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/20
13. वही 3/14
14. विक्रमोर्वशीयम् 2/11 के पश्चात्
15. मालविकाग्निमित्रम्, 1/5
16. वही 4/3 के पश्चात
17. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7/25
18. कुमारसम्भवम् 4/32
19. चाणक्यनीति 1/17
20. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 3/6 के पश्चात्
21. वही 3/19 के पश्चात्
22. विक्रमोवर्शीयम् 1/7 के पश्चात्
23. बृहद्धर्म पुराण 2/34
24. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/21 के पश्चात्
25. वही 7/31 के पश्चात्
26. विक्रमोवर्शीयम् 5/12
27. वही 5/15 के पश्चात्
28. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/11
29. मालविकाग्निमित्रम् 5/19
30. महाभारत, शांतिपर्व, 144/6
31. मालविकाग्निमित्रम् 1/18
32. वही 1/21 के पश्चात्
33. वही 1/19 के पश्चात्
34. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/1 के पश्चात्
35. क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती।
    स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे।। (रघुवंशम् 14/5)
36. महाभारत, वनपर्व 32/58
37. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/18
38. वही 7/24 के पश्चात्
39. वही 4/12
40. वही 1/18
41. वही 1/15
42. वही 1/17

11

कालिदास के रूपकों में नारी व प्रेम सौन्दर्य

स्मिता दुबे

कालिदास ने प्रेम-सौन्दर्य के विशिष्ट नाटककार हैं। उन्होंने प्रेम-वर्णन का चित्रण करते हुए यह समझाने का प्रयास किया है कि विषय-वासना से युक्त प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं है, बल्कि त्याग और तपस्या से प्रकाशित प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में शकुन्तला तथा दुष्यन्त का प्रथम प्रेम, बाह्य सौन्दर्य से आकर्षित होने के कारण पूर्ण नहीं हुआ, किन्तु बाद में तपस्या की अग्नि में तपने के बाद उनका प्रेम पूर्ण एवं सार्थक हुआ। 'शाकुन्तलम्' के पाँचवें अंक में यही प्रसंग द्रष्टव्य है-

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः। अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्।।[1]

कवि कालिदास सौन्दर्य-वर्णन में अत्यन्त निपुण हैं। उन्होंने प्राकृतिक रमणीयताओं का जितना सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है, उससे भी ज्यादा मानवीय-सौन्दर्य का मनोहारी चित्रण प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य दैवी-रचना है, जो विधाता द्वारा बनायी गयी सम्पूर्ण सृष्टि में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। कालिदास का मानना है कि सौन्दर्य की प्रतीति बाह्य प्रसाधनों से नहीं होती। सहज सौन्दर्य सभी प्रकार से मनोहारी ही लगता है- **''अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषणाम्।''**[2] कवि ने अपने नाटकों में जिस प्रकार नारी-सौन्दर्य पर प्रकाश डाला है, उसी प्रकार प्रकृति तथा वनस्पतियों को भी प्रकाशित किया है। कालिदास ने अपने रूपकों में मानवीय तथा प्राकृतिक सौन्दर्य को प्रेम के माध्यम से जोड़कर उद्‌घाटित करने का प्रयास किया है-

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू। कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।।[3]

अर्थात् शकुन्तला के लाल अधर लता की कोंपलों की भाँति शोभते हैं, दोनों भुजाएँ वृक्ष की कोमल शाखाओं की तरह प्रतीत होते हैं तथा इसका नवयौवन खिले हुए मनोहर पुष्पों के समान प्रतीत होता है। यहाँ कवि ने शकुन्तला के सौन्दर्य की शोभा को प्रकृति की सौन्दर्य-शोभा के द्वारा चित्रित करने का प्रयास किया है। महाकवि कालिदास की दृष्टि में हृदय में प्रेम को गति प्रदान करता है। कालिदास ने अपने तीनों नाटकों में नारी प्रेम-सौन्दर्य पर विशेष बल दिया है। दुष्यन्त-शकुन्तला का संयोग एवं विरह हो, चाहे मालविकाग्निमित्रम् में मालविका तथा अग्निमित्र के प्रेम का वर्णन हो अथवा विक्रमोर्वशीयम् में पुरूरवा तथा उर्वशी की प्रेमकथा हो, सभी प्रसंगों में कवि ने नारी-प्रेम-सौन्दर्य को अभिव्यक्त किया है।

'मालविकाग्निमित्रं' में प्रेम-सौन्दर्य

कवि कालिदास द्वारा रचित पाँच अंकों के इस ऐतिहासिक नाट्य में शुङ्गवंशी राजा अग्निमित्र तथा विदर्भराजकुमारी मालविका की प्रणय कथा वर्णित है। यहाँ मालविका पटरानी धारिणी की नृत्य-संगीत-कुशला

परिचारिका के रूप में दिखाई देती है। कालिदास के इस नाटक में नारी-प्रेम-सौन्दर्य के कई प्रसंग द्रष्टव्य हैं-

अव्याजसुन्दरीं तां विज्ञानेन ललितेन योजयता। परिकल्पितो विधात्रा बाण कामस्य विषदिग्धः।।[4]

अर्थात् यहाँ पर नृत्य करती हुई मालविका को देखकर राजा अग्निर्मि उस पर आसक्त हो जाते हैं। अतः कवि ने यहाँ मालविका के नैसर्गिक सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए उसे कामदेव का विष-दिग्ध बाण' के समान बताया है। इस नाटक के द्वितीय अंक में राजा अग्निमित्र, मालविका का साक्षात् दर्शन कर, रूप-मुग्ध हो जाते हैं और मालविका की सजीव प्रतिमा, उसकी चित्र की तुलना में अधिक श्रेष्ठ सिद्ध होती है-

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम्। सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता।।[5]

कवि कालिदास ने प्रेम-सौन्दर्य के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि बुद्धि के द्वारा ही मित्र का कार्य पूर्ण नहीं किया जा सकता, अपितु स्नेह से ही मित्र का कार्य पूर्ण किया जा सकता है-

नहि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम्। कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनात्युपलभ्यते।।[6]

'मालविकाग्निमित्रम्' के चतुर्थ अंक में नारी-प्रेम सौन्दर्य का एक सुन्दर प्रसंग इस प्रकार है-

तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया बद्धमूलः, सम्प्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः।
हस्तस्पर्शैमुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वा, त्कुर्यात्कान्तं मनसिजतरुर्मो रसज्ञं फलस्य।।[7]

यहाँ नारी प्रेम-सौन्दर्य के विषय में कहा गया है कि प्रेम रूपी वृक्ष की जड़े प्रिया के सौन्दर्य के श्रवण से उत्कंठित आशा से युक्त हो जाती है, प्रिया के दृष्टिगोचर होने पर उत्पन्न प्रेम उसके पत्तों के समान प्रकाश देता है, उसके हस्त-स्पर्श से होने वाले रोमांच उसके पुण्य हैं तथा प्रिया के संयोग का सुख प्रणय रूपी तरुवर का फल है, जिसके आस्वादन के निमित्त, प्रेमी आसक्त रहते हैं। इसी प्रकार अग्निमित्र, मालविका के सन्दर्भ में प्रणय आसक्ति से पूर्ण तथा यह कथन कहता है-

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे, भवेत्सास्त्रंचक्षुःक्षणमपि न सा दृश्यत इति।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं, प्रसक्ते निर्वाणे हृदयपरितापं व्रजसि किम्।।[8]

अर्थात् अग्निमित्र कहता है कि 'प्रिया के विरह में मेरे शरीर की क्षीणता तो स्वाभाविक है तथा उसे क्षण-भर के लिए भी देख न सकने के कारण नेत्रों का भर जाना ठीक ही है, मेरे प्राणों को ईर्ष्या क्यों हो रही है?' यहाँ कवि का भाव यह है कि सहृदयों के मार्मिक अनुभवों की अभिव्यक्ति सहज ही अभिव्यंजित हो जाती है। 'मालविकाग्निमित्रम्' के प्रथम अंक में, एक चित्र में मालविका की रम्याकृति को देखकर, राजा अग्निमित्र उससे मिलने की अभिलाषा करने लगा। मालविका परम निपुण तथा मेधाविनी है, आकृति से यह किसी ऊँचे कुल की लगती है, क्योंकि शिक्षक की कला, उत्तम शिष्य के पास पहुँचकर, उसी प्रकार प्रकाश फैलाती है, जिस प्रकार बादल का जल समुद्र की सीपी में जाकर मोती बन जाता है-

पात्र विशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः। जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।।[9]

यहाँ मालविका के रूप-सौन्दर्य की ही नहीं, बल्कि उसके गुणों के सौन्दर्य की प्रशंसा की गई है।

सर्वान्तः पुरवनिता व्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य। सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता।।[10]

यहाँ दूसरे अंक की समाप्ति के अवसर पर, मालविका के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए, राजा की प्रेमासक्ति का रंग अत्यन्त गहरा हो जाता है, वह मालविका राजा के हृदय में इस तरह बसी है, कि अन्तःपुर की सभी पटवारियों से उसका मन उचट-सा गया है।

इस प्रकार 'मालविकाग्निमित्रं' नाटक में वर्णित मालविका एवं अग्निमित्र के प्रेम-सौन्दर्य वर्णन के द्वारा कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि संयमित प्रेम-बन्धन ही प्रेम-सौन्दर्य की महानता को दर्शाता है।

विक्रमोर्वशीय में प्रेम-सौन्दर्य

'विक्रमोर्वशीय' कालिदास की द्वितीय नाट्य-रचना है। पाँच अंकों के इस 'त्रोटक' (उपरूपक) में राजा पुरुरवा तथा उर्वशी की प्रणय-कथा चित्रित है। राजा पुरुरवा ने केशी राक्षस से पीड़ित उर्वशी को मुक्त कराया था, अतः राजा के पराक्रम तथा अप्सरा उर्वशी के सौन्दर्य के कारण वे दोनों परस्पर आसक्त हैं। इस नाटक में नारी-प्रेम-सौन्दर्य के कुछ प्रसंग इस प्रकार हैं-

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः, शृंङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो, निर्मातुं प्रभवेन्मनोरममिदं रूपं पुराणो मुनिः।।[11]

अर्थात् उर्वशी के अनुपम सौन्दर्य को देखकर राजा यह सोचता है कि यह ब्रह्मा की रचना नहीं है। इस सुन्दरी को बनाने वाला शोभायुक्त चन्द्र होगा, शृंगार से युक्त कामदेव होगा अथवा वसन्त मास होगा। वेदाभ्यास के कारण कठोर तथा लौकिक कलाओं से रहित होने के कारण ब्रह्मा ऐसा मनोहर रूप सौन्दर्य बना ही नहीं सकते हैं। इसी प्रकार उर्वशी के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए कवि कहते हैं कि उर्वशी का शरीर आभूषणों का भी आभूषण है, अलंकरण विधि का भी अलंकरण है तथा उपमानों का भी उपमान है-

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधोः प्रसाधनविशेषः। उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः।।[12]

प्रथम अंक में जब राक्षसों से भयभीत हने के कारण उर्वशी मूर्च्छित हो जाती है, होश में आने पर उनके रूप-सौन्दर्य का बहुत अद्भुत चित्रण यहाँ प्रस्तुत किया गया है-

आविर्भूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रिः, नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना, गङ्गा रोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्।।[13]

जिस प्रकार चन्द्र के उदय होने पर रात्रि अन्धकार से मुक्त हो जाती है तथा जिस प्रकार रात्रि के समय धुँआ निकलने पर आग लपटें तेजमान हो जाती हैं, किनारों के गिरने से गंगा धीरे-धीरे स्वच्छ होने लगती रहे, उसी प्रकार यह उर्वशी होश में आने पर दिखाई पड़ रही है। यहाँ उर्वशी के मनोहर सौन्दर्य की अवर्णनीय प्रशंसा की गयी है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रेम-सौन्दर्य

महाकवि कालिदास द्वारा रचित तीनों नाटकों में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' सबसे ज्यादा लोकप्रिय तथा विश्वविख्यात है। सात अंकों के इस नाटक में दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम, वियोग तथा पुनर्मिलन का वर्णन किया गया है। शाकुन्तल नाटक में नारी-प्रेम-सौन्दर्य के अनेकों प्रसंग चित्रित हैं। कवि कालिदास ने शकुन्तला के सौन्दर्य की तुलना कोमल लताओं से की है-

अधरःकिसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू। कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।।[14]

अर्थात् यहाँ शकुन्तला के अधरों की समानता नव पल्लव की लालिमा से की गयी है, बाहू कोमल शाखाओं के समान झुके हुए हैं तथा विकसित पुष्पों के समान शकुन्तला का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहा है। इस नाटक के चतुर्थ अंक में कवि ने प्राकृतिक तथा मानवीय प्रेम-सौन्दर्य का वर्णन किया है। महर्षि कण्व शकुन्तला की विदाई के समय प्रकृति अथवा आश्रम की वनस्पतियों से आज्ञा माँग रहे हैं-

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या, नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्य वः कुसुम प्रसूतिसमय यस्या भवत्युत्सवः, सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।[15]

यहाँ महर्षि कण्व आश्रम के वृक्षों से कहते हैं कि जो शकुन्तला पहले तुम्हें जल पिलाये बिना स्वयं जल नहीं ग्रहण करती थी, नव-पल्लवों के आभूषण पहनने की शौकीन होने पर भी, स्नेह के कारण तुम्हारे

पल्लवों को नहीं तोड़ती थी, जो प्रथम पुण्य आने पर उत्सव मनाती थी, वही शकुन्तला आज पतिगृह जा रही है, तुम सब उसे जाने की अनुमति दो। प्रथम अंक में शकुन्तला के नैसर्गिक रूप-सौन्दर्य को देखकर राजा दुष्यन्त कहते हैं-

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं, मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।[17]

जिस प्रकार काई से युक्त होने पर भी कमल का पुष्प सुन्दर ही प्रतीत होता है, चन्द्रमा में कलंक भी उसकी शोभा को बढ़ाता ही है। यह वल्कलधारिणी (शकुन्तला) होने पर भी सौन्दर्य से शोभायमान हो रही है। कहने का भाव यह है कि सुन्दर आकृति वालों के लिये कौन-सी चीज शोभाजनक नहीं होगी अर्थात् सब कुछ शोभयमान ही होता है। कवि कालिदास ने नारी-सौन्दर्य की प्रशंसा को केवल बाह्य-सौन्दर्य से अभिव्यक्त नहीं किया है। उन्होंने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि नारी में लज्जाशीलता तथा धैर्य एवं त्याग जैसे गुणों का भी समावेश होता है। प्रथम अंक का यह प्रसंग इसी को दर्शाता है-

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः, कर्ण ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना, भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः।।[17]

राजा दुष्यन्त कहते हैं कि यह शकुन्तला मेरे बोलते समय साक्षात् मुझसे बात नहीं करती परन्तु मेरी और ही कान लगायी रहती है तथा मेरे कथनों को ध्यान लगाकर सुनती है। यहाँ शकुन्तला में लज्जाशीलता से युक्त प्रेम तथा सौन्दर्य के गुणों को दर्शाया गया है। इस प्रकार उपरोक्त प्रसंगों के द्वारा यह स्पष्ट है कि कालिदास के रूपकों में नारी-प्रेम-सौन्दर्य सर्वत्र परिलक्षित होता है। मानव तथा प्रकृति सभी के प्रति कालिदास का स्नेह एवं सहानुभूति अत्यन्त प्रगाढ़ है। कालिदास ने प्रेम तथा सौन्दर्य के विषय में अनेक भावों को अभिव्यक्त किया है। उन्होंने अपने रूपकों के माध्यम से यह सन्देश दिया है कि प्रेम का जो शान्त और संयत रूप है, वही श्रेष्ठ सौन्दर्य है।

संदर्भ -

1. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, (5/24)*
2. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, (छठा अङ्क)*
3. *वही, (1/21)*
4. *मालविकाग्निमिांम् (2/13)*
5. *वही, (2/2)*
6. *वही, (4/6)*
7. *वही, (4/1)*
8. *वही, (3/1)*
9. *वही, (1/6)*
10. *वही, (2/14)*
11. *विक्रमोर्वशीयम् (1/10)*
12. *वही, (2/3)*
13. *वही, (1/9)*
14. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् (1/19)*
15. *वही, (4/9)*
16. *वही, (2/2)*
17. *वही, (1/27)*

12

कालिदास के रूपकों में स्त्रियों की दशा व दिशा

मिन्टु मण्डल

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।[1]

जिस स्थान पर स्त्रियों की पूजा की जाती है अर्थात् उनका सत्कार किया जाता है, उस स्थान पर देवता सदा निवास करते हैं और प्रसन्न रहते हैं। जहां ऐसा नहीं होता है, वहां सभी धर्म ओर कर्म निष्फल होते हैं। नारी सर्वदा देवी रूपी होती है, वह संसार में कभी माता, तो कभी पत्नी, कभी भगिनी और कभी सेनानी के रूप में अपने चरित्रों को विकसित किया करती है। आदिकाल से भारतीय समाज में नारी एक अभिन्न अंग है। आचार्य भरत मुनि नाट्यशास्त्रों में नारी को इस प्रकार कहा है - **'सर्वः प्रायेण लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा। सुखस्य च स्त्रियो मूलं नानाशीलाधराश्च ताः।।'**[2] अर्थात् संसार में मानवमात्र का चरम लक्ष्य सुख है और सुख का मूलाधार नारी है। नारी सर्वदा पूजनीय है, नारी को सृष्टि की देवी तथा कर्ता माना गया है। कालिदास आदि कविओं द्वारा महाकाव्य तथा नाटक में स्त्रियों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। कविकुलगुरु कालिदास की कुल सात रचनाएँ हैं, जिनमें तीन रूपक हैं। उनकी सभी रचनाएँ रामायण महाभारत के बाद सबसे श्रेय एवं साहित्यिक दृष्टि से भी सार्थक मानी गयी हैं। कालिदास के रूपकों (मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्) में पुरुष और स्त्री दोनों पात्र हैं। रूपकों में नारी चरित्र समाज को एक नया रूप प्रदान करते हैं। इसलिए यह संक्षिप्त शोधकार्य 'कालिदास के रूपकों में स्त्रियों की दशा व दिशा' एक नया रूप प्रदान करेगा। कालिदास के रूपकों में चरित्र के माध्यम से अपने समय काल और सामाजिक स्थिति को व्यक्त करते हैं। जिसमें कालिदास स्त्रियों के स्थिति को भी व्यक्त करते हैं। स्त्रियों की दशा को भी अंकित करते चलते हैं। उनके साथ किसी तरीके का अपव्यवहार होता है तो समाज में उसका प्रतिरोध करता है।[3] 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक में मूलतः तीन नायिकाओं के विवरण मिलते हैं। जहां ज्येष्ठा नायिका महारानी धारिणी का चरित्र अत्यंत महत्वपूर्ण है। वह आयु से भी प्रौढ़ा है। रानी इरावती इस नाटक में द्वितीया नायिका तथा राजा अग्निमित्र की स्त्री है। उनका चरित्र ईर्ष्यालु, मदिरापान, आक्रामक, उच्छृंखलता आदि में युक्त है। जिससे पता चलता हैं कि उस समय मदिरापान एक आम बात थी। नायिका मालविका विदर्भ के राजा माधवसेन की बहिन एवं कनिष्ठा नायिका है। वह केवल रूप से नहीं कला-विद्या में भी निपुण थी -भो वयस्य! न केवलं रुपे शिल्पे अप्यद्वितीया मालविका।[4] नाटक में मालविका की सुन्दरता महारानी धारिणी की चिन्ता का कारण बन जाती है जिससे वह हर समय विचलित रहती थी। परंतु यहां मालविका जैसे शिल्प-विद्या , गुणी और लोकव्यवहार तथा उनकी सुंदरता समाज में सदा स्वीकृत है। मालविका को इस नाटक में मुग्धा नायिका की तरह दिखाई देती है,

'दशरूपक' में मुग्धा नायिका का लक्षण इस प्रकार दिये है - मुग्धा नववयः कामा रतौ धामा मृदुः क्रधि।[5] मालविकाग्निमित्रम् में समाज और सामाजिकता की व्याख्या कवि कालिदास पात्रों और घटनाओं के द्वारा रखा है।[6] संवादों की निपुणता, सरलता, सरसता आदि के कारण यह नाटक समाज से सीधे जुड़ जाते है।[7] कालिदास ने पौराणिक कथाओं का आश्रय लेकर रूपकों में चयनित और उद्घाटित पात्रों के द्वारा उन पक्षों को भी सृजित किया है, जो परंपरा से चले आ रहे है।[8] विक्रमोर्वशीय नाटक में वैदिक आख्यान है, इसमें उनकी कल्पना-शक्ति अत्यधिक मुखर होकर व्यक्त हुई है। इस नाटक में भी दो नायिका दिखाई देती है। काशीराज पुत्री औशिनरी तथा राजा पुरुरवा की प्रथम स्त्री का चरित्र अत्यंत महत्वपूर्ण है। कनिष्ठा नायिका उर्वशी, जो इंद्रालोक में अप्सरा है। उर्वशी इस त्रोटक की दिव्या, सामान्य तथा रक्तभिसारिका कोटि की नायिका है। पुरुरवा के प्रेम में अधीर होकर वह स्वयं सखी के साथ अभिसरण करती है, साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में अभिसारिका नायिका का लक्षण इस प्रकार है - **अभिसारयते कान्तं या मन्मथवंशवदा। स्वयं वाभिसरयत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका।।**[9] कला की बात की जाए तो उर्वशी उसमें निपुण थी और सुंदरता उसकी पहचान थी, परंतु स्वर्ग में नाटक अभिनय के समय पुरुरवा के प्रति प्रेमाशक्त होने के नाते अन्यमनस्क हो जाती है। जिससे भरतमुनि नाराज होकर शाप देता है और परिमाण स्वरूप मृत्युलोक में चली आती है एवं पुरुरवा से विवाह करती है। उस समय समाज में प्रेम करने की कोई निषेध तो नहीं था और वे अपनी जीवन साथी चुनने में भी स्वतंत्र थे। परंतु समाज उसमे तब तक किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था, जब तक उसका प्रभाव समाज पर निषेधात्मक न हो।[10] समाज में शिक्षा की बात की जाए तो उस समय अभिजात्य नारी शिक्षा प्रचलित थी जब विक्रमोर्वशीय नाटक में महारानी औशनरी भोजपत्र पड़ते दिखाई देती है, जिससे हम कहे सकते है कि शिक्षा उस समय भी थी, और आज भी है। जब राजा पुरुरवा और विदूषक दोनों भोजपत्र की खोज करते हैं तब महारानी औशनरी राजा को कहती है कि - आर्यपुत्र! अलमावेगेन। एतत् तद् भूर्जपत्रम्।[11] मत्स्यपुराण में भी इसकी कथा मिलती है। मत्स्यपुराण में वर्णित कथा के अनुसार पुरुरवा के रूप पर मुग्ध होकर उर्वशी इसकी पत्नी बन गई थी।[12] ऋग्वेद के पुरुरवा-उर्वशी संवाद सूक्त (ऋग्वेद 10/95) कथा के अनुसार कथानक भिन्न दिखाई देती है, महाकवि अपनी कवित्व को इस प्रकार प्रकट किये हैं कि एक सुखांत नाटक के रूप में जाने जाते हैं। पुरुरवा-उर्वशी (ऋग्वेद 10/95) संवाद सूक्त पर उर्वशी राजा पुरुरवा को इस प्रकार कहते हुए पाये जाते हैं - न वै स्त्रौणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।[13] अर्थात् स्त्रियों का और वृकों (भेड़िया) का हृदय एक समान होता है, उनकी मित्रता कभी अटूट(स्थायी) नहीं रहती। इस नाटक में महाकवि कालिदास ने उर्वशी को एक सामान्य नायिका के रूप में दिखाया है जिससे समाज में नकारात्मक संदेश न जाए और सामाजिक-आर्थिक दोनों व्यवस्था अक्षुण्य रहे। यही कवि का कवित्व है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक की तुलना शेक्सपीयर के नाटकों से की जाती है। इस नाटक की कथा महाभारत के आदि पर्व से सम्बंधित है और पद्मपुराण में भी शकुंतला की कथा मिलती है। यह एक नायिका प्रधान नाटक है एवं मूल रूप से इस नाटक की नायिका शकुन्तला है। राजा दुष्यन्त की और भी दो पत्नियाँ है। ऋषि विश्वामित्र और स्वर्ग की अप्सरा मेनका की पुत्री शकुंतला एवं महर्षि कण्व उसके पालक पिता हैं। शकुंतला जन्म से ही सुंदरता के लिए जानी जाती है, राजा दुष्यन्त उसकी प्रशंसा में कहते है- 'नप्रभातरलं ज्योतिः[14], शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुः[15], अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहु। कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।।[16]' इससे पता चलता है कि दुष्यन्त के मन में शकुंतला के रूप के प्रति आकर्षण का अनुभव होता है और यह स्पष्ट होता है कि उस समय के समाज में परस्पर हास-परिहास वर्जित नहीं था।[17]

शारीरिक सौंदर्य का वर्णन भी सामाजिक दोष के अन्तर्गत नहीं आता था।[18] उस समय पुरुषों के साथ साथ स्त्री शिक्षा भी समाज में प्रचलित थी। जब शकुंतला राजा को प्रणयपत्र इस प्रकार लिखते है -

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि। निर्घृण तपति वलीयः त्वयि वृत्तमनोरथानि अङ्गानि।।[19]

इस पद्य से यह तो प्रमाण होता है उस समय स्त्री शिक्षा भी प्रचलित थी, महाकवि कालिदास इस नाटक के माध्यम से हमें यह वार्ता अवश्य दिए है कि अपनी मन की बात शब्दों में कहने के लिए शिक्षा जरूरी है। कला, चित्रांकन, संगीत (तवास्मि गीतरागेण हारिणा)[20] आदि भी शिक्षा का ही अंग है, जो इस नाटक में दिखाई पड़ता है। उस समय सामाजिक दृष्टि में बहुपत्नीक रहना सामान्य रूप में दिखाई पड़ती थी, इसलिए जब शकुन्तला विदा होती है तब महर्षि कण्व कहते है -

शुश्रुषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।[21]

भारतीय समाज में कन्या को विवाह देकर पतिगृह भेजना एक परंपरा है, और यह रामायण महाभारत आदि काल से होते आ रहे है। इस नाटक में भी महर्षि कण्व ने यही किया है, शकुंतला को विदा करते समय उन्होंने इस प्रकार कहा है - **अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः। जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।**[22] महाकवि कालिदास इस नाटक की कथा को सामाजिक सकारात्मक करने के लिए उन्होंने पहले ऋषि दुर्वासा द्वारा अभिशाप देना, उसके बाद अंगुलीयक स्मृति चिन्ह को आधार के रूप में प्रयोग करना और सामाजिक स्त्री वहिष्कार नामक दोष से रहित होना उनका कवित्व है। जब राजा दुष्यंत शकुंतला को पहचानने से इंकार करने के बाद अंगुलीयक के दर्शन से पत्नी शकुंतला की याद आती है, तो वह अपने आपको धिक्कार हैं ऐसा कहते हैं -

संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोप्तवीजा।।[23]

समाज में स्त्री को स्वीकृति देना स्वामी का परम धर्म है। कवि इस नाटक में शिक्षा, स्त्री शिक्षा, कला, सामाजिक दृष्टि आदि के माध्यम से स्त्रियों को दिखाया गया है।

रूपकों में अन्य स्त्रियों की दशा व दिशा :

कालिदास के रूपकों में सहायिका स्त्री पात्रों का भी वर्णन मिलता है। मालविकाग्निमित्रम् नाटक में कौशिकी, बकुलावलिका, मधुरिका, कौमुदिका, वसुलक्ष्मी, माधविका, चंद्रिका इत्यादि सहायक स्त्री पात्रों के नाम से जाने जाती हैं। कौशिकी एक पारिव्राजिका एवं महारानी धारिणी की सहायिका है। यह महारानी को सर्वत्र उचित सलाह देती है। पंडिता कौशिकी धर्माचरण एवं न्याय में सहायक है, और इनके कार्यकलाप से रानी तथा राजा दोनों स्नेह करते है।[24] बकुलावलिका इस नाटक की रानी धारिणी की विश्वास पात्र एवं कनिष्ठा नायिका मालविका की सखी है। वह महारानी धारिणी की आज्ञा को सर्वदा पालन करती दिखाई देती है। नाटक में सहायक पात्रों का उपयोग करके सीधे तत्कालीन समय की सामाजिक विषयों को तथा उस समय के घटनाक्रमों को व्याख्यायित करते हैं। महाकवि कालिदास नाटक में अन्य पात्रों की सहायता से कथा को और रोमांचक बना देते हैं।

विक्रमोर्वशीय नाटक में चित्रलेखा, मेनका, रम्भा, सहजन्या, तापसी, निपुणिका, चेटी इत्यादि सहायक स्त्री पात्रों के नाम भी हैं। चित्रलेखा उर्वशी की सहचरी है और वह एक समझदार महिला है, जो समाज

और राजनीति दोनों को समझती है।[25] प्रथम अंक में राक्षस उर्वशी का अपहरण करके ले जाते है, तब चित्रलेखा ने आसपास में रहने वाले सभी देवता मित्रों को बुलाता है एवं उस समय पुरुरवा वहाँ उपस्थित होकर उर्वशी की रक्षा करता है। निपुणिका महारानी औशनरी की दासी है एवं वह अपने काम में निपुण हैं। विदूषक के जरिए वह अतिशीघ्र ही राजा के उदासी का कारण पता लगा लेते है। अन्य नारी चरित्र भी नाटक के कथानक को रोमांचक होने में सहायता करते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में अनुसूया, प्रियंवदा, गौतमी आदि सहायक स्त्री पात्रों के नाम से जाने जाते है। 'कालिदास ने वस्तु-विन्यास में चरित्र-चित्रण की सुषमा बनाये रखने के लिए अनेक परिवर्तन किए हैं और यह सभी परिवर्तन समाज तथा सामाजिकता से सम्बद्ध हैं। शकुंतला के शील की रक्षा के लिए उन्होंने अनुसूया और प्रियंवदा जैसी सखियों की कल्पना की है।[26]' भारतीय परम्परा में 'अतिथि देवो भव' की परिशीलन करते हुए अनुसूया एवं प्रियंवदा को दृष्टिगोचर होता है। अतिथियों का सेवा करना भारतीय परंपरा रहा हैं इसलिए जब राजा दुष्यंत महर्षि कण्व के आश्रम से बिना सत्कार के जाने लगते है, तब अनुसूया द्वारा शकुन्तला को निर्देश दिया जाता है कि विशिष्ठ अतिथि का सत्कार न होना अनुचित है - सखि! न युक्तं ते अकृतसत्कारमतिथिविशेषं विसृज्य स्वच्छन्दतो गमनम्।[27] महाकवि कालिदास यहाँ नारी को भी अतिथि सत्कार के लिए उद्घोषित किया है।

कालिदास का काल सामन्तवाद का भी शिखर था। इसलिए सामन्तवादी व्यवस्था में स्त्रियों की जो दशा थी, वैसा ही इनके रूपकों में मिलता है। कालिदास रूपकों में यौवन और प्रेम की दशाओं को भी व्यक्त किया है ।[28] उस समय समाज राजा तथा क्षमता शील व्यक्ति के एक से अधिक पत्नी हुआ करती थी। इसलिए इनके रूपकों में भी एक से अधिक पत्नी दिखाई देती हैं। उस समय की सामाजिक स्थिति को कालिदास अपने रूपकों में व्यक्त करने का प्रयास किया है। स्त्री शिक्षा, कला, संगीत, चित्रांकन आदि कालिदास के रूपकों में उद्घाटित हुआ है, जिससे हम कहे सकते हैं कि उस समय समाज में नारी शिक्षा आदि प्रचलित थी। महाकवि कालिदास रूपकों में अभिशाप का प्रयोग किया है, परंतु अंततः नाटकों कों सुखमय किया है। कालिदास कल्पना शक्ति द्वारा रूपकों कों सीधे समाज से जोड़ दिया है एवं उस समय की स्त्रियों की स्थिति को भी व्यक्त किया है।

सन्दर्भ -

1. *मनुस्मृति, 3/56*
2. *नाट्यशास्त्र, 20.93*
3. *कालिदास के रूपकों में स्त्री विमर्श एक परिशीलन, सीमा यादव, पृ. 127*
4. *द्वितीयांक, मालविकाग्निमित्रम्*
5. *दशरूपक, 2/16*
6. *कालिदास के रूपकों में स्त्री विमर्श एक परिशीलन, सीमा यादव, पृ. 125*
7. *वही, पृ. 126*
8. *वही, पृ. 126*
9. *साहित्यदर्पण, 3/76*
10. *वही, पृ. 125*

11. द्वितीयांक, विक्रमोर्वशीयम्
12. वही, पृ. 126
13. ऋग्वेद 10/95/15
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/23, डॉ. सत्यनारायण चक्रवर्ती, पृ. 87
15. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/16, डॉ. सत्यनारायण चक्रवर्ती, पृ. 55
16. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/19, डॉ. सत्यनारायण चक्रवर्ती, पृ. 65
17. कालिदास के रूपकों में स्त्री विमर्श एक परिशीलन, सीमा यादव, पृ. 142
18. वही, पृ. 142
19. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 3/13
20. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/5, डॉ. सत्यनारायण चक्रवर्ती, पृ. 24
21. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/18
22. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/22
23. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6/24
24. कालिदास के रूपकों में स्त्री विमर्श एक परिशीलन, सीमा यादव, पृ. 52
25. वही, पृ. 128
26. वही, पृ. 127
27. कालिदास-ग्रन्थावली, प्रथम अंक, पृ. 442
28. कालिदास के रूपकों में स्त्री विमर्श एक परिशीलन - सीमा यादव, पृ. 125

13

कालिदास के रूपकों में शिष्टाचार तत्त्व

सर्वेन्द्र कुमार

शिष्टाचार व्यवहार की वह रीति-नीति है, जिसमें व्यक्ति और समाज की आन्तरिक सभ्यता एवं संस्कृति के दर्शन होते हैं। परस्पर बातचीत, सम्बोधन से लेकर दूसरों की सेवा, त्याग, आदर भावनाएँ तक शिष्टाचार के मापदण्ड हैं। शिष्टाचार हमारे आचरण एवं व्यवहार का नैतिक मापदण्ड है जिस पर सभ्यता एवं संस्कृति के भवन का निर्माण होता है। नम्रता, विनय, शील आदि सद्गुण शिष्टाचार के आधार हैं। यह शिष्टाचार, नैतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, दिव्य एवं शाश्वत इत्यादि अनेक रूपों से कालिदास के नाट्य साहित्य में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

नैतिक शिष्टाचार

आचरण और शील से सम्बन्धित उचितानुचित का विचार रखते हुए कर्त्तव्य का निर्वाह करना ही नैतिक शिष्टाचार है। दुष्यन्त का चरित्र उचित नैतिक मूल्यों का अगाध समुद्र था वह सर्वथा शील एवं कर्म के विषय में उचित-अनुचित का विचार करके ही निर्णय लेता है। वह अपने व्यक्तिगत सुखों का ध्यान न करके प्रजा के हित में सदैव तत्पर रहे। साथ ही वह शकुन्तला की स्मृति से पश्चाताप संतप्त होते हुए भी अपने राजकीय कर्त्तव्यों के प्रति जागरुक हैं- **राजा-वेत्रवति, मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्ण्येण तत्पत्रमारोप्यदीयतामिति।।**[1] शकुन्तला की विदाई के समय जो उपदेश महर्षि कण्व के द्वारा दिया गया वह भारतीय संस्कृति का मार्मिक एवं उदात्त नैतिक पक्ष प्रस्तुत करता है-

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने। भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी। यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।[2]

प्रत्यञ्चा चढ़ाये हुए धनुषवाले राजा दुष्यन्त से तपस्वी का यह कहना कि - ''आश्रम के पशु वध्य नहीं होते''[3] भी नैतिक शिष्टाचार का उत्कृष्ट उदाहरण प्रतीत होता है -

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्, मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितञ्चातिलोलं, क्व च निशितनिपातः वज्रसाराः शरास्ते।।[4]

आध्यात्मिक शिष्टाचार

आन्तरिक साधना एवं निष्ठा के माध्यम से मानव-जीवन का अन्तःकरण समृद्ध एवं विशाल बनता है, कर्म मांगलिक होते हैं जागतिक आकर्षण प्रभावहीन रहता है तप, संयम तथा नियम के बल पर जीवन खरा

उतरता है नैतिक शिष्टाचार से आचरण एवं शील संवरता है तो आध्यात्मिक शिष्टाचार आत्मा को बलवान बनाता है। कालिदास के नाट्य साहित्य में (रूपकों) में तप, अनुष्ठान एवं व्रत के रूप में ऐसे अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं - 'विक्रमोर्वशीय' में रनिवास के वृद्ध परिजनों द्वारा किये गये सन्ध्या पूजन में आध्यात्मिक शिष्टाचार परिलक्षित होता है यथा -

आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः। संध्यामंगलदीपिका विभजते शुद्धान्तवृद्धाजनः।।[5]

अनुष्ठान आध्यात्मिक ज्ञान में सहायक तो होते ही हैं साथ ही किसी आने वाली भयानक आपत्ति को टालने के लिए भी किये जाते हैं जैसा कि अभिज्ञानशाकुन्तलम् में वर्णित है - ''इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।''[6] जहाँ अनुष्ठान आध्यात्मिक जीवन को सफल बनाने में सहायक होते हैं वहीं किसी विजय की कामना अथवा अन्य किसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु भी अनुष्ठान किये जाते हैं। मालविकाग्निमित्र में उल्लेख है - **यतः प्रभृति सेनापतिर्यज्ञतुरंगरक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रस्ततः प्रभृति तस्यायुर्निमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणां दक्षिणां देवी दक्षिणायैः परिग्राहयति।।**[7] इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला की सखियों प्रियंवदा, अनुसूया का शकुन्तला के सौभाग्य के लिए अर्चना करना भी आध्यात्मिक शिष्टाचार का परिचायक है यथा - **''ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया।''**[8]

धार्मिक एवं दार्शनिक शिष्टाचार

महाकवि कालिदास की धर्म के प्रति गहरी आस्था थी। उन्होंने अपने रूपकों में प्रधान रूप से शिव की ही वन्दना की है, क्योंकि वे शैव मतावलम्बी थे। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक का श्रीगणेश करने के लिए अष्टमूर्ति शिव की वन्दना[9] तथा अन्त में नीललोहित शिव की अर्चना[10] इत्यादि सभी धार्मिक शिष्टाचार एवं वेदान्तदर्शनपरक मूल्य से उपेत है। विक्रमोर्वशीय नाटक के प्रारंभ में कवि द्वारा स्थाणु शिव की वन्दना धार्मिक एवं उपनिषद् दर्शन सम्बन्धी शिष्टाचार की अभिव्यक्ति है -

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी, यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते, स स्याणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेय सायाऽस्तु वः।[11]

मालविकाग्निमित्रम् नाटक में शिव को सांसारिक भोग, धन, स्त्री तथा अहंकार से सर्वथा मुक्त बतलाकर आरंभ में ही उनको नमन किया गया है -

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु सः वः तामसीं वृत्तिमीशः।।[12]

उपर्युक्त मङ्गलाचरण में वेदान्तदर्शनपरक शिष्टाचार व्र्यंजित हैं। साथ ही कालिदास के रूपकों में ''एकोऽहं बहुस्यामः'' की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के निम्न श्लोक में भी सांख्याचार्याणामनुमोदित सत्कार्यवाद का विवेचन दार्शनिक शिष्टाचार का परिचायक है -

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं धनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः।।[13]

अर्थात् राजा दुष्यन्त मारीच मुनि से कहता है कि कार्य और कारण का तो यही क्रम है कि पहले फूल लगता है तब फल आता है पर आपके यहाँ तो सारे सुख आपकी कृपा के आगे-आगे चलते जा रहे हैं। कालिदास के अनुसार ब्रह्मा में सांख्यदर्शन के प्रकृति और पुरुष दोनों संयुक्त हैं और इससे सूचित होता है कि

कठोपनिषद् की भाँति कालदास भी प्रकृति एवं पुरुष के ऊपर एक परम तत्त्व को मानते थे जो उनके लिए विशेष करके शिवरूप हैं। किन्तु शिव के साथ अन्य देवी-देवताओं तथा जैन, बौद्ध इत्यादि धर्मों से सम्बन्धित शिष्टाचार भी प्रायः इनकी समस्त रचनाओं में पाया जाता है।

दिव्य शिष्टाचार

लौकिक शक्ति एवं स्वरूप से परे जो कार्य एवं रूपादि हैं - वे सभी दिव्य जीवन से सम्बन्धित हैं। देव-जीवन तो दिव्य ही होता है इसके अतिरिक्त यक्ष, किन्नर, गंधर्व, ऋषि, मुनि इत्यादि के क्रियाकलाप भी दिव्यता के द्योतक होते हैं। दानव एवं जड़ प्रकृति के भी कुछ कार्य एवं व्यवहार ऐसे होते हैं जो लौकिक जीवन से परे अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित होकर दिव्य शक्ति के परिचायक होते हैं। अतः दिव्य शिष्टाचार के अन्तर्गत असामान्यता, असाधारणता, अलौकिकता से सम्बन्धित गुणों, शक्तियों प्रभावों एवं आचरणों को शामिल किया गया है। कालिदास के रूपकों में सर्वत्र दिव्य शिष्टाचार का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है - शाकुन्तलम् में कण्व ऋषि को आकाशवाणी के माध्यम से शकुन्तला के गान्धर्व विवाह और उसके गर्भवती होने का ज्ञान होता है जो कि दिव्याचरण का परिचायक है।

अनुसूया - अथ केन सूचितस्तातकण्वस्य वृत्तान्तः।

प्रियंवदा - अग्निसरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या।

अनुसूया - (सविस्मयम्) कथमिव?

प्रियंवदा - (संस्कृतमाश्रित्य)

''दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः। अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव।।''[14]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के षष्ठ अङ्क में अदृश्य मातलि का विदूषक को मारना[15], तिरस्करणी विद्या के द्वारा अदृश्य रहते हुए सानुमति अप्सरा का राजा दुष्यन्त के कार्यों को देखना, सप्तमङ्क में रथ पर चढ़कर राजा दुष्यन्त का इन्द्रलोक जाना तथा अपराजिता औषधि के द्वारा राजा दुष्यन्त का अपने पुत्र सर्वदमन को पहचानना इत्यादि सभी दिव्य शिष्टाचार के उत्कृष्ट प्रमाण हैं। क्योंकि सामान्य मनुष्य में इतनी शक्तियाँ एवं तेज नहीं होता कि आकाश में उड़ना एवं मानसिक भावों को पहचानना इत्यादि कार्य किये जा सकें। यह सभी दिव्यशक्तियों के प्रभाव से ही संभव है। विक्रमोवर्शीयम् में भी दिव्य शिष्टाचार की छटा दिग्दर्शित है यथा - उर्वशी अपनी सखी चित्रलेखा से राजा पुरुरवा के पास पहुँचने के लिए जब उपाय पूछती है तब चित्रलेखा उसको स्मरण दिलाती है कि देवगुरु बृहस्पति ने अपराजिता नाम की चोटी बाँधने की विद्या सिखाते समय हमें ऐसी शक्ति दी थी कि देवों के शत्रु भी हम लोगों का कुछ नहीं बिगाड़ सकते -

ननु भगवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिखाबन्धन विद्यामुपदिशता त्रिदशप्रतिपक्षस्यालङ्घनीये कृते स्वः।[16]

इसके अतिरिक्त उर्वशी का लतारूप में बदलना तथा संगमनीय मणि के स्पर्श से अपने स्वरूप को प्राप्त करना इत्यादि घटनाएँ भी दिव्य शिष्टाचार की परिचायक हैं।

''सङ्गमनीय इति मणिः शैलसुताचरणरागयोनिरयम्। आवहति धार्यमाणः सङ्गमचिरात्प्रियजनेन।।''[17]

शाश्वत शिष्टाचार

धरती के मानव-जीवन के लिए उसके समाज के लिए जो आचरण देश, काल और परिस्थिति से अप्रभावित रहकर सदा, सर्वत्र एक जैसे रहते हैं - शाश्वत रहते हैं - उन्हें देश, काल एवं परिस्थिति अपने प्रभाव से बदल नहीं सकती - मिटा नहीं सकती वही शाश्वत शिष्टाचार कहलाता है। इस आचरण को अपनाने वाले

सदैव सामान्य से भिन्न होते हैं। सत्य, अहिंसा, विनम्रता, आदरभाव, अतिथि सत्कार, शिष्टवाणी इत्यादि का इसके अन्तर्गत समावेश किया जाता है। कालिदास के नाट्य साहित्य में शाश्वत शिष्टाचार की छटा का दिग्दर्शन कुछ इस प्रकार है -

(i) **सत्य -** शाश्वत शिष्टाचार में सत्य का स्थान सर्वोपरि है ऋषिमुनिगण सत्यवादी होते थे। सत्यवादी होने के कारण ही इनमें इतना तेज होता था कि उनका कथन कभी भी मिथ्या नहीं जाता था -

आः, अतिथि परिभाविनि!.....विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।।[18]

ऋषि दुर्वासा द्वारा प्रदत्त शाप के फलीभूत शकुन्तला का त्याग तथा उनके द्वारा बताए गए उपाय से शाप मुक्ति से दुष्यन्त का शकुन्तला को ग्रहण करने के कथन की सत्यता 'शाश्वत शिष्टाचार' का उत्कृष्ट प्रमाण है। विक्रमोवर्शीयम् में भी नृत्यगुरु के द्वारा उर्वशी को स्वर्गलोक में न रह पाने के शाप का फलीभूत होना भी 'शाश्वत शिष्टाचार' का पोषक है।

(ii) **अहिंसा -** सत्य के बाद अहिंसा की गणना शाश्वत शिष्टाचार में की जाती है यथार्थ भावेन अहिंसा मानवता का एक श्रेष्ठ लक्षण है। क्षमा, त्याग, सेवा, आत्मबलिदानादि भावनाएँ अहिंसा के ही विविध रूप हैं। आश्रमवासी अहिंसाप्रेमी होते हैं। इसीलिए जब राजा दुष्यन्त धनुषबाण लेकर मृग का पीछा करते हैं तब ऋषिकुमार कहते हैं -

राजन्! ''आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः। न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्।।''[19]

राजा दुष्यन्त अहिंसा के पक्षधर होने के कारण बाण उतार लेते हैं - एषः प्रतिसंहृतः (इति यथोक्तं करोति)। इस प्रकार उक्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि अहिंसा एक शाश्वत शिष्टाचार है जिसका निर्वाह कालिदास के पात्रों ने किया है।

(iii) **विनम्रता -** शाश्वत शिष्टाचार में विनम्रता अपना विशिष्ट स्थान रखती है विक्रमोर्वशीय के राजा पुरुरवा जो उर्वशी के प्रति आकृष्ट हो, स्वकीया के प्रति अपने अपराध से झुका है, खण्डिता रानी औशीनरी से जो प्रति प्रसाधन में रत है अत्यन्त विनम्रता से कहता है -

''अनेक कल्याणि मृणालकोमलं व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम्।
प्रसादमाकांक्षति यस्तवोत्सुकः स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते।।''[20]

राजा दुष्यन्त की विनम्रता भी उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है जब वे अपनी पत्नी शकुन्तला के पैरों में गिरकर उन्हें स्मरण न करने के विषय में क्षमा माँगते हैं -

राजा शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य -

सुतनु! हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते, किमपि मनसः सम्मोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवम्प्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः, स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया।।[21]

(iv) **शिष्टवाणी -** शिष्टवाणी को भी शाश्वत शिष्टाचार में समाहित किया जाता है। कैशी दैत्य द्वारा अपहृता उर्वशी का पुरुरवा द्वारा उद्धार हो जाने पर भी असुर संहार से मूर्च्छिता अप्सरा जब संज्ञा लाभ नहीं करती तब राजा असाधारण शिष्ट वाणी से किस प्रकार उसके भय का निवारण करते हैं - **राजा - सुन्दरि। समाश्वसिहि।**

गतं भयं भीरू सुरारिसम्भवं त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणः।
तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं निशावसाने नलिनीव पङ्कजम्।।[22]

पुरुरवा की वाणी में कितना मधुर आश्वासन है। इसी प्रकार कण्व के शकुन्तला के प्रति वचनों में भी शिष्टवाणी मुखर हुई है जो कि शाश्वत शिष्टाचार की परिचायक है।

उपर्युक्त अध्ययन के पश्चात् निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि कालिदास हमारे राष्ट्रकवि हैं। वे भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के प्रतीक हैं। उनकी काव्य-सृष्टि सत्य का यशोगान एवं व्यवहार की शिक्षा प्रदान कर हमारे चित्त को शुद्ध तथा जीवन को सार्थक बनाती है। हम सदैव उनके ऋणी रहेंगे क्योंकि अंग्रेजों के प्रथम समागम के समय आज से लगभग 200 वर्ष से पहले भारतवर्ष संसार की दृष्टि में संस्कृतिविहीन एवं अंधकारपूर्ण देश समझा जाता था। परन्तु कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् ने ही भारत के प्रति विश्व का आदर जगाने का श्लाघनीय कार्य किया है। भारतीय ऋषियों द्वारा प्रचारित शाश्वत शिष्टाचारों को मनोभिराम शब्दों में भारतीय जनता के हृदय में उतारने का काम कालिदास के रूपकों ने सुचारु रूप से किया है। उनकी कविता कामिनी का प्रणयन मानव हृदय की शाश्वत प्रवृत्तियों तथा भावों का आलम्बन लेकर किया गया है। यही कारण है कि इसके भीतर ऐसे उदीप्त जीवनमूल्य एवं शिष्ट आचरण विद्यमान हैं जो भारतीय को ही नहीं प्रत्युत मानवमात्र को सदैव प्रेरणा एवं स्फूर्ति देते रहेंगे।

सन्दर्भ -

1. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक-6, पृ. 397*
2. *अभि.शा., 4/18, पृ.सं.-406*
3. *भो भो राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः। अभि.शा., अङ्क-1, पृ.सं.-35*
4. *अभि.शा., 1/10, पृ.सं.-349*
5. *विक्रमोर्वशीयम्, 3/2, पृ.सं.-98*
6. *अभि.शा., 1/13 के बाद की पंक्ति, पृ.सं.-43*
7. *मालविकाग्निमित्रम्, 5/, पृ. 635*
8. *अभि.शा., 4/, पृ.सं.-240*
9. *अभि.शा., 1/1, पृ.सं.-1*
10. *अभि.शा., 7/35, पृ.सं.-470*
11. *विक्रमो., 1/1, पृ.सं.-1*
12. *मालवि., 1/1, पृ.सं.-569*
13. *अभि.शा., 7/30, पृ.सं.-495*
14. *अभि.शा., 4/4, पृ.सं.-257*
15. *अदृष्टरूपेणकेनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छंदस्याप्रसादस्याग्रभूमिमारोपितः। अभि.शा., अंक-6, पृ.सं.-435*
16. *विक्रमो., अङ्क-2, पृ.सं.-494*
17. *विक्रमो., 4/66, पृ.सं.-595*
18. *अभि.शा., 4/1, पृ.सं.-241*
19. *अभि.शा., 1/10, पृ.सं.-35-36*
20. *विक्रमो., 3/13, पृ.सं.-118*
21. *अभि.शा., 7/24, पृ.सं.-485-486*
22. *विक्रमो., 1/6, पृ.सं.-477*

14

कालिदास के रूपकों में वर्णित दौत्यकर्म

शुभ्रजित् सेन

लौकिक श्रव्यकाव्य परम्परा में दूतकाव्य एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विधा है। दूतों के माध्यम से सन्देश प्रेषण करने की परम्परा वैदिक काल से निरन्तर चली आ रही है। वैदिक साहित्य में, अग्नि, इन्द्रादि देवता एवं यजमान की दूत के रूप में कल्पना की गयी है। हम वेदों में अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति, पूषा, अश्विनीकुमार, वायु, सोम आदि देवों के दौत्य कर्म उपलब्ध हैं। ऋग्वेद में दूत की विशेषताओं का वर्णन है कि दूत तीव्रगामी तथा सुवर्णालंकार से सुसज्जित होगा। पणि - सरमा सूक्त[1] में देवराज इन्द्र ने सरमा को दूत के रूप में पणि के पास भेजा था। महाकवि कालिदास के आगमन से पहले दूतकाव्य संस्कृत काव्य जगत् में इतना लोकप्रिय नहीं था। मूलतः मेघदूत नामक काव्य की रचना करने से दूतकाव्य के स्रष्टा महाकवि कालिदास हैं। परवर्तीकाल में मेघदूत की लेखन शैली को अपनाकर जो कविताएँ लिखी गयी, उन्हें 'दूतकाव्य' कहा जाता है। जब दूतों के माध्यम से समाचार भेजकर नायक या नायिका के हृदय की भावनाओं को प्रेरित किया जाता है, तो वह दूतकाव्य की श्रेणी में आ जाता है। इस कविता का मुख्य विषय कवि के मन की तन्मयी भाव है। दूतकाव्य में चेतन की अपेक्षा अचेतन एवं अधिक मानवीय पशुओं का दौत्य परिलक्षित होता है। दूतकाव्य की चर्चा करते हुये यह कहना होगा कि विचारशील सुकवि के लिए चेतन और अचेतन पदार्थ में कोई अन्तर नहीं है।

दूतकाव्य संस्कृत-काव्यों की एक विशिष्ट परम्परा रही है, और इसका आरम्भ महाकवि भास, महाकवि घटकर्पर तथा महाकवि कालिदास के काव्यों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है, तथापि इसकी प्राचीनता अवश्यमेव इससे भी पूर्व है। वाल्मीकिरामायण में, हनुमान् सीता को श्रीराम का सन्देश देने के लिये लङ्का गए थे - टीकाकार आचार्य मल्लिनाथ कहते हैं, यह हनुमत्सन्देश कालिदास के मेघदूत के लिए प्रेरणा का स्रोत है।[2] आचार्य दक्षिणावर्तनाथ कहते हैं - 'इह खलु कविः सीतां प्रति हनूमता हारितं सन्देशं हृदयेन समुद्रहन् तत्स्थानीयनायकाद्युत्पादनेन सन्देशं करोति कश्चिदिति'। तदनुसार मेघ को दूत बनाने की प्रेरणा के पृष्ठ में श्रीराम के द्वारा हनुमान् को विरह-सन्देश देकर प्रेषित करना था। महाभारत में हंसदूत ने नल और दमयन्ती के मध्य दूत बनकर यात्रा की थी। मध्यकाल में भी देश के इस भाग से देश के दूसरे भाग तक कबूतरों के माध्यम संवाद का आदान-प्रदान होता था, यह बात किसी से अनजान नहीं है। बौद्ध जातक की 'कामविलाप' नामक कथा में कौवे भी दूत के रूप में कार्य करते हैं। ऐसा लगता है कि राजदूतों के माध्यम से सन्देश भेजने की परम्परा अन्य देशों में भी असामान्य नहीं थी। बङ्गाल के मनन तथा ऋद्धि के प्रतिभाशाली आचार्य प्रो. करुणासिन्धु दास ने इस सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में कहा है -–'अन्य देशों में

दूतों के माध्यम से सन्देश भेजने की परम्परा प्रचलित थी, इसका प्रमाण Hsu Kan नामक चीनी कवि की रचना है। (द्वितीय शताब्दी ई.) जिसमें मेघ की कल्पना दूत के रूप में की गयी है। यहां कौन किसका ऋणी है, यह दूसरी बात है'।[3] यह परम्परा विरही और विरहणियों के लिये प्रायः काव्यों में देखी गयी है, जिन्होंने अपने प्रेमपात्रों के लिये भ्रमर, शुक, चातक, काक और हंस आदि पक्षियों के द्वारा संदेश प्रेषित करने के लिए निवेदन किया है। देवदूत और राजदूतों का भी अनेक स्थलों पर वर्णन प्राप्त होता है। दूसरी और इस परम्परा के बीज लोककाव्यों में भी स्थित जान पड़ते हैं, जहाँ विरही और विरहिणियाँ अपने अपने प्रेमपात्रों के पति भ्रमर, शुक, चातक, काक आदि पक्षियों के द्वारा संदेश ले जाने का विनय करती मिलती हैं।

हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में दूतों की भूमिका निर्विवाद है। दूतों की परम्परा प्राचीनकाल से अनवच्छिन्न रूप से चली आ रही है। कभी-कभी कवि अचेतन पदार्थ की कल्पना दूत के रूप में करता है। रामायण के किष्किन्ध्याकाण्ड में सुग्रीव सीता की अन्वेषण के लिए वानरों को दूत बनाकर भेजते हैं। महाभारत के आदिपर्व में एक दूत द्रुपदराज का सन्देश लेकर आता है। सभापर्व में युधिष्ठिर ने कृष्ण के पास एक दूत भेजा था। वनपर्व में राजा नल का दौत्य कार्य उल्लेखनीय है। विराटपर्व से ज्ञात होता है कि दूतों द्वारा शत्रुओं को परास्त करने और गायों की रक्षा का संदेश अर्जुन के वचनानुसार घोषित किया गया है। उद्योगपर्व में स्वयं श्रीकृष्ण के दौत्यकर्म का दर्शन होता है। महाभारत शान्तिपर्व में दूत के प्रति राजा के कर्तव्य तथा दूत के गुणों की चर्चा की गयी है। महाभारत के स्वर्गारोहण प्रसंग में देवदूतों का वर्णन मिलता है। हमारे नीतिशास्त्रों में ऐसा कहा जाता है कि राजा को किसी भी संकट में पड़कर दूत की हत्या नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जो राजा दूत की हत्या करते हैं वे अपने मंत्रियों सहित नरक में जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास रचित रामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड में जब अशोकवन में श्रीहनुमान द्वारा किये गये उपद्रव एवं पुत्र अक्षयकुमार की हत्या का समाचार सुनकर रावण उनका वध करने कि लिये उद्यत होता है, तव विभीषण रावण को समझाने हुये कहते हैं- –

नाइ सीस करि बिनय बहूता। नीति बिरोध न मारिअ दूता॥
आन दंड कछु करिअ गोसाँई। सबहीं कहा मंत्र भल भाई।।[4]

मनुस्मृति, अर्थशास्त्र आदि स्मृतिशास्त्रों में परराज्य में दूतों के वर्गीकरण तथा उनके कर्तव्यों की चर्चा की गयी है तथा दूतों के गुणों की चर्चा की गयी है। भारतीय परम्परा में राजदूत के गुणों के सन्दर्भ में कहा जाता है कि राजदूत गुणवान्, सत्त्वभाव विशिष्ट, वाक्पटु, कार्यकुशल, प्रियभाषी, यथोक्तवादी, प्रतिभावान- ये सात गुण राजदूत में विद्यमान होने चाहिये। राजा ऐसे व्यक्ति को दूत की रूप में नियुक्त करता है, जो विद्वान् हो, हाव-भाव, रूप और आचरण में अनुभवी, पवित्र, चतुर और सदाचारी हो।[5] इसके अतिरिक्त एक विश्वस्त, कुशली, स्मरणशक्ति सम्पन्न, विश्वसनीय और वाक्पटु दूत की सार्वभौमिक रूप से प्रशंसा की जाती है-

''अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालविद्। वपुस्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते।।[6]

विभिन्न पुराणों में भी दूत की भूमिका का स्मरण किया गया है। मार्कण्डेयपुराणवर्णित श्रीदुर्गासप्तशती के पञ्चम अध्याय में शुम्भ दैत्य के द्वारा सुग्रीव को देवी के समीप दूत के रूप में भेजा गया था। श्रीमद्भागवतपुराण में, कंस ने अक्रूर को गोकुल के राजा नन्द के पास एक दूत के रूप में भेजा था। श्रीमद्भागवत महापुराण में यमदूत का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मपुराण में कंस ने अक्रूर को दूत के रूप में गोकुल भेजा था। ब्रह्मवैवर्तपुराण में महाराजा ने मुनि के पास दूत भेजे। वराहपुराण में विद्युत्प्रभ नामक राक्षस के दौत्यकर्म का वर्णन मिलता है। विष्णुपुराण में अक्रूर, पद्मपुराण में यमदूत और देवदूत के पराक्रम महत्त्वपूर्ण हैं।

हनुमान् के दौत्यकर्म का वर्णन गरुडपुराण और स्कन्दपुराण के महेश्वरखण्ड में प्राप्त होते है। अग्निपुराण में वानर के दौत्यकर्म का वर्णन उपलब्ध है।

महाकवि भारविकृतकिरातार्जुनीयम् महाकाव्य में वनेचर के दौत्यविधान और शिशुपालवधम् महाकाव्य में नारद के दौत्यकर्म का उल्लेख मिलते हैं। रघुवंशम् महाकाव्य के तृतीय सर्ग में दौत्यकर्म का उल्लेख प्राप्त है। नैषधचरितम् महाकाव्य में हंस का दौत्यकर्म प्रसिद्ध है। भट्टिकाव्यम् के षष्ठ स्वर्ग में हनुमान् के दौत्यकर्म देखे जा सकते हैं। वासवदत्ता शीर्षक गद्यकाव्य में दूती की संवाद लोकप्रसिद्ध है। दौत्यकर्म का उल्लेख हितोपदेश के कहावतों में, धूर्तविटसंवाद नामक भाणगोत्रीय रूपकों आदि में है। बृहत्संहिता नामक ज्योतिष ग्रन्थ में भी दूतों के स्थान की चर्चा की गयी है। चरकसंहिता में दूत के आगमन की चर्चा की गयी है।

नाटकों में 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' शीर्षक में राजमाता के दूत का जिक्र है। भास के 'अविमारक' नाटक में, राजकुमारी के विवाह के सम्बन्ध में दौत्यकर्म विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' नाटक के अनुसार, उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने अपने पुत्र का विवाह पद्मावती से कराने के लिए एक दूत प्रेरित किया था। 'चारुदत्तम्' नाटक के प्रथम अङ्क में मैत्रेय के दौत्यकर्म का उल्लेख मिलता है। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्' नाटक में, काशिराज के उपाध्याय वासवदत्ता के विवाह के लिए एक दूत के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

इसी रूप मे दौत्यकर्म पर आधारित अनेक दूतकाव्यों की रचना की गयी है। कवियों ने कभी-कभी अचेतन पदार्थों को भी दूत बनाकर भेजा है। यथा, मेघ, वायु, चन्द्रमा, कमल, पत्र, पादप, तुलसी, मन, हृदय, शील, भक्ति, पदाङ्क आदि। फिर हंस, पिक, भृङ्ग, चकोर, मयूर, काक आदि को भी दूत का स्थान प्राप्त हुआ। अतः कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य में दूत की भूमिका निर्विवाद है। प्राचीनकाल में राजा दूतों के माध्यम से दूसरे राज्यों की सूचनाये प्राप्त कर अपने राज्य का प्रबन्धन सुन्दर एवं उचित ढंग से करते थे।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् - संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाकवि कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' दृश्यकाव्य का सर्वोत्तम उदाहरण है। इस नाटक में कालिदास ने आश्रमपालिता पुत्री शकुन्तला और पुरुवंशीय राजा दुष्यन्त की प्रणयकथा का सुन्दर चित्रण किया है। एक समय मृगयाविहारी राजा दुष्यन्त एक मृग का पीछा करते हुए महर्षि कण्व के आश्रम में पहुँचे। वहाँ वे शकुन्तला को अपनी दो अन्य सखियों के साथ देखकर आकर्षित हुये और उन्होंने उनसे गान्धर्व रीति से विवाह कर लिया। राजा दुष्यन्त के राजधानी लौटने के उपरान्त, अपने पति के विचारों में मग्न शकुन्तला को अतिथि के रूप में अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करने के कारण महर्षि दुर्वासा ने शाप दिया था। इसी शाप के कारण दुष्यन्त शकुन्तला को पहचान नहीं सके और उसे परस्त्री कहकर अस्वीकार कर दिया। संयोग से, राजा को शकुन्तला को दी गयी राजा की मुहर वाली अंगूठी मिल जाती है, और शाप हटा लिया जाता है। वह शकुन्तला को वापस पाने के लिए उत्सुक हो जाता है। संयोग से उनकी भेंट मारीच ऋषि के स्वर्ग-तपोवन में तपस्विनी शकुन्तला और भरत से होती है।

'अभिज्ञानशकुन्तलम्' नाटक में कई पात्रों में से करभक एक गौण पात्र है। वह नाटक के द्वितीय अङ्क में इस पात्र का उल्लेख किया गया है। राजा दुष्यन्त शकुन्तला के प्रेम में मग्न हुए थे और मृगया में भी नहीं गये। बाद में दोनों ने ऋषिकुमार के कहे अनुसार तपोवन को राक्षसों से बचाया। उनकी राज्य में वापस लौटने की कोई इच्छा नहीं थी। वह शकुन्तला से प्रेम करता है, जब दौवारिक करभक के साथ राजा के पास आता है, तो करभक राजा को उचित सम्मान देता है और अपना सन्देश देता है।[7] अर्थात्राजमाता का व्रतपारण अगले चौथे दिन हो जायेगा, इसलिये वह चाहती हैं कि उनका पुत्र उनके साथ रहे। किन्तु राजा का शकुन्तला

को छोड़कर अपने राज्य लौटने की कोई इच्छा नहीं है। इसलिए उसने विदूषक को राजधानी भेज दिया, क्योंकि रानी विदूषक को अपने पुत्र के समान मानती थी। विदूषकों की यह उपस्थिति नाटक को एक और आयाम देती है। विदूषक की उपस्थिति में शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त का प्रेम और भी सुद्रढ़ हो जाता है। भाग्य की क्रूर विडम्बना के कारण शकुन्तला को महर्षि दुर्वासा का शाप मिल जाता है और ऐसी घटनायें भी होती हैं जहाँ शकुन्तला को दुष्यन्त पहचान नहीं पाता है। इन सभी घटनाओं में करभक का सन्देश निहित है। जो इनके रूप में हमारे समक्ष आता है।

मालविकाग्निमित्रम् - 'मालविकाग्निमित्रम्' महाकवि कालिदास द्वारा रचित नाट्यग्रन्थों में से एक है। इस नाटक का नायक विदिशा के शासक शुंगवंश का अग्निमित्र है। मालविका राजा के राजप्रासाद की एक सुन्दरी दासी है। मालविका वस्तुतः में विदर्भ की राजकुमारी है। एक दस्युसे वचकर उन्होंने अग्निमित्र के अन्तःपुर में शरण ली। राजा की मुख्य महिषी धारिणी ने उनकी नृत्य और ललित कला की शिक्षा की व्यवस्था की। मालविका को धारिणी के पास देखकर राजा उस पर आसक्त हो गये। जब द्वितीय रानी इरावती को इसके बारे में पता चला, तो उसने मालविका और विदूषक को बन्दी बना लिया। क्योंकि विदूषक राजा को मालविका का नृत्य प्रदर्शन देखने में सहयोग करता है। अन्ततः विदूषक की बुद्धि से वे दोनों मुक्त हो गये। मालविका की वास्तविक पहचान प्रकट हो जाती है और मुख्य महिषी धारिणी, मालविका का विवाह राजा अग्निमित्र से करा देती है। इस नाटक के प्रथम अङ्क में दौत्यकर्म दिखाये देता है। परिव्राजिका ने चतुर्थपद विशिष्ट नृत्य की कला सिखाने के लिये राजप्रासाद में प्रवेश किया। फिर प्रेक्षागृह में संगीत की व्यवस्था करके राजा को न्यायाधीश केआसन पर बैठाने के लिए दूत[8] भेजे गये।

विक्रमोर्वशीयम् - यह पाँच अङ्कों का त्रोटक है। इस रूपक का विषय राजा पुरूरवा का स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी से प्रणय परिणय है। जब केशी नामक राक्षस ने उर्वशी का अपहरण करने की चेष्टा की, तो पुरूरवा ने स्वविक्रम से केशी को पराजित किया। पुरूरवा और उर्वशी को प्रथम दृष्टि में ही परस्पर प्रेम हो जाता है। उर्वशी स्वर्ग चली गयी। लेकिन एक नाटक में अभिनय करते समय उससे त्रुटि हो गयी और वह भरत मुनि के शाप के कारण मृत्युलोक में लौट आती है। पुरूरवा को इन्द्र के साथ तब तक रहने की अनुमति दी गयी जब तक कि उनका पुत्र उनके सामने न आ जाये। एक दिन उर्वशी ने कुमार वन में प्रवेश किया और देखते ही देखते एक लता में बदल गयी। आखिर संयोगवश पुत्र का सामना उनसे हो गया। अन्त में, जब वे पृथक् हो गयी, तो पुरूरवा के अनुरोध पर इन्द्र ने उन्हें एक साथ रहने की अनुमति दी।

इस त्रोटक के द्वितीय अङ्क में दिखता है कि चित्रलेखा ने अपना परिचय उर्वशी की दूती के रूप में दिया है। इस रूपक में देवदूतों का उल्लेख किया गया है। देवदूत पीछे से चित्रलेखा से कहता है कि वह शीघ्र ही उर्वशी का दौत्यकर्म पूर्ण करे।

कालिदास के रूपकों में दौत्यकर्म के अनेक वर्णन प्रासंगिक रूप से उपलब्ध हैं। पहले चर्चा हो चुकी है कि महाकवि कालिदास मुख्यतः दूतकाव्य के जनक हैं। हालाँकि उन्होंने रामायण में वर्णित दौत्यकर्म की परम्परा का पालन किया है। दौत्यकर्म मुख्य रूप से प्रेयस-प्रेयसी के प्रेम सम्बन्धों में सहायक होता है, लेकिन कुछ क्षेत्रों में दौत्यकर्म राजनीतिक और आर्थिक प्रयोजन को सिद्ध करने में भी सहायक होते है। लेकिन महाकवि कालिदास शृङ्गार रस के महाकवि हैं। अतः उनके रूपकों में प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से दूतों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से परिलक्षित होता है।

सन्दर्भ -

1. *ऋग्वेद , 10/108*
2. *सीतां प्रति रामस्य हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघसन्देशं कविः कृतवानित्याहुः' ।(मेघदूत, प्रथम श्लोक सञ्जीवनी)*
3. *संस्कृत साहित्येर इतिहास, करुणासिन्धु दास, पश्चिमवङ्ग बांग्ला अकाडेमी, 2008, (विद्र. आधुनिक संस्कृत काव्य - वाङाली मनीषा - शतवर्षेर आलोके, सम्पा. ऋता चट्टोपाध्याय, पृ.- 59)*
4. *रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, 4*
5. *दूतं चौव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् । इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ।। (मनुस्मृति, 7.63)*
6. *मनुसंहिता, 7.64*
7. *''देवी आज्ञापयति । आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति तत्र दीर्घायुषा अवश्यं संभावनीया इति'' । अभिज्ञानशाकुन्तल, द्वितीय अङ्क ।*
8. *विदूषकः - तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे सङ्गीतरचनां कृत्वात्रभवतो दूतं प्रेषयतम् । अथवा मृदङ्गशब्द एव न उत्थापयिष्यति । (संस्कृत साहित्यसम्भार, खण्ड 11, मालविकाग्निमित्र,* पृ. *267) ।*
9. *चित्रलेखा (उर्वशीमुपेत्य) सखि एहि। त्वत्तोऽपि निर्दयतरं मदनं दृष्ट्वा प्रियतमस्य ते दूत्यस्मि संवृत्ता (संस्कृत साहित्य सम्भार, खण्ड 12, विक्रमोर्वशीय, पृ. 204)*
10. *चित्रलेखा श्रुतं प्रियसख्या देवदूतस्य वचनम् । अनुमान्य तां महाराजः । (तत्रैव, पृ.- 235)*

15

कालिदास के रूपकों में राष्ट्रीय चेतना

प्रवीन कुमारी

'राष्ट्र' पद 'राजृ' दीप्तौ धातु से बना है।[1] इसके अनुसार राष्ट्र शब्द का अर्थ होगा सम्प्रभुता सम्पन्न देश। मानव जब व्यक्तिगत स्वार्थों का परित्याग करके अपने राष्ट्र की रक्षा एवं प्रगति के कार्यों के लिए पारस्परिक मतभेदों को भूलकर एक होकर रहने की हार्दिक एवं क्रियात्मक भावना का परिचय देता है, उसकी इसी भावना को हम राष्ट्रीय-चेतना कह सकते हैं। इस राष्ट्रीय चेतना के दर्शन हमें वैदिक काल से होने लगते हैं। ऋग्वेद में कहा है मातृभूमि, मातृ संस्कृति और मातृभाषा ये तीनों सुखद होती हैं।[2] इसी प्रकार अथर्ववेद का यह कथन 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'[3] राष्ट्रीय चेतना का ही परिचायक है। इसके अतिरिक्त भी संस्कृत वाङ्मय राष्ट्रीय चेतना सम्बन्धी उदाहरणों से भरा पड़ा है। महाकवि कालिदास का नाट्य साहित्य भी राष्ट्रीयता की भावना से अछूता नहीं है। उनके नाटकों में अनेक स्थलों पर भारत एवं भारतीयता के दर्शन हुए हैं। राजा दुष्यन्त का अपने नगरद्वार की अर्गला समान विशाल बाहु से समस्त पृथ्वी का पालन करना[4], दैत्यों से युद्ध करने के लिए स्वयं इन्द्र के द्वारा उन्हें स्वर्ग में बुलाना और उनके शौर्य से प्रसन्न होकर अपना अर्धासन प्रदान कर उनके गले में मन्दारमाला पहनाना यथा - मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा।[5] कालिदास अखण्ड भारत के पूजक थे। भारत मूर्तिपूजा में विश्वास रखने वाला देश है। इस तथ्य को मन में रखकर अभिज्ञानशाकुन्तल की नान्दी में उन्होंने शंकर की जिस अष्टमूर्ति की प्रत्यक्ष कल्पना की है, वे समग्र भारत में स्थान-स्थान पर स्थापित हैं। यथा सूर्य प्रत्यक्ष देवता हैं, चन्द्रमूर्ति पश्चिम में काठियावाड के सोमनाथ मन्दिर में तथा पूर्व में बंगाल के चन्द्रनाथ क्षेत्र में स्थित है, यजमानमूर्ति नेपाल के पशुपतिनाथ मन्दिर में क्षितिलिंग कांची में, जललिंग जम्बुकेश्वर के शिव मन्दिर में तेजोलिंग अरुणाचल पर वायुलिंग कालहस्तीश्वर में और आकाशलिंग चिदम्बरम मन्दिर में है। शंकर की ये आठों मूर्तियाँ उत्तर में नेपाल से लेकर पश्चिम में काठियावाड़ से लेकर पूर्व में बंगाल तक व्याप्त है और भारतीय एकता तथा अखण्डता को द्योतित करती हैं - **''प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः''**।[6]

महाकवि कालदास ने अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम के कारण ही हिमालय का अत्यन्त सजीव एवं रोचक चित्रण किया है। वैसे भी हिमवान् भारत माँ का मुकुट है, शीर्ष है, वहीं से भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का जन्म एवं पोषण हुआ है। हिमचोटियों के तटों पर भी हमारे वेदों और पुराणों का गान हुआ है। इन्हीं तटों पर रामायण और महाभारत की रचना हुई है, यहीं के पावन आश्रमों में भारतीय जीवन तथा दर्शन को मार्गदर्शन मिला है। अतः उसका यशोगान किये बिना भारतीय राष्ट्र का ज्ञान कैसे पूरा हो सकता है, वरन् सच तो यह है कि इसके बिना भारतीय राष्ट्र की कल्पना ही अधूरी रह जायेगी। कालिदास ने प्रायः अपने सभी नाटकों में

हिमालय का अत्यन्त भव्य यशोगान किया है। कवि के लिए हिमालय केवल भौतिक पदार्थों का ढेर ही नहीं, अपितु एक दिव्य रूप है जिसे देखते ही कोई भी कह उठेगा यह तो स्वर्ग से भी अधिक शान्तिप्रद स्थान है, यहाँ आकर तो ऐसा लगता है जैसा कि अमृत के सरोवर में स्नान किया है - इसके सौन्दर्य को देखकर ही दुष्यन्त कहते हैं - **स्वर्गाधिकतरं निवृत्तिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।**[7] निम्न हिमालय अपने मन्दार, अशोक, बकुल, केसर, आम्र, साल के अतुल और अनोखे वैभव से सबको मुग्ध किये बिना नहीं रह सकता है। इसके अतिरिक्त इन वन प्रदेशों के पक्षि-कुलों का भी आकर्षण कम नहीं है। भारत के राष्ट्रीय पक्षी मोर का चित्रण भी कालिदास ने किया है जो हिमालय में बहुतायत से उपलब्ध हैं- **''परित्यक्तनर्तना मयूराः''।**[8] **शुक का उल्लेख भी कवि ने किया है यथा - नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखाः।**[9] इन विभिन्न प्रकार के पक्षियों से इस प्रदेश का प्राकृतिक सौन्दर्य भरपूर है इन प्रदेशों में बहने वाली छोटी-छोटी पहाड़ी नदियों का भी अपना विशेष सौन्दर्य एवं महत्त्व है। उनके कलकल निनाद की मधुरता किसी प्रकृति-प्रेमी को मुग्ध किये बिना नहीं रह सकती। इनके किनारों का लतावलय - **''लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु''।**[10] इन्हीं के रम्य वातावरण में स्थित ऋषियों के आश्रम सभी कुछ परम दर्शनीय हैं - **''एष खलु कण्वस्य महर्षेरनुमालिनीतीरम् आश्रमो दृश्यते।''**[11] ऋषियों और मुनियों ने अपने स्नान से इनके जलों को पवित्र कर दिया है तथा अपने पावन सम्पर्क से इन समस्त भू-भाग को ही परम पावन तीर्थो के रूप में परिवर्तित कर डाला है - **''कण्वाश्रमं कोटितीर्थम्।''**[12]

महाकवि कालिदास ने हिमवान् के पादप्रदेश में बहने वाली मालिनी नदी तथा उसके तट पर स्थित कण्वाश्रम के प्रति विशेष अनुराग है - **एते खलु हिमगिरेरूपत्यकारण्य वासिनः**[13]

कार्या अपि च सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहामालिनी। पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।।[14]

'समुद्ररसना' के बिना तो भारत के मानचित्र की कल्पना ही नहीं हो सकती है, अतः कवि ने समुद्ररसना का भी उल्लेख किया है - **समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्।**[15] कालिदास ने अपनी रचनाओं में अनेक तीर्थस्थलों का भी वर्णन किया है जो उनकी राष्ट्र के प्रति भक्ति और प्रेम भावना को स्पष्ट करता है।

सोमतीर्थ - 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के प्रथम अंक में कवि ने सोमतीर्थ का उल्लेख वैखानस द्वारा कराया है। महर्षि कण्व अपनी धर्मकन्या शकुन्तला के अनिष्टकारी ग्रहों की शान्ति के लिए इस पवित्र एवं प्रभावशाली तीर्थ की यात्रा पर गये थे - **इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलातिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।**[16]

शचीतीर्थ - अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में दुष्यन्त के दरबार में गौतमी के मुख से शचीतीर्थ का उल्लेख भी कालिदास के राष्ट्रप्रेम का ज्वलन्त प्रमाण है। कण्वाश्रम से हस्तिनापुर आती हुई शकुन्तला ने इस मंगलमूर्त पवित्र तीर्थ के दर्शन किये थे और श्रद्धानवत होकर इसके तीर्थ सलिल की समीप से वन्दना भी की थी, जिसमें अनजाने में दुष्यन्त द्वारा अभिज्ञान रूप में दी हुई अँगूठी गिर गई थी - **''गौतमी - नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमङ्गुलीयकम्।''**[17] धीवर ने भी शचीतीर्थ का उल्लेख किया है - **''शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः।''**[18] स्वयं राजा दुष्यन्त ने भी इसका उल्लेख किया है - ''**शचीतीर्थ वन्दमानायाः सख्यास्ते हस्ताद्गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम्।''**[19]

अप्सरस्तीर्थ - यह भी एक पवित्र तीर्थस्थान है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजपुरोहित के मुख से दुष्यन्त द्वारा प्रत्याख्यत की हुई शकुन्तला को स्त्री जैसी ज्योति द्वारा उठाकर अप्सरस्तीर्थ को ले जाने का उल्लेख किया है - **स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थ मारादुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम।**[20]

कालिदास की कल्पना में भारत के प्रत्येक नागरिक का व्यक्तित्व उसी सांचे में ढला होना चाहिए जो स्वार्थ से ऊपर, विश्व के योगक्षेम में व्यस्त सर्वे भवन्तु सुखिनः की अनुगूंज को सार्थक करता हो। विश्वप्रसिद्ध रचना अभिज्ञानशाकुन्तल में उन्होंने ऐसे ही आदर्श से ओत-प्रोत दुष्यन्त पुत्र भरत की उद्भावना की है। भरत सर्वदमन हैं, उनके व्यक्तित्व में आज का आधिक्य है, शत्रु उनसे पराभूत होते हैं, शेर भी उनके समक्ष निरीह पशु बन जाते हैं -**अर्धपीनस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम्। प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति।।**[21]

भारत के आबालवृद्ध नर-नारी सभी को आज आलस्य का परित्याग कर ऐसे साहस और वीरत्व गुण से सम्पूरित होने की आवश्यकता है। सन्तान को विचारों और कार्यों से श्रेष्ठ बनाने का दायित्व निर्वहण माँ करती है। भरत की माँ शकुन्तला ने सर्वदमन को अदम्य साहसी बनाकर भारत की नारियों के सामने स्त्री के अबलात्व को निषिद्ध सिद्ध कर दिया है।

शकुन्तला भी इसी भारतीय नारी-समाज का प्रतिरूप बन कालिदास की श्रेष्ठ रचना अभिज्ञानशाकुन्लत में आविर्भूत हुई। पति द्वारा अकारण लांछित और अपमानित एकाकिनी स्त्री भी किसी प्रकार समाज के लिए उपयोगी हो सकती है, दया की पात्र नहीं दर्प की अधिकारिणी बन सकती है, पुत्र भरत के उदात्त व्यक्तित्व निर्मिति से उसने यह प्रमाणित कर दिखाया। तभी तो सम्पूर्ण राष्ट्र को भलीभांति भरण-पोषण करने के गुण से प्रभावित होकर ही कालिदास ने शाकुन्तलेय का भरत नाम उद्भावित किया है -

रथेणानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः। पुरा सप्तद्वीपा जयति वसुधामप्रतिरथः।।
इहा यं सत्त्वानां प्रसमदमनात्सर्वदमनः, पुनर्यास्यात्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्।।[22]

अर्थात् यह बालक अपने दृढ़ और सीधे चलने वाले रथ पर चढ़कर समुद्रों को पार करके भविष्य में सात द्वीपों वाली पृथ्वी को जीतेगा। यहाँ (आश्रम में) जीवों को बलपूर्वक वश में करने के कारण इसका नाम सर्वदमन था, भविष्य में संसार का पालन करने के कारण इसका नाम 'भरत' होगा। इतना ही नहीं अपितु वायुपुराण भी इसी का स्पष्ट संकेत करता है, और कहता है -

चक्रवर्ती ततो राज्ञे दौष्यन्तिनृपसत्तम। शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्ना तु भारतम्।।[23]

अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र इन तीनों नाटकों के भरतवाक्यों में राष्ट्रीय भावना द्योतित होती है। कवि की भावना रही है कि राजा प्रजा का योगक्षेम करते रहें। राजा को प्रजा के साथ शासक और शासित का सम्बन्ध नहीं वरन् पिता और पुत्र का सम्बन्ध रखना चाहिए यह भावना निम्न पंक्ति से स्पष्ट है - **''प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा''**।[24]

जिस प्रकार पिता का धर्म है कि वह अपनी सन्तान के ऊपर नियन्त्रण रखता हुआ कुमार्ग से रोके अच्छे मार्ग पर लगाये, उसकी रक्षा करें तथा भरण-पोषण करें। राजा दुष्यन्त भी इसी भावना को दृष्टिगत रखते हुए कुमार्गगामियों पर नियन्त्रण रखते हैं।

''नियमयसि कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः'' प्रशमयसि विवादं कल्पयसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम, त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्।।[25]

कालिदास के नाटकों में त्याग, तपस्या, निःस्वार्थभाव का प्रशिक्षण देने वाली आश्रम व्यवस्था मानवता का सन्देश देती हुई सर्वत्र मुखरित होती है। राजा दुष्यन्त का व्यक्तित्व सभी राज्योचित जीवनमूल्यों से संपृक्त है। वह आश्रमों में सर्वश्रेष्ठ आश्रम गृहस्थाश्रम में निवास करते हैं रक्षारूपी योग से प्रतिदिन तपस्या का संग्रह करते हैं। इस प्रकार राजा दुष्यन्त मुनियों से भी श्रेष्ठ हैं -

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये, रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः, पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः।।[26]

मालविकाग्निमित्र नाटक के नायक राजा अग्निमित्र को भी दुष्यन्त के समान सभी राज्योचित जीवनमूल्यों से संपृक्त दिखाकर महाकवि कालिदास ने राष्ट्रीय चेतना के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। किसी भी राजा को हृदय में घृणा या विरक्ति उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। नम्र, विनयशील और हँसी में भी बुरे अथवा कटु वचन नहीं कहना चाहिए यथा -

न च न परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैति तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः।।[27]

राजा दुष्यन्त अपने कर्त्तव्यपालन में सदैव सजग रहते थें वह अपने सुख की चिन्ता न करते हुए प्रजा के हित पालन में सदैव तत्पर रहते हैं क्योंकि यह उनका कर्तव्य है कि वैतालिक के द्वारा कहे गये निम्न कथन से राजा दुष्यन्त के राज्योचित जीवनमूल्य का परिचय मिलता है। किसी भी राजा का अपने राज्य के प्रति समर्पण उसकी अखण्डता और एकता का ही परिचायक होता है यथा -

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः, प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीमुष्टां, शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्।।[28]

राजा दुष्यन्त की प्रत्येक परिस्थिति में उदारता भी उनके राष्ट्र के प्रति प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण है। जब राजा दुष्यन्त शकुन्तला का परित्याग करने से दुःखी होते हैं तो प्रतिहारी धनमित्र सेठ की मृत्यु का समाचार देती है और कहती है कि वह सेठ संतानहीन था। इसलिए उसका सारा धन राज्य कोष में ही जमा हो जायेगा। तब राजा उस सेठ की पत्नी के गर्भस्थ बालक को उस धन का उत्तराधिकारी बना देते हैं और शहर में डुग्गी पिटवा देते हैं कि पापियों को छोड़कर हमारी प्रजा के और जितने भी लोग हैं उनके कुटुम्बी दुष्यन्त को समझा जाये - **येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बंधुना। स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्।।**[29]

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि कवि मूलतः चाहे जिस भू-भाग के भी निवासी रहे हों, पर इसमें सन्देह नहीं कि उनका राष्ट्रीय दृष्टिकोण विशाल था। वैदिक ऋषि के समान ही उनके समक्ष यही उदात्त आदर्श था **''माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः।''** इसी उदात्त आदर्श को लेकर उन्होंने जहाँ भी जितना भी हो सका कैलाश से कन्याकुमारी तक तथा द्वारिका से लेकर सेतुबन्ध रामेश्वर तक की समस्त भूमि को मातृभूमि मानकर उसके कण-कण से उसका गुणगान किया है और इससे अपनी वाणी को सार्थक माना है। मातृभूमि के इस पावन यशोगान का ही परिणाम है कि उनका शरीर (भौतिकपिण्ड) कब का नष्ट हो जाने पर भी उनका यश रूपी शरीर अब तक जीवित है। आज भारत के प्रत्येक कोने का निवासी उन्हें अपना कहने में गौरव समझता है और इस कवीश्वर को सश्रद्ध स्मरण करता है। धन्य है भारत और भारती का लाडला सपूत। किसी ने ठीक ही कहा है - **''जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः। नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।''** अतः अन्त में हम कह सकते हैं कि कालिदास के नाट्य साहित्य में वर्णित राष्ट्रीय भावना के उद्धरणों को पढ़कर मन में राष्ट्रीय चेतना का उदय अनायास ही हो जाता है। इसलिए भारत देश की स्वतन्त्रता एवं सम्प्रभुता की रक्षा के लिए तथा विद्यार्थियों में भारतीयता के प्रति अनुराग, पूर्ण स्वाभिमान जागृत करने के लिए शिक्षाविदों के द्वारा शैक्षणिक पाठ्यक्रम में इन नाटकों के राष्ट्रीय भावना से पूर्ण कुछ अंशों को सम्मिलित करना चाहिए, जिससे विद्यार्थियों में विद्यार्थी जीवन से ही राष्ट्रीय चेतना का शंखनाद हो और भारतवर्ष विश्वमंच पर एक शक्तिसम्पन्न, अजेय एवं अभेद्य राष्ट्र के रूप में पहचाना जाए।

सन्दर्भ -

1. राजते इति राष्ट्रम् - शब्दकल्पद्रुम्, चतुर्थ खण्ड, पृ.सं.-145
2. इला सरस्वती मही तिस्रोदेवीर्मयोभुवः। ऋग्वेद-1.13.9
3. अथर्ववेद-12.1.12
4. नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्रीमेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति।
   आशंसन्ते समितिषु सुरा बद्धवैरा हि दैत्येरस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे।।
   अभिज्ञानशाकुन्तलम्-2/16, पृ.सं.-159
5. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-7/2, पृ.सं.-448
6. वही, 1/1, पृ.सं.-1
7. वही, 7, पृ.सं.-328
8. वही, 4/12, पृ.सं.-280
9. वही, 1/14, पृ.सं.-46
10. वही, 3, पृ.सं.-181
11. वही, 1, पृ.सं.-41
12. वही, 1
13. वही, 5, पृ.सं.-319
14. वही, 6/17, पृ.सं.-417
15. वही, 3/17, पृ.सं.-219
16. वही, 1/13 के बाद, पृ.सं.-43
17. वही, 5/21 के बाद, पृ.सं.-351
18. वही, 6, पृ.सं.-374
19. वही, 6/12 के बाद, पृ.सं.-410
20. वही, 5/30, पृ.सं.-370
21. वही, 7/14, पृ.सं.-468
22. वही, 7/33, पृ.सं.-500
23. वायुपुराण-99/133
24. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-5/5, पृ.सं.-317
25. वही, 5/8, पृ.सं.-324
26. वही, 2/15, पृ.सं.-157
27. मालविकाग्निमित्रम्-1/11, पृ.सं.-42
28. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-5/7, पृ.सं.-322
29. वही, 6/23

16

कालिदास के रूपकों में जनचेतना

निकिता यादव

साधारणतया जनचेतना का आशय है- जन सामान्य के प्रति पूर्ण जागरूकता का भाव बोध है। जनचेतना पद में 'जन' शब्द का अभिप्राय व्यक्ति तथा मनुष्य से है। तथा 'चेतना' शब्द संस्कृत की चित् धातु से ल्यूट् प्रत्यय करने पर टाप् (आ) के संयोग से निष्पन्न हुआ है। वामन शिवराम आप्टे ने इसके विविध अर्थ बताये हैं जिनमें बुद्धिमत्ता, विचार और विमर्श, जीवनप्राण, ज्ञान, संज्ञा, प्रज्ञा, इत्यादि हैं। आचार्य श्याम सुन्दरदास के हिन्दी शब्दसागर में इसके विभिन्न अर्थों को सूचीबद्ध किया गया है। जैसे बुद्धि, मनोवृत्ति, स्मृति, चेतनता, चैतन्य तथा होश। चेतना की प्रमुख विशेषता है 'निरन्तर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह' यदि हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर कहें तो चेतना मानव मस्तिष्क का वह गुण धर्म है, जिसके द्वारा व्यक्ति को अपने आस-पास घटित घटनाओं का बोध होता है, और वह विश्वत को समझ पाता है। उपर्युक्त विवेचना से सिद्ध होता है कि जनचेतना एक सामासिक पद है जो जन तथा चेतना के योग से बना है, चेतना शब्द जागरूकता या चैतन्यता अर्थ का द्योतक है। साहित्य मनीषियों के संदर्भ में जनचेतना से तात्पार्य उसकी सर्जनात्मयक दृष्टि से है, जो जनसाधारण के जीवन में व्याप्त सुख-दुख तथा तात्कालिक परिस्थितियों का सजीव एवं यथार्थ चित्रण निर्भीकता के साथ प्रस्तुत करते हुए जन सामान्य के जीवन दर्शन को प्रस्तुत करता है। 'अभिज्ञानशाकुन्तनलम्' महाकवि कालिदास की सर्वाधिक प्रसिद्ध नाट्य कृति है। जिसके कथानक के माध्यम से कालिदास जनचेतना का स्वर मुखरित करते हैं। इसके प्रथम अंक (आश्रम प्रवेश) में जब दुष्यन्त मृग का अनुसरण करते हुये तपोवन में प्रवेश करता है और वह मृग को मारना ही चाहता है तभी तपस्वी राजा को सूचित करता है कि यह आश्रम का मृग है। अतः उसे न मारे राजा कहना मान लेता है- **''न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्। मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।।** यह द्रष्टान्त जीव संरक्षण के प्रति उस समय के समाज का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है और मानवीय चेतना का स्प्ष्ट उदाहरण हमें दिखाई देता है कि किस प्रकार महाकवि अपनी कृति के माध्यम से उस समय के तत्कालीन समाज को वैश्विक स्तर पर सजग कर रहे थे। क्रमशः यज्ञ में राक्षसों के विघ्न् को दूर करने के लिए राजा स्वतः प्रस्थान करता है। जो राजकीय चेतना की ओर ध्यान आकर्षित करता है कि राजा किस प्रकार अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करता है। राजा दुष्यन्त सहृदय तथा संयमी नायक है। वह धनमित्र नामक एक व्यापारी की मृत्यु पर भी शोक प्रकट करता है तथा उसके गर्भस्थ पुत्र को उसका धन प्राप्त कराता है। वह प्रजा की रक्षा करना अपना परम धर्म समझता है। वही दुःखी जनो के दुःख को दूर करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। किसी भी पर स्त्री को देखना वह पाप समझता

है। शाप के प्रभाव से वह शकुन्तला को भूल जाता है सभा में उसे नहीं पहचानता है और पर स्त्री समझकर उसकी ओर ध्यान पूर्वक नहीं देखता है। ये सब एक जनतान्त्रिक एवं न्यायप्रिय राज्य व राजा के लिए आवश्यक गुण हैं ऐसे ही राजा जनतांत्रिक मूल्यों की रक्षा कर पाते हैं- **''अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्''**[2] नैतिक गुणों से ओत-प्रोत नायक का चरित्र सामाजिक चेतना की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार इस नाटक की नायिका शकुन्तला का चरित्र भी समाज में नवीन चेतना का शंखनाद करता है। शकुन्तला राजा दुष्यन्त के साथ-साथ प्रकृति से भी घनिष्ठ प्रेम करती है तथा प्रकृति पुत्री की भाँति प्रतीत होती है। वृक्षों, वनस्पतियों और वन्य जीवों से अपनत्व तथा ममता का अनुभव करती है - **''अस्ति मे सोदरस्नेहोऽत्येतेषु''**[3] वह प्रकृति प्रेमी नायिका है। आश्रम के वृक्षों का सिंचन करने के उपरान्त ही वह स्वयं जलपान करती है-

''पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या, नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूति समये यस्या भवयुत्सवाः, सेयं याति शकुन्तला पति गृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।''[4]

शकुन्तला अलंकार प्रेमी होने पर भी वृक्षों के नवीन पत्ते नहीं तोड़ती थी, जब पुष्पों का उद्गम होता था तब शकुन्तला उत्सव के समान मनाती थी। यहां महाकवि कालिदास द्वारा पर्यावरणीय चेतना को उदित करते हुये मानव तथा प्रकृति के बीच गहरे प्रेम संबंध को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। तथा मानवीय मूल्यों व नैतिकता की नवीन पराकाष्ठा को जन्म दिया है। ऐसा संस्कृत साहित्य में अन्यत्र कहीं और परिलक्षित नहीं होता है कि नायिका अपने पतिगृह को जाते हुये वृक्षों, वनस्पतियों, जीवों आदि से स्वीकृति प्राप्ति की आशा रखती है । 'विक्रमोर्वशीयम्' एक त्रोटक कोटि का नाटक है। जिसका कथानक चंद्रवंशीय राजा पुरुरवा तथा अप्सरा उर्वशी के चारों तरफ घूमता नजर आता है। इस रूपक में भी जन-चेतना, जन-व्यवहार, आपसी प्रेम तथा सौहार्द्र पात्रों के बीच देखने को मिलता है। प्रथम अंक में जब अप्सराएं कुबेर के भवन से लौटती हुई रक्षा के लिए पुकारती हैं तो रथ में बैठा राजा पुरुरवा आश्वासन देकर पूछता है कि किसकी रक्षा करनी है। तब अप्सरायें उसे सूचित करती हैं कि हमारी प्रिय सखी उर्वशी को केशी नामक राक्षस अपहरण कर ले गया है तो राजा बिना कुछ सोचे-समझे उर्वशी की रक्षा हेतु निकल पड़ता है तथा दैत्यों को पराजित करके उर्वशी की सुरक्षा करता है। यहाँ एक जनतान्त्रिक एवं प्रजातान्त्रिक राजा के आदर्श रूप को दिखाया गया है जिसका मुख्य ध्येय केवल अपना व्यक्तिगत सुख न होकर प्रजातान्त्रिक सुख है। सबके सुखमय जीवन में ही एक राजा का सुखमय जीवन निहित है। उस समय का आपसी जन व्यवहार कितना सौहार्द्रपूर्ण था जो एक ऐसे आदर्श समाज का निर्माण करने में सहायक है। हर व्यक्ति जहां एक- दूसरे की मदद के लिए सदैव तत्पर रहते थे। प्रेम पूर्वक रहकर अपने जीवन का निर्वहन करते हुए यहाँ लोगों के बीच किसी प्रकार की ईर्ष्या द्वेष का कोई स्थान नहीं था। महाकवि कालिदास एक ऐसे सभ्य समाज के निर्माण की ओर संकेत करते हैं। जिसमें चैतन्यता तथा राष्ट्रीयता का भाव निहित है। इसी प्रकार पाँचवें अंक में च्यवन ऋषि के आश्रम में निवास करता हुआ पुरुरवा तथा उर्वशी के पुत्र कुमार आयु द्वारा एक गृध्र को मारकर आश्रम के प्रतिकूल आचरण किया जाता है। तो तापसी ऋषि की आज्ञा से उसे उर्वशी को सौंपकर चली जाती है- **''अद्य पुष्पसमिदर्थमृषिकुमारे कैः, गतेनानेनाश्रम विरूद्धमाचरितम्।''**[5] किसी जीव की हत्या हिंसा का साधक मानी जाती है और साथ ही हमारे प्राकृतिक वातावरण पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। इस दृष्टान्त से महाकवि कालिदास ने उस समय की समान में नवीन चेतना का संचार किया तथा प्राणियों के अंदर वन जीव संरक्षण की भावना का उदय करने में अपनी महती भूमिका का निर्वहन किया और इस सिद्धान्त को दृढ़ता प्रदान की। किसी जीव की हत्या हिंसा का साधक मानी

जाती है, साथ ही हमारे प्राकृतिक वातावरण पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। इस दृष्टान्त से महाकवि कालीदास ने उस समय के समाज में नवीन चेतना का संचार किया तथा प्राणियों के अंदर वन्य जीव संरक्षण की भावना का उदय करने में अपनी महती भूमिका का निर्वहन किया और इस सिद्धान्त को दृढ़ता प्रदान की-

''अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः। अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते।''[6]

इसी तरह मालविकाग्निमित्रम् महाकवि कालिदास द्वारा विरचित एक महत्वपूर्ण नाट्यकृति है जो ऐतिहासिक पात्रों से परिपूर्ण है तथा उस समय की सामाजिक अवस्थाव का चित्रण इस कृति में देखने को मिलता है। राजा अग्निमित्र अपने शत्रु विदर्भ नरेश को आक्रमण योग्यघ समझता है। अपना निर्णय कर चुकने के पश्चात् मन्त्री की भी सम्मति पूछता है। राजा को संदेह होता है कि मेरा निर्णय शायद मन्त्री के विचारों से न मिले और शायद वह राजनीति शास्त्र के अनुकूल न हो। राजा का ऐसा विचार करना राजकीय चेतना की ओर संकेत करता है क्योंकि राजा अग्निमित्र का मानना है कि राजतंत्र की सफलता राजा और मंत्रियों के द्वारा सर्वसम्मति से लिये गये निर्णय पर आधारित होती है। उस समय का राजतंत्र नीति-अनीति तथा शास्त्रों की पृष्ठभूमि पर पल्लवित होकर राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत था। राजा यज्ञसेन और माधवसेन दोनों भाईयों के दो पृथक -पृथक राज्य स्थापित करना चाहता है। जिससे वे दोनों परस्पर बाँटकर इस तरह शासन करें। जैसे कि चन्द्र और सूर्य बाँटकर रात और दिन पर शासन किया करते है।

''तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टामुत्तर दक्षिणे, नक्कतं दिवं विभज्यों भौ शीतोष्णतकिरणाविव।''[7]

भारत की महान संस्कृति एवं जनचेतना के संवाहक के रूप में कालिदास सदैव संस्कृत साहित्य में याद किये जाएंगे। विश्व साहित्य पटल पर महाकवि कालिदास का योगदान अतुलनीय है, उनके द्वारा प्रदत्त साहित्य अद्वितीय है जिसमें तत्कालीन समाज का चित्रण बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। प्रायः देखा गया है कि वर्तमान समय में व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में अनेकानेक समस्याओं से ग्रसित हो रहा है और उन सभी समस्याओं का मूल कारण उसकी मूल प्रवृत्तियाँ, जीवन व्यवहार और जागरूकता का अभाव है। व्यक्ति तथा जन समुदाय को जागरूक करने हेतु सरकार द्वारा भी समय-समय पर जागरूकता संबंधी अभियान चलाये जाते हैं जो कई शताब्दियों पहले महाकवि कालिदास ने अपने साहित्य के माध्यम से तात्कालिक समाज के समक्ष संदेश को प्रस्तुत किया था। जिससे समाज में एक नवीन चेतना के विकास को बल मिला है और आज वर्तमान समय में इनके रूपकों के कथानक तथा पात्र दोनों, समाज तथा जनसमुदायों को एक नवीन दिशा की ओर सोचने पर विवश कर रहे हैं। कालिदास लोकचेतन के महाकवि थे वे राजतंत्रात्मक व्यवस्था में होने के बावजूद भी प्रजातान्त्रिक मूल्यों में गहरी आस्था रखते थे। जनमानस अपनी लोक संस्कृति तथा लोक व्यवहार के प्रति सजग होता है। वह कालिदास जैसे महनीय कवियों से सदा प्रेरणा लेता रहेगा तथा व्यक्ति मानव मूल्यों को समझकर जीवन पथ पर अग्रसर होता रहेगा।

सन्दर्भ -

1. *अभिज्ञानशाकुंतलम्, 1/10*
2. *वही, 5/36*
3. *वही, 1/48*
4. *वही, 4/9*
5. *विक्रमोर्वशीयम्, 5/पृ. 258*
6. *महाभारत अनुशासन पर्व, 17*
7. *मालविकाग्निमित्रम्, 5/13*

17

कालिदास के दृश्य-काव्यों में शकुन-अपशकुन

बाबूलाल मीना

महाकवि कालिदास की तीनों नाट्य कृतियों में शुभाशुभ या शकुन-अपशकुन विषयक संकेतों को देखें तो विशेषरूपेण स्त्री-पुरुष के शारीरिक लक्षणों एवं अंग विशेष के संकेतों या क्रियाओं से भावी शुभ-अशुभ को व्यक्त किया गया है और वह निरर्थक नहीं, वरन् सर्वथा सार्थक या फलदायी देखा गया है। इस आधार पर उनका शास्त्रीय ज्ञाता होना भी सिद्ध होता है, तो वहीं शकुन शास्त्रीय मान्यता का पोषण व औचित्य भी सिद्ध होता है। यथा- अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के प्रारम्भ में मृगया के दौरान नायक राजा दुष्यन्त महर्षि कण्व के आश्रम स्थान में जाते हैं, तो उस समय शुभ शकुन होता है[1] - वहाँ उनकी दक्षिण भुजा फड़कने लगती है, जो कि पुरुष के लिए स्त्रीरत्न की प्राप्ति होने का संकेत है। हालाँकि उस शान्त तपोवन में आश्रम स्थान में ऐसी कोई सम्भावना नहीं की जा सकती, तथापि यह शुभ शकुन पूर्णतः शकुन शास्त्र की प्रमाणिकता और उसकी सटीक गणना को परिपुष्ट करने वाला सिद्ध होता है। जैसा कि इस अवसर पर राजा दुष्यन्त का कथन है -

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य। अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।।[2]

अर्थात् यह आश्रम स्थान पूर्ण शान्त है और मेरी दाहिनी भुजा फड़क रही है। यहाँ इसका फल कैसे प्राप्त हो सकता है अथवा अवश्यम्भावी बातों के लिए अर्थात् होनी के लिए सर्वत्र ही द्वार होते हैं। यहाँ तात्पर्य है कि यद्यपि आश्रम स्थान शान्तिप्रधान तपस्वियों का निवास स्थान है, अतः यहाँ शृंगार प्रधान लोगों अथवा सुन्दर स्त्रीरत्न की प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु शकुन शास्त्र के अनुसार पुरुष का दक्षिण भुजा का फड़कना सुन्दर स्त्री की प्राप्ति का सूचक या संकेत है। यथोक्तम् 'अद्भुत सागरे - वामेतरकरस्पन्दो वरस्त्रीलाभसूचकः।[4] तपोवन स्थान में यह असम्भव प्रतीत होता हुआ भी नायक दुष्यन्त को सम्भव लगता हैं, क्योंकि उनके अनुसार शकुन शास्त्र मिथ्या नहीं हो सकता और दूसरा अवश्यम्भावी बातें सदैव होकर ही रहती हैं। इस प्रकार यहाँ महाकवि कालिदास की शकुन शास्त्रीय तथा भाग्य या भवितव्यता की पुष्ट अवधारणा व्यक्त हुई है, जो कि फलित भी होती है। क्योंकि इसी आश्रम स्थान में सुन्दर स्त्री-नायिका शकुन्तला का दर्शन व मिलन नायक दुष्यन्त को होता है।

इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक में भी पुरुष की दक्षिण भुजा स्पन्दन को शुभ शकुन के रूप में बतलाया गया है। नाटक के तृतीय अंक मे कामपीड़ित नायक राजा पुरूरवा अपनी प्रेयसी उर्वशी से मिलन सुख में बार-बार विघ्न पड़ जाने से व्यथित है।[5] ऐसे में मित्र विदूषक राजा पुरूरवा को उसकी प्रेयसी उर्वशी से जल्द

ही मिलन होने की आशा बँधा रहा है।[6] इसी दौरान राजा शुभ शकुन सूचित करता हुआ कहता है कि तुम्हारे (विदूषक के) आाशाजनक वचनों के समान ही यह मेरा दाहिना हाथ भी स्पन्दित होकर धीरज बँधा रहा है अर्थात् उर्वशी से मिलन की आशा जगा रहा है -

वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथम्। अयं मां स्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः।।[7]

यहाँ भी नायक का यह दक्षिण बाहु स्पन्दन रूप शुभ संकेत पूर्णतः फलदायी सिद्ध होने से शकुन शास्त्रीय अवधारणा को पुष्ट करता है, क्योंकि आगामी समय में अर्थात् शीघ्र ही पुरूरवा-उर्वशी का मिलन हो जाता है।[8] और राजा पुरूरवा का पुरुष का वह दाहिनी भुजा फड़कने का शुभ शकुन फलीभूत हो जाता है।

शुभ अंगों का स्फुरण शकुन स्वरूप माना गया है, जिसका कई स्थानों पर उल्लेख महाकवि कालिदास ने स्पष्टतः शुभाङ्गस्फुरण का कथन करते हुए उसे अर्थपूर्ण अर्थात् फलदायी रूप में प्रस्तुत किया है। विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय अंक में प्रेयसी उर्वशी से मिलन के लिए उतावले और काम पीड़ित हुए राजा पुरूरवा शुभाङ्गों के स्फुरण को शुभ शकुन स्वरूप मानकर आश्वस्त होता है कि यह संकेत अवश्यमेव कुछ न कुछ अर्थ रखता है; क्योंकि उसका मानना है कि कामदेव की यह चेष्टा जो कि उसके अङ्ग स्फुरण के रूप में अभिव्यक्त हो रही है, यह व्यर्थ नहीं हो सकती। इससे उसका मन ऐसा आश्वस्त और शान्त हो जाता है कि वह मानता है कि मानो अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति होने ही वाली है- **राजा- (निमित्तं सूचयित्वा। स्वगतम्।)**[9] **न सुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम्। अभिमुखीष्विव काङ्क्षितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः।।**[10] और इसके अगले ही पल आकाशमार्ग से उर्वशी व चित्रलेखा प्रवेश करती हैं -''**(ततः प्रविशत्याकाश्यानेनोर्वशी चित्रलेखा च।)**''[11] इस प्रकार सर्वत्र शकुन या शुभ संकेत निष्फल व व्यर्थ नहीं, वरन् सार्थक और फलदायी होते हैं और इसीलिए सदैव से जनमानस पर ये अपना प्रभाव व विश्वास बनाए हुए हैं। शरीराङ्गों को सूचित होने वाले विभिन्न संकेत, सूचनाएँ अथवा निमित्त शुभ एवं अशुभ-दोनों प्रकार के होते हैं। स्त्री के दाहिने नेत्र का फड़कना अमंगलकारी अथवा अशुभ माना जाता है, जिसका कुफल या अनिष्टकारी फल के रूप में परिणाम प्राप्त होता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त द्वारा गन्धर्व विवाहोपरान्त पतिगृह आई हुई नायिका शकुन्तला अपने पति दुष्यन्त के समक्ष प्रस्तुत होती है, तो इससे ठीक पहले उसका दाहिना नेत्र फड़कने लगता है, जो कि उसके भावी अमंगल का सूचक है - ''**शकुन्तला (निमित्तं सूचयित्वा) अहो, किं मे वामतेरं नयनं विस्फुरति**?[12] तब उसका हित चाहने वाली गौतमी इस अमंगल के विनष्ट होने की कामना करती हुई शकुन्तला के सुख का आशीर्वाद देती हुई कहती है - ''**गौतमी - जाते, प्रतिहतमङ्गलम्। सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु।**[13] अर्थात् पुत्री, अमङ्गल विनष्ट हो। पतिगृह के देवता तुझे सुख प्रदान करें - इस प्रकार यहाँ गौतमी की शुभकामनाएं देखी गई हैं। परन्तु चूँकि शकुन शास्त्र वह ज्योतिषीय आकलन है, जो कि कभी निष्फल या व्यर्थ नहीं होता और उसका निश्चित परिणाम अवश्यमेव भोगना ही पड़ता है, अतः यहाँ गौतमी का शुभाशीर्वाद भी इस अमङ्गल के परिणाम को रोक नहीं पाता और शकुन्तला के दाहिने नेत्र फड़कने के अशुभ परिणाम के रूप में उसके पति राजा दुष्यन्त द्वारा उसे न तो पहचाना जाता है और न ही उसे पत्नी रूप में स्वीकार किया जाता है - यह अनिष्टकारी परिणाम इस अपशकुन का देखा जाता है। लोक में भी प्राचीन परम्परा से चले आए इन शकुन-अपशकुनों के सदैव सटीक घटित होने के कारण आज आधुनिक युग में भी जनमान्यता और विश्वास इन पर बना हुआ देखा जा सकता है - यह हमारी शास्त्रीय आस्था को भी पुष्ट करता है तथा शास्त्रों के औचित्य व सार्थकता को भी बतलाता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के अंत में एक बार पुनः पुरुष की

दक्षिण बाहु स्पन्दन रूप शुभ शकुन का सुखद परिणाम सामने आता है। जहाँ सप्तमो·ङ्क में नायक राजा दुष्यन्त शुभ शकुन का व्यक्त करता है- ''राजा- (निमित्तं सूचयित्वा।)''-

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा। पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते।।[14]

यहाँ भी शकुन-बाहु फड़कने के परिणामस्वरूप स्त्री मिलन (शकुन्तला) की कोई सम्भावना व आशा नहीं है, किन्तु ऐसा फल प्राप्त करने वाला शकुन हो रहा है। अतः नायक दुष्यन्त कहता है कि बाहो ! मनोरथ की पूर्ति अर्थात् शकुन्तला मिलन की मैं आशा नहीं करता हूँ, तुम व्यर्थ ही क्यों फड़क रही हो ? क्योंकि पहले तिरस्कृत किया हुआ कल्याण दुःख रूप में परिणमित हो जाता है। यहाँ शकुन्तला मिलन की कोई आशा या सम्भावना न होने पर भी राजा दुष्यन्त का यह शकुन फलीभूत होता है, क्योंकि अन्त में स्त्रीरत्न -शकुन्तला की प्राप्ति होती है।

शरीराङ्गों के लक्षणों, संकेतों तथा क्रियास्पन्दनों के अतिरिक्त अन्य बहुत से शुभ संकेत व चिह्न शकुन स्वरूप तथा अशुभ संकेत या चिह्न, निमित्तादि अपशकुन स्वरूप होते हैं। उनका भी उल्लेख कालिदास की नाट्यकृतियों में हुआ है। यथा- विक्रमोर्वशीयम् के प्रथम अंक में राजा पुरूरवा के मृगचिह्नाङ्कित पताका वाले रथ को देखकर इसे शुभ शकुन स्परूप मानते हुए मेनका नामक अप्सरा रम्भा नामक अप्सरा से कहती है कि राजा पुरूरवा निश्चयमेव युद्ध में विजयी होकर लौट रहे हैं, क्योंकि इस प्रकार के शुभ शकुन यही सूचित कर रहे हैं - ''सख्यः समाश्वसित समाश्वसित। एष उल्लसित हरिणकेतनः तस्य राजर्षे सोमदत्तो रथो दृष्यते। नैषः अकृतार्थः प्रतिनिवर्तिष्यत इति तर्कयामि। (निमित्तं सूचयित्वालोकयन्त्यः स्थिताः)[15] और वास्तव में ये शकुन सत्य सिद्ध होते हैं, क्योंकि राजा पुरूरवा युद्ध में विजयी होकर लौटते हैं।

मालविकाग्निमित्रम् में भी कार्यसिद्धि के विषय में तथा कार्यों में विघ्न उपस्थित होने के विषय में पूर्व में शङ्का, शुभ-अशुभ शकुन तथा निमित्त सूचकों का संबंध मानव के मनोविज्ञान से जोड़ा गया है तथा मानव हृदय से उसकी सम्बद्धता बतलाई गई है। अनेक बार इच्छित वस्तु को पाने के लिए अत्यन्त उपाय करने पर भी कार्यसिद्धि के विषय में मानवहृदय में शंका बनी रहती है[16] और अन्तिम क्षण में बने-बनाये कार्य में कोई न कोई विघ्नबाधा आ जाती है, परन्तु कुछ ऐसे संकेत, जो शुभ या शकुन स्परूप होते हैं, वे कार्यसिद्धि को निश्चित कर देते हैं। शास्त्रज्ञ ज्योतिषियों द्वारा अनिष्टकारी ग्रहों की शान्ति हेतु उपायों का विधान ऐसी स्थिति में मंगल प्रदायक सिद्ध होता है तथा शुभ संकेत भावी मंगल या कार्यसिद्धि को पुष्ट करने वाले होते हैं, जैसा कि मालविकाग्निमित्रम् में विदूषक द्वारा राजा अग्निमित्र के समक्ष अनिष्ट के निवारणार्थ उपाय बतलाया जाता है-''भणितं मया। दैवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा। सोपसर्गं वो नक्षत्रम्। तदवश्यं सर्वबन्धनमोक्षः क्रियतामिति।[17]

शकुन-अपशकुन निश्चयमेव मनुष्य के हृदय की आशा को तथा भावी परिणाम को सुनिश्चित करने वाले सिद्ध होते हैं कि अमुक कार्य सम्पन्न होगा अथवा नहीं। महाकवि कालिदास ने शकुनशास्त्रीय मान्यता को अपने नाटकों में पूर्णतः परिपुष्ट तथा फलीभूत होते दिखलाया है, साथ ही अन्ध आस्था से भी बचा गया है और निःसारवान के प्रति जनमानस का परिमार्जन किया है, जिन बातों का कोई औचित्य नहीं होता। यथा - यदि कोई इस व्यर्थ की मान्यता को या भ्रम को पाले कि मेढकों के टर्र-टर्र बोलने से ही पृथ्वी पर मेघ वर्षा करते हैं तो ऐसा कदापि नहीं होता - ''दर्दुरा व्याहरन्तीति किं देवः पृथिव्यां वर्षितुं, विरमति।''[18] यहाँ स्पष्टतः वहा गया है कि मेंढक टर्र-टर्र बोलते हैं तो क्या इसी के लिए मेघ पृथ्वी पर जलवृष्टि के लिए रुक जाते हैं अर्थात् ऐसा नहीं होता। तो इस प्रकार मेढकों का टर्राना वर्षा का सूचक या संकेत नहीं है - यह आशय है। इस प्रकार महाकवि

कालिदास की नाट्य-कृतियों में अनेक स्थलों पर शुभ-अशुभ रूप फलीभूत होने वाले शकुन-अपशकुनों को व्यक्त किया गया है।

महाकवि कालिदास के तीनों दृश्य-काव्यों में जो शकुन-अपशकुन विषयक अवधारणा मिलती है, उससे ज्ञात होता है कि कवि शकुन-शास्त्र से पूर्णतः भिज्ञ तो ही थे, तो वहीं लोकस्वभाव से भी। विभिन्न अवसरों पर शरीराङ्गों के संकेत तथा क्रियाएँ एवं अन्यान्य वस्तुओं के संकेत शुभ-अशुभ रूप होते हैं, उनके परिणाम भी निश्चित रूपेण शुभ-अशुभ होते हैं - यह अवधारणा हमारे परम्परागत शास्त्रों की प्रमाणिकता व विश्वसनीयता को व्यक्त करती है, साथ ही हर युग में शुभाशुभ-शकुनापशकुन की सटीक गणना या आकलन को दर्शाती है, क्योंकि इनके परिणाम सदैव शत-प्रतिशत सार्थक या फलदायी देखे गए हैं। अतः महाकवि कालिदास की शकुन-अपशकुन विषयक अवधारणा व विवेचन शास्त्रों, मानव-मन और लोकस्वभाव के अनुरूप होने से पूर्णतः सटीक व औचित्यपूर्ण है।

सन्दर्भ -

1. *अग्निमहापुराण, अध्याय 229-232*
2. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अंक, पृष्ठ 80 पर गद्य पंक्ति-"राजा (परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम्। यावत् प्रविशामि। (प्रविश्य, निमित्त सूचयन)"*
3. *वहीं, 1/14*
4. *वहीं, पृष्ठ -81 पर उल्लेखित*
5. *विक्रमोर्वशीयम्, 3/8*
6. *वहीं, 3/8 के बाद गद्य पंक्ति।*
7. *वहीं, 3/9*
8. *वहीं, 3/16 तथा उसके बाद गद्य पंक्ति, पृष्ठ - 157*
9. *वहीं, 2/9 से पूर्व की गद्य पंक्ति, पृष्ठ-72*
10. *वहीं, 2/9*
11. *वहीं, 2/9 के बाद गद्य पंक्ति, पृष्ठ -73*
12. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5/11 के बाद गद्य पंक्ति, पृष्ठ 268*
13. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5/11 के बाद गद्य पंक्ति, पृष्ठ 268*
14. *वहीं, 7/13*
15. *विक्रमोर्वशीयम् 1/16 से पूर्व की गद्य पंक्तियाँ, पृष्ठ 16*
16. *मालविकाग्निमित्रम् 4/5 "इष्टाधिगमनिमित्तं प्रयोगमेकान्त .... कातरमाशङ्कते हृदयम्।)"*
17. *वहीं, 4/5 के बाद गद्य पंक्तियाँ, पृष्ठ 121*
18. *वहीं, 4/16 के पूर्व की गद्य पंक्ति, पृष्ठ 140*

18

मालविकाग्निमित्रम् में हाशिये के लोग

रामहेत गौतम

सामाजिका भवामः[1]

महाकवि कालिदास ने समाज पद का प्रयोग सहभागिता के अर्थ में किया है। सम्राट अशोक के अभिलेखों में भी समाज शब्द का प्रयोग सामूहिक आयोजनों के लिए ही हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि समाज शब्द का प्रयोग मानवों के सामूहिकता में रहकर सर्वतोन्मुकी विकास की ओर अग्रसर होने के स्थिति के लिए होता रहा है। इसी सामाजिकता के लिए भारतीय मनीषा में त्याग पूर्वक भोग की भावना पर जोर दिया जाता रहा है। जब समाज में स्वार्थ बढ़ जाता है तो ताकतवर व युद्ध विजेता पराजितों को या तो मार डालते रहे हैं या फिर उन्हें अपनी शर्तों पर जीने के लिए मजबूर करते रहे हैं। जो कोई व्यक्ति इन शर्तों के विरुद्ध आवाज उठाया उसे वहिष्कृत कर समाज की मुख्य धारा से अलग-थलग कर दिया गया है। जैसे कि मालविकाग्निमित्र में मालविका के बड़े भाई माधवसेन को उन्हीं दायादों ने उन्हें बन्दी बना लिया। परिव्राजिका पण्डित कौशिकी के अग्रज सुमति जो कि मालविका के बड़े भाई विदर्भराज माधवसेन के मंत्री मालविका व कौशिकी को सुरक्षित रूप से अग्निमित्र का संरक्षण पाने के लिए विदिशा की ओर निकल पड़ने पर रास्ते में तूणीरपट्ट बंदे बाहुओं वाले, पैरतक लटकते मोरपंखों से सज्जित धनुर्धारी दस्यु (आदिवासी) सैन्य दल द्वारा घेर लिए जाने पर तथा मालविका पर हमला होने पर स्वामी ऋण को चुकाते हुए आत्मबलिदानी हो गये।[2] इस सत्य को जानकर राजा अग्निमित्र कहते हैं कि- अहो परिभवोपहारिणो विनिपातः कुतः-

प्रेष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती। स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्ण वोपयुज्यते।।[3]

अर्थात् भाग्य बड़ी-बड़ी आफतें खड़ी कर देता है। देखो तो मालविका देवी पद के योग्य होते हुए भी दासीभाव में रहना पड़ रहा है। मानो बहुमूल्य रेशमी वस्त्र स्नानकालिक वस्त्र के रूप में काम में लाया जाता है। इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि पराजित लोग हाशिए पर चले जाते रहे हैं। संभव है कि समय के साथ सत्ता की पुनर्प्राप्ति पर पुनः समाज की मुख्य धारा में कुछ लोग आ जाते रहे हों पर सभी के साथ ऐसा हुआ हो यह असम्भव है। निश्चित ही ऐसे लोग कालान्तर में पीढ़ियों तक हाशिए की जिन्दगी जीते रहे हों। बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर ने अछूत कौन थे में कहा है कि वर्तमान के अछूत पुरा काल में बौद्ध थे जो प्रतिक्रान्ति के दौर में अछूत हो गये। कोई जन समूह सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से समाज के संगठित हिस्से अलग-थलग कर दिया जाकर जीने के लिए संघर्ष कर रहा हो। समाज के मुख्य संगठित समाज को मिलने वाले शिक्षा, स्वास्थ्य,

सम्मान, समृद्धि, न्याय की समता के विशेषाधिकारों व लाभों से वंचित कर दिया जाता है। इन अनेक वंचनाओं के साथ उपेक्षित जीवन जीने वाला समाज हाशिए का समाज कहलाता है।

इन वंचनाओं को सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक पहलू व प्रभाव होते हैं। जहाँ एक ओर मुख्य धारा का समाज पूर्णतः लाभ में रहता है वहीं दूसरी ओर इन वंचनाओं से पीड़ित समाज हमेशा दलित व दमित जीवन जीने के लिए बाध्य रहता है। ये वंचनाएं विधि का रूप पाकर सत्ताओं के द्वारा वंचित समाज को मुख्य धारा के सामाजिकों के द्वारा मनमाने तरीके से दण्डित कर उत्पीड़ित करने के विशेषाधिकार से समाज के सर्वांगीण विकास की उपेक्षा का कारण बन जाती हैं। भारतीय साहित्य भारतीय समाज का ही दर्पण है। पुरा साहित्य से वर्तमान साहित्य तक अपने काल विशेष के घटनाक्रमों से युक्त है।

महाब्राह्मण- मालविकाग्निमित्र 2.10 के बाद गणदासः - महाब्राह्मण, न खलु प्रथमं नेपथ्यसवनमिदम्। अन्यथा कथं त्वां दक्षिणीयं नार्चयिष्यामि।

साहित्य के पात्रों के जीवन पाठकों व स्रोताओं के आस-पास के सामाजिक वातावरण को प्रभावित किए विना नहीं रहते। संस्कृत साहित्य वर्तमान भारतीय साहित्य का उपजीव्य माना जा सकता है। कालिदास का साहित्य भारत ही नहीं विश्व में भी विश्रुत है। शैक्षणिक जगत कालिदास से अछूता नहीं है। कालिदास के रूपक लोक को कान्तासम्मित उपदेश से युक्त करते हैं। भरतमुनि ने भी कहा कि - त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। अर्थात् नाट्य एक ऐसी विधा है जिसमें तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन होता है। अतः इस आलेख में महाकवि कालिदास के रूपकों में हाशिए के लोगों पर विचार करने का उद्योग है।

इस विमर्श के दो छोर हैं- एक तो यह कि कवि के समय हाशिए पर रहने वाले लोग, दूसरा यह कि हाल हाशिए पर पाये जाने वाले लोग की कविसमय में क्या स्थिति थी। नाटक में उल्लिखित नामों से विवरण प्रस्तुत करने के साथ ये दोनों स्थितियाँ स्पष्ट हो जायेगीं। अतः प्राप्त विवरण कुछ इस प्रकार है-

नट- मालविकाग्निमित्र के पंचम अंक अशोक पूजन के समय कञ्चुकी प्रवेश करके सूचना देता है कि – **विजयतां देवः। देव, अमात्यो विज्ञापयति। विदर्भ-विषयोपायने द्वे शिल्पकारिके मार्गपरिश्रमादलघुशरीरे इति पूर्व न प्रवेशिते। संप्रति दैवोपस्थानयोग्ये संवृत्ते। तदाज्ञां देवो दातुमर्हतीति।**[4]

दोनों शिल्पिकन्याएँ संगीत कलादक्ष हैं। इनके द्वारा मालविका को संगीतकला शिक्षण की बात तथा दोनों के द्वारा मालविका को माधवसेन की छोटी बहिन के रूप में पहचानने पर देवी धारिणी के मुख से फूट पड़ता है कि–कथं राजदारिकेयम्। चन्दनं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम्। मालवि.5.9 के बाद देवी का कथन। अर्थात् क्या यह राजकुमारी हैं? चन्दन को हमने काष्ठपादुका बनाकर दूषित किया? इस कथन से यह ज्ञात होता है कि समाज में गायन-वादन करने वाले लोग समाज के अभिजात्यवर्ग के साथ होते हुए भी उनसे कमतर ही माने जाते थे। इतना ही नहीं जब राजा पूछता है कि तुम्हारी यर हालत कैसे हुई? तब भावुक होकर माधवसेन की सत्ता चले जाने के दुष्परिणाम को बताया। इससे यह भी ज्ञात होता है कि सत्ताओं के परिवर्तन के दुष्परिणाण अकेले राजघरानों पर ही नहीं पड़े होगें वल्कि जन सामान्य भी इससे अधिक प्रभावित हुआ होगा। बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर कहत हैं कि प्रतिक्रान्ति के दुष्परिणामस्वरूप अनेक जनसमुदाय संसाधन विहीन व दलित-दमित जीवन जीने के लिए वहिष्कृत कर छोड़ दिये गये। अगर हम आज के समय में हाशिए के लोगों पर विचार करें तो हम देखते हैं कि वर्तमान में नट जाति के लोग आज भी घुमन्तू जीवन जी रहे हैं। शासकीय योजनाओं व प्रयासों से कुछ बदलाव तो आ रहा है पर अपेक्षित परिणाम नहीं हैं। इस समुदाय की बात

कालिदास के रूपकों के संदर्भ में करें तो हम पाते हैं कि प्रत्येक नाटक में नट की वह समुदाय है जिस पर यह नाटक की विधा निर्भर करती है। नट का कार्य न तो ब्राह्मणों का है न क्षत्रियों का न ही वैश्यों का। नट इनसे भिन्न हैं। फिर भी कालिदास के समय में नट मुख्य समाज के हिस्सा रहे हैं। सम्पूर्ण अभिनय का कार्य नट लोगों का ही है।

वर्तमान उत्तर भारत में एक जाति समूह है जिसके स्त्री-पुरुष कलाबाजियाँ दिखाने व नाचने-गाने का कार्य करते हुए घुमक्कड़ जीवन जीते हैं। इस समुदाय के स्त्रियाँ भी शारीरिक सौष्ठव से युक्त तो होती हीं हैं साथ ही आंगिक हाव-भाव प्रदर्शन में भी माहिर होती हैं। आपने कभी न कभी देखा ही होगा कि कोई बच्चा छल्ले में से निकलने के कर्तव दिखा रहा है, कोई स्त्री रस्सी पर चल रही है, तथा कोई पुरुष भांति-भाति के कर्तव दिखा रहा है। लचीले अंग-प्रत्यंग के माध्यम से विभिन्न मुद्राओं को अभिनय के माध्यम से दिखाकर लोगों का मनोरंजन करके अपना पेट भरने वाले ये लोग समाज की मुख्य धारा से अलग हैं। इसका एक कारण यह समझ में आता है कि समय के साथ मनोरंजन के अन्य साधन विकसित होते चले गये। जो लोग समय के साथ शिक्षा पाकर अभिनय के बड़े-बड़े मंचो पर अभिनय करने लगे, राजाओं, धनकुबेरों के द्वारा होने वाली धनवर्षा से आकर्षित होकर अन्य सभी वर्गों के लोग अधिक उन्नत संसाधनों के साथ वर्तमान फिल्मसिटी बनाने में सफल रहे। बाद में फिल्म हाल में टिकट के माध्यम से मनोरंजन होने लगा। नट जाति के लोग शिक्षा व प्रशिक्षण की वारिकियों से अद्यतन होने से वंचित होते हुए हाशिए पर चले गये। यद्यपि आजादी के बाद संवैधानिक व्यवस्था में इन्हें अनुसूचित वर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। ताकि शिक्षा आदि के विशेष अवसर प्रदान कर इन्हें समाज की मुख्य धारा में लाया जा सके।

महाब्राह्मण - मालविकाग्निमित्र के द्वितीय अंक में मालविका की नृत्य प्रस्तुति के बाद विमर्श के समय गौतम (विदूषक) के कथन- पढमोवदेशदंसणे पढमं बम्हणस्स पूजा कादव्या। सा णं वो विसुमरिदा। (अर्थात् परीक्षा देते समय सबसे पहले ब्राह्मणपूजन करना होता है वह तो भूल ही गई।) तब परिब्राजिका के कथन– कैसा बढ़िया अभिनय विषयक प्रश्न है! (इतना सुनते ही सभी हंसने लगते हैं, मालविका भी मुस्करा देती है।) यहाँ विमर्श की बात तो यह है कि कालिदास के समय हर समय महाब्राह्मण को ब्राह्मण की अपेक्षा हीन माना जाता था। इसी अवसर पर गणदास भी विदूषक को कहता है कि – महाब्राह्मण, न खलु प्रथमं नेपथ्यसवनमिदम्। अन्यथा कथं त्वां दक्षिणीयं नार्चयिष्यामः। (अजी महाब्राह्मण, यह मेरा पहला प्रदर्शन नहीं है। यदि ऐसा होता तो अवश्य तुम्हारी पूजा की जाती। यह एक मजाकिया कथन है। मालविकाग्निमित्रम् के टीकाकार रामचन्द्र मिश्र ने महाब्राह्मण का ध्वनित अर्थ प्रतिग्रहपतितब्राह्मण अधम ब्राह्मण माना है।[5]

महाब्राह्मण मरने के बाद मृतक के सामान को लेने आदि के कारण, उसकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति शेष ब्राह्मणों के समान न होने के कारण वह हाशिए का जीवन जीने को मजबूर होता रहा है। कालिदास के समय में भी महाब्राह्मण हाशिए का जीवन जी रहे थे। आजादी के बाद भी उनकी स्थिति ऐसी ही रही। आज भी देश के विभिन्न हिस्सों में ये अछूत का जीवन जी रहे हैं। उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय कार्यरत पार्टी नाम के संगठन भी है टुन-टुन पाण्डेय जिसके अध्यक्ष हैं।

सूना -–मालविकाग्निमित्र के द्वितीय अङ्क राजा अग्निमित्र की मालविका के प्रति लालसा को देखकर राजा की तुलना बूचड़खाने (वधालय) के ऊपर मंडराते गिद्ध से करता हुआ कहता है कि–गहीदखणोम्हि। किं तु मेहाबली-णिरुद्धा जोणहाविअ पराहीण-दंसणा तत्तहोदी मालविआ। भवं वि सूणापरिसरचरो विअ गिद्धो

आमिसलोलुओ भीरुओ अ अच्चंतादुरो विअ कज्जसिद्धिं पत्थन्तो मे रोअसि।[6] अर्थात् मौका मिल गया। किन्तु मेघावृत ज्योत्स्ना के समान मालविका के दर्शन परायत्त हैं, आप भी बूचड़खाने के ऊपर मंजराने वाले गिद्ध की तरह मांस लुब्ध हैं किन्तु डरते हैं। आपका यह गिड़गिड़ाना मुझे बड़ा अच्छा लगता है। अब यहाँ विमर्श की बात यह है कि सूनापरिसर महाकवि के समय में उपलब्ध हैं तो स्वाभाविक है कि इन परिसरों में काम करने वाले लोग भी रहे होंगे। जो कि वध जैसे कार्य करने के कारण उनकी स्थिति भी अधम ही रही हो स्वाभाविक है। भारतीय समाज में ऐसे लोग हमेशा हाशिए पर ही रहे हैं।

प्रसाधक - मालविकाग्निमित्र के तृतीय अङ्क के 13वें छन्द से पूर्व बकुलावलिका द्वारा मालविका के पैर में महावर लगाती है। यहाँ गौर किया जाए तो हम पाते हैं कि राजमहलों की स्त्रियों को सजाने संवारने के लिए लोग रखे जाते थे। ये लोग शृंगार की सामग्री स्वयं ही तैयार करते रहे होंगे। आज भी हम देखते हैं कि पुराने किलों व गढ़ियों के आस-पास ऐसे लोगों की वस्तियाँ पायीं जाती हैं। इन वस्तियों में मीना बाजार होते हैं। पारंपरिक कलाकार समय के साथ प्रशिक्षण व अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के कारण दरिद्र होकर हाशिए पर चले गये। साथ ही प्रशासनिक उपेक्षा व सामाजिक विभेद के कारण ये लोग शोषण के शिकार हुए। वर्तमान में ऐसे जन समूह अनुसूचित जनजातियों जैसे कि राजस्थान के मीना आदि, अनुसूचित जातियों जैसे कि जुलाहे तथा जटिया आदि अथवा पिछड़ी जातियों जैसे कि मनिहारे आदि हैं। ये जनसमूह महाकवि कालिदास के समय में मुख्य समाज का हिस्सा रहे हैं। लेकिन कालान्तर में हाशिए पर आते चले गये।ये लोग उपहारों में दी जाने वाली सामग्री में सामिल हो गये। मालविकाग्निमित्र चतुर्थ अङ्क में सारसिक की सूचना के अनुसार महाराज अग्निमित्र के बीरसेन प्रभृति सैनिकों द्वारा विदर्भराज को बन्दी बनाकर माधवसेन को मुक्त करा दिये जाने पर माधव सेन अग्निमित्र के लिए कीमती रत्नों, हाथी, घोड़ों के साथ-साथ कारीगर कन्याएँ तथा दास भी उपहार में भेजते हैं। ये हाशिए के लोग ही हैं।

नाग - मालविकाग्निमित्र के चतुर्थ अङ्क के दूसरे श्लोक से पूर्व विदूषक कहता है कि –किं अवरं। मालविआ बउलावलिआ अ पादालवासं णिगलपदियो अदिट्ठसुज्जपादं णाग-कण्णआओ विअ अणुहोन्ति। (अर्थात् और क्या बतायें? मालविका और बकुलावलिका के पैरों में बेड़ियाँ डाल दी गईं तथा सूर्यकिरण दर्शन से वंचित वे दोनों लोग नागकन्याओं की तरह पातालवास का अनुभव कर रहीं हैं। यातनाभरे जीवन के विषय में जिन कन्याओं से साधर्म्य वर्णित किया गया है वे यातना का जीवनजीती नागकन्याएँ कौन हैं? झारखण्ड की संथाली जनजाति की कन्याएँ आज भी नाग कन्या के नाम से जानी जाती हैं। जम्बूद्वीप पर नागवंशी शासक भी रहे हैं। अनेक नागराजाओं ने बुद्ध को तथा बुद्ध के बाद उनके सिद्धान्तों को संरक्षित किया है। ऐसे अनेक कथानक साहित्य में प्राप्त होते हैं। माना जा सकता है कि पराजित राजाओं की कन्याएँ कैदीयों का जीवन जाती रहीं हों।

वैतालिक–मालविकाग्निमित्र के पंचम सर्ग के आरम्भ में नेपथ्य में वैतालिक गण नेपथ्य में आकर बात करते हैं। वामन शिवराम आप्टे ने इन्हें पिशाच कहा है। इनकी अपनी एक भाषा भी रही है वह है पैशाची भाषा। इस भाषा का साहित्य भी है। गुणाढ्य की मूल कथा इसी भाषा में है। इन सब से स्पष्ट है कि ये हाशिए के लोग थे इन्हें भूत, पिशाच आदि कहकर मूल समाज से दूर ही रखा गया। ये किस्से कहानियों के माध्यम से लोगों को डराने के लिए चर्चाओं में बने रहे।

दस्यु - मालविकाग्निमित्र के पञ्चम अङ्क के 10वें श्लोक में दस्युओं की पहचान बताते हुए परिब्राजिका द्वारा कहा गया है कि –

तूणीरपट्टपरिणद्ध-भुजान्तरालमापार्ष्णिलम्बिशिखिबर्हकलापधारि।
कोदण्डपाणि विनदत्प्रतिरोधकानामापातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम्।।

अर्थात् उसके बाद तूणीरपट्ट से दोनों बाहूमध्यों (भुजदण्डों) को कसे हुए, पैरों तक लटकने वाले मोरपंखों को कमर में बाँधे हुए, धनुष-वाण हाथों में लेकर मानो सामने आते ही खा जायेंगे ऐसे भयानक दस्युओं का सैन्य ललकारता हुआ अचानक सामने आ गया। इतना ही नहीं उनके साथ हुए युद्ध में परिब्राजिका का भाई सुमति मारा गया। यहाँ वर्णित ये दस्यु कौन हैं? जिनकी पहचान यहाँ बताई गई है वे और कोई नहीं वन्यक्षेत्रों में रहने वाले आदिवासी लोग ही हैं। ये हाशिए के लोग ही हैं।

इस प्रकार मालविकाग्निमित्र नाटक में मुख्य कथान में प्रसंगवश उल्लिखित होने वाले लोग न तो किसी कथा आदि के मुख्य पात्रों की भूमिका में आते हैं न ही समाज में सामाजिकों की सबकों समान भाव से सम्मान प्राप्ति वाले दायित्वों में नजर आते हैं। ये हाशिए के लोग हैं या तो तब हाशिए पर थे या फिर अब हाशिए पर हैं। या फिर हमेशा हाशिए पर रहे हैं। कुछ ने मुख्य धारा के समाज में आने की न तो तब कोशिश की न अब कर रहे हैं। लगता है कि वे मुख्यधारा के समाज के सुखास्वाद से अन्भिज्ञ बने हुए हैं। जो इस स्वाज को कभी न कभी कहीं न कहीं चख चुके हैं वे इसे पाने के लिए अपनी दावेदारी जताने लगे हैं। यह दावेदारी यूँ ही नहीं स्वीकार कर ली जाती पात्र्ता सावित करनी होती है। समाज से हाशिए पर आने के कारण खोजने होते हैं। ये कारण उभयपक्षी हो सकते हैं। जो कि शिक्षा व समझदारी से लोगों में जागृति से ही संभव है। अतः बृहदारण्यकोपनिषद् का प्रासंगिक वाक्य चिन्तनीय है -मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पित्रलोको, विध्या देवलोको, देवलोको वै लोकानाँ श्रेष्ठस्तस्माद् विद्यां प्रशंसन्ति।

सन्दर्भ –

1. *मालविकाग्निमित्र-1.21 के बाद राजा का कथन।*
2. *मालविकाग्निमित्र- 5.11*
3. *मालविकाग्निमित्र-5.12*
4. *मालवि.5.9 के बाद कंचुकी कथन।*
5. *मालविकाग्निमित्रम् व्याख्याकार- पं. श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखंबा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी पृ. 71*
6. *मालविकाग्निमित्रम्, 2.13 के बाद विदूषक का कथन।*

19

मालविकाग्निमित्रम् का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

रश्मि यादव

''अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः'' इस अद्भुत शक्ति से युक्त कवि मनोभावनाओं, अनुभवों, कल्पनाओं एवं मान्यताओं के आधार पर काव्य का सृजन करता है। कवि का काव्य उसके मनोवैज्ञानिक चिन्तन एवं कल्पना का प्रतिफल होता है। मनोविज्ञान मन का विज्ञान है जिसमें मनुष्य की मनःस्थिति एवं व्यवहार का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन किया जाता है। मनुष्य का व्यवहार उसकी मूल-प्रवृत्ति का प्रतिफल है। ये मूल-प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य के आचार-विचार को सर्वाधिक प्रभावित करती हैं। मानव जन्म से ही अपनी शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बिना सीखे सहज रूप से विविध प्रकार का व्यवहार आरम्भ कर देता है। विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करने के लिए बाध्य करने वाली जन्मजात प्रेरक शक्तियों को ही मनोविज्ञान में ''मूल-प्रवृत्ति'' से अभिहित किया जाता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'वुडवर्थ' के शब्दों में- 'मूल-प्रवृत्ति' क्रिया करने का बिना सीखा हुआ स्वरूप है। ड्रेवर ने मूल-प्रवृत्ति को Animal impulse" अर्थात् पशुउद्वेग और वेलेंटाइन ने ''जन्मजात प्रवृत्ति'' कहकर परिभाषित किया है। विलियम मैक्डूगल के अनुसार-''मूल-प्रवृत्ति वंश परम्परागत या जन्मजात मनोशारीरिक प्रवृत्ति है जो प्राणी को किसी निश्चित वर्ग की वस्तु को देखने, उसके प्रति ध्यान देने, उसे देखकर एक विशेष प्रकार की संवेगात्मक उत्तेजना का अनुभव करने और उससे संबंधित एक विशेष ढंग से कार्य करने या कम-से-कम इस प्रकार की क्रिया के आवेग को अनुभव करने के लिए बाध्य करती हैं''। मूल-प्रवृत्ति संवेदनात्मक उत्तेजना को अनुभव कराने वाली जन्मजात प्रेरक शक्ति है जो प्राणिमात्र में समानरूप से होती है। इन्हें वातावरण, अनुभव, बुद्धि और शिक्षा से परिमार्जित किया जा सकता है किन्तु नष्ट नहीं किया जा सकता है। विलियम 'मैक्डूगल' ने मूल-प्रवृत्तियों को चौदह वर्गों में विभक्त किया है। इन चौदह मूल प्रवृत्तियों में पलायन, युयुत्सा (युद्ध प्रवृत्ति), विकर्षण, पैतृक-प्रवृत्ति अथवा सन्तानोपत्ति, शरणागति या संवेदना, जिज्ञासा, काम-प्रवृत्ति, आत्म स्थापना, दैन्य, सामूहिकता, भोजनान्वेषण, संग्रह-प्रवृत्ति, रचना और हास्य अन्तर्निहित हैं। मूल-प्रवृत्ति व्यक्ति को परिस्थितियों का बोध कराके उसी के सापेक्ष विचार और आचरण करने के लिए प्रेरित करता हैं। वस्तुतः, इसके अन्तर्गत ज्ञानात्मक, भावनात्मक और क्रियात्मक तीनों पक्ष सम्मिलित हैं।

मालविकाग्निमित्रम् के पात्र प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। अभिजातवर्गीय राजा, राजकुमारी, रानी, सेनापति, अमात्य, गुरु इत्यादि को चित्रित किया गया है तो वहीं निम्नवर्गीय दास, दासी, सैनिक इत्यादि भी वर्णित हुए हैं। यदि कालिदास के पात्रों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो स्पष्टतया

परिलक्षित होता है कि कालिदास की काव्य-सर्जना मानवीय मनोभाव का निर्मल दर्पण है जिसमें सभी प्रकार के पात्रों की मनोवृत्ति अनायास ही प्रतिबिम्बित होकर जीवन्त हो गई है। मालविकाग्निमित्रम् में श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त इन रसों तथा अनेकानेक भावों के रूप में मूल-प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है।

मनोवैज्ञानिकों ने पलायन को प्रथम मूल-प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित किया है। यह मूल-प्रवृत्ति व्यक्ति के अन्तर्मन में विद्यमान भय की प्रतिक्रिया है। मनुष्य भयप्रद वस्तु, भयङ्कर आवाज, हिंसक पशु, भूत-प्रेत इत्यादि अन्ध परम्पराओं से आक्रांत होकर उनसे होने वाले अनिष्ट से बचने के लिए भागना, दौड़ना इत्यादि क्रियाएँ करता है। भयभीत होकर भागना ही पलायन है। पलायन की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से सभी प्राणी में सुषुप्तावस्था में निहित होती है और उसके अनुरूप परिस्थिति में प्रकट हो जाती है। मालविकाग्निमित्रम् में पलायन-प्रवृत्ति भयानक रस के रूप में वर्णित है। चतुर्थ अङ्क में विदूषक सर्पदंश का स्वांग रचकर विष-वेग का प्रदर्शन करते हुए कहता है कि ''पाप के कारण मृत्यु द्वारा पकड़ लिया गया हूँ तो कैसे भयभीत ना होऊं''? इस वृत्तान्त से राजा अग्निमित्र, रानी धारिणी आदि सभी चिन्तित हो जाते हैं। इसी प्रकार चतुर्थ अंक के अन्त में पीले बन्दर से डरी हुई राजा अग्निमित्र की पुत्री वसुलक्ष्मी का वर्णन है। जयसेना राजा को इसकी सूचना देती है। पञ्चम अङ्क में दस्यु दल के वर्णन में कालिदास ने भयानक रस का प्रयोग किया है।

''युयुत्सा'' का तात्पर्य युद्ध की प्रवृत्ति से है। इस मूल-प्रवृत्ति के कारण मनुष्य में क्रोध का भाव उत्पन्न होता है और वह विघ्नकारी शत्रु से युद्ध करने के लिए उद्धत हो जाता है। इस मूल-प्रवृत्ति की परिणति 'वीर' एवं 'रौद्र' रस के रूप में दिखायी देती है। मालविकाग्निमित्रम् में युयुत्सा मूल-प्रवृत्ति उस प्रसंग में दर्शनीय है जब विदर्भराज यज्ञसेन अग्निमित्र के सम्मुख यह प्रस्ताव भेजता है कि यदि राजा उसके साले मौर्य सचिव को छोड़ दे तब वह भी माधवसेन को मुक्त कर देगा। यह सुनकर अग्निमित्र क्रोधित हो जाता है तथा सेनापति वीरसेन के नेतृत्व में यज्ञसेन पर आक्रमण करके उसका समूल नाश करने के लिए सेना भेज देता है। इस नाटक में यवनों पर वसुमित्र की विजय का उल्लेख किया गया है। विदूषक, परिव्राजिका तथा कञ्चुकी राजा अग्निमित्र की विजय पर आह्लादित होकर उसके पराक्रम की प्रशंसा करते हैं। कञ्चुकी राजा को अजेय वीर कहते हुए इन शब्दों में उसका गुणगान करता है- ''नैतावता वीर-विजृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति। यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चौरग्नेरपांदग्धुरिवोरुजन्मा।।''

घृणा को भी मनोवैज्ञानिकों ने मूलप्रवृत्ति के अन्तर्गत वर्गीकृत किया है। अप्रियता अर्थात् किसी को पसन्द ना करना अथवा विकर्षणक अर्थात् आकर्षित ना होना 'घृणा' है। घृणा को निवृत्तिभाव से समझा जा सकता है क्योंकि मनुष्य घृणा को उत्पन्न करने वाली वस्तु से और व्यक्ति से दूर रहने का प्रयत्न करता है। मालविकाग्निमित्रम् की नायिका मालविका की मनोवृत्ति में युद्ध के प्रति घृणा का भाव दिखाई देता है। अत्यन्त कोमल हृदया मालविका यात्री दल और दस्यु दल के मध्य होने वाले युद्ध का वर्णन सुनकर युद्धादि के प्रति घृणा एवं भय से उद्वेलित हो जाती है। विदूषक उसकी इस अवस्था को देखकर कहता है-'भवति, मा बिभेहि। अतिक्रान्तं खलु तत्र भवती कथयति'।

इस भौतिक संसार में प्रायः सभी प्राणियों में सन्तानोत्पत्ति के प्रति आसक्ति परिलक्षित होती है। सन्तानोपत्ति अथवा 'पुत्र-कामना' मूल-प्रवृत्ति है जिसके प्रति मनुष्य में उत्कट उत्कण्ठा रहती है। इस प्रवृत्ति के कारण ही वात्सल्य भाव उत्पन्न होता है। पुत्र-कामना और संतानोत्पत्ति ही वह मूल-प्रवृत्ति है जिसके कारण

व्यक्ति सन्तान के जन्म की इच्छा करने, उनका भरण-पोषण करने, अनिष्टकारी तत्त्वों से उनकी रक्षा करने और सन्तान के हित में कार्य करने के लिए प्रेरित होता है। कालिदास के नाटकों में पितृसत्तात्मक समाज प्रतिबिम्बित हुआ है। इस कारण उनके नाटकों में पुत्री की अपेक्षा पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा अधिक मुखरित हुई है। मालिविकाग्निमित्रम् के पञ्चम अङ्क में रानी धारिणी के हृदय में विद्यमान पुत्रप्रेम उस प्रसंग में अभिव्यक्त हुआ है जब वह यवनों से युद्ध के लिए गये हुए अपने पुत्र वसुमित्र की कुशलता का सामाचार सुनने के लिए उत्कण्ठित रहती हैं और वात्सल्य भाव से युक्त होकर सोचती हैं- ''ततो मुखमेव नो हृदयम्। श्रोष्यामि तावद् गुरुजनस्य कुशलानन्तरं वसुमित्रस्य वृत्तान्तम्। अति घोरे खलु पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः।''

मनुष्य में विपरीत परिस्थितियों में युद्ध करने और अत्यंत जटिल परिस्थितियों से पलायन करने, ये दोनों प्रकार की मूल-प्रवृत्ति अन्तर्निहित होती है। साथ ही यदि मानवीय व्यवहार का सूक्ष्म परीक्षण किया जाय तो स्पष्ट है कि मनुष्य जब किसी परिस्थिति पर विजय प्राप्त करने में स्वयं को असमर्थ अर्थात् निर्बल समझने लगता है तो वह पलायन करके किसी शक्तिशाली व्यक्ति के शरण में जाकर स्वयं को सुरक्षित करने का प्रयत्न करता है। इस मूल-प्रवृत्ति को शरणागति कहते हैं जिसके कारण व्यक्ति स्वयं को निर्बल समझकर दूसरे से सहायता की याचना करता है एवं उसके समक्ष नतमस्तक होता है। शरणागति की यह प्रवृत्ति विदर्भराज माधवसेन के उस व्यवहार में प्रदर्शित होती है जिसमें वह अपने चचेरे भाई यज्ञसेन से पराजित होकर बन्दी बना लिये जाने पर अग्निमित्र की शरणागति प्राप्त करने के लिए उसके पास बहुमूल्य उपहार सहित अपना दूत भेजता है- ''दूतश्च तेन महासारणिरत्ना निवाहनानि शिल्पकारिका भूयिष्ठं परिजनमुपायनी—कृत्यभर्तुःसकाशं प्रेषित इति''।

नवीनता के प्रति उत्सुकता जिज्ञासा है। जिज्ञासा वह मूल प्रवृत्ति है जिसके कारण अद्भुत वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति आदि जो पहले देखी या सुनी ना गई हो उसके प्रति आश्चर्य का भाव उत्पन्न होता है। जिज्ञासा के कारण ही मनुष्य नवीन एवं अज्ञात के विषय में जानने के लिए उत्प्रेरित होता है। जिज्ञासा नवोन्मेष और आविष्कार की जननी है।''प्रज्ञानवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभामता'' और ''नवसर्गगते माघे नवशब्दोनना विद्यते'' इत्यादि उक्तियों के मूल में जिज्ञासा ही है। आश्चर्यभाव को उत्पन्न करने वाली मूल-प्रवृत्ति 'जिज्ञासा' कही जाती है। जिज्ञासा का अन्तर्भाव 'अद्भुत रस' के अन्तर्गत किया जा सकता है। मालविकाग्निमित्रम् में मालविका के सौंदर्य-निरूपण के प्रसंग में अद्भुत रस की अभिव्यक्ति होती है। अग्निमित्र चित्र में मालविका के अनुपम सौन्दर्य को देखकर उसके लिए जिज्ञासु हो जाता है और पहले ना देखी गई और नवीन होने के कारण बारम्बार महारानी धारिणी से उसके विषय में पूछने लगता है। रानी के द्वारा उत्तर ना दिये जाने पर उसकी उत्सुकता और बढ़ जाती है। वसुलक्ष्मी से परिचय प्राप्त करके उसके दर्शन के लिए जिज्ञासु हो जाता है। जब उसका प्रत्यक्ष दर्शन करता है तो उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कहता है- ''चित्रगतायामस्यांकान्ति विंसवादशङ्मिेहृदयम्। संप्रति शिथिलसमाधिंमन्ये चेनेयमा लिखिता''।

संसार के सभी प्राणियों में विपरीत लिङ्गी और सुन्दर वस्तु के प्रति स्वाभाविक आकर्षण का भाव दिखाई देता है जिसके कारण वह उस वस्तु अथवा व्यक्ति का साहचर्य प्राप्त कर लेने के लिए व्याकुल हो उठता है। इस कामुकता के भाव को उत्पन्न करने का मूलकारण 'काम-प्रवृत्ति' है। साहित्य में काम-प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति ''श्रृंगाररस'' के रूप में हुई है। मालविकाग्निमित्रम् श्रृंगारिक कृति है जिसका नायक अग्निमित्र एक कामी पुरुष के रूप में वर्णित है। अग्निमित्र और मालविका के परस्पर रतिभाव की अभिव्यक्ति ही इस नाटक

का मूल प्रतिपाद्य है। राजा अग्निमित्र, रानी धारिणी, इरावती और मालविका में काम-मनोविज्ञान दृष्टिगत होता है। कालिदास के तीनों नाटकों में पुरुष और स्त्री की काम-प्रवृत्ति का भरपूर विवेचन किया गया है। दुष्यन्त, पुरुरवा और अग्निमित्र तीनों नायकों और शकुन्तला, उर्वशी एवं मालविका इन तीनों नायिकाओं की काम-वेदना एक जैसी प्रदर्शित की गई है। अग्निमित्र मालविका के सौन्दर्य को चित्र में ही देखकर मुग्ध तथा उसे प्राप्त करने का अभिलाषी हो जाता है। जब वह नाट्याचार्य गणदास के साथ उपस्थित मालविका के सौंदर्य का प्रथम दर्शन करता है तो कामातुर हो विदूषक से कहता है-''दीर्घ नेत्रों वाली इस मालविका की मुख कान्ति चन्द्रमा की तरह है। कंधों से कुछ झुकी हुई दोनों भुजाएं, सघन एवं पीन होते हुए भी अति शोभित दोनों स्तन, स्निग्धपार्श्व, मुट्ठी में आने वाला कटि प्रदेश, पृथु एवं मांसल दोनों जंघाएं और नितम्ब तथा पांवों की लम्बी अंगुलियां श्रेष्ठ हैं। प्रतीत होता है कि इसकी देह-रचना नाट्य कला के अनुसार हुई है''। मालविका भी अग्निमित्र पर अनुरक्त है। वह गीत के माध्यम से अपनी काम भावना को प्रकट करती हुई कहती है कि ''हे हृदय ! प्रिय का मिलन दुर्लभ है, अतः मिलन की आशा नहीं है। फिर भी मेरी बाईं आंख फड़क रही है, उसे ही दीर्घ काल से देख रही हूं, कैसे उसे प्राप्त करूं। हे नाथ! यह समझ लो कि मैं पराधीना तुम में ही अनुरक्त हूं''। अग्निमित्र नृत्य करती हुई मालविका की सहज-सरल चितवन को देख-देखकर मुग्ध हो जाता है। कामी जनों का हृदय अस्थिर और चंचल होता है। वह न तो स्वयं पर और ना ही अपने प्रेमी पर विश्वास कर पाते हैं। काम-प्रवृत्ति के इस पक्ष की मनोविज्ञान परक सूक्ष्म विवेचना उस पद्य में द्रष्टव्य है जिसमें अग्निमित्र विदूषक से कहता है- ''हे मित्र! मालविका नयन पथ में ठहर-ठहर कर छिप जाती है और दोनों भुजाओं में आकर भी सहसा हट जाती है। काम-रोग से दुःखी मेरा मन इस मालविका के साथ समागम पर कैसे विश्वास करे''। स्त्रियों की काम-विषयक चेष्टाएं अत्यंत रमणीय और मोहक होती हैं। नवयुवतियों की काम-दशा की अनुपम अभिव्यञ्जना इस नाटक में दिखाई देती हैं। अग्निमित्र कामासक्त मालविका की काम वेदना और चेष्टाओं की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कहता है- ''मालविका का हाथ कांप रहा है फिर भी उसकी कांपती हुई हाथ की अंगुलियां नीचे की ओर सरकती करधनी को सम्भालने के व्यापार में रत हैं। बलपूर्वक आलिंगन करने पर वह अपने दोनों हाथों से स्तनों को ढकने लगती है। सुन्दर रोमयुक्त पलकों एवं आंखों वाली मालविका मुख को ऊपर उठाने पर मुख मोड़ लेती है। मुझे बहाने से रोकती हुई प्रिया का सारा कार्य-कलाप वैसा ही सुख दे रहा है, जैसा अभिलाषा के पूर्ण होने पर प्राप्त होता है''।

फ्रायड आदि प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों ने अहम् को मनुष्य की मूल-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। अहम् के कारण ही व्यक्ति में आत्माभिमान एवं श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न होती है। यह भाव मनोविज्ञान के क्षेत्र में ''आत्म स्थापना'' या ''आत्मप्रकाशन'' नामक आठवीं मूल-प्रवृत्ति के रूप में वर्णित है। मालविकाग्निमित्रम् के प्रथम अङ्क में नाट्याचार्य गणदास और हरदत्त में अपनी नाट्य निपुणता के प्रति आत्म प्रकाशन का भाव दिखाई देता है। गणदास अपनी विद्या पर अभिमान करते हुए कहते हैं-

''देवानामिदमामनन्तिमुनयः शान्तंक्रतुंचाक्षुषम्, रुद्रेणेदमुमाकृत व्यतिकरेस्वाङे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्रलोकचरितंनानारस दृष्यते, नाट्यं भिन्नरूचेर्जनस्यबहुधाप्येकंसमाराधकम्''।।

गणदास एवं हरदत्त दोनों ही नाट्याचार्यों में स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने की प्रतिस्पर्धा प्रदर्शित होती है। एतदर्थ दोनों राजा अग्निमित्र से निर्णय करने का अनुरोध करते हैं। राजा के द्वारा नियुक्त कौशिकी मध्यस्थता करते हुए यह निर्णय देती है कि जिसकी शिष्या छलिक अभिनय में प्रथम होगी वह विशेषज्ञ माना

जायेगा। आत्माभिमानी हरदत्त गणदास को 'मेरे चरणों की धूलि के समान भी नहीं है', ऐसा कहकर उसकी अप्रतिष्ठा करता है। इसी प्रकार नाटक में इरावती और मालविका में नृत्य-कौशल को लेकर प्रतिस्पर्धा दिखाई देती है। बकुला मालविका को इरावती से श्रेष्ठ नृत्यांगना मानते हुए कहती है कि मालविका नृत्य में इरावती का अतिक्रमण कर दी है।

मनुष्य के मन व मस्तिष्क की गति अत्यंत विचित्र है। जहां मनुष्य में स्वयं के प्रति श्रेष्ठता का भाव स्वाभाविक रूप में प्रकट होता है वहीं वह आत्महीनता के भाव से अछूता नहीं रहता है। 'दैन्य' या 'विनीत भाव' वह मूल-प्रवृत्ति है जिसके कारण व्यक्ति में आत्महीनता या अधीनता की भावना उत्पन्न होती है और वह स्वयं को दूसरों की अपेक्षा दीन समझते हुए अपने से उच्च व्यक्ति से अनुनय-विनय करता है। श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और विनम्रता पूर्ण व्यवहार के मूल में यही प्रवृत्ति कारण है। मालविकाग्निमित्रम् के पात्र अपने से उच्च के प्रति विनम्रता एवं शिष्टतापूर्ण आचरण का निर्वहन करते हुए वर्णित हुए हैं। राजा अग्निमित्र सभी के लिए श्रद्धेय हैं अतः माधवसेन, दोनों नाट्याचार्य गणदास एवं हरदत्त, मन्त्री, विदूषक, चेटियाँ, प्रतिहारी आदि राजा अग्निमित्र को श्रेष्ठ मानकर उनके प्रति श्रद्धा से युक्त होकर नम्रतापूर्ण व्यवहार करते हैं। हरदत्त राजा के तेज से प्रभावित होकर कहता है-''तेजोभिरस्यविनिवर्तित दृष्टिपातै र्वाक्यादूते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि''। इसी प्रकार राजा अग्निमित्र रुष्ट इरावती को मनाने के लिए अनुनय-विनय करता है। यहाँ तक कि क्रुद्ध रानी के चरणों पर भी गिर जाता है, जो राजा के 'दैन्य' भाव का सूचक है-

अपराधिनिमयि दण्ड संहरसिकिमुद्यतंकुटिलकेशि। वर्द्धयसिविलिसितंत्वंदासजनायाद्यकुप्यसि च।।

अन्य प्रवृत्तियों के समान ही 'सामूहिकता' मनुष्य की मूल-प्रवृत्ति है। मनुष्य में स्वभावतः एकांत में रहने की अपेक्षा समूह में रहने की प्रवृत्ति अधिक होती है। इस प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति में स्वजाति के सदस्यों के साथ रहने और अपने समान हितों की रक्षा के लिए उनके साथ समूह बनाने का भाव उत्पन्न होता है। अग्निमित्र सर्व समर्थ और श्रेष्ठ योद्धा होते हुए भी अपने व्यक्तिगत कार्यों की सफलता के लिए विदूषक और राजकीय कार्यों के सम्पादनार्थ मन्त्रिमण्डल और सेनादि की सहायता लेता है। मालविका को प्राप्त करने के लिए राजा और विदूषक सामूहिक रूप से प्रयत्न करते हैं। किसी भी कार्य के निर्विघ्न सम्पादनार्थ सहायक की आवश्यकता होती है, जैसा कि राजा अग्निमित्र कहता है-''अर्थं संप्रतिबन्ध प्रभुरधिगन्तु सहायवानेवदृष्यतमसि न पश्यतिदीपेनविनासचक्षुरपि''।। नाट्याचार्यों में विवाद उत्पन्न करना तथा मालविका के नृत्य प्रदर्शन के बहाने से राजा को उसके सौन्दर्य दर्शन के लिए अवसर प्रदान करना, सर्पदंश का स्वांग रचकर मालविका को कारावास से मुक्त कराना इत्यादि कार्यो में विदूषक राजा की सहायता करता है। भोजन जीव-जगत् की अनिवार्य आवश्यकता है। प्रत्येक प्राणी भोजन प्राप्त करने के लिए प्रतिबद्ध और संघर्षशील रहता है। भोजनान्वेषण को मूल-प्रवृत्ति माना जाता है। व्यक्ति में भोज्य पदार्थ को देखकर तथा स्वाद की अनुभूति कर भूख उत्पन्न होती है और वह भोजन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। नाटकों में विदूषक भोजनान्वेषी के रूप में वर्णित हैं। मालविकाग्निमित्रम् का विदूषक गौतम द्वितीय अंक में भोजन को देखकर अत्यंत अधीर हो जाता है और प्रसन्न होकर कहता है- ''अस्माकं पुनर्भोजनवेलोपस्थिता। अत्र भवत उचित वेलातिक्रमेचिकित्सका दोषमुदा हरन्ति''। विदूषक निद्रा में भी भोजन के विषय में ही स्वप्न देखता है और अपनी भोजन प्रियता को इस प्रकार से अभिव्यक्त करता है- ''एतत्खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता''।

मनोविज्ञान में वर्णित मूल-प्रवृत्तियां यथा- भोजनान्वेषण, कामप्रियता, युयुत्सा, पलायन, शरणागति, सामूहिकता इत्यादि प्राणिमात्र की प्रवृत्ति है। जो अल्प या अधिक मात्रा में सभी में होती है। कोई भी जीव इन

प्रवृत्तियों सेअस्पृश्य नहीं है। यथा- 'संग्रह या संचय' करने की प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में अधिक है। इस मूल-प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति में स्वामित्व का भाव उत्पन्न होता है। वह उपयोगी एवं आकर्षक वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करने और उसकी रक्षा करने के लिए प्रतिक्षण तत्पर रहता है। कठोपनिषद् में उद्धृत योग-क्षेम की अवधारणा से संग्रह करने की मूल-प्रवृत्ति ही द्योतित है। मालविकाग्निमित्रम् में राजा के व्यवहार में इस मनोवृत्ति का बाहुल्य दिखाई देता है। वह महत्वाकांक्षी राजा है जो अपने राज्य की रक्षा के लिए वीरसेन को विदर्भ पर आक्रमण करने की आज्ञा देता है तथा शत्रु राज्य को जीत कर साम्राज्य विस्तार करता है। यह घटना राजा अग्निमित्र के अधिक से अधिक भौतिक वैभव को संग्रहित करने की प्रवृत्ति को प्रदर्शित करती है। राजा अग्निमित्र में सुंदर स्त्री के प्रति आसक्ति का भाव है। इसी कारण वह धारिणी और इरावती जैसी रानियों के होने पर भी विदर्भराज की पुत्री मालविका पर मुग्ध हो जाता है और उसे प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के उपाय करता है और अन्त में उसे प्राप्त करने में सफल रहता है।

मनुष्य में स्वभावतः नवीन एवं सुंदर सर्जना करने की चेतना विद्यमान होती है। सर्जनात्मकता और सौंदर्यबोध मनुष्य की मूल-प्रवृत्ति है जिसे मनोवैज्ञानिकों ने रचनाधर्मिता की संज्ञा दी है। सम्पूर्ण वास्तु-निर्माण और ललित-कलाओं के विविध आयामों का जो चरमोत्कर्ष दिखाई देता है वह इसी मनोप्रवृत्ति का प्रतिफल है। इस मूल-प्रवृत्ति के कारण कृतिभाव अर्थात् वस्तु को बनाने के लिए उत्सुकता उत्पन्न होती है। काव्य-सृजन भी रचनात्मक- प्रवृत्ति के कारण सम्भव है। इसी प्रवृत्ति को काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने 'प्रतिभा' पद से अभिहित किया है जो काव्य का प्रधान हेतु है। प्रतिभा अथवा रचनाधर्मिता कवि में जन्म से ही संस्कार रूप में रहती है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में इस रचनाधर्मिता अथवा प्रतिभा के लिए 'शक्ति' शब्द का प्रयोग करते हुए इस प्रकार से निरूपित किया है- ''शक्तिः कवित्व बीजरूपः संस्कार विशेषः।'' कालिदास इत्यादि साहित्यकारों ने इस प्रवृत्ति के कारण ही अनेक श्रव्य काव्यों एवं दृश्य काव्यों की रचना की है और भविष्य में भी करते रहेंगे। मालविकाग्निमित्रम् नाटक में गणदास, हरदत्त, इरावती और नायिका मालविका की रचना मूलक प्रवृत्ति स्पष्टतया स्फुटित हुई है। रानी धारिणी ने मालविका की संगीत में विशेष रूचि होने के कारण नाट्याचार्य गणदास को उसे शिक्षा प्रदान करने के लिए नियुक्त किया था। मनुष्य उत्सवधर्मी और आशावादी प्रकृति का है। वह जटिल परिस्थितियों में भी आनन्द एवं हर्षोल्लास का अवसर ढूंढ लेता है। हास्य अर्थात् प्रसन्न होना मनुष्य की मूल-प्रवृत्ति है। यही प्रवृत्ति हास्य रस की अभिव्यञ्जना का मूल कारण है। अन्य नाटकों के समान ही मालविकाग्निमित्रम् में हास्य उत्पन्न करने के लिए विदूषक की संकल्पना की गई है। विदूषक का भोजन के अवसर पर अत्यधिक प्रसन्न होना, दिन में सोते समय बुदबुदाते हुए समस्त योजनाओं का वृतान्त इरावती के समक्ष प्रकट कर देना, ''भवति मालविके! इरावती मतिक्रामन्ती भव'' इत्यादि अनेक प्रसंग हास्य उत्पन्न करते हैं। कालिदास के नाटकश्रव्य और दृश्य दोनों दृष्टियों से रंगमञ्च पर अभिनेय हैं क्योंकि उनमें वर्णित पात्रों के चरित्र गत विशिष्टताओं के शारीरिक, मानसिक, वाचिक और आहार्य संबंधित सभी पक्ष सूक्ष्म रूप से विश्लेषित हुए हैं। तथापि कालिदास के नाटकों की रसप्रवणता का मुख्य कारण मानवीय भावनाओं और विचारों की हृदयस्पर्शी सूक्ष्म अभिव्यक्ति ही है। कालिदास मानव मन के मर्मज्ञ कवि हैं जो विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों का मनोविश्लेषण करने में विदग्ध है। उनकी नाट्य कृतियों का पर्यालोचन करने पर स्पष्ट होता है कि उनकी संवेदनशील लेखनी मानव की मूल-प्रवृत्तियों के सूक्ष्मतम पहलुओं को नाटकीय पात्रों के माध्यम से यथार्थ स्वरूप में व्यक्त करने में सर्वथा सिद्ध है। पुरुष तथा नारी की मनोवेदना, चेष्टा,

व्यवहार और बाह्य क्रिया-कलाप का जिस सूक्ष्मता एवं यथार्थता के साथ मनोविज्ञानी कालिदास ने विवेचन और प्रस्तुतीकरण किया है, वह विश्व के साहित्य में अद्‌भुत है, अद्वितीय है और अपरिमेय है। संस्कृत साहित्य में तो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से उनके समकक्ष कोई भी कवि नहीं है, जो हैं भी, वे उनसे न्यूनतम रही हैं। अस्तु, मालविकाग्निमित्रम् नाटक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सफल और वैश्विक साहित्य में अग्रगण्य नाट्य है।

सन्दर्भ -

1. शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा-डॉ. मालती सारस्वत, आलोक प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ-110।

2. मालविकाग्निमित्रम्, डॉ. रमाशंकर पाण्डेय, चौखम्भासुरभारती, प्रकाशन- चतुर्थ अंक- अहो पापेन मृत्युना गृहीतोऽस्मि।..... कथं न भेष्यामि। पृष्ठ - 115

3. वही, चतुर्थ अंक–पिङ्लवानरेण बलवत्त रासिताऽनिषण्णा देव्याः प्रवातकिसलयमणिमिव वेपमाना न किचित्प्रकृतिं प्रति पद्यते। पृष्ठ -144

4. वही,, 5.10 5. वही,1.7

6. वही, प्रथम अंक- तद्यातव्यपक्षेस्थितस्यपूर्वसंकल्पितसमून्मूलनायवीरसेनामुखंदण्डचक्रमाज्ञापय।पृष्ठ -18

7. वही, 5.17 8. वही,पंचमअंक, पृष्ठ -167

9. वही,पंचमअंक, पृष्ठ -174 10. वही,पंचमअंक, पृष्ठ -149

11. वही, प्रथम अंक 12. वही,2.2

13. वही, 2.3-दीर्घाक्षिंशरदिन्दुकान्तिवदनंबाहूनतावंसयोः। संक्षिप्तंनिविडोन्नतस्तनमुरःपार्श्वेप्रमृष्टेइव।।
मध्यःपाणिमितोनितम्बिजघनंपादावरांगुली। छन्दोनर्तयितुर्यथैवमनसिश्लिष्टंतथास्यावपुः।।

14. वही,2.4- दुर्लभःप्रियोमेतस्मिन्भव हृदय निराश– महो! अपांगोमेपरिस्फुरतिकिमपिवामः,
एव स चिरदृष्टः कथं पुनरुपनेतव्यो–नाथ! मां पराधीनांत्वयिपरिगणयसतृष्णाम् ।।

15. वही,4.11-पथिनयनयोःस्थित्वास्थित्वातिरोभवति क्षणात् –सरति सहसा बाह्वोर्मध्यंगतापि सखी तव।
मनसिजरुजा क्लिष्टस्यैवं समागममायया, कथमिवसखे ! विस्रब्धंस्यादिमां प्रति मेमनः।।

16. वही,4.15 –हस्तंकम्पयतेरुणद्धि रशना-व्यापार लोलांगुलीः, स्वौहस्तौनयतिस्तनावरणतामलिग्यनानाबलात् ।
पातुंपक्ष्मल नेत्र मुन्नमयतःसाची करोत्याननम्, व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखंनिर्वर्त्तत्येवमे ।।

17. वही,1.4

18. वही,1.10

19. वही, प्रथम अंक

20. वही, प्रथम अंक

21. वही,1.12

22. 3.22

23. वही,1, पृष्ठ -21

24. वही, द्वितीय अंक, पृष्ठ -56

25. वही,तृतीय अंक, पृष्ठ -73

26. काव्य प्रकाश, प्रथम उल्लास

27. मालविकाग्निमित्रम्, चतुर्थ अंक, पृष्ठ 138

20

विक्रमोर्वशीयम् में धर्म विषयक मान्यताएं

उष्मा यादव एवं विष्णुकान्त त्रिपाठी

विश्वविश्रुत महाकवि कालिदास ने अपनी कालजयी कृतियों के माध्यम से संस्कृत साहित्य को जो समृद्धि प्रदान की है वह सर्वथा अद्वितीय एवं अनुपम है। महाकवि कालिदास की कृतियां तात्कालिक लोक जीवन का प्रतिबिंब है। लोकजीवन वे जीवित परंपराएँ हैं जो परिवार, जातीय, सामाजिक वर्ग, क्षेत्रीय और अन्य समूहों के भीतर मौखिक, अनुकरण, या समय और स्थान के अवलोकन के माध्यम से प्रचलित और प्रसारित होती हैं। लोक जीवन के अंतर्गत उन पारंपरिक कहानियों, गीतों, रीति-रिवाजों, गतिविधियों, वस्तुओं और विश्वासों के बारे में अध्ययन किया जा है जिन्हें लोग साझा करते हैं कालिदासकृत विक्रमोर्वशीयम् में लोक जीवन में प्रचलित धार्मिक परंपराओं, पूजा पद्धतियों, रीति-रिवाजों एवं मान्यताओं का सहज ही अवलोकन किया जा सकता है। तात्कालिक लोक जीवन में यद्यपि भौतिक वस्तुओं, धन-सम्पत्ति एवं भोग-विलास की ओर लोगों में आकर्षण बढ़ने लगा था तथापि जनमानस के द्वारा आध्यात्मिक चिन्तन एवं आत्मतत्त्व के ज्ञान सम्बन्धी तृष्णा का परित्याग नहीं किया गया था। मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति में ही निहित था। महाकवि कालिदास की कृतियाँ मनोरजन का साधन मात्र नहीं है, अपितु इनमें कलात्मकता एवं विचारात्मकता का अद्भुत समन्वय है। नायक-नायिका का अलौकिक प्रेम, इन्द्रियों को सुख प्रदान करने वाले भोग-विलास, देवता एवं मनुष्य की मित्रता, ऋषियों की तपस्या, वर एवं शाप का प्रभाव, राजाओं की कर्त्तव्यनिष्ठता इत्यादि अनेक प्रकार की घटनाओं का वर्णन करने वाले कालिदास ने भौतिकता तथा ऐश्वर्य की चमक में आध्यात्मिकता एवं नैतिकता की दीप्ति को मन्द नहीं होने दिया है। पुनर्जन्म से मुक्ति तथा मोक्ष की कामना उनकी कृतियों में सहज भाव से अभिव्यक्त हुई है। अनेक प्रकार की अलौकिक शक्तियों से युक्त देवी-देवताओं पर लोगों की अटूट श्रद्धा थी। ये देवता अपनी शक्ति से मनुष्य का कल्याण करने के साथ ही धर्म की अवहेलना करने वालों को दण्डित भी करते थे। इन्द्र, अग्नि, सूर्य [1], विष्णु इत्यादि वैदिक देवताओं का नामोल्लेख कवि ने अपनी कृतियों में किया है। वैदिक देवता इस काल में भी लोगों के लिए आराध्य थे किन्तु अब वे केवल प्रकृति को नियन्त्रित करने वाली दिव्य शक्तियाँ न होकर विस्तृत स्वरूप वाले हो गये थे। इन्द्र के लिए महेन्द्र[2], मरुत्वान्[3], वज्रिणः[4], सुरेन्द्र, हरि, शतक्रतु, विडौजाः इत्यादि नामों का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा, शिव, जयन्त (इन्द्र का पुत्र) कामदेव इत्यादि देवताओं का भी उल्लेख मिलता है। ब्रह्मा के लिए 'स्वयंभू' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'भगवान शिव' कालिदास के आराध्य देव हैं। उन्होंने अपनी तीनों नाट्यकृतियों

एवं 'रघुवंश' महाकाव्य के मंगलाचरण में महादेव शिव की स्तुति करते हुए सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण हेतु कामना की है। 'विक्रमोर्वशीयम्' के मंगलाचरण में शिव को एक पुरुष, ईश्वर एवं स्थाणु कहा गया है।[5] शिव सांसारिक भोगों, धन, स्त्री तथा अहंकार से सर्वथा मुक्त हैं। 'विक्रमोर्वशीयम्' में राजा पुरूरवा द्वारा 'चन्द्रदेव' की स्तुति की गयी है। वह चन्द्रदेव को प्रणाम करते हुए कहता है, ''सज्जनों की यज्ञादि दैनिक क्रियाओं के लिए तुम सूर्य में प्रवेश करते हो, तथा पितरों एवं देवताओं को अमृत द्वारा तृप्त करते हो। रात्रि में फैल रहे अंधकार को मिटाने वाले, शिवजी की जटाओं में स्वयं को स्थापित करने वाले आपको प्रणाम है''।[6] देवताओं के अतिरिक्त अनेक देवियों का भी नामोल्लेख प्राप्त होता है। देवी लक्ष्मी[7] भगवान विष्णु की, पार्वती शिव की तथा इन्द्राणी इन्द्र की पत्नी थीं।उपर्युक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है कि कालिदास प्राचीन धार्मिक मान्यताओं एवं देवी-देवताओं के दिव्यस्वरूप के प्रति आस्थावान हैं तथा वेद, उपनिषद्, गीता एवं पुराणों की मान्यताएँ भी उनके युग में प्रचलित थीं। अलौकिक शक्ति से युक्त देवी-देवताओं के साथ ही मानव के लिए कल्याणकारी नदियों, पर्वतों, वृक्षों एवं पशुओं को भी देव स्वरूप मानकर उनकी स्तुति की जाती थी। प्रकृति की अलौकिकता के प्रति हिन्दुओं में वैदिक काल से ही आकर्षण रहा है। प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों यथा- प्रातःकाल में सूर्योदय, रात्रि में चन्द्रमा का प्रकाश, आकाश में बिजली की चमक तथा गर्जना एवं जल का बरसना इत्यादि ने मनुष्य को रोमाञ्चित एवं आनन्दित किया। नदियों के पवित्र जल, वृक्षों से प्राप्त फल-पुष्प, औषधियाँ तथा वायु पर मानव एवं समस्त जीवों का अस्तित्त्व निर्भर है। प्राकृतिक तत्त्वों की इसी महत्ता के कारण ही वैदिक ऋषियों ने इन्हें देव-स्वरूप मानकर उनकी स्तुति की है। वैदिक काल से चली आ रही इस परम्परा का हिन्दुओं के जीवन में आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कालिदास ने इन प्राकृतिक देवी-देवताओं को अपनी कृतियों में समुचित स्थान प्रदान किया है। आध्यात्मिक चिन्तन में लगे हुए ऋषियों का आश्रम नदियों के किनारे स्थित रहता था। महर्षि कण्व का आश्रम मालिनी नदी के तट पर था। विश्वामित्र ने गौतमी नदी के तट पर तपस्या की थी। नदियों में गंगा को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। हिमालय से निकलने वाली गंगा नदी अत्यन्त पवित्र जल वाली तथा देवीस्वरूपा मानी जाती थी। वैतालिक राजा पुरूरवा का यशगान करते हुए कहता है ''पुरूरवा में राजलक्ष्मी उसी प्रकार शोभित हो रही है जैसे हिमालय तथा सिन्धु में विभक्त जल वाली गंगाजी शोभित होती हैं''।[8] कालिदास ने गंगा एवं यमुना नदियों के संगम वाले जल को अत्यन्त पवित्र माना है। राजा पुरूरवा का प्रतिष्ठाननगर इन नदियों के संगम तट पर स्थित था।[9] वर्तमान समय में भी संगम अपनी पूर्व प्रतिष्ठा के साथ हिन्दुओं की आस्था का केन्द्र बना हुआ है।देवताओं की दिव्यता एवं उनके शक्ति की महत्ता को प्रतिपादित करने के लिए अनेक अनिष्टकारी शक्तियों की कल्पना की गयी है। दैत्यों को देवताओं का शत्रु माना जाता है। देवताओं एवं वीर राजाओं की प्रतिष्ठा इन आसुरी शक्तियों के विनाश में ही निहित थी। ये आसुरी शक्तियाँ तपस्वियों, साधारणजनों एवं देवताओं के सद्कर्मों एवं यज्ञादि के सम्पादन में विघ्न उत्पन्न करती थीं। 'असुर अत्यन्त अहंकारी एवं हिंसक प्रवृत्ति के होते थे। 'विक्रमोर्वशीयम्' में हिरण्यपुर निवासी केशी नामक दैत्य के द्वारा उर्वशी एवं चित्रलेखा के अपहरण का वर्णन किया गया है।[10] सोमवंशी राजा पुरूरवा ने इन अप्सराओं को दानव से मुक्त कराया था। इन्द्र ने राजा दुष्यन्त की भाँति ही पुरूरवा को भी देवासुर-संग्राम में सहायता हेतु देवलोक बुलाकर युद्ध में सहायक बनाया था।[11] इन राक्षसों का विनाश करने वाले पौराणिक महापुरुष दिव्य शक्तियों से युक्त होने के साथ ही अत्यन्त प्रतापी एवं वीर योद्धा होते थे। इन महापुरुषों की दैत्यों पर विजय का उद्देश्य लोगों में धार्मिकता, नैतिकता तथा सद्गुणों पर आस्था के भाव को सुदृढ़ करना था।

भारतीय जनमानस में यज्ञों की महत्ता वैदिककाल से ही रही है। यज्ञ की अग्नि मनुष्य को पवित्र एवं कर्मशील बनाती है। 'शतपथ ब्राह्मण' में याज्ञिक क्रिया को मनुष्य के सभी कर्मों में श्रेष्ठ माना गया है।[12] यज्ञ को ही धर्म कहा गया है। (यागादिरेव धर्मः। अर्थसंग्रह) गोविन्द चन्द्र पाण्डे के अनुसार, ''यज्ञ का पारिभाषिक लक्षण है देवता के लिए द्रव्य भाग। द्रव्य भाग, स्वत्व त्याग के संकल्प से सम्पन्न होता है। स्व के समर्पण के प्रतीक के रूप में ही स्व-द्रव्य से स्वत्व निवृत्तिपूर्वक द्रव्य का त्याग सार्थक होता है। देवता की महिमा का चिन्तन, उसके प्रति अपने हृदय का निवेदन और इस आत्मनिवेदन के प्रतीक के रूप में द्रव्य त्याग और त्यक्त द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेपण यही वैदिक यज्ञ-विज्ञान का मूल रूप था''।[13] यज्ञ की अग्नि हवि को देवताओं तक पहुँचा देती है। यज्ञ का सम्पादन ब्राह्मण पुरोहित के द्वारा किया जाता था। विभिन्न प्रकार की मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न यज्ञों का आयोजन होता था। शतपथ ब्राह्मण (2.3.1.6) में उल्लेख है कि 'यज्ञ से समस्त पाप धुल जाते हैं'। यज्ञों द्वारा देवताओं को वश में किया जाता था तथा वे बाध्य होकर मनुष्य को मनोवांछित वर प्रदान करते थे।[14]

कालिदास के नाटकों में आये हुए अनेक प्रसंगों से ज्ञात होता है कि उनके काल में 'यज्ञों' का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यह एक आवश्यक धार्मिक कार्य समझा जाता था। आश्रम में रहने वाले तपस्वियों तथा राजाओं के द्वारा यज्ञ के माध्यम से देवताओं को प्रसन्न किया जाता था जिससे उनकी मनोकामनाएँ पूर्ण हो सकें। 'वानप्रस्थाश्रम' में रहने वाले ऋषियों के द्वारा प्रतिदिन यज्ञ कार्य किया जाता था। ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ विधान के अतिरिक्त पूजा की अन्य विधियाँ भी समाज में प्रचलित थीं। पूजन कर्म के लिए बलिकर्म, अर्चना, विधि एवं सपर्या इत्यादि नाम प्रचलित थे। स्त्रियों के द्वारा पति को प्रसन्न करने के लिए भी व्रत किया जाता था। राजा पुरूरवा को प्रसन्न करने के लिए रानी औशनरी ने 'प्रिय प्रसादन'[15] नामक व्रत रखा था। इस व्रत में चन्द्रमा की पूजा की जाती थी। व्रत के अवसर पर विशेष प्रकार के वस्त्र धारण किये जाते थे। रानी औशनरी ने व्रत के समय श्वेत साड़ी एवं मंगलसूत्र धारण किया था, उनके बाल पवित्र दूब के अंकुरों से सुशोभित हो रहे थे।[16] व्रत समाप्त होने पर दानादि का भी वितरण किया जाता था।

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि तात्कालिक समाज में मनुष्य अपनी मनोकामनाओं को पूर्ण करने के लिए अनेक प्रकार के व्रत एवं अनुष्ठान किया करते थे। ये व्रत न केवल अभीष्ट की प्राप्ति में सहायक थे अपितु व्यक्ति के अन्तः करण एवं बाह्य शरीर की शुद्धि, उच्च लक्ष्यों की प्राप्ति एवं अमंगलकारी विचारों को भी दूर करने वाले थे।

हिन्दू धर्म में संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कार का तात्पर्य शुद्धि, स्वच्छता अथवा परिष्कार से है। संस्कार जीवनपर्यन्त चलने वाली सामाजिक एवं धार्मिक प्रक्रिया है जो जन्म के पूर्व से आरम्भ होकर व्यक्ति के प्रत्येक अवस्था में अपेक्षित गुणों का विकास करते हुए उनके कर्तव्यों का निर्धारण करती है। भारतीय धर्मशास्त्रकारों का मत है कि जन्म के समय मनुष्य असंस्कृत अर्थात् अशुद्ध होता है किन्तु संस्कारों के द्वारा उसका परिमार्जन किया जाता है जिससे वह आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक एवं भौतिक उत्कर्ष को प्राप्त कर सके।

कालिदास के समय में भी लोगों द्वारा इन संस्कारों का विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाता था। विक्रमोर्वशीयम् में 'जातकर्मादि' में आये हुए 'आदि' पद से विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, नामकरण इत्यादि संस्कारों का संकेत मिलता है। इन संस्कारों के द्वारा व्यक्ति के जीवन को सुव्यवस्थित एवं अनुशासित बनाने का

प्रयत्न किया जाता था। वर्तमान समय में भी हिन्दू समाज में कुछ संस्कारों का प्रचलन दिखाई देता है किन्तु इस भौतिकवादी युग में यह केवल एक धार्मिक कृत्य मात्र बनकर रह गया है।

सम्भवतः मानव जीवन में होने वाली अप्रत्याशित घटनाओं के कारण लोगों में मिथ्या विश्वास एवं शकुन तथा अपशकुन के प्रति श्रद्धा का भाव जागृत हुआ। कालिदास का समाज भी इस प्रकार के अंधविश्वासों तथा अतार्किक उपायों से अछूता नहीं था। 'विक्रमोर्वशीयम्' के तीसरे अंक में शकुन की चर्चा की है। उर्वशी के विरह से दुःखी राजा पुरूरवा दाहिनी भुजा के फड़कने को शुभ शकुन मानते हुए विदूषक से कहता है, ''आशा उत्पन्न करने वाले तुम्हारे वचनों की भाँति कुछ-कुछ कम्पनों से यह दाहिनी भुजा लम्बी पीड़ा वाले मुझको सान्त्वना दे रही हैं''।[17]

'विक्रमोर्वशीयम्' की नायिका उर्वशी एवं उसकी सखी चित्रलेखा दोनों ही 'तिरस्करिणी विद्या' को जानने वाली थीं। अलक्षित होने वाली इस विद्या की सहायता से ही वह राजा पुरूरवा तथा विदूषक के मध्य होने वाले वार्तालाप को सुनती हैं।[18] कालिदास ने अपराजिता नामक 'शिखाबन्धिनी विद्या' का भी उल्लेख किया है। देवताओं के गुरु बृहस्पति ने उर्वशी एवं चित्रलेखा को इस विद्या का उपदेश दिया था जिसके कारण दैत्य उन्हें आतंकित नही कर सकते थे।[19]

महाकवि कालिदास ने कथावस्तु के प्रसंग में आये हुए जिन धार्मिक क्रियाकलापों एवं विश्वासों का उल्लेख किया है उससे ज्ञात होता है कि तात्कालिक लोक समाज में लोगों की धर्म में अटूट आस्था थी। उनके द्वारा किया जाने वाला प्रत्येक कार्य धार्मिक नियमों एवं भावनाओं से प्रेरित होता था। लोग अनिष्ट निवारण हेतु अनेक प्रकार के उपाय किया करते थे, इसके अतिरिक्त पौराणिक कथाओं पर भी लोगों का पूर्ण विश्वास था। कालिदास की नाट्यकृतियाँ लोगों के धार्मिक क्रियाकलापों तथा उसमें निहित आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विश्वासों का दर्पण है। भारतीय संस्कृति अनादिकाल से ही समन्वयवादी रही है। जहाँ एक ओर लोगों में धन, यश, कला एवं भोग-विलास के प्रति आसक्ति थी तो वहीं दूसरी ओर पर्वत की कन्दराओं एवं घने जंगलों में आश्रम बनाकर रहने वाले तपस्वियों ने अपनी साधना एवं तप के बल से जीवन के अनेक अनुत्तरित प्रश्नों का समाधान ढूँढनें का प्रयत्न किया। महाकवि ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का स्पर्श करते हुए मानवतावादी भारतीय संस्कृति एवं उसके आदर्शों को प्रतिष्ठित किया है। अनादिकाल से चली आ रही भारतीय संस्कृति भौतिकता एवं आध्यात्मिकता में सामंजस्य स्थापित करते हुए 'परमतत्त्व' के अन्वेषण के साथ अद्यावधि जीवित है।

सन्दर्भ -

1. *अभि. शा., 4.2, विक्रम., 2.1*
2. *विक्रम., 1, पृ.सं.- 29*
3. *विक्रम., 1.16 पृ.सं.- 30*
4. *विक्रम., 1.17- ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद् ....।*
5. *विक्रम., 1.1*
6. *विक्रम., 3.7- रविमाविशते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते पितॄन् सुरांश्च।*
   तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते।।
7. *विक्रम., पृ.सं.- 9, 99, 260 एवं 261*

8. विक्रम., 5.22
9. विक्रम., 2- भगवत्या भागीरथ्या यमुना-स.म पावनेषु सलिलेषु पुण्येषु ...। पृ.सं.- 63
10. विक्रम., 1- सा नः प्रियसख्युर्वशी .... हिरण्यपुरवासिना केशिना दानवेन चित्रलेखा-द्वितीया अर्धपथ एव बन्दिग्राहं गृहीता। पृ.सं.- 10
11. विक्रम., 5, पृ.सं.- 256
12. शत.ब्रा., 1.7.3.5- यज्ञौ वै श्रेष्ठतम कर्म।
13. वैदिक संस्कृति, पृ.सं.- 89, 90
14. पचविंश ब्राह्मण- 1.8.4.1
15. विक्रम., 3-भर्तः! प्रियप्रसादनं नाम। पृ.सं.- 128
16. विक्रम., 3.12
17. विक्रम., 3.9- वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथम्। अयमास्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः।।
18. विक्रम., 2- तिरस्करिणी-प्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वा श्रोष्यामि। पृ.सं.- 65
19. विक्रम., 2- भगवता देवगुरुणा अपराजितां नाम शिखाबन्धिनीं विद्यामुपदिशता त्रिदश-प्रतिपक्षस्या- लंघनीये कृते स्वः। पृ.सं.- 62

21

कालिदास के नाटकों में पर्यावरण संरक्षण

सुशान्त कुमार पाण्डेय

पर्यावरण की परिधि में मनुष्य तथा अन्य जीवधारी रहते हैं। मानव को जीने के लिए जिन मूलभूत साधनों की आवश्यकता होती है, उसकी पूर्ति पर्यावरण के द्वारा ही होती है। पर्यावरण से अभिप्राय उस चारों तरफ के आवरण से है, जो सभी जीवों के जीवन को निर्धारित एवं प्रभावित करता है। चारों तरफ के इस आवरण में जैविक, अजैविक एवं ऊर्जा तत्त्व विद्यमान है। प्रकारांतर से कहा जाए तो इसके अंतर्गत प्राकृतिक एवं मानव निर्मित सभी वस्तुओं एवं परिस्थितियों का समावेश है। प्राकृतिक पर्यावरण के अस्तित्व के कारण ही मनुष्य का जीवन संभव हो पाया है। इस दृष्टि से प्रकृति सदा से मनुष्य को अपने आँचल में आश्रय देकर पालन- पोषण करते आई है। प्रकृति प्रदत्त दिव्य उपहारों यथा वायु, जल, भूमि आदि के कारण ही इस पृथ्वी पर जीवन व्याप्त है परंतु आधुनिक समय का मनुष्य प्रकृति के उपकारों को विस्मृत करते जा रहा है, जिससे संपूर्ण पर्यावरण में विद्रूपताएँ आ गईं हैं और पर्यावरण के विषाक्त होने की प्रक्रिया तीव्र गति से चल रही है। प्रकृति की अवहेलना का अर्थ विनाश को आमंत्रण देना ही है। कार्ल रिटर ने सत्य कहा है कि ''पृथ्वी की उत्पत्ति का नियम मनुष्य नहीं बनाता, प्रकृति के अपने अलग नियम होते हैं, जिसका ज्ञान मानव कल्याण के लिए आवश्यक है।''[1]

संस्कृत के महान कवि कालिदास के साहित्य का अध्ययन एवं अनुशीलन वर्तमान समय के लिए मार्गबोधक है। वैसे तो संस्कृत साहित्य की भूमिका इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है कि उसने मानव समाज के समक्ष प्रकृति की महत्ता का विवेचन एवं विश्लेषण सुंदर तरीके से प्रस्तुत किया है। कालिदास संस्कृत साहित्य के एक ऐसे सशक्त हस्ताक्षर हैं, जिन्होंने मानव एवं प्रकृति के बीच के रागात्मक संबंधों के स्वरूप को स्पष्ट किया है। इस स्वरूप में निहित सौंदर्य को देखकर भला वह कौन है, जो उस पर मोहित न हो जाए? इस दृष्टि से कालिदास प्रकृति के अनुपम कवि हैं, जो पर्यावरणीय विपदा के इस काल में मानव समाज के सच्चे पथ प्रदर्शक के रूप में उपस्थित हैं। इस आलेख में कालिदास के नाटकों में निहित प्रकृति एवं पर्यावरण संरक्षण से सम्बद्ध प्रसंगों पर ध्यान केंद्रित किया गया है। ज्ञातव्य है कि आज मानव सभ्यता विकास के उस तथाकथित मोड़ पर खड़ी है, जहाँ विकास के नाम पर प्राकृतिक पर्यावरण से प्राप्त संसाधनों का अनियंत्रित दोहन एवं शोषण हो रहा है। शायद आधुनिक समय ने 'विकास' शब्द की परिभाषा को समझा ही नहीं अन्यथा तथाकथित विकास के रास्ते पर चलकर वह विनाश को आमंत्रित नहीं करता। ''विकास और विनाश की धाराएँ एक साथ चलें - कभी समानांतर और कभी एक दूसरे को काटती हुई....तो भला किसको आश्चर्य नहीं होगा?''[2]

विकास के संदर्भ में आर्थिक मूल्यों की महत्ता एवं प्राथमिकता के कारण प्रकृति एवं पर्यावरण हितैषी मूल्यों की गणना करना भी उचित नहीं समझा जा रहा है, जिसका परिणाम जीवन मूल्यों एवं नैतिक मूल्यों के क्रमशः विघटन के रूप में होरहा है। पर्यावरण हितैषी होने का मूल्य क्या है, प्रकृति के सौंदर्य की अनुभूति का आनंद क्या है और उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह कि मनुष्य जैसे बुद्धिजीवी प्राणी होने के नाते प्रकृति के प्रति उसका कर्त्तव्य क्या है, ऐसे समस्त प्रश्नों का उत्तर कालिदास के नाटकों में उद्धृत विविध प्रसंगों के अध्ययन से प्राप्त होता है। वे प्राकृतिक विभूतियों के अनन्य उपासक हैं। उनके प्रकृति वर्णन की सजीवता, रमणीयता एवं भव्यता को देखकर सुखद अनुभूति होती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' तो इस दृष्टि से संपूर्ण विश्व साहित्य की अप्रतिम रचना है। इसके प्रथम अंक में कालिदास ने अपने मंगलाचरण में 'अष्टमूर्ति' की चर्चा की है। शिव की यह आराधना प्रकृति पूजन ही है। इस मंगलाचरण में पर्यावरण के समस्त प्राकृतिक तत्त्वों के प्रति कृतज्ञता भाव का दर्शन होता है। शिव की साक्षात् उपस्थिति ही इन तत्त्वों में है। इन तत्त्वों का पूजन इस युग की आवश्यकता है। जल, भूमि एवं वायु जैसे प्राकृतिक तत्त्वों के अतार्किक उपयोग एवं प्रदूषित होने से बचाने का यही तरीका है। शिव की पूजा बिना प्रकृति पूजन के कैसे संभव हो सकती है-

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणाः या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।[3]

भावार्थ यह है कि शिव जी उस जल के रूप में हमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, जिसे ब्रह्म ने सबसे पहले बनाया। उस अग्नि के रूप में दिखाई देते हैं, जो मंत्र-विधि के साथ दी हुई हवन सामग्री ग्रहण करती है। उस होता के रूप में दिखाई देते हैं, जिसे यज्ञ करने का काम मिला हुआ है। उन चंद्र और सूर्य के रूप में दिखाई देते हैं, जो दिन और रात का समय निश्चित करते हैं। उस आकाश के रूप में दिखाई पड़ते हैं, जिसका गुण शब्द है और जो संसार भर में रमा हुआ है, उस पृथ्वी के रूप में दिखाई देते हैं जो सब बीजों को उत्पन्न करने वाली बताई जाती है और उस वायु के रूप में दिखाई देते हैं, जिसके कारण सभी जीव जी रहे हैं। जल, अग्नि, होता, सूर्य, चंद्र, आकाश, पृथ्वी और वायु के आठ प्रत्यक्ष रूपों में, जो भगवान शिव सबको दिखाई देते हैं, वे आप लोगों का कल्याण करें।[4] 'विक्रमोर्वशीयम्' के नान्दी में 'व्याप्य स्थितं रोदसी'[5] में भी यह भाव प्रकट होता है। एतदतिरिच्य 'मालविकाग्निमित्रम्' के नान्दी में भी 'अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतः'[6] शब्द इस दृष्टि से विशिष्ट एवं ध्यान देने योग्य है। शकुन्तला तो पूर्णतः प्रकृति की कन्या है। शकुन्त (भास जाति के गिद्ध) ने उसकी रक्षा की थी। इसलिए, उसका नाम शकुन्तला पड़ गया। महत्त्वपूर्ण है कि अरक्षित छोड़ी हुई उस बालिका की देखभाल एवं उसका पोषण वन के पक्षी तब तक करते हैं, जब तक कण्व ऋषि उसे उठाकर ले नहीं जाते। महर्षि कण्व के आश्रम के प्राकृतिक संस्कार में उसका पालन-पोषण हुआ है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के द्वितीय अंक के अन्त में राजा दुष्यन्त अपने परम मित्र विदूषक से शकुन्तला विषयक समस्त वार्त्ताओं को बताने के क्रम में कहता है कि कहाँ तो अन्तःपुर की सुन्दरियों से विलास करने वाला मैं दुष्यन्त और कहाँ वह भोली एवं तपस्वी कन्या जो मृगों के साथ रह रही है-**'क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।'**[7] कालिदास एक ऐसे कवि हैं, जिन्हे प्रकृति के सौंदर्य की महत्ता ज्ञात है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के प्रथम अंक में तपोवन के निकट पहुँचते ही राजा सारथी से कहते हैं कि बिना किसी सूचना के ही यह पता चल रहा है कि हम आश्रम के तपोवन में पहुँच गए हैं। जब सारथी पूछता है कि कैसे? तब राजा कहते हैं -

नीवाराः शुकगर्भ कोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः, प्रस्निग्धाः क्वचिदिंगुदीफलभिद् सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाःतोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखांकिताः।।[8]

अर्थात् वृक्षों के नीचे तोतों से युक्त कोटरों (घोसलों) के अग्रभाग से गिरे हुए वन्य तृणधान्य दिखाई पड़ रहे हैं, कहीं इंगुदी फलों को तोड़ने वाले विशेष रूप से चिकने पत्थर दिखाई पड़ रहे हैं, विश्वास प्राप्त होने के कारण अपनी चाल को न बदलने वाले मृग रथ की ध्वनि को सह रहे हैं तथा सरोवरों के मार्ग वल्कल के अग्रभाग के टपकने वाले जल की रेखाओं से चिह्नित दिखाई पड़ते हैं। आश्रम के मृगों का निर्भय विचरण करना और रथ की ध्वनि से अविचल रहना पर्यावरणीय सौंदर्य की दृष्टि से अद्भुत है। ऐसे कई प्रसंगों की उपस्थिति कालिदास के नाटकों में सर्वत्र दिखाई देती है। शकुन्तला अनसूया संवाद यहाँ महत्त्वपूर्ण है। शकुन्तला कहती है - **न केवलं तात नियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु।**[9] अर्थात् पिता की आज्ञा ही नहीं, मेरा भी इन पौधों पर सहोदर जैसा स्नेह है। पौधों पर सहोदर जैसा प्रेम बरसानेवालों की आज कमी हो गई है। हरित क्षेत्रों की कमी की अनुभूति सहजता से की जा सकती है। तथाकथित विकास के रास्ते पर चल रहे मनुष्य को पेड़-पौधों के लिए प्राथमिकता नहीं दिखाई दे रही है। युवा कवि कांतेश मिश्र ने अपनी कविता 'सेंसस'में इस विषय पर लिखा है - **हर बार सेंसस की व्याख्या मनुष्यों की संख्या है बताती नहीं पता या बताते नहीं आम के हैं वृक्ष कितने**?[10] वर्तमान समय में न सिर्फ वृक्षारोपण का कार्य बल्कि उनके पोषण का ध्यान रखना आवश्यक हो गया है ताकि पर्यावरण संतुलन बना रहे। वृक्षों के साथ-साथ समस्त जीवधारियों की अपनी-अपनी महत्ता है। कालिदास की कृतियों में पर्यावरण के विविध आयामों की अभिव्यक्ति है। प्रकृति शब्द के अर्थ से वह सुपरिचित थे। यह बात ठीक है कि ''कालिदास-साहित्य में प्रकृति शब्द चराचरात्मक समस्त विश्व के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसमें समाहित है - ब्रह्मतत्त्व से लेकर अल्प प्राण जीव तक का चेतन जगत् तथा परमाणु से लेकर हिमालय पर्यन्त संपूर्ण स्थावर जगत्।''[11] चतुर्थ अंक में शकुन्तला की विदाई के समय का दृश्य अद्भुत है -

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा मांगल्यमाविष्कृतम्, निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै - र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः।।[12]

अर्थात् किसी वृक्षद्वारा चन्द्रवत् श्वेतवर्ण का मंगलकाय में धारण करने योग्य रेशमी वस्त्रों का जोड़ा निकालकर दिया गया, किसी वृक्ष के द्वारा चरणों में लगाने योग्य महावर दिया गया, अन्य वृक्षों से उन वृक्षों के नवीन निकले हुए पल्लवों से स्पर्धा करने वाले अर्थात् तत्सद्रश पर्वभागों तक अर्थात् कलाई अथवा मणिबन्धन स्थान तक बाहर निकले हुए वन देवताओं के कर पल्लवों द्वारा आभूषण दिये गए।

मानव-प्रकृति के रागात्मक संबंधों के ऐसे रमणीय दृश्यों का सुंदर प्रस्तुतीकरण कालिदास की विशेषता है। यहाँ शकुन्तला भी कोई साधारण कन्या नहीं है अपितु प्रकृति की सुपुत्री है। तभी तो -

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या, नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमुप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः, सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।[13]

अर्थात् कण्व ऋषि वन देवताओं से भरे तपोवन के वृक्षों से कहते हैं कि जो शकुन्तला पहले तुम्हें पिलाए बिना स्वयं जल नहीं पीती थी, जो आभूषण पहनने का प्रेम होने पर भी तुम्हारे स्नेह के कारण तुम्हारे कोमल पत्तों को हाथ नहीं लगाती थी, जो तुम्हारी नई कलियों को देख-देखकर फूली नहीं समाती थी, वही शकुन्तला आज अपने पति के घर चली जा रही है। तुम सब इसे प्रेम से विदा तो कर दो। इसके पश्चात् कोयल की कूक के संकेत द्वारा वन के साथी वृक्ष उसे जाने की आज्ञा देते हैं -

'अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।'[14]

आश्रम के मृग ही उसके आत्मीय थे, वनज्योत्स्ना लता ही उसकी बहन थी। वनदेवियाँ और वहाँ के सब वृक्ष ही उसके रक्षक, पोषक और सहायक थे। जब तक वह प्रकृति की गोद में रही और प्रकृति की ही सहायता पाती रही तब तक तो वह प्रसन्न रही जहाँ मानव निर्मित पदार्थ (अँगूठी) से या पार्थिव मनुष्य (दुष्यंत) से उसका संपर्क हुआ, वहीं से उस पर विपत्तियों का आना प्रारम्भ जो जाता है।

शकुन्तला के आश्रम से जाने के बाद प्रकृति की प्रत्येक वस्तुएँ वेदना में हैं। उसके वियोग में हरिणियों ने कुशाओं को खाना छोड़ दिया है और मोरों ने नृत्य करना बन्द कर दिया है। लताएँ पीले पत्तों का रूप धारण करके मानो आँसू बहा रही हों। प्रकृति एवं मानव के संबंधों के इस सुंदर एवं सुखद वर्णन की मार्मिक झाँकी वर्तमान युग का पथ प्रदर्शन करती है। 'विक्रमोर्वशीयम्' में उर्वशी को देखकर उसे कांति प्रदान करने वाले चंद्रमा या वसंत ऋतु द्वारा रचित होने की बात पुनः प्रकृति के सौंदर्य भाव की अभिव्यक्ति है - **'अस्याः सर्ग विधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः।'**[15] चतुर्थ अंक में चित्रलेखा कहती है कि हे सखी! यहाँ भगवान सूर्य की सेवा करने के लिए सभी अप्सराओं की पारी बँधी हुई है। फिर सहजन्या कहती है कि चलो उदय होते हुए सूर्य की पूजा कर लें -**'उदयोन्मुखस्य भगवतः सूर्योस्योपस्थानं कुर्वः।'**[16] प्राकृतिक शक्तियों की उपासना के अतिरिक्त प्रकृति के सौन्दर्य की छटा भी 'विक्रमोर्वशीयम्' में विद्यमान है, जहाँ बादलों को छत्र की संज्ञा दी गई है एवं निचुल के पेड़ के मञ्जरियों द्वारा चँवर डुलाने की बात का सुन्दर वर्णन है -

विद्युल्लेखा कनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रम्, व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि।
धर्मच्छेदात्पटुतरगिरो वन्दिनो नीलकण्ठाः, धाराहारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः।।[17]

कालिदास के नाटकों में वर्णित प्रकृति एवं पर्यावरण से संबद्ध रमणीय प्रसंगों के वर्णन की अनुभूति मनुष्य को पर्यावरण के प्रति सचेत करती हुई परिलक्षित होती है। आज जहाँ चारों तरफ दुनिया प्रदूषण से त्रस्त है, जहाँ जलवायु परिवर्तन की समस्या उसके लिए चरम स्थितियाँ पैदा कर रही हैं, जहाँ भूमंडलीय ऊष्मण के कारण धरा का तापमान बढ़ते जा रहा है तो दूसरी तरफ कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की शकुन्तला निःस्वार्थ प्रकृति प्रेम का संदेश देती है। वह एक ऐसे पर्यावरण में निवास करती है, जहाँ तपोवन के वृक्ष, लताएँ एवं पशु-पक्षी उससे अथाह स्नेह करते हैं। वर्तमान समय में पर्यावरण की समस्त विद्रूपताओं को समाप्त करने का सबसे सहज उपाय है कि मनुष्य प्रकृति की महत्ता को समझे। वह पर्यावरण से प्राप्त प्राकृतिक संसाधनों के अतिशोषण एवं अतार्किक उपभोग से बचे, अन्यथा विपदाओं का आना निश्चित है। पर्यावरण के हर अंगों के प्रति कृतज्ञता का भाव हो, यह सबसे आवश्यक है। प्रकृति से प्राप्त संसाधन सिर्फ उपभोग की वस्तु नहीं है, जिसका प्रयोग अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए किया जाए। प्रकृति - प्रदत्त ये उपहार संपूर्ण चराचर जगत् के लिए विधाता की अनुकम्पा से प्राप्त हुए हैं। इस धरा का सबसे बुद्धिमान प्राणी होने के नाते मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रकृति का आदर करे एवं उसके नियमों के अनुकूल चलकर जीव जगत् एवं पादप जगत् के अस्तित्व को सुनिश्चित करे। कालिदास ने शिव की आराधना अष्टमूर्तियों के रूप में की है एवं वर्तमान समय को सुंदर एवं सुखद बनाने का मार्ग भी प्रकृति उपासना में निहित है। निस्संदेह कालिदास कृत नाटक एवं उनका संपूर्ण साहित्य इस दृष्टिकोण से मानव समाज के लिए अमूल्य निधि हैं, पथ प्रदर्शक हैं। प्रकृति एवं पर्यावरण में हो रहे नकारात्मक परिवर्तनों से विचलित मन महादेव से यही प्रार्थना करता है कि संसार के स्वामी महादेव पाप की ओर ले जाने वाली हमारी दुर्बुद्धि को मिटा दें ताकि हमारा मन अच्छे काम करने में लगा रहे -

'सन्मार्गलोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः।'[18]

सन्दर्भ -

1. पर्यावरण एवं पर्यावरणीय संरक्षणविधि की रूपरेखा, पृष्ठ संख्या - 11
2. आधुनिक जीवन और पर्यावरण, पृष्ठ संख्या - 5
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 1/1
4. कालिदासग्रन्थावली, अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 1/1
5. विक्रमोर्वशीयम् - 1/1
6. मालविकाग्निमित्रम् - 1/1
7. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 2/18
8. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 1/13
9. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 1/15 के बाद
10. इन्द्रप्रस्थ के काशपुष्प, पृष्ठ संख्या - 125
11. कालिदास : अपनी बात, पृष्ठ संख्या - 5
12. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 4/5
13. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 4/9
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 4/10
15. विक्रमोर्वशीयम् - 1/10
16. विक्रमोर्वशीयम् - 4/3 के बाद
17. विक्रमोर्वशीयम् - 4/13
18. मालविकाग्निमित्रम् - 1/1

22

कालिदास के रूपकों में अर्थमीमांसा

गट्टुलाल पाटीदार, रिपन कुमार

''शस्य श्यामला मातरम्'' भारत की भूमा सदैव ही धन-धान्य उत्पादक रही है। इसलिए जिस किसी भी भूमाधिपति शासक ने यहाँ की कृषि-व्यवस्था को सर्वोच्य स्थान दिया उसी के काल में भारत का आर्थिकस्तर स्वर्णिम् एवं समुन्नत अवस्था में रहा। किसी भी राष्ट्र की आर्थिक उन्नति की आधारशिला कृषि, वाणिज्य, व्यापार, विनिमय प्रणाली एवं व्यवसाय पर आधारित है। भारत की अर्थ-व्यवस्था में बृहद् योगदान कृषिकर्म का रहा है। वाणिज्य व्यापार समाज की आर्थिक-स्थिति की दूसरी मुख्य आधारशिला है। कालिदास के नाटकों से बोधगम्य होता है कि विनियम प्रणाली के अन्तर्गत भूमिकर के लिए राजा ने अन्न अथवा मुद्रा की छूट दे रखी थी। भूमिकर सामान्यतया उत्पादनांश के रूप में ही लिया जाता था। कालिदास के समय में जनसाधारण की समृद्धि का ही आभास होता है। कालिदास ने धनीवर्ग का अधिक वर्णन किया है। राजपथ दोनों पार्श्वों पर बहुमंजिली छते, कंगुरेवाले विशाल भवन चारों ओर देखने में आते हैं। बहुत से भवनों के साथ हरे-भरे उद्यान थे जहाँ मिट्टी की मनोरम क्यारियों में हर ऋतु के पुष्प और पौधे उगायें जाते थे। बहुमूल्य पत्थरों से राज्य को आय होती थी। स्वादिष्ट भोजन तथा भाँति-भाँति के मद की अधिकता थी। व्यापार भी फला-फूला था स्थल मार्ग से बंजारों के दल तथा जलमार्ग से सार्थवाह वाणिज्य द्वारा प्रस्तुत बहुधा धन सम्पत्ति लाते थे। व्यापार मार्ग निरंतर गतिमान रहते थे। राजपथ के दोनों किनारों पर दुकाने पंक्तिबद्ध थी। भीड़भाड़ वाले बाजारों में धनी क्रेता खरीददारी करने इधर-उधर घूमते थे जहाँ उन देशों के छोटे-बड़े आयात सामान के ढेर पड़े रहते थे जिनके साथ भारतवर्ष का व्यापार खूब चलयमान एवं ख्यातप्राप्त था। कालिदास कालीन समाज संपन्न होने के कई प्रमाण प्राप्य होते है। बिना अर्थ के कोई राज्य या समाज वैभव को प्राप्त नहीं हो सकता है। तत्समय धन समृद्धि को लिए हुए था।

व्यापार तथा वाणिज्य में समृद्धि

कालिदास समय में व्यापार एवं वाणिज्य विषयक संकेत प्राप्त होते है। कालिदास आसाम के पहाड़ी प्रदेश के खनिज साधनों की सम्पन्नता का उल्लेख करते है जिससे हीरे प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते थे। उन्होंने कई स्थानों की खानों का भी उल्लेख किया है।[1] नगर में बाजार क्रेताओं से भरा रहता था। खरीदने के अर्थ में निष्क्रय शब्द का प्रयोग किया जाता था। राजपथ के दोनों किनारे ऊँची-ऊँची दुकाने थी। दूसरी दुकानों के अतिरिक्त शराब की दुकानें भी पायी जाती थी।[2]

देशीय और विदेशी व्यापार भारतीय वणिकों की व्यस्त दिनचर्या थी। वणिक् सदैव समुद्र यात्रा में जाते रहते थे।[3] अभिज्ञानशाकुन्तल में हस्तिनापुर के सुप्रसिद्ध श्रेष्ठी की पोल दुर्घटना का उल्लेख पढ़ते है। व्यापार का पथ डाकुओं से और सागर में जल दस्युओं से सुरक्षित रखे जाते थे। व्यापार की उन्नत समृद्धि से अनुमान होता है कि मुद्रा विनिमय प्रचलित था। सिक्के लिए और गिने जाते है[5] तथा निष्कदेश के प्रचलित सिक्के थे और हमें एक सौ सुवर्ण मुद्राओं का संकेत मिलता है जैसे– शतसुवर्णपरिमाणाम्[6] जो सुवर्ण के नाम से जानी जाती थी। कलाओं में व्यापार एवं वाणिज्य समृद्ध अवस्था में था। उपयोगी कलाओं तथा कारीगरियों का व्यवहार होता था और दक्ष कारीगर अपने-अपने कामों को करते थे। सुवर्णकारों के हाथ सुन्दरतम् नमूने गढ़े जाते थे। सुवर्ण का परीक्षण अग्नि में होता था। अंलकारों का प्रयोग बहुलता से होता था और इसलिए उनके निर्माण में भी अवश्य ही अनेक शिल्पी लगते थे।[7] जिन अलंकारों के निर्माण के लिए असामान्य निपुणता आवश्यक है उनमें तगडी भी होती थी[8] जिसके नमूनों के अनन्त प्रकारों का कालिदास ने उल्लेख किया है। कालिदास ने केयूर की विविधता का भी उल्लेख किया है, तथा तप्तचामीकरांगदः[9] अर्थात् तपे हुए सोने को पीटकर अनेक सुन्दर रत्नों का रूप दिया जाता था। विविध प्रकार की अंगूठियाँ बनायी जाती थी। सूर्य की आकृति वाली अंगूठी भी बनायी जाती थी[10] कभी-कभी अंगूठी को पहनने वाले का नाम भी उस पर लिखा होता था[11] स्वर्णालंकार रत्नों से जड़ित भी होते थे[12] चामर की मूठ भी रत्न जड़ित होती थी।[13] तत्समय में ऐसे शिल्पी भी थे जो रत्नों के काम करते थे[14] हीरों को छेदते थे।[15]

कालिदास के नाटकों में कोषचालन जमा के संकेत भी प्राप्त होते है। जो वस्तु थाती के रूप में किसी व्यक्ति के पास फिर लौटा लेने के उद्देश्य से रखी जाती है वह निपेक्ष कहलाती हैं कोषचालन के लिए कालिदास न्यास[16] शब्द का उपयोग करते हैं। इसका अर्थ भी जमा करना है। खर्च में आये सारे खर्च को घटाकर और सौर करों को देने के बाद जो शेष रहता है, वह नीवी है। मालविकाग्निमित्रम् में शिल्पकार का उल्लेख आया हैं।[17] कलाओं के बारे में भी उल्लेख है, जैसे- संगीत कला[18], आध्यापक[19], चिकित्सक[20] आदि। इस प्रकार कालिदास के समय व्यापार एवं वाणिज्य समुन्नत अवस्था में उपलब्ध था।

राजकीय आय के साधन

राजकीय आय का प्रमुख साधन कर था। प्रजा से आय का षष्ठांश कर रूप में लिया जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तल में कंञ्चुकी राजा दुष्यंत को आय का छठा भाग लेने के कारण 'षष्ठांश वृत्ति'[21] कहता है। कर के अतिरिक्त निरूसंतान धनवानों की सम्पत्ति उनकी मृत्यु के पश्चात् राजकीय सम्पत्ति हो जाती थी।

अभिज्ञानशाकुन्तल में धनमित्र नामक निरूसंतान व्यापारी की सम्पत्ति उसकी मृत्यु के पश्चात् राजकोष में जमा हो इस प्रकार का संवाद प्राप्त है।[22] राजस्व प्राप्त होने के लिए जिन साधनों का उल्लेख कालिदास ने किया है वह इस प्रकार हैं – भूकर, राजकर, सिंचाई, विजय, मादकद्रव्य, उपहार तथा भेंट, राजकीय एकाधिकार तथा अन्य कार्य व्यवहार से राज्यकोष में आने वाली अनधिकृत सम्पत्ति। इस प्रकार कालिदास के समय राजकीय आय के स्त्रोत उपलब्ध थे, जो नाटकों के कथा-प्रसंगों में दिखाई देते है।

टैक्स (कर) से आय

कालिदास के समय में आय का सर्वप्रथम साधन भू-कर था जो कालिदास के नाटकों से ज्ञात होता है। यह कर कड़ाई से वसूल किया जाता था। इसका संग्रह इस प्रकार किया जाता था कि तपोभूमि के निवासी तपस्वियों के आध्यात्मिक अर्जन भी इसके अपवाद नहीं थे और एक स्थान पर कहा गया है कि जो धन वर्णो

अथवा सामाजिक व्यवस्थाओं से संग्रहित होता था, नाशवान था किन्तु अरण्यवासी राज्य को अपने तप का षष्ठांश देते थे, जो नाशरहित था।[23] सन्दर्भ भी मिलते हैं, जहाँ तपस्वी भी अपनी भूमि की उपज के भाग को चुकाता है। तपस्वियों के द्वारा संग्रहित चावल का छठा भाग राजा के लिए नदी के किनारे एकत्रित किया जाता था। जिसमें वहाँ से राजकीय अधिकारी उसे ले जायें। कर लेकर राजा अपनी प्रजा का रक्षण भी करता था। इसलिए तपस्वी भी अपने संग्रह से अन्न का छठा भाग राजा को दे देते हैं। यह विचार कर कि यह कर स्वरूप उसको दिया जा रहा है जो हमारी रक्षा करता है।[24] राज्य प्रजा के जन-धन की रक्षा करने के प्रतिफल स्वरूप उससे भूमि की उपज का छठा अंश लेता था, यथा-

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
तपः शड्भागमक्षम्यं ददत्यारण्यका हि नः।।[25]

अभिज्ञानशाकुन्तल में राजा प्रजा से 'भागधेयम्' ग्रहण करता है।[26] जो 'कर' का द्योतक है। कौटिल्य के अनुसार भूमि की उपज का वह अंश भाग है जो राज्य को दिया जाता है। कालिदास षष्ठांश के सिद्धान्त को ही सही मानते हैं। इसको वे राजा की जीवन-निर्वाह (वृत्ति) आय का नाम देते हैं।[27] इस प्रकार भू-कर के विषय में कालिदास ने अपना पर्याप्त मत प्रकट किया है, जो तत्समय की राज्यव्यवस्था में अर्थनीति को इंगित करता है।

सम्मान एवं पारितोषिक

कालिदास के काल में विद्वानों और साहित्यकारों का बहुधा सम्मान होता था। राजा लोग स्वयं विद्वान और काव्य प्रेमी होते थे और वे विद्वानों का सम्मान करते थे। उनके आश्रय में रस भाव की व्यंजना में निपुण कवि रहते थे।[28] समय-समय पर विद्वत गोष्ठियाँ और साहित्यिक सम्मेलन भी होते थे। सम्मेलन में नवोदित साहित्यकारों की कृतियों का विद्वत्परिषद् के समक्ष परीक्षण होता था।[29] ग्रन्थों की परीक्षा नवीन एवं पुरानी के आधार पर नहीं होती थी अपितु जो कृति अपने काव्यमय गुणों से विद्वानों को मानसिक संतोष प्रदान करती थी, वही सर्वसम्मति से सर्वोत्कृष्ट घोषित की जाती थी।[30] मालविकाग्निमित्र में सूत्रधार के कथन से ऐसा ज्ञात होता है कि विद्वानों की परिषद् भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि प्राचीन कवियों के प्रबन्धों को छोड़कर नवोदित साहित्यकार कालिदास के मालविकाग्निमित्र का अभिनय किया जा रहा है।[31]

नाट्याचार्यों में योग्यता को लेकर प्रायः शास्त्रार्थ होता था जिसका निर्णय राजसभा में राजा के समक्ष होता था[32] आचार्यो के शास्त्रज्ञान का परीक्षण उनके शिष्यों के कला चातुर्य के आधार पर होता था।[33] कला प्रदर्शन के पश्चात् जो कलाकार सर्वसम्मति से सर्वश्रेष्ठ घोषित होता था उसे सम्भवतः पारितोषिक भी प्रदान किया जाता था।[34] इस प्रकार धन उपहार स्वरूप प्राप्त होता था। यह जीविका का माध्यम भी था, जो भी राज्य विद्वानों एवं कवियों का सम्मान करता है वह राज्य समृद्धि को प्राप्त करता है। तत्समय सम्मान लोक एवं राज्य दोनों में उपलब्ध था। विद्वान् ही राज्य की संपत्ति थी राजा इसका रक्षण करता था।

मादकद्रव्य विभाग से आय

कालिदास के काल में मदिरा की भव्यशालाओं से कर वसूल करने का कोई प्रमाण नहीं है, फिर भी मदिरालयों की एक बडी संख्या को स्वीकार करते हैं, राजपथ के किनारें मदिरालय सामान्यतरू देखे जाते हैं।[35] यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि आय के ऐसे बड़े साधन को कर लगाये बिना छोड दिया गया होगा जब हम देखते हैं कि कर की वसूली इतनी सख्त थी कि यती तथा तपस्वी भी इसके अपवाद में नहीं थे। अर्थशास्त्र मादक द्रव्यों को एक बड़ी आय का साधन बनाता है, वहीं वह यह आदेश भी करता है कि मदिरा क्रेताओं के

ध्यान आकर्षित करने तथा उनकी सुविधा और आराम के लिए मदिरालयों को किस प्रकार सुसज्जित रखना चाहिए। अद्यसमय भी यह विभाग कर ग्रहण में महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान करता है। यह विभाग राजकीय आय का बड़ा स्त्रोत है।

स्थल व सामुद्रिक मार्ग में व्यापार वाणिज्य

कालिदास के नाटकों से ज्ञात होता है कि व्यापार तथा वाणिज्य स्थल और जल दोनों मार्गों से दूर-दूर तक होता था। स्थल तथा सामुद्रिक मार्ग से व्यापार और वाणिज्य उन्नतिशील था। नैगम[36] और सार्थवाह[37] जैसे बड़े-बड़े व्यापारी अपने स्वामी को प्रचुर धन देते थे। भूकर के अतिरिक्त जो कर प्राप्त होता था, अधिकांश मुद्रा में राज्य को दिया जाता था और राजस्व मन्त्री साम्राज्य के अनेक भागों से कोण-संग्रह का ग्रहण और उसकी गणना करता था।[38]

देशीय व्यापार के साथ वैदेशिक व्यापार भी किया जाता था। इसका प्रमाण अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक में मिलता है।[39] व्यापार स्थल और जल, दोनों मार्गों से होता था। देशीय व्यापार स्थल मार्ग से तथा वैदेशिक समुद्र मार्ग से। जल-मार्ग का व्यापार नौका और जल पोतों द्वारा होता था। अभिज्ञानशाकुन्तल में धनमित्र नामक समुद्र व्यापारी का उल्लेख हुआ है, जो नाव द्वारा ही वैदेशिक व्यापार करता था।[40] मुद्राएँ विनिमय के काम में आती थी। उस समय सिक्कों का प्रचलन था। अभिज्ञानशाकुन्तल में मन्त्री का धन-गणना में संलग्न रहना मुद्रा प्रचलन का ही प्रमाण है।[41] इस प्रकार समस्त व्यापारों से राजकीय आय भी प्राप्त होती थी।

उपहार एवं भेंट से प्राप्त धन -

भेंट एवं उपहार भी अर्थ समृद्धि का संकेत है। भेंट को सिद्धान्त रूप में 'उपायन' नाम से पुकारा जाता था। जिसका सामान्य अर्थ सम्मानजनक उपहार होता है। मालविकाग्निमित्र में वीरसेन विदर्भराज को युद्ध में जीतकर अनेक अमूल्य रत्न, हाथी, घोड़े, कलाकार और परिजन राजा अग्निमित्र के पास उपहार रूप में भेजता हैं।[42] विदर्भ के राजा से अग्निमित्र के वैदेशिक मन्त्री ने जो उपहार स्वीकार किया था उसको इस बात का उदाहरण माना जाता है कि एक अधिनायक या समकक्ष स्वतन्त्र शासक सामान्यतः किन वस्तुओं को भेंट स्वरूप ग्रहण करते थे।[43] उपहार एवं भेंट से भी तत्समय की आर्थिक स्थति का आभास होता है तथा धन को आय के रूप में लिया जाता था।

राजकीय एकाधिकार से प्राप्त आय के स्त्रोत

कालिदास के नाटकों में राजकीय एकाधिकार से आय के अर्जिन के संकेत मिलते है। राजकीय एकाधिकार आय के कार्यों में पुल निर्माण तथा नाव का घाट चलाना, कृषि-खलिहान मवेशी-पालन और हाथी पकड़ना आदि। मुख्य राजकीय एकाधिकार थे, जिनसे प्रभूत आय होती थी। पर्याप्त विस्तार में खोदी गयी खानें खनिज द्रव्यों से भरीपूरी थी।[44] मालविकाग्निमित्र में कई अन्य उद्योग धन्धों के भी प्रमाण मिलते हैं - जैसे माँस-विक्रेता[45], शिल्पकार[46], कलाकार[47], अध्यापक[48], चिकित्सक[49] आदि उल्लेखनीय है। इस प्रकार राजकीय एकाधिकार से भी विभिन्न आय राजकीय खजाने में प्राप्त होती थी, उसके उल्लेख नाटकों में प्राप्त होते है। तथा राज्य इससे समृद्ध होता था।

मत्स्य व्यवसाय में जीविका

मत्स्य व्यवसाय का उल्लेख अभिज्ञानशाकुन्तल में प्राप्त होता है। प्राचीन समय में अर्थ के स्थान पर रत्न, अंगुठी, मोहरे, अशरफीयाँ आदि भेंट की जाती थी, इनसे व्यक्ति अपना जीवन-यापन करता था। शचीतीर्थ

में जल वन्दना करते समय शंकुतला के हाथों से अंगुठी गिर जाती है। यह मुद्रिका पुनः धीवर मछुआरें को प्राप्त होती है। राजा के सिपाही मछुआरें को चोर समझते है। पर मछुआरा अपने व्यवसाय का उल्लेख कर स्वयं को निर्दोष बताता है-

सहजं किल यद्विनिन्दितं नतु तत् कर्म विवर्जनीयकम्।
पशुभारण कर्मदारुणः अनुकम्पा मृदुकीऽपिश्रोत्रियः।।[50]

धीवर मछुआरा उस अंगुठी को शहर में बेचकर अपना सामान आदि खरीदना चाहता था अर्थात् मुद्रिका आदि का उपयोग अर्थ एवं विनिमय के रूप में होता था। मुद्रिका जब राजा को दिखाई जाती है तो शाप का अन्त भी हो जाता है। पुनः राजा धीवर को पुरस्कृत करते है- ''उतिष्ठः एतत् भर्त्रा अङ्गुरीयमूल्य सम्मितं पारितोषिकं ते प्रसादीकृतम्।[51] महाराज धीवर को अंगुठी के मूल्य का पारितोषिक उपहार प्रदान करते हैं। तत्कालीन समय के पुरस्कार से प्राप्त राशि से परिवार का भरण-पोषण होता था। इस प्रकार कई अलग अलग व्यवसायों से राज्य की आय को बढ़ाया जाता था।

राज्यहस्तगत संपत्ति

अभिज्ञानशाकुन्तल के षष्ठ अंक में धनमित्र नाम का एक व्यापारी नौका टूट जाने से समुद्र में डूब जाता है। उसके सन्तान नहीं है, अतः उसका धन राजकोष का होता है। यह प्रसंग राजा को अनपत्यता का स्मरण दिलाता है। राजसम्पत्ति का अधिकारी कौन होगा? वह मुद्रित हो जाता है- ''तस्य चानेक कोटिसंख्यं वसु, तदिदानीं राजस्वतामापद्यते, इति श्रुत्वा देव प्रमाणम् इति।''[52] धनसम्पत्ति पर परिवार के ही किसी सदस्य का सर्वाधिकार था, परन्तु यदि सन्तानहीन कोई है तो उसकी सम्पत्ति राजकोष में जमा करा दी जाती थी। वर्तमान में सम्पत्ति सरकार अपने हस्तगत कर लेती है। इस प्रकार की संपत्ति से भी राजकोष की श्रीवृद्धि की जाती थी।

राज्य आय के स्रोत

कालिदास नाटकों में अर्थमीमांसा के बीजमन्त्र उपलब्ध है। प्रजाजनों के धन की रक्षा के बदले में राज्य द्वारा प्रजा की भूमि की उपज का छठा भाग कर (टैक्स) के रूप में ग्रहण किए जाने के संकेत रघुवंश तथा अभिज्ञानशाकुंतल में भी उपलब्ध होते हैं। विघ्नों से तथा चोर डकैतों से धन की रक्षा करने वाले राजा को आश्रमवासी तथा सभी वर्गों के लोग अपनी योग्यता के अनुसार अपने अपने धन का छठा भाग प्रदान करते थे। यथा- **यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षति तद् धनम्। तपः षड् भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।।**[53] **शेषः सदैवाहितभुमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एव।**[54]

इस प्रकार राज्य व्यवस्था में प्रमुख आय के रूप में कर का संग्रहण किया जाता था पर राजा कर केवल प्रजा के कल्याण के लिए ही लेते थे उस समय शोषण की भावना राज्य में व्याप्त नहीं थी। लोक कल्याण की भावना से लिया गया कर राज्य की प्रजा को खुशहाल जीवन देता था।

विजय से प्राप्त आय

विजय से भी अतुल सम्पत्ति प्राप्त होती थी। विजेता विजय के रूप में अश्व गज सुवर्ण के ढेर और बहुमूल्य उपहार लाते थे। विजय में प्राप्त राजाओं से हाथी, घोड़े, सैनिक और बहुमुल्य जवाहरात भी विजय प्राप्त करने वाले राजा के आय के साधन थे। मालविकाग्निमित्र में वीरसेन विदर्भ राज को युद्ध में जीतकर अनेक बहुमुल्यरत्न हाथी, घोड़े, कलाकार और परिजन राजा अग्निमित्र के पास उपहार-रूप में भेजता है।[55]

जीविकोपार्जन

कृषि और वाणिज्य के साथ-साथ अनेक छोटे-मोटे व्यवसाय एवं उद्योग प्रचलित थे। जिससे लोगों का जीविकोपार्जन होता था। अभिज्ञानशाकुन्तल के छठे अंक में कुम्भीरक[56] शब्द का उल्लेख आया है। वंश परम्परा से प्राप्त स्वाभाविक कार्य को निन्दनीय होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि यज्ञ में पशुओं की हत्या का कर्म करने के कारण क्रूर होता हुआ भी वेदपाठी ब्राह्मण दयाभाव से कोमल होता है।[57] क्योंकि यह उनकी आजीविका का सहारा होता है। जीविकोपार्जन के लिए लुब्धक का भी उल्लेख अभिज्ञानशाकुन्तल में आया है।[58] अन्य जीविकोपाजीवियों में षौंडिक[59] 'उद्यानपालिका'[60] आदि उल्लेखनीय है। इस प्रकार तत्समय समस्त प्रकार के व्यापार एवं वाणिज्य में जीविका के अवसर उपलब्ध थे।

कलाओं में जीविका एवं रोजगार के अवसर

कालिदास के समय कलाओं में जीविका एवं रोजगार उपलब्ध था। कालिदास नाटकों में लोकनृत्य के रूप में हल्दीसकनृत्य और शास्त्रीयनृत्य के रूप में छलिक[61] नृत्यों का उल्लेख हुआ है। राजकीय उत्सवों और लोकोत्सवों के अवसर पर संगीत-आयोजन का विशेष प्रचलन था। मालविकाग्निमित्र[62] नाटक में वसन्तोत्सव के अवसर पर नाटकाभिनय के साथ-साथ परिषद् में सरसता-संचार के लिए संगीत की भी रचना की जाती है। मालविकाग्निमित्र नाटक के प्रथम अंक में नाट्याचार्य गणदास और हरदत्त की पारस्परिक प्रतिस्पर्धावश एक इसी प्रकार की संगीत प्रतियोगिता का आयोजन होता है जिसमें दोनों आचार्यो की शिष्याएँ अपना अभिनय-चातुर्य प्रदर्शित करती है।[63] प्रेक्षागृह[64] संगीतशाला[65] और नाट्याचार्य[66] आदि शब्दों के बहुत प्रयोग से स्पष्ट होता है कि जनसाधारण और राजपरिवार में संगीत कला के प्रति बहुत रूचि थी। राज्य में संगीत शालाएँ और प्रेक्षागृह भी थे जहाँ नाट्यशास्त्र में पारंगत नाट्याचार्य संगीत की शिक्षा देते थे। इन आचार्यों को राजा की ओर से वेतन मिलता था। इस प्रकार कलाओं में रोजगार के अवसर उपलब्ध थे।

काव्य-कला के समान चित्रकला भी आन्तरिक अभिव्यक्ति का सुन्दर माध्यम है। राज-भवनों और सार्वजनिक स्थलों में चित्र शालाएँ होती थी।[67] इन चित्र शालाओं में कलाविद आचार्य कला जिज्ञासुओं को आलेखन की शिक्षा देते थे।[68] दुष्यन्त, पुरुवा, वसन्तसेना, शकुन्तला की सखियाँ- अनसूया-प्रियवंदा- ये सभी पात्र चित्रांजन में प्रवीण बताये गये हैं। राजा दुष्यन्त शकुन्तला के चित्रालेखन में अपनी निपुणता का प्रदर्शन करता है।[69] पुरुरवा अपनी प्रेयसी उर्वशी का चित्र बनाना चाहता है, परन्तु बार-बार आँखों में आँसू आ जाने से चित्र के अधूरा रहने की शंका के कारण उसे नहीं बनाता।[70] शकुन्तला की सखियाँ केवल चित्रकला के अनुभव के आधार पर शकुन्तला को अलंकृत करती है[71] उस समय चित्रकर्म में जीविका के अथाह अवसर दिखाई देते है। कालिदास के समय साहित्य, संगीत आदि कलाओं के समान मूर्तिकला भी उन्नत अवस्था में थी। मूर्तिनिर्माण के साधनों में मिट्टी, काष्ठ और प्रस्तर का उपयोग किया जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तल में भरत मिट्टी से बने हुए मयूर से खेलता है।[72] गृहों की सुन्दरता के लिए भित्तियों पर पशु-पक्षी आदि की आकृतियाँ भी उत्तीर्ण की जाती थी। विक्रमोर्वशीय में राज-द्वार पर बैठे हुए मोर पत्थर में खुदे हुए से प्रतीत होते है।[73] इस प्रकार मूर्तिकला में आजीविका वृत्ति के संकेत प्राप्त होते है। तत्समय मूर्तिकला में अर्थ रमता था।

इस प्रकार कालिदास काल में कलाओं में कौशल था तथा कौशल ही जीविकापार्जिन का साधन था। कलाओं के विकास में राज्य सहयोगी था। राजा कलाओं की अभिवृद्धि में बहुत मनोयोग से कार्य करते थे। अर्थ व्यवस्था का प्रमुख आधार कलाएं थी तथा राज्य की आर्थिक उन्नति का आधार भी।

कालिदास के काल में व्यापार मुख्यतः छोटी-छोटी समितियों के हाथ में था। व्यापार मार्ग सुरक्षित थे, चोर डाकुओं का डर नहीं था। स्थल और जल दोनों मार्गों से आयात और निर्यात होता था। इस प्रकार आर्थिक मीमांसा की दृष्टि से कालिदास का समय उत्तम श्रेणी का कहा जा सकता है। कालिदास के नाटकों में प्राप्त उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि राजा और प्रजा दोनों का जीवन खुशहाल अवस्था में था तथा रोजगार पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था। आर्थिक संपन्नता परिलक्षित होती है।

सन्दर्भ -

1. मालविकाग्निमित्रम् - 5.18
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - अंक -6, पृष्ठ संख्या - 318
3. वही- अंक -6, पृष्ठ संख्या - 357
4. वही- अंक -6, पृष्ठ संख्या - 357
5. मालविकाग्निमित्रम्, अंक -5, पृष्ठ संख्या - 339
6. मालविकाग्निमित्रम्- अंक -5, पृष्ठ संख्या - 339
7. सखि देव्या इदं शिल्पिसकाशदानीतं नागमुद्रासनाथमंगलीयकं स्निग्धं निध्यायन्ती तवोपालम्भे पतितास्मि। वही- अंक- 1, पृष्ठ संख्या 253
8. वही- अंक- 3.21
9. विक्रमोर्यवशीयम्- 1.15
10. नागमुद्रा सनाथमंगुलीयकं - मालविकाग्निमित्रम् - अंक 1, पृष्ठ संख्या 253
11. मणिबन्धनोंत्कीर्णा अंगुलीयकम्- अभिज्ञानशाकुन्तलम् - अंक- 6
12. मालविकाग्निमित्रम्- 5.18
13. वही- 5.18
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 2.10
15. वही- 6.6
16. वही- 4.21
17. सखि देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतम्। मालविकाग्निमित्रम् - अंक-1, पृष्ठ संख्या- 263
18. कस्यां कलायामभिविनीते भवत्यौ? भर्ता संगीतकेऽभ्यन्तरे स्वः। मालविकाग्निमित्रम् - अंक-5, पृष्ठ संख्या-346
19. भवति पश्याम उदरंभरि संवादम्। किं मुधा वेतनदानेनेतेषाम्। मालविकाग्निमित्रम्-अंक-1, पृष्ठ संख्या-274
20. अत्र भवत उचितवेलतिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति। मालविकाग्निमित्रम् - अंक-2, पृष्ठ संख्या-288
21. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 5.4
22. वही- अंक 6, पृष्ठ संख्या 121
23. नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्तिवति, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 2, पृष्ठ संख्या 139
24. अन्यदेव भागधेमेतेषां रक्षणे निपतति ..... । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 2, पृष्ठ संख्या 139
25. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 2.13
26. मूर्ख अन्यदेव भागद्येयमेतेषां रक्षणे निपतति यद् रत्न राशीनपि विहायभिनन्द्यम्। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 2, पृष्ठ संख्या 139

27. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 2/13
28. इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूमिरष्णपरिषद् । अभिज्ञानशाकुन्तलम्-अंक 1 पृष्ठ संख्या 4
29. इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूमिरष्णपरिषद् । अभिज्ञानशाकुन्तलम्-अंक 1 पृष्ठ संख्या 4
30. मालविकाग्निमित्रम् - 1.2
31. मा तावत् । प्रथितयशसां......क्रियायां कथं बहुमानः । मालविकाग्निमित्रम्-अंक 1, पृष्ठ सं. 252
32. मालविकाग्निमित्रम् - अंक- 1, पृष्ठ संख्या 274
33. वही- 1.10
34. सुशिक्षितोऽपि सर्वम् उपदेशदर्शनेन निष्णातो भवति । मालविकाग्निमित्रम्-अंक-1, पृष्ठ सं. 277
35. कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिथ्यते तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 6, पृष्ठ संख्या 318
36. धारासारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः । विक्रमोर्वशीयम्- 4.13
37. समुद्रव्यहारी सार्थवाहो .... । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृष्ठ संख्या 219, अंक - 6
38. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - अंक 6
39. चीनांशुकमिवं केतोः । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.32
40. समुद्र व्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रों नाम । नौत्यसने विपन्नः । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 6, पृष्ठ संख्या 121
41. अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव - पौरकार्यमवेक्षितम् । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 6, पृष्ठ संख्या 120
42. मालविकाग्निमित्रम्- अंक 5, पृष्ठ संख्या 339
43. वही- .... पृष्ठ संख्या 329, अंक - 5
44. वही- 5.18
45. वही- अंक 2, पृष्ठ संख्या 289
46. सखि देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतम् । - मालविकाग्निमित्रम्- अंक 1, पृष्ठ संख्या 263
47. कस्यां कलायामभिविनीते भवत्यौ 2 भर्ता संगीत के ङभ्यन्तरे स्वः । मालविकाग्निमित्रम्- अंक 5, पृष्ठ संख्या 346
48. भवति पश्याम उदरं भरि संवादम् । किं मुधा वेतन दाने ने तेजाम् । मालविकाग्निमित्रम्- अंक-1, पृष्ठ संख्या 274
49. अत्र भवत उचित वेलातिक्रमे चिकित्सा दोषमुदारहरन्ति । मालविकाग्निमित्रम्- अंक 2, पृष्ठ संख्या 288
50. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-6.1
51. वही- पञ्चमाङ्गाषोडङ्कावतार, पृष्ठ संख्या 413
52. वही- पृष्ठ संख्या षष्ठ अंक/413
53. वही-2/14
54. वही- 5/4
55. मालविकाग्निमित्रम्- अंक-5, पृष्ठ संख्या- 339
56. अरे कुम्भीरक कथय, अभिज्ञानशाकुन्तलम् - अंक 6, पृष्ठ 97
57. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 6.1
58. शकुनिलुब्धकैः । - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 2, पृष्ठ संख्या 27
60. तच्छोण्डिकापणमेव गच्छामः । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 6, पृष्ठ संख्या 101

61. भवतु अनमोरेवोद्यान पालिकायोः - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 6, पृष्ठ संख्या 102
62. नेपथ्ये मृदंगध्वनिः। मालविकाग्निमित्रम्- अंक पृष्ठ संख्या 279
63. अचिरप्रवृत्तोद्देशं छलिकं नाम नाट्यमन्तरेण की–शी मालविकेति नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुम्। मालविकाग्निमित्रम् - अंक, 1 पृष्ठ संख्या 262
63. मालविकाग्निमित्रम्- 1-2 सम्पूर्ण
64. तेन हि द्वावपि वर्गो प्रेक्षागृहे संगीत रचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतं प्रेषयतम् - मालविकाग्निमित्रम्- अंक 1 पृष्ठ संख्या 278
65. तत्तावत्संगीत शालां गच्छामि। मालविकाग्निमित्रम् - अंक 1, पृष्ठ संख्या 262
66. देव्या एवं वचनेन नाट्याचार्यमार्यगणदासं - मालविकाग्निमित्रम् - अंक-1, पृष्ठ संख्या 263
67. अथवा पण्डितसन्तोषप्रत्यया ननु मूढजातिः। यतोऽत्रभवत्या शोभनं भणितं तत इदं ते पारितोषिक प्रयच्छामि। मालविकाग्निमित्रम्- अंक 2, पृष्ठ संख्या 286
68. चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति। मालविकाग्निमित्रम्- अंक-1, पृष्ठ संख्या- 26469.
69. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - अंक 6, पृष्ठ संख्या 114-119
70. विक्रमोर्यवशीयम्, 2.10
71. चित्र्कर्मपरिचयेनांगेषु तो आभरणविनियोगं कुर्वः। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक-4, पृष्ठ संख्या-64
72. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- अंक-7, पृष्ठ संख्या-138
73. उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो। विक्रमोर्यवशीयम्-3.2

23

कालिदास के नाटको में प्रतिभासित कृषि विज्ञान

अनिन्द्य चौधुरी

'विद्या' शब्द ज्ञानार्थक विद् धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ है जिससे हम लोगों को धर्म और अर्थ का ज्ञान होता है। विद्या के चार प्रकार आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति है। महामति कौटिल्य ने कहा है- ''आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः''[1]। मनुसंहिता में भी चार प्रकार के विद्या की चर्चा है-

''त्रैविद्येस्त्रयीं विद्याद् दण्डनीतिञ्च शाश्वतीं। आन्वीक्षिकीञ्चात्मविद्यां वार्तारन्तांश्च लोकतः।।''[2]

वार्ता क्या है ? आचार्य कौटिल्य ने आगे कहा -''कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता''[3]। श्रीमद्भागवतपुराण में भी कहा गया है-

''कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते। वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्।।''[4]

अर्थशास्त्रकार के अनुसार वार्ता विद्या तीन प्रकार की होती है लेकिन श्रीमद्भागवतपुराण के अनुसार वार्तावृत्ति चार प्रकार की होती है - कृषि, व्यापार, पशुरक्षा और सूदग्रहण। अतः कृषि वार्ता विद्या का एक प्रमुख विषय है। यह वार्ता विद्या मानव समाज के लिये लाभकारी है क्योंकि यह अन्न (धान), जीव-जन्तुओं की प्राप्ति में सहायक है। कृषि इस संसार में हमारे जीवन की तरह ही महान है। क्योंकि कृषि के परिणामस्वरूप उत्पादित भोजन मानव जीवन को सुचारु रूप से संचालित करता है। अतः कृषि और जीवन का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। वैदिक काल से ही कृषि का विशेष विकास हुआ। ऋग्वेदीय अक्षसूक्त में ऋषि कवच ऐलूष कहते हैं कि, जुआ मत खेलो, कृषि करो और सम्मान के साथ धन पाओ, उस धन और खुशी का आनंद लें --

''अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।।''[5]

अर्थात् कृषि के प्रति चेतना ने मानव को आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण सोपान की सृष्टि की। यह मानव का अपने समाज पर उपकार करने वाली सर्वाधिक चमत्कृत करनेवाली सोच भी है और आविष्कार भी। क्योंकि, ऋग्वेद का 'अक्षसूक्त' यह स्पष्ट करता है कि मानव को ज्ञात हो गया था कि व्यर्थ के विवाद, जुआ इत्यादि को छोड़कर कृषि करना ही उत्तम है, कृषि जीवन का सार है और यज्ञ-जैसी संस्थाओं की अत्यधिक निर्भरता भी इसी पर सम्भव है। ऋषि ने उपदेश किया है कि द्यूतकर अर्थात् द्यूतक्रीडा में सर्वस्व खोने वाले व्यक्ति अपने शकल- पांसों का छोड़कर कृषि का मार्ग अंगीकार करें, क्योंकि यही श्रेष्ठ और कर्त्तव्यभूत है।

वैदिक काल में कृषि व्यवस्था में आर्तना[6], अप्नस्वती[7] और उर्वरा[8], कृषि भूमि का विभाजन, कृषि भूमि की माप[9], भूकर्षण[10] (जुताई), कल्याणकारी परती[11], सिंचाई प्रणाली[12], उर्वरकों का उपयोग[13], बीज बोना[14],

कटाई और संरक्षण आदि विभिन्न पहलू थे। महाकवि कालिदास का युग साहित्य और विज्ञान के महानतम युग के रूप में जाना जाता है। इस काल में कृषि एवं उद्यान विज्ञान अत्यधिक उन्नत थी। इस अवधि के दौरान, भारत की उपजाऊ मिट्टी में विभिन्न मौसमों में विभिन्न फसलें और फूल वाले वृक्ष लगाए गए थे। यहां तक कि राजमार्ग के दोनों किनारों पर वृक्ष लगाए गए और बड़े घरों के परिसर में बगीचे बनाए गए।

भूमि का प्रकार –

कालिदास[15] के समय में आर्थिक दृष्टि से पाँच प्रकार की भूमि का विभाजन किया गया था। 1. कृषि योग्य भूमि, 2. बंजरभूमि, 3. रहने योग्य भूमि, 4. गौ चारागाह भूमि और 5. वनभूमि या उद्यान। कृषि योग्य भूमि को वेदों में 'अप्नस्वती' या 'उर्वरा' कहा गया है। वेदों में बंजर भूमि का उल्लेख 'आर्तना' पद से किया गया है। महाकवि कालिदास अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक की प्रस्तावना में कहते हैं ''एष खलु कण्वस्य कुलपतेः अनुमालिनीतीराश्रमो दृश्यते''।[16] उक्त वाक्य से यह अनुमान लगाया जाता है कि महाकवि कालिदास के समय में उपर्युक्त पाँच प्रकार की भूमि के अतिरिक्त आश्रम भूमि भी विद्यमान थी।

ऋतु -

महाकवि कालिदास ने ऋतुसंहार गीतिकाव्य में भारत की जलवायु एवं षड् ऋतुओं का सजीव चित्रण किया है, जिसे कृषि एवं उद्यान विज्ञान के लिए अपरिहार्य माना गया है। कालिदास के नाटकों में कुछ मौसम के संदर्भ भी मिलते हैं। ऋतुसंहार में वर्णित छह ऋतुएँ हैं -

- निदाघ काल - ज्येष्ठ और आषाढ़ (June & July),
- वर्षा काल - श्रावण और भाद्रपद (August & September),
- शरद काल - आश्विन और कार्तिक (October & November),
- हेमन्त काल- मार्गशीर्ष और पौष (December & January),
- शिशिर काल - माघ और फाल्गुन (February & March),
- वसन्त काल - चैत्र और वैशाख (April & May)

निदाघ काल - अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के प्रथम अंक में ग्रीष्म ऋतु का सन्दर्भ दृष्टिगोचर होता है - ''तदिदमेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम्''[17]। महाकवि कालिदास ने ग्रीष्म ऋतु के वर्णन में कहा है कि इस दौरान लोग शरीर को ठंडा रखने के लिए चंदन लगाते हैं। इस ऋतु में पाटल शिरीष आदि पुष्प विकसित होते हैं। ग्रीष्म ऋतु का उल्लेख कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् नाटक में भी किया है, ''वसन्तानन्तरमुष्णसमये भगवान् सूर्यो मयोपचरितव्यः''[18]।

मानसून ऋतु - ''प्लावृण्णदीवाप्रपन्ना गता देवी''[19] महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् नाटक में इस वाक्य द्वारा वर्षा ऋतु का उल्लेख किया है। मानसून के दौरान केसर, बकुल, कदंब, मालती, युथिका आदि पुष्प प्रचुर मात्र में विकसित होते हैं ।

शरद ऋतु - मालविकाग्निमित्रम् नाटक में शरद ऋतु के वर्णन के बारे में नाटककार कालिदास कहते हैं -

''दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निविड़ोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव''।[20]

श्लोकांश में शरद ऋतु का उल्लेख है। इस ऋतु में कमल, कुमुद, शेफालिका आदि के पुष्प विकसित होते हैं।

हेमन्त ऋतु - ऋतुसंहार में इस ऋतु का अत्यन्त मनोरम एवं विस्तृत वर्णन दृष्टिगोचर होता है। हेमन्त ऋतु में खेत परिपक्व फसलों से भर जाते हैं। इस ऋतु में लोध्र पुष्प विकसित होते हैं।

शिशिर ऋतु - इस ऋतु में विशाल क्षेत्र धान और इक्सू जैसी फसलों से ढक जाते हैं। इस ऋतु में कनककमलादि के विकसित हुए पुष्प दृष्टिगोचर होते हैं।

वसन्त ऋतु - महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् नाटक में वसन्त ऋतु या मधु-मास का उल्लेख किया है-

''ईषद्बद्धरजः कनाग्रकपिशा च्युते नवा मञ्जरी।
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता''।।[21]

वसन्त ऋतु में किंशुक, रक्ताशोक, मल्लिका, अमलतासादि फूल खिलते हैं।

वार्षिक फसलें - रघुवंशम्, कुमारसंभवम्, ऋतुसंहारम् और अभिज्ञानशकुन्तलम् में धान, जौ, इक्षु, तिल, केसर आदि फसलों का उल्लेख है। इसलिये कालिदास के समय में ऐसी फसलों की कृषि का अनुमान सहजता से किया जा सकता है। कालिदास के समय में चावल की विभिन्न कोटि उपलब्ध थीं, जिनमें शाली, कलमा और नीवार प्रमुख मानी जाती थीं। अभिज्ञानशकुन्तलम् नाटक में नीवार धान्य का उल्लेख है। –

''शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारवलिं विलोकयतः।।''[22]

या,

''नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः।।''[23]

केसर के फूलों से केसर प्राप्त होता है। विक्रमोर्वशीयम् नाटक में केसर पुष्प का उल्लेख है- ''भो म्लायमानकेसरच्छविना मयूरपिच्छेन विप्रलब्धोऽस्मि''[24]। इसलिए केसर की खेती कालिदास के समय में भी प्रचलन में थी। धान या शालि धान जो शरद ऋतु में पकता है उसे 'कलम' कहा जाता है। कलम प्रकार के चावल को विभिन्न कृषि क्षेत्रों में प्रत्यारोपित (Transplanting) किया जाता है। इस प्रकार का चावल उन कृषि क्षेत्रों में सम्यक् प्रकार से उगता है जो अधिक जल धारण करने में सक्षम हैं। कालिदास के समय में प्रियंगु नामक छोटा अनाज (क्षुद्र धान्य) भी पैदा होता था। उस समय प्रियंगु नीवार धान्य की तरह एक और मुख्य भोजन था। नीवार का रंग सफेद है, लेकिन प्रियंगु का रंग पीला है। अथर्ववेद में पहली बार इक्षु खेती का उल्लेख मिलता है। इक्षु की खेती परवर्ती काल से अर्वाचीन काल तक प्रचलित है। कालिदास के रघुवंशम् महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में इक्षु का उल्लेख है। सर्दियों के मौसम में, पके इक्षु की कटाई कृषि क्षेत्रों में की जाती है। गुड़ इक्षु से स्रावित रस से बनता है। मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता भोजन है। भोजन प्राप्त करने के बाद लज्जा से बचने के लिए वस्त्रों की आवश्यकता भी आवश्यक है। मातृभूमि में उत्पादित भोजन और कपड़ा (पट्टवस्त्र, कपास, कार्पस) दोनों कृषि उत्पाद हैं। पतिगृह गमन के समय आश्रम के वनदेवता ने शकुन्तला को एक क्षौम वस्त्र दिया -

''क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।।''[26]

शब्दावली नामक शब्दकोश के अनुसार सूती या शण के कपड़े को क्षौमवस्त्र कहा जाता है। क्षौमवस्त्र के उल्लेख से यह अनुमान लगाया जाता है कि उस काल में जूट और शण की कृषि होती थी।

सिंचाई - जिस प्रकार कृषि के लिए भूमि का चयन महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार जल भी कृषि के लिये महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि जल के बिना कृषि फसलें उत्पादित नहीं की जा सकतीं। मूलतः महाकवि कालिदास के समय में कृषि मानसून के जल पर निर्भर थी। यहां तक कि वैदिक काल की कृषि व्यवस्था भी मानसून के जल पर निर्भर थी। ऋग्वैदिक काल की तरह, महाकवि कालिदास के समय में भी, मानसून के जल के अतिरिक्त वैकल्पिक सिञ्चन प्रणालियाँ प्रचलित थीं, जैसे कृषि क्षेत्रों में जल लाने के लिये नदियों, झीलों आदि से नहरें खोदना। यहां तक कि नदियों आदि से भी बगीचे की फसलों, पेड़ों, लताओं और झाड़ियों की सिंचाई के लिए नहरों के माध्यम से जल लाया जाता था। उस समय जल में पेड़ों एवं पौधों को जल देने की भी प्रथा थी - ''हला शकुन्तले ... येन नवमालिकाकुसुमपेलवा अपि त्वम् एतेषाम् आलबालपूरणे नियुक्ता''[27]। आलबाल का दूसरा नाम आधारबन्ध है। आलबाल को सींचने के लिए एक विशेष प्रकार के घट का प्रयोग किया जाता था। उस घड़े को सेचन घट कहा जाता था।

उद्यानविज्ञान - कालिदासकालीन समाज के लिए उद्यान अत्यंत आवश्यक वस्तु माना जाता था, क्योंकि उद्यान से प्राप्त फूल शृंगार और सजावट की मुख्य वस्तु होते थे या हैं। मुनि-कन्यायें एवं राजमहिषी दोनों ही स्वयं को सुन्दर बनाने के लिये पुष्पों का उपयोग करती थी। मुनि कन्याओं के शृंगार का प्रमाण अभिज्ञानशकुन्तलम् नाटक में मिलता है। उदाहरण के लिए-

''पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या,
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।''[28]

परिणामस्वरूप उस समय उद्यानविज्ञान को समाज में एक प्रमुख विषय माना जाता था। कालिदास के नाटक में दो प्रकार की उद्यान पद्धतियाँ दिखाई गई हैं - 1. महल से सम्बन्धित उद्यान, 2. सार्वजनिक उद्यान। ''दूरी—ताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः''[29]। कालिदासोक्त श्लोकांश में उद्यानलता शब्द का तात्पर्य राजप्रासाद से सम्बन्धित उद्यान की लताओं के साथ-साथ राजमहिषी का भी ज्ञान होता है। अन्यत्र, वनलता पद के द्वारा सार्वजनिक उद्यानलता और शकुन्तला की अन्तर्निहित सुन्दरता की भावना पैदा करते हैं। कालिदासकालीन समाज में पुष्पों की वाटिका विशेष रूप से राजप्रासाद के अन्दर बनायी जाती थीं। ऐसी वाटिकाओं में पुष्पों के वृक्ष लगाने के साथ-साथ फलों के वृक्ष भी लगाये जाते थे। महल से सन्निकट उपवन के तड़ाग के जल का उपयोग लताओं और पुष्प वृक्षों की सिंचाई के लिये किया जाता था।

फलविज्ञान - ''उदिते पूर्वं कुसुमं ततः फलम्''[30] - वृक्ष पर सर्वप्रथम पुष्प लगते हैं तदनन्तर फल आते हैं। कालिदास के नाटकों में विभिन्न प्रकार के फलों का उल्लेख मिलता है।

आम्र - आम्र फल के नाम सहकार, चूत, कूट, रसायन आदि हैं। आम्र के वृक्षों पर वसन्त ऋतु में मञ्जरी आती हैं और वर्षा में फल पकते हैं। अभिज्ञानशकुन्तलम् नाटक में सहकार तरु का वर्णन मिलता है - ''हला शकुन्तले, इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्ना इति नवमालिका''[31]। सहकार वृक्ष में आम्र फल उत्पन्न होता है। कालिदास ने वन्य आम्र को काननाम्र कहा है। काननाम्र आकार में छोटा है और इसका स्वाद स्वल्पमधुर होता है। चूतमञ्जरी चूत वृक्ष पर विकसित होती है, चूतमञ्जरी चूतफल या आम्रफल उत्पन्न करती है। चूतमञ्जरी का उल्लेख अभिज्ञानशकुल्तलम् में देखने को मिलता है - 'अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्'[32]।

जम्बू- इस फल का दूसरा नाम जामुन है। जम्बू फल मानसून ऋतु की शुरुआत में पकता है। जम्बू फल की एक किस्म 'राज-जम्बू' है। राज-जम्बू आकार में बड़ा, मधुर और सरस होता है। राजजम्बू का उल्लेख महाकवि कालिदास के नाटक विक्रमोर्वशीयम् में मिलता है-

''अधरमिव मदान्धा पातुमेषा। प्रवृत्ता फलमभिमुखपाकं राजजम्बुद्रुमस्य''।[33]

इमली एवं खर्जूर - तिन्तिली को हिन्दी में इमली कहा जाता है। इमली फल का दूसरा नाम 'सुचुक्रिका' है। इस फल का स्वाद खट्टा होता है। खर्जूर का फल हमारे शरीर का वजन बढ़ाता है। यह मीठा फल हमारे शरीर के लिये पौष्टिक और वीर्यवर्धक होता है। कालिदासकालीन समाज में ये दो प्रकार के फल आसानी से उपलब्ध थे। कालिदास के नाटक में उक्त परिणाम का उल्लेख है - ''यथा कस्यापि पिण्डखजूरैः उद्वेजितस्य तिन्तिण्याम् अभिलाषो भवेत्....''[34] ।

ताल - यह फल वर्षा ऋतु के अन्त में पकता है। महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् नाटक में तालपत्र का उल्लेख किया है - ''हा धिक् । हा धिक् । दुकूलोत्तरच्छदे तालवृन्ताधारे निक्षिप्य नीयमानो मया....''[35]। ताल के पत्तों के सन्दर्भ में ताड़ के वृक्षो का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। यह ताड़ का पेड़ ताड़ का फल पैदा करता है।

नारियल - नारियल के फल के अन्दर का रस मधुर और पौष्टिकयुक्त होता है। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नारियल के पत्तों से बनी झाम्पी का उल्लेख किया है- ''तेन हि एतस्मिन् चूतशाखावलम्बिते नारिकेरसमुद्गके एतन्निमित्तम् एव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका"[36]। नारियल के पत्ते का जिक्र करते ही नारियल के पेड़ का स्मरण होता है। इस नारियल के वृक्ष में नारियल का फल लगता है। तटीय क्षेत्रों में नारियल के वृक्ष बहुतायत उगते हैं।

पुष्प विज्ञान - कालिदास के समय में प्रचलित विभिन्न पुष्पों की पहचान कालिदास के नाटक में की जाती है।

कमल - इस पुष्प को शतदल, इन्दीवर, कुवलय, पंकज, अरविन्द, उत्पल, सरसिज आदि कहा जाता है। कमल के पुष्प श्वेत, हल्के रक्त, बैंगनी तथा नीले रंग के होते हैं। श्वेत कमल को पुण्डरीक, रक्त कमल कोकनद और नीलोत्पल को इन्दीवर कहा जाता है। मालविकाग्निमित्रम् नाटक के तीसरे अंक में ईषत् रक्तवर्ण विशिष्ट कमल का वर्णन आता है। रक्त पद्म या रक्त कुवलय शब्द का प्रयोग अभिज्ञानशकुन्तलम् नाटक में मिलता है - ''भोः किन्नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिना अग्रहस्तेन मुखम् अपवार्य चकितचकिता इव स्थिता''[37]। प्राचीन काल में कमल के पत्तों का उपयोग लिखने[38] और उष्णता के शमन के लिए किया जाता था।

कुमुद - कुमुद पुष्प कमल के समान श्वेत होता है। कुमुद का पुष्प चन्द्रमा की रोशनी में विकसित होता है लेकिन प्रातःकाल में बंद हो जाता है। दूसरी ओर, कमल सुबह की धूप में विकसित होता है। नीली कुमुद को कुवलय कहा जाता है। कुमुद पुष्प का वर्णन प्रायः संस्कृत साहित्य में मिलता है। महाकवि कालिदास ने भी अपनी नाट्य कृतियों में कुमुद पुष्प का उल्लेख किया है-

''अङ्गमनङ्गक्लिष्टं सुखयेदन्या न मे करस्पर्शात्। नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम्।।''[39]

पाटल - पाटल का पुष्प ग्रीष्म ऋतु में विकसित होता है। यह पुष्प गुलाबी रंग का होता है। पाटल के फूल स्वभाव से बहुत कोमल होते हैं और शीघ्र ही संकुचित हो जाते हैं और गंधहीन हो जाते हैं। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशकुल्तलम् में सुगन्धित पाटल पुष्प का उल्लेख किया है-

''सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः।।''[40]

चूतमञ्जरी - चूतमञ्जरी वसन्त ऋतु में आम के वृक्षों पर पल्लवित होता है। शहद इकट्ठा करने के लिये भ्रमर छत्ते के चारों तरफ गुंजन करते हैं। महाकवि कालिदास ने काव्यरस प्रदर्शन के व्याज से चूतमञ्जरी विषयक विभिन्न वैशिष्ट्य का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए -

''ईषद्बद्धरजः कणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी।
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये तनुश्रीः स्थिता।।''[41]

इसके अतिरिक्त कालिदास ने अङ्ग आभूषण के अर्थ में चूतमञ्जरी का उल्लेख किया है -

''अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽसि एनां कथम्।।''[42]

कन्दली - इस पुष्प को 'सुदर्शन' शब्द से भी अभिहित किया जाता है। कन्दली के पुष्प जलीय क्षेत्रों में प्रचुर मात्रा में होते हैं और वर्षा के मौसम में विकसित होता हैं। कन्दली पुष्प का उल्लेख विक्रमोर्वशीयम् नाटक में प्राप्त है -

''आरक्तराजिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दली सलिलगभैः
कोपदन्तवाष्पे स्मरयति मां लोचने तस्याः।।''[43]

कदम्ब - कदम्ब का पुष्प मानसून के मौसम में पल्लवित है। कदम्ब पुष्प की एक प्रजाति है रक्तकदम्ब। रक्तकदम्ब का उल्लेख विक्रमोर्वशीयम् नाटक में मिलता है-

''रक्तकदम्बः सोऽयं प्रियया घर्मान्तशंसि यस्यैकम्।
कुसुममसमग्रकेसरविषमपि कृतं शिखाभरणम्।।''[44]

आकन्द - यह पुष्प विशेष रूप से वसन्त ऋतु में विकसित होते है। आकन्द के वृक्ष बहुत बड़े नहीं होते। कालिदास के नाट्य साहित्य में आकन्द पुष्प का उल्लेख मिलता है- ''अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्''।[45]

पारिजात - इस पुष्प को शेफाली या हरसिंगार कहा जाता है। पारिजात की पत्तियाँ जून मास में गिरती हैं एवं नूतन पत्र पल्लवित होते हैं। तब पारिजात के पौधे पर पुष्प विकसित होते हैं। शीघ्र ही पारिजात वृक्ष से गिर जाते हैं। पारिजात का उल्लेख महाकवि कालिदास के नाट्य साहित्य में मिलता है -

''ननु मम लुलितपारिजातशयनीये भवन्ति।
नन्दनवनवाता अप्यत्युष्णकारू शरीरके''।[46]

शिरीष - शिरीष का पुष्प मुख्यतः ग्रीष्म ऋतु में विकसित है। पुष्प में कोमल केशर होते हैं अतः यह भ्रमरों से परिवेष्टित होता है। अभिज्ञानशकुन्तलम् नाटक में शिरीष पुष्प का उल्लेख है –

''ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेशरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।।''[47]

पुष्पलता -

अतिमुक्त - इस लता को माधवी या वासन्ती भी कहा जाता है। अतिमुक्त या माधवी लताओं की दो प्रजाति होती हैं। माघ तथा फाल्गुन माह में अतिमुक्त या माधवी लता पर पुष्प खिलते हैं। चैत्र एवं वैशाख के महीनों में दूसरी प्रजाति अत्तिमुक्त या माधवी लता के पुष्प खिलते हैं। यह बेल बागों, मंदिरों के पास खेतों में लगायी जाती है। महाकवि कालिदास के नाट्य साहित्य में स्थान-स्थान पर अतिमुक्त या माधवी लता का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए -

''विसृज सुन्दरी संगमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि''।।[48]

इसके अतिरिक्त, विक्रमोर्वशीयम् नाटक में महाकवि कहते हैं- ''निषिञ्चन् माधवीमेतां लतां कौन्दीं च नर्तयन्''[49]। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशकुन्तलम् में अतिमुक्त लता का भी उल्लेख किया है- ''कः इदानीं सहकारम् अन्तरेण अतिमुक्तलतां पल्लवतां सहते।"[50]

मालिका या मल्लिका - इसे बेला भी कहा जाता है। यह मालिका या मल्लिका पुष्प रात में पल्लवित होता है और दिन में मुकुलित होता है। यह पुष्प बहुत सुगंधित होता है। यह पुष्प वसन्त ऋतु में विकसित होता है। महाकवि कालिदास ने इसे वनज्योत्स्ना या नवमालिका भी कहा है। जैसे कि -''को नाम उष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति''[51]। इसके अतिरिक्त महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशकुन्तलम् नाटक में वनज्योत्स्ना का उल्लेख किया है- ''हला शकुन्तले, इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्ना इति नवमालिका एनां विस्मृता असि?''[52]

प्रियंगु - इस लता पर शीत और ओस के समय श्वेत पुष्प लगते हैं। इसे गन्धप्रियंगु या श्यामा के नाम से भी जाना जाता है। जंगल में यह अधिक दिखायी देता है। इसके अलावा, इस बेल को कालिदासकालीन समाज में राजप्रासाद के समीप उपवन की सुन्दरता बढ़ाने के लिए लगाया गया था। मालविकाग्निमित्रम् नाटक में श्यामा लता का उल्लेख है -

''वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे।
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्''।।[53]

महाकवि कालिदास ने भी प्रियंगु लता का उल्लेख किया है-''आवामपि प्रियङ्गुलतापरिक्षिप्तमशोकशिलापट्टकं प्रविशावः''[54]।

इसके अतिरिक्त युथिका, कुन्द और मालती जैसी पुष्पों वाली लताओं का उल्लेख भी महाकवि कालिदास के साहित्य में प्राप्त होता है।

औषधीय विज्ञान - कालिदासकालीन समाज में औषधीय पौधों की कृषि की जाती थी, जैसे –

इङ्गुदी - इसे इंगुआ या हिंगोट के नाम से भी जाना जाता है। इंगुदी फल से उत्पन्न तैल का उपयोग तपस्वी सिर में लागाने के लिये व्यवहार करते थे। कालिदासीय समाज में इंगुदी तैल का उपयोग दीपक जलाने के लिये किया जाता था। इंगुदी वृक्ष एक औषधीय वृक्ष के रूप में प्रसिद्ध था, जिसके फल में अद्‌भुत रोगनाशक या सूजनरोधी गुण होते हैं। इंगुदी फल के तैल का उपयोग घावों को ठीक करने के लिये किया जाता था, जिसका प्रमाण अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में उपलब्ध है-

''यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां। तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।।''[55]

चन्दन - चन्दन को हरिचन्दन भी कहा जाता है। चन्दन श्वेत, रक्त और पीत वर्ण का होता है। ग्रीष्म काल में शरीर को ठण्डक पहुंचाने के लिये चन्दन लगाया जाता है। महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम् नाटक में रक्तचन्दन का उल्लेख किया है- ''देव प्रवातशयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति''[56]। चन्दन की सुगन्ध बहुत ही सुखद और मनभावन होती है।

कतक - कालिदासीय समाज में जल को शुद्ध करने के लिये कतक फल का उपयोग किया जाता था। अशुद्ध जल में यह फल के मिश्रण से जल शुद्ध अथवा स्वच्छ एवं पानयोग्य हो जाता है। जल को शुद्ध करने के लिय

उपयोग किये जाने वाले कतक फल का उल्लेख वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के पहले अध्याय में किया है। कालिदास के नाट्य साहित्य में भी कतक फल का उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए-

''मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः।
पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः।।''[57]

श्लोक में 'फल' शब्द कतक फल को संदर्भित करता है।

ताम्बुली

पान की लता को ताम्बुली कहा जाता है एवं ताम्बुली की पत्तियों को ताम्बुल शब्द से दर्शाया जाता है। मुंह को साफ करने या सांसों की दुर्गंध दूर करने के लिए ताम्बुल या पान में चूर्णिका (चूना), पुंगीफल मिलाकर सेवन किया जाता है। कालिदास के नाटकों में ताम्बुली सेवन का उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए- ''विशेषेण पानभोजनं त्वरय''[58]।

निष्कर्ष -

कालिदासकालीन समाज में लोग कृषि भूमि को अपनी माता स्वीकार करके खेती करते थे। अन्नोत्पादन करने वाले का गुण निस्संदेह भोक्ता से अधिक है, क्योंकि यदि कृषक अन्नोत्पादन नहीं करेगा तो उपभोक्ता क्या खाएगा? जिनके अथक परिश्रम से नीवार जैसे चावल का उत्पादन संभव हो पाता है, वे ही प्रदेश या राष्ट्र का पालन-पोषण करने वाले हैं, वे ही अन्नदाता हैं। हम शिक्षा के बिना जीवित रह सकते हैं, लेकिन भोजन के विना नहीं। यहीं पर कृषि महत्त्वपूर्ण है। कालिदासकालीन समाज में चावल उत्पादन विज्ञान, सिंचाई विज्ञान, उद्यानविज्ञान, फल विज्ञान, पुष्प विज्ञान और औषधीय विज्ञान के साथ-साथ तृणविज्ञान भी अत्यन्त विकसित हुआ था। कालिदास के साहित्य में कृषिविज्ञान के विषय में व्यापक तथ्य से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समकालीन लोग कृषिविज्ञान के लिए उपयोग की जाने वाली सामग्रियों, कृषि के व्यावहारिक ज्ञान, सिंचाई प्रणालियों और प्रथाओं के अनुप्रयोग तथा औषधीय पौधों के उत्पादन और संरक्षण आदि के विषय से अवगत थे। कालिदासकालीन समाज की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पूर्णतः कृषि पर निर्भर थी। आज भी हमारे कृषि प्रधान भारत की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था एक उत्तम स्तर तक कृषि पर निर्भर है। अतः सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से कृषि विज्ञान का महत्त्व अत्यधिक है।

सन्दर्भ -

1. *अर्थशास्त्र (1.2.1)*
2. *मनुसंहिता (7.43)*
3. *अर्थशास्त्र (1.4.1)*
4. *श्रीमद्भागवतपुराण (10.24.21)*
5. *ऋग्वेद (10.34.13)*
6. *Vaidic Index (Vol: I), Macdonell and Keith, Chaukhamba Vidhya Bhavan, Varanasi, 1962, p. 111*
7. *तदेव*
8. *शतपथब्राह्मण, (1.4.1.16)*
9. *ऋग्वेद (1.110.5)*
10. *तदेव (10.101.4, 1.117.21)*
11. *तदेव (4.57.8)*
12. *तदेव (7.49.2)*
13. *अथर्ववेद (3.14.3)*
14. *'वपन्तो बीजमिव धान्याः....' (ऋग्वेद, 10.94.13)*

15. मेटी, एस.के., इकनमिक लाइफ इन द गुप्त पिरियड, पृ.- 33
16. अभिज्ञानशकुन्तलम्, (सत्यनारायण चक्रवर्ती सम्पादित, तृतीय संस्करण, प्रथम अङ्क, पृ.- 49)
17. तदेव, पृ.- 22
18. विक्रमोर्वशीयम् (तृतीय अङ्क, पृ. 217)
19. तदेव (द्वितीय अङ्क, पृ.- 208)
20. मालविकाग्निमित्रम् (2.3)
21. विक्रमोर्वशीयम् (2.7)
22. अभिज्ञानशकुन्तलम् (4.21)
23. तदेव (1.14)
24. विक्रमोर्वशीयम् (द्वितीय अङ्क, पृ. 207)
25. ऋतुसंहार (4.37)
26. अभिज्ञानशकुन्तलम् (4.5)
27. तदेव (प्रथम अङ्क, पृ.-62)
28. तदेव (4.9)
29. तदेव (1.16)
30. तदेव (7.30)
31. तदेव (प्रथम अङ्क, पृ.- 71)
32. तदेव (5.1)
33. विक्रमोर्वशीयम् (4.13)
34. अभिज्ञानशकुन्तलम्, (द्वितीय अङ्क, पृ.-150)
35. विक्रमोर्वशीयम्, (पञ्चम अङ्क, पृ.-332)
36. अभिज्ञानशकुन्तलम्, (चतुर्थ अङ्क, पृ.-268)
37. तदेव (षष्ठ अङ्क, पृ.-462)
38. 'एतस्मिन् शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैः निक्षिप्तवर्णं कुरु'। (अभिज्ञानशकुन्तलम्, तृतीय अङ्क, पृ. 215)
39. विक्रमोर्वशीयम् (3.16)
40. अभिज्ञानशकुन्तलम् (1.3)
41. विक्रमोर्वशीयम् (2.7)
42. अभिज्ञानशकुन्तलम् (5.1)
43. विक्रमोर्वशीयम् (4.5)
44. तदेव (4.30)
45. अभिज्ञानशकुन्तलम् (2.8)
46. विक्रमोर्वशीयम् (2.13)
47. अभिज्ञानशकुन्तलम् (1.4)
48. मालविकाग्निमित्रम् (4.13)
49. विक्रमोर्वशीयम् (2.4)
50. अभिज्ञानशकुन्तलम्, (तृतीय अङ्क, पृ. -205)
51. तदेव, (चतुर्थ अङ्क, पृ.-25)
52. तदेव, (प्रथम अङ्क, पृ.-71)
53. मालविकाग्निमित्रम् (2.6)
54. तदेव, (तृतीय अङ्क, पृ.-278)
55. अभिज्ञानशकुन्तलम् (4.14)
56. मालविकाग्निमित्रम्, (चतुर्थ अङ्क, पृ. 286)
57. तदेव (2.7)
58. तदेव, (द्वितीय अङ्क, पृ.-271)

24

कालिदास के नाटकों में शैक्षिक तत्त्व

हेमराज पलसानिया

वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत, दर्शन, राजनैतिकशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, आयुर्वेद आदि शास्त्रों के गूढ़ तत्त्वों व रहस्यों को अपनी सूक्ष्म दृष्टि व नवीन मौलिक परिकल्पना द्वारा सहज और सरल रूप में आमजन के समक्ष प्रस्तुत किया है। कालिदास की काव्यशैली अत्यन्त स्वाभाविक तथा कल्पना प्रसूत है। रस परिपाक, प्रकृतिवर्णन, संस्कृति चित्रण, वैदर्भी रीति, माधुर्य और प्रसाद गुण से परिनिष्ठित नाट्यकृतियाँ हैं। स्वयं महाकवि कालिदास ने नाटक को त्रिगुण सम्पन्न, मानव चरित्र प्रतिबिम्ब, रसयुक्त व आनन्ददायी माना है- **''त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नाना रसं दृश्यते,नाट्यं भिन्नः चेजनस्यबहुधाप्येकं समाराधकम्।।''**[1]कालिदास ने अपने नाटकों में भारतीय शिक्षा परम्परा के संदर्भ में शिक्षा को आख्यायित किया है। स्वोपज्ञनाटकों में कालिदास ने शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षण विधि, शिक्षण केन्द्र, गुरु के गुण, शिष्य के कर्तव्य, गुरु-शिष्य सम्बन्ध, शिक्षणकेन्द्र, शैक्षिक समानता, अनुशासन, पाठ्यक्रम तथा शिक्षा में प्रशासन की भूमिका आदि विषय पर अपने सूक्ष्म चिन्तन को काव्यात्मक शैली में अभिव्यक्त किया है।

शिक्षा के उद्देश्य - कालिदास का मानवतावादी दृष्टिकोण रहा है अतः मानव के सर्वांगीण तथा सन्तुलित विकास के लिये शिक्षा को आवश्यक माना है। शिक्षा द्वारा चिन्तन, मनन, तर्क आदि बौद्धिक क्षमताओं तथा धार्मिक क्रियाओं का विकास होता है। सामाजिक विकास हेतु आश्रम व्यवस्था के नियमों का परिपालन करना शिक्षा का परम कर्तव्य है। कालिदास ने तीनों नाटकों के मंगलाचरण में शिव की स्तुति की है इसके इससे ज्ञात होता है कि वे शैव उपासक हैं तथा ज्ञानयोग द्वारा ईश्वर की प्राप्ति भी मानी है; साथ ही ईश्वरीय गुणों व कर्मों को मानव के लिए प्रेरक माना है। शिक्षा पाप की ओर ले जाने वाली कुबुद्धि को नष्ट कर मनुष्य को सत्कर्मों में प्रवृत्त करती है; साथ ही सत्य, त्याग, बल, यश, धर्म, ज्ञान, विनम्रता वीरता, उदारता, सौंदर्य तथा रूप आदि मानवीय गुणों के विकास का साधन है। कालिदास के अनुसार शिक्षा मूल्यपरक होनी चाहिए जो मानव को अच्छे और बुरे की पहचान करा सके-

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।।[2]

शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो आत्मज्ञान का विकास कर सके जिससे छात्र स्वजीवन में उचित-अनुचित का निर्णय लेने में समर्थ हो सके साथ ही उसमें गुणों को परखने की क्षमता का विकास हो सके।

शिक्षक -

कालिदास के नाटको में शिक्षक को गुरु, ऋषि, आचार्य आदि नाम से सम्बोधित किया गया है। आश्रम का प्रधान या मुख्य गुरु कुलपति कहलाता था। वह सर्वत्र पूजनीय और सम्माननीय होता था। कुलपति उपाधि से ज्ञात होता है कि आश्रम की सारी व्यवस्थाओं में एक घर जैसा वातावरण विद्यमान था। **मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादि पोषणात्। अध्यायपति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः।।** अर्थात् जिस ऋषि या आचार्य के पास दस हजार छात्र निवास करते हुए विद्याध्ययन करते थे वह कुलपति कहा जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तल में कण्व ऋषि आश्रम के कुलपति है तथा मालविकाग्निमित्र में गणदास और हरदत्त को आचार्य से सम्बोधित किया गया हैं। कालिदास के अनुसार शिक्षक विषयाधिकारी, ज्ञान सम्प्रेषण में निपुण, धार्मिक नियमों में कुशल, स्वाध्यायी, ब्रह्मज्ञानी, धर्मपरायण, सच्चरित्र आदि गुणों से समन्वित होना चाहिए। कालिदास ने शिक्षक का कर्तव्य बताते हुए कहा है कि शिक्षक को स्व व्यक्तित्व का विकास कर ज्ञान का संप्रेषण करना चाहिये तथा अपने ज्ञान द्वारा अपने समाज को सुशिक्षित करना चाहिए। कालिदास ने सर्वश्रेष्ठ शिक्षक के गुणों का उल्लेख करते हुए मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में कहा है कि -

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।।[3]

कुछ शिक्षक ज्ञान के अनन्त भण्डार होते हैं जो अपने ज्ञान को स्वयं ही भली-भाँति जानते हैं, परन्तु उनमें ज्ञान संप्रेषण की कला नहीं होती अर्थात् विषयवस्तु छात्रों को अच्छी तरह समझा नहीं पाते, कुछ शिक्षकों में ज्ञान भले ही अल्प हो, परन्तु ज्ञानसंप्रेषण की कला में वे प्रवीण होते हैं। वस्तुतः शिक्षकों में वही शिक्षक सच्चा व श्रेष्ठ होता है जिसमें ज्ञान तथा संप्रेषण कला दोनों गुण सन्निहित होते हैं। जो शिक्षक शास्त्रार्थ से दूर भागता है अर्थात् नवीन ज्ञानार्जन में अरूचि रखता है, प्रश्न या तर्क-वितर्क करने पर चुप रहता है अर्थात् छात्रों के प्रश्नों या शंकाओं का समाधान नहीं करता तथा जो विद्याज्ञान को केवल जीविकोपार्जन का साधन मानता है, वह सच्चा शिक्षक न होकर ज्ञान को बेचने वाला व्यापारी मात्र है -

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजंवदन्ति।।[4]

छात्र - विद्यार्थी शिष्य या वर्णी कहा जाता था, क्योंकि छात्र को अध्ययन की समाप्ति तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना पड़ता था। शिष्य आश्रम में ही निवास करता था। विद्याध्ययन काल तक वही उसका घर हुआ करता था। छात्र मृग चर्म या वल्कल वस्त्र धारण करते थे तथा कुश आदि से निर्मित चटाई पर शयन करते थे। चतुर्दश विद्या ग्रहण कर स्नातक होकर घर लौटते थे। कालिदास के अनुसार छात्र में अध्ययन के प्रति निष्ठा तथा उत्साह, गुरु के प्रति आस्था व सेवाभाव तथा गुरु प्रवचन को एकाग्रतापूर्वक श्रवण करने के आवश्यक गुण होने चाहिए। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में कहा है कि उत्तम पात्र (छात्र) को दी गई शिक्षा उत्कर्ष होती है - **पात्र विशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः। जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।।**[5] अर्थात् योग्य छात्र को सिखाई हुई विद्या उसी प्रकार उत्कृष्ट होकर निखर जाती है जैसे मेघ का जल समुद्र की सीपी में गिरकर मोती बन जाता है।

छात्र और शिक्षक सम्बन्ध- गुरु ही शिष्य का पिता या अभिभावक होता था, उसका शिष्य पर पूर्ण अधिकार होता था। वह छात्रों से पुत्रवत् व्यवहार करता था। वह छात्रों के सर्वांगीण विकास हेतु उन्हें शिक्षा प्रदान करता था। गुरु के लिए सभी छात्र समान होते थे। वह सभी से समान व्यवहार करता था। छात्र भी गुरु के प्रति

मान-सम्मान व आदर भाव रखते थे। छात्र के लिए अध्ययन और गुरु के लिए अध्यापन एक परम कर्त्तव्य या यज्ञ था। गुरु की प्रसन्नता में ही शिष्य अपने आपको धन्य समझता था जैसा कि मालविकाग्निमित्र में बकुलावलिका मालविका की नृत्यकला से प्रसन्न होकर आचार्य गण दास से कहती है कि- **''कृतार्थेदानीं वः शिष्याः यस्या गुरुजन एवं तुष्यति''**[6]

शिक्षणसंस्था - आश्रम ही शिक्षण केन्द्र हुआ करते थे, जहाँ सभी को निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाती थी। ज्ञान, ध्यान व तप के ये केन्द्र आश्रमस्थ मुनि-ऋषियों द्वारा संचालित व व्यवस्थित होते थे। आश्रम में यज्ञ हवन आदि धार्मिक क्रियाओं के अतिरिक्त शिक्षण कार्य भी ऋषियों द्वारा नित्य व नियमित रूप से सम्पादित किया जाता था। इन आश्रमों में उच्च वर्ग व सामान्य वर्ग के लोग अपने पुत्रों को शिक्षार्थ भेजते थे। सभी प्रजावर्ग आश्रमों के प्रतिमान-सम्मान का भाव रखते थे। इन आश्रमों में प्रेम एवं विश्व बंधुत्व भावना के कारण जीव हिंसा सर्वथा निषिद्ध थी।

कालिदास ने अपने तीनों नाटकों में मारीच आश्रम, कण्व आश्रम तथा च्यवन आश्रम का वर्णन किया है। तपोनिष्ठ ऋषियों के आश्रम अशांत वातावरण से दूर, ग्राम या नगर से बाहर, पावन पर्वत, हरे-भरे उपवनों में, निर्मल नदी तट या जलाशय के समीपस्थ होते थे। आश्रम के होम कुण्ड में अक्षुण्ण रूप से जलने वाली अग्नि का सुवासित धुआँ चारों ओर वायु को पवित्र करता रहता था। आश्रम का शांति, करुणा व सौहार्द से परिपूर्ण वातावरण था। अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक में कण्व आश्रम का स्वाभाविक चित्रण किया गया है -

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगास्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखांकिताः।।[7]

अर्थात् आश्रम के समीप पहुँचने पर राजा दुष्यन्त सारथी से कहता है कि बिना कहे भी ज्ञात हो रहा है कि यह तपोवन है क्योंकि कहीं वृक्षों के नीचे तोतों से युक्त कोटरों के अग्रभाग से गिरे हुए नीवार के दाने पड़े हैं, कहीं इंगुदी के फलों को तोड़ने वाले अत्यन्त चिकने पत्थर पड़े हैं। विश्वास हो जाने से निःशंक गति वाले मृग (स्थादि की) ध्वनि को सहन कर रहे हैं, (कुटिया से लेकर) सरोवरों तक आने वाले मार्ग वल्कलों के अग्रभाग से टपकने वाली जल की रेखाओं से चिन्हित हैं। मारीच आश्रम में प्रवेश कर राजा दुष्यन्त कहते हैं - **''स्वर्गादधिकतांनिर्वृत्तिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।''**[8] अर्थात् यह स्वर्ग से भी अधिक शान्तिप्रद स्थान है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मैं अमृत के सरोवर में डुबकी लगा रहा हूँ। तपस्या निरत वीतरागी महर्षि मारीच को सांसारिक भोगादि के प्रति कोई स्पृहा नहीं है। ऋषि आश्रम यज्ञ, तप तथा ज्ञान के केन्द्र के रूप में होते हुए भी गृहस्थ धर्मों से परांगमुख नहीं थे। ये सम्पूर्ण राज्य के भौतिक व आध्यात्मिक अभ्युदय में महत्त्वपूर्ण योगदान देते थे। अभिज्ञान शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में शकुन्तला की विदाई पर कण्वऋषि कहते है कि- **''वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञावयम्''**[9] अर्थात् वनवासी होते हुए भी हमें लौकिक व्यवहारों का ज्ञान है।

शिक्षण विधि - प्रवचन या व्याख्या विधि, संवाद विधि, दृष्टान्त विधि, वाद-विवाद विधि, प्रश्नोत्तर विधि आदि विधियाँ प्रचलित थी।

प्रशासन की भूमिका- आश्रम राज्य या शासन से पूर्णतः मुक्त स्वतन्त्र हुआ करते थे। शासन का किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं था। शासक वर्ग भी आश्रम में प्रवेश के समय आश्रम नियमों का पालन करते थे। आश्रमों की रक्षा करना शासक का उत्तरदायित्व होता था। अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक में कहा गया है कि तपोवन राजा के द्वारा रक्षणीय होते हैं- **''राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम''**[10]

पाठ्यक्रम - पाठ्यक्रम में यज्ञ, दर्शन, धर्म, व्रत, तीर्थ, विधि तथा आचार-विचार आदि धार्मिक या आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त संगीत, धनुर्विद्या, कामशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, ज्योतिष, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि शास्त्रीय एवं लौकिक विद्याएँ भी सम्मिलित थी।

जैसा कि विक्रमोर्वशीय नामक नाटक में तापसी राजा पुरुरवा से कहती है कि कुमार आयुष ने आश्रम में सभी विद्याएँ तथा धनुर्वेद आदि विद्या सीख ली है - **''गृहीत विद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः''**[11] आश्रम में विभिन्न विषयों के कई शिक्षक होते थे, जो वेद, वेदांग, पुराण, दर्शन, संगीत नाट्य, चित्रकला, नृत्य आदि व्यवसाय तथा शास्त्रीय कलाओं का भी अध्यापन कराते थे। विक्रमोर्वशीय नामक नाटक के द्वितीय अंक में काम संतप्त राजा पुरुरवा चित्र फलक पर उर्वशी का चित्र बनाते है इससे विदित होता है कि चित्रकला की भी शिक्षा दी जाती थी। मालविकाग्निमित्र में गणदास और हरदत्त अपनी शिष्याओं मालविका और इरावती को संगीत, नाट्य तथा नृत्य कला की शिक्षा देते है।

शैक्षिकसमानता- कालिदासीय नाटकों से ज्ञात होता है कि समाज के उच्चवर्ग व सामान्यवर्ग को शिक्षा प्राप्त करने का समान अधिकार था। अभिज्ञानशाकुन्तल के शार्गरव और शारद्वत समाज के सामान्यवर्ग के शिष्य प्रतीत होते है। पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी शिक्षा के समान अवसर प्राप्त थे। शकुन्तला, प्रियंवदा अनसूया, मालविका, इरावती, उर्वशी आदि शिक्षित महिलाएँ थी। विक्रमोर्वशीय नाटक के द्वितीय अंक में उर्वशी भोजपत्र पर प्रणय संदेश लिखकर पुरुरवा की ओर फेंकती है- **''तत्प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण लेखं सम्पद्यान्तराक्षेप्तुमिच्छामि।''**[12] शकुन्तला कमलिनी के पत्ते पर अपने नाखूनों से दुष्यन्त के लिये प्रेम पत्र लिखती है -

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रावपि। निर्घृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि।।[13]

इससे ज्ञात होता है कि कालिदास से पूर्व लेखन कार्य होता था तथा स्त्रियाँ भी उस समय पठन-पाठन करती थी।

अनुशासन - विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य, आहार-विहार, व्रत और तप का सर्वाधिक महत्त्व था। ये आश्रम अनुशासन के अभिन्न अंग थे। अनुशासन का तात्पर्य शारीरिक, मानसिक और आत्मिक संयम से था। स्वानुशासन के साथ आश्रम नियमों का पालन कठोरता से करना पड़ता था। चाहे उच्च वर्ग का राजपुत्र हो या सामान्य वर्ग आमजन पुत्र हो सभी को आश्रम के नियमों का पालन करना पड़ता था। शासनवर्ग भी आश्रम में प्रवेश के समय आश्रम नियमों का पालन करते थे। अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक में जब दुष्यन्त कण्व ऋषि के आश्रम में प्रवेश करता है तो अपने सारथी से कहते है-**''विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम''**[14]

तपोवनवासियों को कष्ट ना हो अतः राजा दुष्यन्त रथ से उतर जाता है तथा आभूषण, धनुष आदि भी उतार देता है। आश्रम नियमों का उल्लंघन करने पर दण्डित किया जाता था। विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थांक में उर्वशी वर्जित कुमार वन में प्रवेश करने के कारण लता बन जाती है। शकुन्तला को प्रिय वियोग इसलिए सहन करना पड़ा क्योंकि उसने पति प्रेम में डूबे रहने के कारण दुर्वासा ऋषि कीउपेक्षा की।

महर्षि च्यवन के आश्रम में पुरूरवा के पुत्र आयुष द्वारा पक्षी को बाण से मारकर आश्रम विरुद्ध आचरण करने पर उसे तत्काल आश्रम से निष्कासित कर दिया जाता है।

कालिदास ने अपने नाटकों में ब्रह्मचर्याश्रम धर्म के प्रति आस्था, तपोवन और गुरुकुलों के प्रति श्रद्धा भाव प्रकट किया है। शिक्षा के सम्बन्ध में कालिदास के विचार सुस्पष्ट है कि शिक्षा का उद्देश्य पुस्तकीय ज्ञान

आधारित न होकर विद्यार्जन के पश्चात् सतत् अभ्यास द्वारा लोक व्यावहारिक होना चाहिए। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कालिदास ने अपने नाटकों में शिक्षा का उद्देश्य क्या है, शिक्षक की भूमिका, छात्र का कर्तव्य, छात्र-शिक्षक सम्बन्ध, अनुशासन, शिक्षण संस्था, प्रशासन की भूमि का आदि शैक्षिक तत्त्वों का समावेश किया है।

सन्दर्भ -

1. *मालविकाग्निमित्रम् 1/4, डॉ. रमाशंकर पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, 2003, पृ. सं. 12*
2. *मालविकाग्निमित्रम् 1/2, पृ. सं. 4*
3. *मालविकाग्निमित्रम् 1/16, पृ. सं. 31*
4. *मालविकाग्निमित्रम् 1/17, पृ.सं. 33*
5. *मालविकाग्निमित्रम् 1/6, पृ.सं. 15*
6. *मालविकाग्निमित्रम्, प्रथमअंक, पृ.सं. 14*
7. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/13, डॉ.. रामप्रकाश गुप्त, युवराज पब्लिकेशन्स आगरा, 2018, पृ. सं. 68*
8. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सप्तम अंक, पृ. सं. 321*
9. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अंक, पृ.सं. 190*
10. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अंक, पृ. सं. 80*
11. *विक्रमोर्वशीयम्, पंचम अंक, आचार्य चुन्नीलाल शुक्ल, साहित्य भण्डार मेरठ, 1990, पृ. सं. 258*
12. *विक्रमोर्वशीयम्, द्वितीय अंक, पृ. सं. 68*
13. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 3/13, डॉ. रामप्रकाश गुप्त, युवराज पब्लिकेशन्स आगरा, 2018, पृ. सं.143*
14. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अंक, पृ. सं.69*
15. *कालिदास का शैक्षिक चिन्तन, प्रो. रमेश प्रसाद पाठक, सं. 2019, प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली*
16. *महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में शिक्षा, डॉ. अमित कुमार जायसवाल, सं. 2022, ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली*
17. *कालिदास चिन्तन, पं. सूर्यनारायण व्यास एवं राजशेखर व्यास,सं. 2020, प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली*
18. *नाटककार कालिदास, डॉ. राकेश शास्त्री, सं. 2019, चौखम्बा ओरियन्टालिया दिल्ली*

25

कालिदास के नाटकों में बिम्ब विधान

अफरोज बेगम

साहित्यालोचन के क्षेत्र में बिम्ब शब्द नया है। यह अंग्रेजी शब्द 'इमेज' का पर्याय है। बिम्ब आधुनिक युग के पश्चिमी काव्यशास्त्र की देन है। बिम्ब का अर्थ समझने के लिए इमेज को समझना आवश्यक है। कोश के अनुसार इमेज का अर्थ है -''किसी वस्तु का मानस चित्र या मानसी प्रतिकृति'' और ''कल्पना अथवा स्मृति में उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति''। हिंदी के कुछ सुप्रसिद्ध आलोचकों ने बिम्ब के महत्व पर प्रकाश डाला है। डॉक्टर भागीरथ मिश्र एवं केदारनाथ सिंह ने काव्य बिम्ब में चित्रात्मकता एवं इंद्रियगम्यता को आवश्यक बताया है। वहीं सुप्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने बिम्ब के महत्त्व को स्वीकारते हुए चिंतामणि नामक निबंध संग्रह में लिखते हैं ''काव्य में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है। काव्य का काम है कल्पना में बिंब या मूर्तभावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नहीं तथा 'कविता' में कही गई बात चित्र रूप में हमारे सामने आनी चाहिए।''[1] रस मीमांसा नामक पुस्तक में शुक्ल जी बिम्ब विधान की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि ''काव्य की कोई उक्ति कान में पड़ते समय जब काव्य वस्तु के साथ वक्ता या बोद्धव्य पात्र की कोई मूर्त भावना सी खड़ी रहती है, तभी पूरी तन्मयता प्राप्त होती है।''[2] कालिदास के नाटकों में भी बिम्ब विधान का विशेष महत्त्व दिखाई देता है। साहित्य निर्माण शब्द के माध्यम से होता है। शब्द से पूर्व अर्थ अनुभूति के रूप में साहित्यकार के हृदय में रहता है और साहित्यकार जिस वस्तु या भाव की अनुभूति करता है, उसे उसी रूप में वह अपने पाठकों को भी कराना चाहता है। कालिदास ने भी हृदय की आंतरिक अनुभूति एवं बाह्य अभिव्यक्ति में साम्य स्थापित करते हुए, अपने नाटकों में दृष्टि संवेदना, ध्वनि संवेदना, घ्राण संवेदना को महत्त्व देते हैं।

कालिदास का अभिज्ञानशाकुंतलम् नाटक सात अंकों का है, जिसमें दुष्यंत और शकुंतला की प्रणय कथा वर्णित है। अभिज्ञानशाकुंतलम् में कालिदास ने कई बिम्बों का प्रयोग किया है। वास्तव में यह बिम्ब आंखों से देखा गया वह चित्र है, जिसे पढ़कर ऐसा लगता है कि आंखों के समक्ष एक चित्र उभर रहा है। अभिज्ञान शाकुंतलम के चतुर्थ अंक के छठवें श्लोक में चाक्षुष बिम्ब उपस्थित है, जिसे दृश्य बिम्ब भी कहते हैं, यह उस समय का दृश्य है जब कण्व ऋषि का हृदय यह सोचकर बैठा जा रहा है और गला रुंध आया है कि जब शकुंतला अपने ससुराल चली जाएगी तो क्या होगा? ठीक उसी भांति जिस प्रकार एक गृहस्थ यापन कर रहा पिता अपने पुत्री की विदाई करता है, उस समय उसकी मानसिक स्थिति कैसी होती है? उसका बहुत ही हृदय विदारक वर्णन कालिदास ने दृश्य बिम्ब के माध्यम से उकेरा है। यथा- **कण्वः यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं**

संस्पृष्टमुत्कण्ठ्या, कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्। वैक्लव्यं मम तावदीदृ-शमिदं स्नेहादरण्यौकसः, पीडयन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः[3] कालिदास ने अपने 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' नाटक में विभिन्न बिम्बों की योजना की है। बिम्ब योजना में उन्होंने कहीं चाक्षुष बिम्ब, कहीं श्रव्य, कहीं स्पर्श, कहीं घ्राण बिम्बो को प्रदर्शित किया है। कालिदास ने अपनी अनुभूति दूसरों को 'अपनी-सी पहचनवा' सके एवं 'रसमय करके दिखा सके' इसके लिए उन्होंने बिम्ब का सहारा लिया। बिम्ब के लक्षण निर्धारित करते समय बिम्ब के तत्त्वों का उल्लेख डॉ. अमलेश गुप्ता ने अपनी पुस्तक ''कालिदास की बिम्ब योजना'' जो राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी जयपुर द्वारा प्रकाशित है, में लिखते हैं - ''बिम्ब के आवश्यक तत्त्व या उपकरण हैं - चित्रात्मकता, भावात्मकता, शब्दअर्थ, रुपात्मकता, ऐन्द्रियता, कल्पना आदि।''[4] यह सभी तत्त्व कालिदास के नाटको में बखूबी देखें जा सकते हैं। कालिदास ने अपने नाटकों में बिम्ब के स्वरूप गठन में इन सभी तत्त्वों का प्रयोग किया है। यह सभी तत्त्व काव्य के प्रेरक तत्त्व भाव से जुड़े हुए हैं। कालिदास ने प्रायः अपने साहित्य में ऐसे सादृश्यमूलक अर्थालंकारों का प्रयोग किया है, जिसमें चित्रात्मकता भी दिखाई पड़ती है। कालिदास का निम्नलिखित श्लोक स्वाभाविक रूप में सचित्र है। अभिज्ञानशाकुंतलम् का एक श्लोक देखिए- **ग्रीवाभंगाभिराम मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतभयाद् भूयसा पूर्वकायम्। दभैरघविलीटैः श्रमविवृतमुख भ्रंशिभिः कीर्णवतर्मा पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुवर्या प्रयाति।।**[5]

यहां कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' में सादृश्य -विधान के अभाव में भी शब्द शक्ति द्वारा सुन्दर चित्रात्मक अभिव्यक्ति की है। यहाँ रथ के आगे दौड़ते हिरण का बड़ा सूक्ष्म व सचित्र वर्णन हुआ है। बाण लगने के भय से भागते मृग की भयभीत भंगिमा यथातथ्य रूप में चित्रित है। पूरा दृश्य जैसे आंखों के समक्ष सजीव हो जाता है। अतः यहां चाक्षुस एवं गतिशील बिम्ब है। कालिदास ने शकुन्तला के गर्भस्थ तेजस्वी बालक को भी अग्नि का रूपक दिया है- **'अवेहि तनयां ब्रह्मन् अग्निगर्भां शमीमिव'**।[6] कालिदास ने तेज की अधिकता को ऐन्द्रिय करने के लिये, अग्नि को वायु के संयोग में प्रस्तुत किया है। उन्होंने ब्रह्मतेज से युक्त क्षत्रिय तेज को वायु तथा अग्नि का समागम कहा है। वसिष्ठ से अभिषिक्त अज, इसीलिये शत्रुओं के लिये दुर्घर्ष हो जाते हैं। इस प्रकार स्पर्श तथा आग्नेय बिम्ब ताप और तेज को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। संस्कृत के कवि नवीन उपमानों और बिम्बों की खोज में सदा सचेष्ट रहे हैं। कवि कालिदास के काव्य में अनेक नवीन और मौलिक कल्पनाएं एवं बिम्बों को ढूंढ़ा जा सकता है। कवि के संवेग से युक्त होने के कारण ये कल्पनाएं अत्यंत सरल रूप में पाठक के सामने आती है।

कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्रम्' में राजा अग्निमित्र तथा मालविका के परस्पर प्रेम का उदात्र चित्रण किया गया है। कालिदास ने इस नाटक में राजाओं के अंतःपुर में होने वाले प्रेम, कामुकता, काम क्रीड़ा जैसे विषयों का भी चयन किया। यह पांच अंकों का नाटक है। इस नाटक में कालिदास ने जो बिम्बों के स्रोत लिए हैं, वह प्राकृतिक क्षेत्र से जुड़े हुए हैं। 'मालविकाग्निमित्रम्' में मालविका के पैर पर लगी महावर की लकीर राजा को ऐसी लगती है, मानो भस्म हुए कामरूपी वृक्ष की लाल कोपल फूट आई हो। कालिदास प्रेम से वृक्ष का सुंदर रूपक बांधते हुए कहते हैं -

तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया बद्धमूलः, संप्राप्तायां नयनविषयं रुढ़रागप्रवालः।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वात्, कुर्यात् कान्तं मनसिजरुर्मा रसज्ञं फलस्य।।[7]

यहाँ राजा का मालविका के प्रति प्रेम को, काम-वृक्ष के रूप में चित्रित किया गया है। राजा अपनी प्रेयसी मालविका का नाम सुनकर तथा प्रेम रूपी वृक्ष की जड़ें अपने हृदयरूपी संगीतशाला में उसको देखकर

राग रूपी कोपलें फूटीं। मालविका को छूकर जब राजा को रोमांच हुआ, मानों कलियाँ सी खिल गई जब राजा उस प्रेम वृक्ष को चखने के लिये आतुर बैठा है। यहाँ अमूर्त प्रेम भाव को मूर्त वृक्ष का रूपक देकर सुन्दर बिम्ब की सृष्टि की गई है। यहां चाक्षुष व स्पर्श के साथ ही स्वाद बिम्ब भी है।

कवि ने अपनी सभी नायिकाओं की कोमलता व मनोहरता को व्यंजित करने के लिये लता के बिम्ब का प्रयोग किया है। उल्लेखनीय यह है कि कवि 'लता' को मात्र उपमान रूप में संकेतित कर छोड़ नहीं देते, अपितु उसका सर्वांगपूर्ण बिम्ब पाठकों की कल्पना में उतार देते हैं। यथा

शकुन्तला तो है ही प्रकृति पुत्री। प्रियम्वदा जब केसर वृक्ष के पास खड़ी लता से, वृक्ष को 'लतासनाथ इव' अनुभव करती है, तो दुष्यन्त शकुन्तला और लता के पूर्ण साम्यभाव की इस प्रकार व्याख्या करते हैं-

''अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू। कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम्।''[8]

यहाँ लता का सम्पूर्ण रूप दृश्य है, जो प्रस्तुत शकुन्तला के चित्र से मिलकर सुन्दर काव्य-बिम्ब की सृष्टि करता है। 'किसलयरागः' से ओठों की रक्तिमा 'कोमलविटप' से भुजाओं की कोमलता व आकृति, और 'कुसुममिव.' से युवावस्था की चित्ताकर्षकता दृश्य व आस्वाद्य बनाई गई है।

'विक्रमोर्वशीयम्' भी पांच अंकों का नाटक है, जिसमें कालिदास ने एक वैदिक प्रेमाख्यान को पुरुरवा तथा उर्वशी के प्रणय कथा के रूप में वर्णन किया है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के द्वितीय अंक में कालिदास ने राजा पुरुरवा वायु पर कामी के व्यवहार का आरोप करते हुए एक सुन्दर चाक्षुस बिम्ब तथा स्पर्श बिम्ब की सृष्टि की है, यथा -

''निषिञ्चन् माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन्। स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात् कामीव प्रतिभाति मे।।''[9]

राजा पुरूरवा जो स्वयं अपनी रानी के प्रति दक्षिण भाव रखता हुआ अप्सरा उर्वशी पर आसक्त है, वायु को भी कामी के रूप में देखता है। प्राकृतिक तथ्य यह है कि दक्षिण दिशा से आने वाला वायु कौन्दी व माधवीलता के ऊपर से बह रहा है। लेकिन अपने शब्द सामर्थ्य से कवि ने सामान्य प्राकृतिक व्यवहार को रोमांटिक रंग देकर सुन्दर श्रृंगार चित्र की सृष्टि की है। माधवी लता वसन्त में खिलती है और कौन्दी दो माह पूर्व माघ में। अतः इनमें मुग्धा व प्रौढ़ा नायिका की कल्पना कर माधवी को स्नेह से सींचने व कौन्दी को दाक्षिण्यवश (औपचारिकता वश) नृत्य में लगाकर प्रसन्न करते हुए बताया गया है। यहाँ श्लिष्ट शब्दों द्वारा दक्षिण वायु को दक्षिण नायक के रूप में मूर्त कर दिया गया है, जो प्रस्तुत नायक पुरूरवा के अभिनिवेश की भी व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण रोचक लगता है।

राजा प्रमदवन में वासन्ती श्री को आश्चर्य भरी आंखों से देखते रह जाते हैं। उनके आगे एक सुन्दर नारी की प्रतिमा खड़ी हो जाती है, जो युवतियों की वेशभूषा को भी लजाने वाली सजधज के साथ राजा के स्वागत में खड़ी-

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः, प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारणम्।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफांजनेः, सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम्।।[10]

उपर्युक्त श्लोक में प्रकृति के सुकुमार कवि कालिदास प्रकृति की शोभा के सामने मानवीय सौन्दर्य सामग्री को तुच्छ सिद्ध करते हैं।कवि ने वसन्त-शोभा को मूर्त करते हुए एक संश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत किया है। वासन्ती श्री का श्रृंगार स्वाभाविक है, युवतियों का कृत्रिम रहता है। राजा दुष्यन्त विरह से व्यथित हैं, तभी वसन्त ऋतु का आगमन होता है। कालिदास यहाँ प्रकृति और मानव के परस्पर प्रेम व सहानुभूति के भाव को

इतनी दूर तक ले जाते हैं कि राजा के दुःख में वसन्त (असाधारण रूप से) अपने प्राकृतिक व्यापार को रोक लेता है- चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः संनद्ध यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया। कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं शंके संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्।।(अभि. 6.4)[11]

यहाँ वसन्त के उद्दीपन रूप की अपेक्षा उसके कोमल विनम्र रूप का चित्रण हुआ है। अचेतन वृक्षादि व चेतन पक्षियों को राजा के आज्ञापालकों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। खिलने के लिये तैयार आम्रकलिका व कुरबक का चित्रण किया गया है, जो दृश्य बिम्ब है। 'विक्रमोर्वशीयम्' में बसन्त की अधखिली शोभा का निराला ही सौन्दर्य है-

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयोः रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं ईषद्बद्धरजः कणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता।।[12]

वह अपनी स्थिति के लिये इस मध्यावस्था कुरबक का बीच वसन्त की शोभा का अभी पूर्ण विस्तार नहीं हुआ है। वह किशोरावस्था व युवावस्था के मध्य में स्थित है। अर्धविकसित मुग्धत्व व यौवन के मध्य की स्थिति अपने आप में मूर्तकथन है। अमूर्त को भी मूर्त करने के लिये कवि ने अनेक बिम्ब प्रस्तुत किये हैं। में स्त्री नख की भांति पाटल होना व किनारों पर श्यामरंग, अशोक की लाल कलियों की भेदोन्मुखता, आम्रमंजरी पर कुछ-कुछ कपिशवर्ण पराग का आगमन। करवक, अशोक व आम्रमंजरी की दशा विशेष से वसन्त की अवस्था विशेष को स्पष्टता प्रदान की गई है। कालिदास की रंग-सम्बन्धी संवेदना प्रशंसनीय है। रंगों के सूक्ष्म भेद उन्हें स्पष्ट हैं। यहाँ पाटल, श्याम, उपोढराग, कपिश सभी रंग पुष्पों से उधार लिये गये हैं। मधुश्री का वर्णन करते समय, यौवन की दहलीज पर कदम रखती किसी सुन्दरी की 'इमेज' कवि की कल्पना में है।

ऋतुओं के प्रत्यक्ष चित्रण के पश्चात् ऋतु सम्बन्धी उपलक्षित बिम्बों को भी संक्षेप में देख लेना उचित होगा। कालिदास ने अपने नाटकों में ऋतु सम्बन्धी बिम्बों का प्रयोग किया है। कालिदास ने कई स्थानों पर अन्य वस्तुओं की तुलना व सादृश्य के लिये ऋतुओं को अप्रस्तुत बिम्ब के रूप में भी प्रयुक्त किया है। जिस प्रकार कवि ने ऋतु शोभा के लिये नारी का सादृश्य उपस्थित किया है, नारी की शोभा के लिये कई स्थानों पर ऋतु-शोभा का बिम्ब दिया है। मालविका के सौन्दर्य के लिये कवि ने वसन्त ऋतु की शोभा का स्मरण किया है। हल्के से रेशमी वस्त्र व अनेक आभूषण धारण करने वाली मालविका बसन्त- रजनी सी ज्ञात होती है, जिसमें ओस न रहने से तारे चमकते हैं व चाँदी निकलने को रहती है- **अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी बहुभिराभरणैः प्रतिभाति मे। उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका हतहिमैरिव चौत्रविभावरी**[13] कालिदास का सन्ध्या-वर्णन और भी मनोहर बिम्बों से परिपूर्ण, पुरूरवा के राजमहल में सन्ध्या का एक दृश्य इन्द्रियगोचर रूप में कवि ने चित्रित किया है- **उत्कीर्णा इव वासयष्टिसषु निशानिद्रालसा बर्हिणो। धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः संदिग्धपारावताः। आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः सन्ध्यामगंलदीपिका विभजते शुद्धान्तवृद्धो जनः।।**[14]

यह राजमहल में 'दिन छिपे' का यथातथ्य वर्णन है-निवास पर निद्रालस मयूरों के लिये 'उत्कीर्णा' की कल्पना उनकी निश्चलता को प्रत्यक्ष कर देती है। झरोखों से निकलते धूप के रूप रंग के लिये कबूतरों की कल्पना भी बिम्बात्मक है। अन्तःपुर के परिजनों द्वारा दीपकों की कतारें सजाने के बिम्ब से, यह सन्ध्या राजभवन के दृश्य को प्रत्यक्ष कर देती है, अन्यथा यह सन्ध्या का सामान्य दृश्य होता।

इस प्रकार कालिदास ने अपने नाटकों में कई बिम्बों का प्रयोग किया है। यह बिम्ब उनके नाटकों के लिए जटिल और बोझिल नहीं है, बल्कि सरल और व्यावहारिक रूप प्रदान करते हैं। बिम्ब के माध्यम से उन्होंने

अपनी अनेक अनुभूतियों को नए रूप में चित्रित किया है। कालिदास की समस्त भावनाएं, संपूर्ण संवेदनाएं एवं चिंतनगत विषय भी बिम्ब के माध्यम से उद्धृत हैं। कालिदास ने अपने नाटकों में बिम्ब विधान की भारतीय परंपरा का निर्वाह किया है। बिंब के माध्यम से उन्होंने अमूर्त को मूर्त रूप तथा निराकार को साकार रूप प्रदान करने की एक सफल कोशिश की है।

संदर्भ -

1. *आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि भाग 2 ,पृष्ठ संख्या 43-44*
2. *आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रस मीमांसा, पृष्ठ संख्या 310*
3. *कालिदास- ग्रंथावली, हिंदी व्याख्याकार पंडित राम तेज शास्त्री, संपादक ब्रह्मानंद त्रिपाठी, प्रकाशन-चौखंबा सुभारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 400*
4. *डॉ. अमलेश गुप्ता, ''कालिदास की बिम्ब योजना'' प्रकाशन- राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी जयपुर (प्रथम संस्करण, 1984,पृष्ठ संख्या 8*
5. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/7, कालिदास- ग्रंथावली, हिंदी व्याख्याकार पंडित राम तेज शास्त्री, संपादक ब्रह्मानंद त्रिपाठी, प्रकाशन-चौखंबा सुभारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 348*
6. *वही, 4/4, कालिदास ग्रंथावली संपादक ब्रह्मानंद त्रिपाठी, अभिज्ञानशाकुंतलम्, चतुर्थ अंक, प्रकाशन चौखंबा सुभारती, पृष्ठ संख्या 397.*
7. *मल्लिकाग्निमित्रम्, 4/1*
8. *अभिज्ञानशकुंतलम्, 7/20*
9. *विक्रमोर्वशीयम्, 2/4*
10. *मालविकाग्निमित्रम्, 3/5*
11. *अभिज्ञानशाकुंतलम, 6/4*
12. *विक्रमोर्वशीयम्, 2/7*
13. *मालविकाग्निमित्रम्, 5/7*
14. *विक्रमोर्वशीयम्, 3/2*

26

कालिदास के नाटकों में कालतत्त्व-विवेचन

विकास शर्मा

काल के प्रति भारतीय मनीषी वैदिक काल से ही सजग रहे हैं। यह विविध वैचित्र्यमय सृष्टि कब, किस रूप में, कहाँ से आई कौन निश्चित रूप से जानता है? काल शब्द कल् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है- गिनना, हिसाब लगाना। 'काल' शब्द परिणामवाची है।[1] इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है - कालः परिणमयति भूतानीति परिणामहेतुत्वात् परिणाम उच्यते। कलयति कालयति वा भूतानीति कालः। गणनावाची कलन शब्द इसी धातु से बना है। कलयति आयुः इति कालः, काल हमारी आयु को गिनता है, अथवा प्रभावित करता है अथवा कालयति सर्वाणि भूतानि इति कालः - काल सभी जीवों का विनाश करता है। इस प्रकार काल शब्द के प्रमुख दो अर्थ हैं -समय और यम। यम शब्द मृत्यु का वाचक है - कः कालस्य न गोचरान्तरगतः। कल् धातु के अन्य भी अनेक अर्थ है - (भ्वादि) शब्द करना, (चुरादि) धारण करना, जानना, जाना, प्रभावित करना आदि। ऋग्वेद में काल शब्द का एक बार ही प्रयोग हुआ है।[2] अथर्ववेद में काल की अधिक गम्भीर धारणा दृष्टिगोचर होती है।[3] परम सत्ता की जिज्ञासा में ऋषियों का मन अनादिकाल से समुत्सुक रहा है। 'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता' द्वारा ऋषि श्वेताश्वतर जगद्वैचित्र्य के मूलभूत कारण और उसके स्वरूप के विषय में मीमांसा करते हुए विभिन्न विकल्प प्रस्तुत करते हैं।[4] माण्डूक्योपनिषद् में भी विभिन्न सृष्टिचिन्तकों में काल चिंतकों का संदर्भ उपलब्ध होता है।[5] वाक्यपदीय में काल को उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण माना गया। काल इस लोकयन्त्र का सूत्रधार है।[6] काल ही सम्पूर्ण शुभ तथा अशुभ कर्मों को धर्म तथा अधर्म रूप में परिणत करता है। अतएव चरकसंहिता में भी इसे परिणाम कहा गया है - कालः पुनः परिणाम उच्यते।[7] काल से ही पुरुष की उत्पत्ति होती है, उसके रोग भी काल से ही उत्पन्न होते हैं। सम्पूर्ण जगत् काल के वश में है। सभी भावों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश में सर्वत्र काल ही कारण है।[8] श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कालः कलयताम् अहम्। हे गुडाकेश! गणना करने वालों के मध्य मैं काल अर्थात् समय हूँ अथवा नियन्त्रण करने वालों के मध्य मैं काल अर्थात् यम हूँ।[9]

कालिदास ने अपनी कृतियों में ऋषियों द्वारा प्रयुक्त सभी अर्थों में काल शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने उदाहरणों के माध्यम से अपनी नाटकों में कालतत्त्व का विवेचन किया और मानव को अमर सन्देश दिया। निरवधि, अबाध, निरन्तर काल का काल खण्डों में विभाजन मानव के लिए नितान्त अनिवार्य है। प्रातः, दोपहर, सन्ध्या, दिन, रात, मास, ऋतुओं के नियामक तत्त्वों सूर्य-चन्द्र की कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के

प्रथम श्लोक में ही स्तुति की है- ये द्वे कालं विधत्तः। उन्होंने सूर्य-चन्द्र को अष्टमूर्ति शिव के दो रूप माना है।[10] इसी प्रकार मालविकाग्निमित्रम् में भी अष्टमूर्ति शिव का उल्लेख किया है।[11] कालिदास का ऋतुसंहार उनके जीवन-दर्शन और कालदर्शन का सर्वोत्तम उदाहरण है। काल के विभिन्न खण्ड (ऋतुएं) पेड़-पौधों, लताओं, पशु-पक्षियों, कामोन्मत्त प्राणियों की दिनचर्या तथा जीवनशैली को प्रभावित करते हैं। सामान्य मानव इन कालखंडों से निरन्तर संघर्ष करता है। काल की परिवर्तनशील शक्ति के विजेता कालजयी व्यक्तित्व के स्वामी होते हैं। गीता में शीतोष्ण में समभाव रखने वाले पुरुष को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। मालविकाग्निमित्रम् का प्रारम्भ ही वसंतकाल पर किया जा रहा है - अभिहितोस्मि परिषदा कालिदासग्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति।[12] कालिदास ग्रीष्म की प्रखर ऊष्मा में झुलसे बिना वसन्त की ओर उन्मुख जीवन को श्लाघनीय नहीं मानते हैं। ग्रीष्म (तपस्या) से तप्त जीवन ही वसन्त (भोग) उन्मुख होना चाहिए। शाकुन्तल के प्रथम अंक में भी ग्रीष्म को आधार बनाकर सूत्रधार कहते हैं-

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः। प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः।।[13]

कालिदास मानवजीवन के यौवनकाल जैसे महत्त्वपूर्ण कालखण्ड में अनंग की सर्वविजयिनी शक्ति से सुपरिचित थे। वसन्त का रमणीय समय युगद्रष्टा, गायत्री रचयिता विश्वामित्र का तपभंग करने में समर्थ है। वसन्तकाल में मेनका के उन्मादक रूप को देख विश्वामित्र पथभ्रष्ट हो गए।[14] पशु-पक्षी, पेड़-लता भी यौवनकाल में धैर्यच्युत हो जाते हैं। इसीलिए कवि यौवनकाल में वनज्योत्स्ना लता तथा सहकार का भोग के लिए मिलन करवा देते हैं।[15] इसी प्रकार का उल्लेख कालिदास मालविकाग्निमित्रम् में भी करते हैं चतुर्थ अंक में राजा मालविका से कहता है कि तुम मिलन का भय त्याग दो, अभी से तुम्हारे प्रेम से तड़पते हुए मुझ पर तुम यों लिपट जाओ जैसे माधवी लता आम के वृक्ष पर लिपट जाया करती है।[16] वहीं मालविकाग्निमित्रम् के पंचम अंक में राजा विदूषक को प्रौढ़ावस्था में पहुँचे वसंत का प्रभाव दिखा रहा है, वह कहते हैं कि कुरण्टे के फूल झड़कर सामने बिखरे पड़े हैं और आम के पेड़ फलों से लदकर झुक गए हैं, इस तरह वसंत के यौवन के ढलने से चित्त में उत्कंठा सी हो रही है -

अग्रे विकीर्णकुरबकफलजालविभुज्यमानसहकारम्। परिणामाभिमुखमृतोरुत्सुकयति यौवनं चेतः।।[17]

सम्भवतः ऋषि कण्व अपने अतिव्यस्त जीवन में यह समझ ही नहीं पाए कि उनकी पुत्री शकुन्तला अब युवती हो गई है और उसका विवाह कर देना चाहिए।[18] अभिज्ञानशाकुंतलम् के प्रथम अंक में शकुन्तला, प्रियंवदा तथा अनसूया हास-परिहास में विवाह-चर्चा को मुख्य स्थान देकर, विवाह सम्बन्धी उत्कण्ठा प्रकट करती हैं। हास-परिहास में ही वे शकुन्तला को राजमहिषी बनने का दिवास्वप्न दिखाती हैं। युवावस्था व वृद्धावस्था का उल्लेख करते हुए कालिदास कहते हैं कि पुरुवंशी राजा युवावस्था में पृथ्वी की रक्षा के लिए भोगों से परिपूर्ण भवनों में निवास करना चाहते हैं और बाद में अर्थात् वृद्धावस्था में जहाँ परा नियमित रूप से एक वानप्रस्थ का जीवन बिताते हैं, ऐसे वृक्षों की जड़ें उनके घर हो जाती हैं -

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात् तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम्।।[19]

विक्रमोवर्शीय के प्रथम अंक में उर्वशी के होश में आने के बाद रम्भा राजा से कहती है कि आप सौ कल्प तक पृथ्वी का शासन करें -सर्वथा महाराजः कल्पशतानि पृथिवीं पालयन्भवतु। वहीं तृतीय अंक में यौवनकाल का उल्लेख करते हुए कालिदास कंचुकी के माध्यम से कहते हैं कि युवावस्था में सभी संपत्ति जोड़ना

चाहते हैं और तारुण्योत्तर काल के पश्चात् पुत्रों को भार सौंपकर विश्राम करते हैं - सर्वः कल्पे वयसि यतते लब्धुमर्थान्कुटुम्बी। पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय।।[20] यौवनकाल में कांचुकी जिस यष्टि को शिष्टाचारवश ग्रहण करते हैं, बहुत समय व्यतीत होने पर वही यष्टि उनका सम्बल बन जाती है - काले गते बहुतिथे मम सैव जाता। प्रस्थानविक्लवगतेरलम्बनार्था।। वहीं पुनः यौवनकाल में प्रदीप्त काम की संतप्तता व ग्रीष्म काल में आतपदोष (लू) में संतप्त शरीर में साम्यता दिखाते हुए कालिदास कहते हैं कि स्त्रियों में कामदेव और लू के संचार से संताप सामान हो सकता है किन्तु लू का संताप सौन्दर्यवर्धक नहीं हो सकता लेकिन काम संतप्त दुर्बल शरीर भी सुन्दर प्रतीत होता है - **समस्तापः कामं मनसिजिदाघप्रसरयोर्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु।।**[21] कालिदास उचित अवसर पर उचित कर्त्तव्य के पक्षपाती हैं। उचित अवसर पर कर्तव्य पालन न करने से दिलीप गौ के शापवश सन्तति से वंचित रह जाते हैं। मेघदूत में कामी यक्ष शापवश अपनी प्रेयसी से वर्ष-पर्यन्त विरहभोग के लिए विवश है। अवसर पर अतिथि सत्कार न करने पर शकुन्तला शापग्रस्त हुई।[22] मालविकाग्निमित्रम् के प्रथम अंक में गणदास मन ही मन सोचते हुए कहता है कि समय आने पर ही मेहनत सार्थक होती है, सत्पात्र को दी गई शिक्षा समय आने पर वैसे ही निखरती है जैसे मेघ का जल समुद्र की सीपी में पड़कर मोती बन जाता है।[23] कालिदास के युग में आधुनिक काल की भाँति सामान्य युवावर्ग प्रायः भोगलिप्सु ही था। ग्रीष्म में कामी घनी छाया खोजकर सोते हुए जीवन नष्ट करने को आतुर है (प्रच्छाय सुलभ निद्रा) वह ग्रीष्म को भोगानुकूल बनाने को तत्पर है। मदमस्त नारियाँ कोमल शिरीष के पुष्पों को कर्णाभूषण बनाकर ग्रीष्म ऋतु व्यतीत करती हैं। शकुन्तला तपोनिष्ठ कण्व की पालिता पुत्री होकर भी वृक्ष सींचने जैसे सामान्य कार्य से जी चुराती है - धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः। वृक्षों को सींचते हुए उसके कंधे झुक जाते है; हथेलियाँ लाल हो जाती हैं, साँस फूलने लगती है, पसीने की बूँदों से मुख लथपथ हो जाता है, बाल बिखर जाते हैं। उसकी इस दयनीय अवस्था पर तरस खाकर संभवतः वृक्ष सींचने का दायित्व कोई और संभाल लेता है। कुलपति की पुत्री होने का लाभ उठाते हुए अपना दायित्व न निभाना उसकी आदत बन गई, इसीलिए परिहास में प्रियंवदा कहती है- द्वे वृक्षसेचने धारयसि मे । आज का काम कल पर टालना उसका स्वभाव है । कालिदास की दृष्टि में यह अनुचित है लेकिन वहीं सप्तम अंक में यही शकुन्तला नियम पालन करने से तपस्या से कृशकाय एकवेणीधरा होते हुए भी श्रद्धेया है।[24] गौतमी के आगमन पर सखियाँ शकुन्तला को सावधान करते हुए कहती हैं- आमन्त्रयस्व सहचरम् उपस्थिता रजनी।[25] यह भी एक चिरन्तन सत्य ही है कि भोगरत प्राणियों को हितैषी वृद्धों की आकस्मिक उपस्थिति बाधाकाल है। दुष्यन्त की माताओं को ज्ञात है कि दुष्यन्त कण्व के आश्रम गए हैं। चार दिन में उनकी वापिसी सम्भव है। कण्व की अनुपस्थिति में दुष्यन्त का आश्रम निवास सर्वविदित है। इस अवधि में दुष्यन्त ने शकुन्तला से विवाह किया होगा। इस तथ्य को राजदरबार में कोई स्वीकार नहीं करना चाहता। यह भी कालप्रदत्त अथवा नियतिप्रदत्त दण्ड ही है कि जिनकी अवहेलना करके प्रेमी युगल परस्पर विवाह करते हैं, वे विवादकाल में अधिक हस्तक्षेप नहीं करते-

नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न खलु पृष्टश्च बन्धुजनः। परस्परस्मिन्नेव चरिते भणामि किमेकैकम्।।[26]

कालिदास कालप्रदत्त फल को अवश्यम्भावी मानते हैं। इसे वे भवितव्य के नाम से अभिहित करते हैं। इसके द्वार सर्वत्र हैं- अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।[27] आखेटक राजा मृग को छोड़कर, राजकार्य से विरत हो शकुन्तला का पीछा करते हुए प्रतिदिन लतावलयों में जाता है। आश्रम निवासी अनुशासनप्रिय, लोकशिक्षक, अनुभवी, वयोवृद्ध ऋषियों ने इन दोनों के एकान्तमिलन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। संभवतः

कालिदास यह संकेत कर रहे हैं कि समय की प्रतिकूलता होने पर हितैषी भी कुमार्गगामी का विरोध न करके उनके मूक सहायक बन जाते हैं। इसी प्रकार से समयानुकूल वह चाहे पुराना हो या नया अगर उत्तम है तो स्वीकार्य है - पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।[28] कालिदास काल के नियामक तत्त्व सूर्य और चन्द्र इन दोनों का अपने नाटकों में बहुधा उल्लेख करते हैं, ये दोनों तत्त्व महाकाल शिव की अष्टमूर्ति काल के दो रूप भी हैं, ये मानव के उत्थान व पतन के भी सूचक हैं। कालतत्त्व, सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् में से सौन्दर्य पर अपना अमिट प्रभाव डालता है। शकुन्तला और दुष्यन्त को पतनोन्मुख दिखाते हुए कवि दार्शनिक दृष्टिकोण अपना लेते हैं। चन्द्र के अस्त होने पर सूर्य का उदय और सूर्यास्त पर चन्द्रोदय जैसे नैसर्गिक काल विपर्ययचक्र की विवेचना करते हुए लोगों को दशान्तर का उपदेश दिया जाता है-

तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्याम्। लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु।[29]

चन्द्रोदय के समय चिरस्मरणीय शोभायुक्त कुमुदिनी, चन्द्रमा के अन्तर्धान होने पर दृष्टि को आकृष्ट करने में समर्थ नहीं है -अन्तर्हिते सैव कुमुद्वती मे। दृष्टि न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।। मालविकाग्निमित्रम् के चतुर्थ अंक में कालिदास क्रोधित इरावती के मुख की तुलना बिना पूर्णमासी आए रात ग्रहण से काले बने चन्द्रमण्डल से करते हैं -कदामुखं वरतनु! कारणादृते तवागतं क्षणमपि कोपपात्रम्। अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला विभावरी कथय कथं भविष्यसि।। मालविकाग्निमित्रम् के दूसरे अंक में राजा मन ही मन सोच रहा है कि इतनी बड़ी-बड़ी आंखों वाला चेहरा शरद् ऋतु के चाँद की कान्ति की तरह चमकीला है।[30] विक्रमोवर्शीय के द्वितीय अंक में राजा की सूर्य के साथ तुलना करते हुए कालिदास उल्लेख करते हैं कि सूर्य जिस प्रकार अन्धकार का निवारक है आप भी उसी प्रकार से जगत् के दुःखों का निवारण करें । एक दिवस आठ प्रहरों में विभक्त होता है, जिस प्रकार आकाश के मध्य में पहुँचकर सूर्य को विश्राम मिलता है उसी प्रकार से दिवस के षष्ठ भाग में पहुँचकर आप भी राजकार्यों से स्वतन्त्र हो विश्राम करें -

आ लोकान्तात्प्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानां तुल्योद्योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतो नः।
तिष्ठत्येषः क्षणमधिपतिर्ज्योतिषां व्योममध्ये षष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमह्नः।।[31]

पुनः तृतीय अंक में चन्द्रोदय व पूर्वदिशा का सुन्दर प्रयोग करते हैं, उल्लेख है कि उदयाचल में छिपे चन्द्रमा की किरणों से अन्धकार दूर भगाया जा रहा है, इस समय पूर्व दिशा का मुख मेरा मन इस तरह आकृष्ट कर रहा है मानो उर्वशी अपने केश समेट रही हो -

उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिस्तमसि दूरतरं प्रतिसारिते। अलकसंयमनादिव लोचने हरति में हरिवाहनदिङ्मुखम्।।[32]

कालिदास कालविभाजक दिशासूचक का भी प्रयोग अनेक स्थान पर करते हैं जैसे विक्रमोवर्शीय में उर्वशी कुबेर की पूजा करके सूर्योपस्थान वापिस लौटते समय असुरों के द्वारा पकडे जाने पर राजा से रक्षा का निवेदन करती है और राजा जब उनसे पूछता है कि वह असुर किस ओर गया है तो सहजन्या कहती है कि पूर्वोत्तरेण अर्थात् वह पूर्वोत्तर कोण में गया है। ईशान कोण का भी उल्लेख जैसे -ऐशानी दिश प्रति नोदयाश्वानाशुगमनाय। मालविकाग्निमित्रम् के पञ्चम अंक में राजा कहता है कि मैं यज्ञसेन व माधवसेन दोनों भाईयों के लिए दो पृथक्-पृथक् राज्य स्थापित करना चाहता हूँ, वे दोनों वरदा नदी के उत्तर व दक्षिण दोनों देशों को परस्पर बांटकर इस तरह शासन करें जैसे सूर्य और चंद्रमा दिन व रात पर शासन करते हैं -

तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टामुत्तरदक्षिणे। नक्तंदिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव।।

कालिदास ने प्रतीक्षाकाल का सुन्दर उदाहरण दिया है। विरहकाल को भी दर्शाते हुए कालिदास

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के तृतीय अंक में उल्लेख करते हैं कि शकुन्तला का काम भाव बहुत बढ़ चुका है अब वह विलम्ब को सहन करने में असमर्थ है -अनसूये, दूरगतमन्मथाऽक्षमेयं कालहरणस्य। सार्वभौम सत्य है कि प्रतीक्षाकाल दुःसह्य है। शकुन्तला का प्रतीक्षाकाल एकैक दिवस की गणना कर अन्त के स्थान पर अनन्त की ओर अग्रसर होकर सहृदय पाठक को उद्वेलित कर देता है - एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम्।[33] विक्रमोवर्शीय के तृतीय अंक में राजा अपने मन में कहता है कि कार्यान्तर में लगे रहने के दिन तो मैंने किसी तरह से बिता दिए किन्तु बिना विनोद में लम्बी यह रात्रि कैसे बिताई जाए -

कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमनति—च्छेण। आविनोद दीर्घयामा कथं नु रात्रिर्यामयितव्या।

वसन्तऋतु के आगमन पर पेड़-पौधे, पशु-पक्षी सभी वसन्त का स्वागत करने को लालायित हैं। अपने विरह दुःख से कातर दुष्यन्त दिन, प्रति-दिन कृशकाय होते हुए उन्मत्त सा हो रहा है - गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम्।[34] वह राज्यभर में वसन्तोत्सव का निषेध कर देता है। इस उदाहरण से कालिदास ने मानव को अमर सन्देश दिया है कि तपस्या काल में भोगरत प्राणी भोगकाल प्राप्त होने पर रोगी हो जाते हैं। ऐसी दशा में प्रियमिलन का आशा बन्धन ही जीवन का सम्बल है -

एषाऽपि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्। गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति।।[35]

मेघदूत में कवि सावधि प्रतीक्षाकाल को आशाबन्ध द्वारा ही सह्य घोषित करते है -

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीं, अव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां, सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि।[36]

कालिदास भोगकाल की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। भोग मर्यादानुकूल होना चाहिए -

किमित्यपास्याऽभरणानि यौवने धृवं त्वया वार्द्धकशोभि वल्कलम्।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते।।[37]

संध्याकाल का उल्लेख करते हुए कालिदास अभिज्ञानशाकुन्तलम् के तृतीय अंक में कहते हैं कि हे राजन् ! संध्याकाल में यज्ञक्रम के प्रारम्भ होने पर (यज्ञिय) अग्नि से युक्त वेदी के चारों ओर फैली हुई संध्याकालीन बादलों के तुल्य भूरी, भयप्रद राक्षसों की छाया अनेक रूप में विचरण कर रही है -

सायन्तने सवनकर्मणि सम्प्रवृत्ते, वेदिं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः सन्ध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्।।[38]

इसी प्रकार से विक्रमोवर्शीय के प्रथम अंक में जब उर्वशी को होश आ रहा होता है तब कालिदास के द्वारा सन्ध्याकाल का प्रयोग रमणीय है - चंद्रोदयोपरान्त तमोयुक्त शर्वरी के समान, धूमशिखा से वियुक्त सांयकालिक अग्नि के समान और तटपात से कलुष गंगा जिस तरह प्रसन्नसलिला होती है उसके समान यह सुन्दरी बेहोशी दूर होने से प्रसन्न होती जा रही है।[39] मालविकाग्निमित्रम् के चतुर्थ अंक में कालिदास मृत्यु को काल का पर्याय के रूप में प्रयोग करते हैं, मालविका को भूगर्भ की कोठरी जो काल के मुंह में जाने के समान है उसमे कैद कर दिया जाता है। पुनः आगे उल्लेख है कि विदूषक अशोक के फूलों के गुच्छे के लिए मैंने हाथ पसारा था कि वृक्ष की क्रोडट से निकलकर साँप रूपी काल ने मुझे डस लिया - तत्राशोकस्तबककारणात्प्रसारिते में हस्ते कोटरनिर्गतेन सर्परुपिणा कालेन दष्टोऽस्मि।[40]

कालक्रम व कार्यकारण सिद्धान्त का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग करने के कारण कालिदास की दार्शनिक दृष्टि भी अवगत होती है।[41] जिसे आचार्य भर्तृहरि काल की दो सीमाएं - प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के रूप में

स्वीकार करते हैं -प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते।[42] काल ही सभी को उन्नत करता है और अवनत करता है, इस संसार में सभी जीव समयानुसार उदय व अस्त को प्राप्त होते हैं। जो आज उन्नत है, वह कल अवनत होगा और जो आज अवनत है वह कल उन्नत होगा ये काल सूचक, काल नियामक दो तत्त्व सूर्य और चंद्रमा हमें यही शिक्षा दे रहे हैं -

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनामाविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु।।[43]

जीवन में समय पर मुक्ति भी अनिवार्य है। मृत्युप्रदत्त मुक्ति कालप्रदत्त है। मनुष्य अपने प्रयास से मोक्ष पा सकता है। कालिदास का निर्वासित यक्ष रामगिरि आश्रमों में जनकतनया के स्नान से पवित्र तीर्थों में रहकर मेघ के माध्यम से ज्ञान का अर्जन करता है। यक्षिणी को चार मास की अवधि की प्रतीक्षा का सन्देश भेजता है - शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।[44] यक्ष जीवात्मा है जो कर्म फलभोग के लिए परमात्मा से वियुक्त है तथा जीवन के दो तिहाई भाग को व्यतीत करने पर ज्ञानोन्मुख है। हिमालय के सुन्दर, शुभ्र, पवित्र अंचल में विद्यमान यक्षिणी परमात्मा है। धूम, ज्योति, सलिल, मरुत् का सन्निपात मेघ मन है। एक वर्ष की अवधि सम्पूर्ण जीवन काल है जिसमें अब केवल तिहाई भाग (संन्यास भाग) अवशिष्ट है। उचित समय पर महाकाल के दर्शन कर मुक्ति सम्भव है -महाकालमासाद्य काले।[45] वेदों के वचनानुसार मन एक दिव्य ज्योति है, ज्योतिषां ज्योतिरेकम् । मन जलनिधि की लहरों के समान तरङ्गित तथा वायु की भांति अदृश्य, लेकिन जीवनसार है। भौतिक शरीर में इसी मन से उठने वाला धुआँ मानव तथा समग्र विश्व को विषाक्त करता है। यही धुआँ मानव के दुःख का मूलकारण है। कालिदास शाकुन्तलम् के भरतवाक्य में महाकाल शिव से पुर्नजन्म नष्ट करने की प्रार्थना करते है - ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।[46] कालिदास के आराध्य शिव महाकाल हैं। महाकाल के मन्दिर के प्रति कालिदास की आस्था द्रष्टव्य है। मृत्युकाल में महाकाल को देखकर ही मुक्ति सम्भव है- मृत्युलोके महाकालं दृष्ट्वा मुक्तिमवाप्नुयात्।[47] काशीखण्ड में महाकाल का व्युत्पत्तिपरक अर्थ उपलब्ध है- कल्पे कल्पेऽखिलं विश्वं कालयेत् यः स्वलीलया तं कालं कलयित्वा तु महाकाल इति स्मृतः।। इन्हीं महाकाल से मुक्ति प्रार्थनीय है ताकि मानव कालबन्धन से मुक्त हो। मानव काल के अधीन है जबकि शिव कालातीत, महाकाल है। जब कुछ भी नहीं था, तब भी काल था, उससे भी पूर्व महाकाल था।[48]

इस प्रकार अंत में सार रूप में यह कहा जा सकता है कि कालिदास अपने नाटकों में कालतत्त्व का विवेचन कहीं प्रत्यक्ष रूप से तो कहीं परोक्ष रूप से करते हैं। उनकी कृतियों में ऋषियों द्वारा प्रयुक्त काल शब्द के सभी अर्थों का प्रयोग प्राप्य है। काल गतिशील है, अनंत विश्व की संरचना, इसके भुवन कोशों का विस्तार, प्रातः, दोपहर, सन्ध्या, दिन, रात, मास, वर्ष, कल्प, ऋतु सभी कुछ काल तत्त्व में समाहित है। काल का ही सब पर शासन है, जन्मतः मृत्युपर्यंत सब कुछ काल के ही अधीन है। कालतत्त्व नित्य, विभु तथा अखण्ड है। काल की कोई अवधि या सीमा नहीं है। कदाचित् इसी आशय से भवभूति ने भी 'कालो ह्ययं निरवधिः' कहा होगा।

सन्दर्भ -

1. *को अद्धा वेद क इह प्रावोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः, को ददर्श प्रथमं जायमानम् - ऋग्वेद, 8.100.3*
2. *वही, 10.43.5*
3. *अथर्ववेद, 16.53.1 तथा 16.54.5*

4. कालः स्वभावो नियतिर्यच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या। संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ।। श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1.1-2
5. विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः। स्वप्नमायासरूपमेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता।। इच्छामात्रं प्रभो सृष्टिरिति स्रष्टौ विनिश्चिताः। कालात्प्रसूतिं, भूतानां मन्यन्ते कालचिंतकाः।। माण्डूक्योपनिषद्, 1.6.7-8
6. उत्पत्तिं च स्थितौ चापि विनाशे चापि तद्वताम्। निमित्तं कालमेवाहुर्विभक्तेनात्मनास्थितम्।। तमस्य लोकयन्त्रस्य सूत्रधारं प्रचक्षते।। वाक्यपदीय, कालसमुद्देश, 4-7
7. सूत्रस्थानम्, 11.45
8. कालजस्त्वेव पुरुषः कालजास्तस्य जामयः जगत् कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम्।। वही, 25.25
9. श्रीमद्भगवद्गीता, 10.30
10. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.1
11. एकैश्वर्यस्थितोपि प्रणतबहुफलो यः स्वयं कृत्तिवासाः, कान्तासंमिश्रदेहोप्यविषयमनसां यः पुरस्ताद्यतीनाम्। अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः, सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स नस्तामसीं वृत्तिमीशः।। मालविकाग्निमित्रम्, 1/1
12. वही, प्रथम अंक, पृष्ठ 5
13. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.3
14. ततो वसन्तोदाररमणीये समये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य।
15. हला रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, बद्धापल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः - वही, प्रथम अंक, पृष्ठ 52
16. विसृज सुन्दरि! संगमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे। परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि।। मालविकाग्निमित्रम्, 4.13
17. वही, 5.4
18. असाधुदर्शी खलु तत्रभवान्काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते। इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति । ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ।। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अंक, श्लोक 18
19. वही, सप्तम अंक, श्लोक 20
20. विक्रमोवर्शीयम्, तृतीय अंक, श्लोक 1
21. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, तृतीय अंक, श्लोक 6
22. विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्। स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अंक, श्लोक 1
23. पात्रविशेषन्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः। जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।। मालविकाग्निमित्रम्,1.6
24. वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः। अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सप्तम् अंक, श्लोक 21
25. वही, तृतीय अंक
26. वही, 5.16

27. वही, 1.14

28. मालविकाग्निमित्रम्, प्रथम अंक

29. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4.2

30. मालविकाग्निमित्रम्, चतुर्थ अंक

31. विक्रमोवर्शीयम्, द्वितीय अंक, श्लोक 1

32. वही, तृतीय अंक, श्लोक 6

33. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6.11

34. वही, षष्ठ अंक

35. वही, 4.16

36. पूर्वमेघ, श्लोक 10

37. कुमारसंभव, 5.44

38. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, तृतीय अंक, श्लोक 24

39. आविर्भूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रिः नैशस्याचिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्टधूमा। मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना गङ्गा रोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्।। विक्रमोवर्शीयम्, प्रथम अंक, श्लोक 9

40. मालविकाग्निमित्रम्, चतुर्थ अंक

41. उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं, घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः। निमित्तनैमितिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सप्तम अंक, श्लोक 30

42. वाक्यपदीय, 3.30

43. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अंक, श्लोक 2

44. पूर्वमेघ, श्लोक 5

45. वही, श्लोक 37

46. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 7.34

47. पूर्वमेघ, श्लोक 36

48. काशीखण्ड

27

कालिदास की नाट्यकला

सुकदेव वाजपेयी

'कालिदासः मानवशिल्पी महाकविः'[1] आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के इस कथन से स्पष्ट है कि कालिदास के काव्य मानवीय भावनाओं के संचित प्रतिबिम्ब हैं, जो युगानुरूप समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। कालिदास ने अपनी कवि भारती को सजाने, संवारने में ऐसे क्षितिज की स्थापना की है, जिसमें रस, अलंकार, प्रकृति, संगीतकला और भाषाशैली का उत्कृष्ट निदर्शन प्राप्त होता है। नाट्यकला के परिप्रेक्ष्य में कालिदास की वर्णन चातुरी द्रष्टव्य है।

अलंकार - अलंकार काव्यभूमि एवं लोकभूमि दोनों ही स्थानों पर शोभावर्धक तत्त्व के रूप में प्रसिद्ध है। उपमादि अलंकार काव्य की कमनीयता में वृद्धि प्रदान करते हैं। काव्यात्मक अलंकारों में उपमालंकार के सौन्दर्य की प्राचीन एवं आधुनिक साहित्यशास्त्रियों ने विशेष रूप से सराहना की है। इसका सौन्दर्य समालोचकों को इस सीमा तक अभिभूत किया कि उनके मुक्तकण्ठ से यह उद्गार निकला - उपमा कालिदासस्य, जो पाठकों के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। इसका प्रमुख हेतु है महाकवि कालिदास द्वारा उपमालंकार के विलक्षण प्रयोग से सम्पादित चमत्कार। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में महाकवि कालिदास का प्रकृतिपुत्री शकुन्तला के शारीरिक सौन्दर्य के उपमान प्रकृति से ही अधिकृत हैं, यथा -

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररूहैः, अनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं, न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।।[2]

निसर्ग सुन्दरी प्रकृति की कन्या शकुन्तला अनाघ्रात पुष्प, कर नखों से अलून किसलय, अविद्ध रत्न, अनास्वादित नव मधुरस और अखण्ड पुण्यरूपी फल के समान है। सचेतन शकुन्तला के यौवनांगों का दर्शन कवि ने प्रकृति की अचेतन लताओं में देखा, जिसका सौन्दर्य मनोरम तथा अत्यधिक हृदयावर्जक है। यथा -

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू। कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम्।।[3]

शकुन्तला के अधर नवकिसलय हैं, दोनों भुजायें पतली शाखाओं के सदृश हैं तथा अंगों में फूलों के समान मनोहर यौवन का सौन्दर्य है। सुकुमार शकुन्तला की उपमा कवि कोमल लता के साथ देकर अर्थानुकूल कोमल, सुकुमार पदों का विन्यास करते हैं यह कवि की महनीय विशेषता उपमा वर्णन में प्रदर्शित हुई है। इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् नाटक में राक्षस के चंगुल से बचने पर चेतनाशून्य उर्वशी में धीरे धीरे चेतना आ रही है जिसकी समता महाकवि ने चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार से छोड़ी जाती हुई रजनी, रात्रिकाल में धूमराशि

से विहरित होने वाली अग्नि की ज्वाला, बरसात में तट में गिरने के कारण कलुषित होकर धीरे धीरे प्रसन्न सलिला होने वाली गंगा के साथ देखकर पाठकों के समक्ष तीन सुन्दर दृश्यों का चित्र एक साथ उपस्थित कर दिया है जो नितान्त ही रसाभिव्यंजक है। यथा -

आविर्भूते शशिनि तमसामुच्यमानेव रात्रिः, नैशस्यार्चिर्हुतभुज इवच्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना, गंगा रोधः-पतन-कलुषा गृह्णतीव प्रसादम्।।[4]

प्रान्त भागों में पके हुये पीले फलों से युक्त आम्रवृक्ष से आच्छन्न और शिखर पर काला मेघ होने पर 'आम्रकूट पर्वत' मध्यभाग श्यामवर्ण तथा पीतवर्ण वाला हो जाता है जिससे वह पृथ्वी के स्तन की शोभा को धारण करता है (विक्रमो 1.8)। अचेतन प्रकृति से चेतनयुक्त मनुष्य की उपमा नैसर्गिक ही प्रतीत होती है जो पाठक के चित्त में अप्रतिम भाव का संचार करती है। यह कालिदास के उपमा का वैशिष्ट्य है। कालिदास के अलंकार रससरोवर में स्वतः उत्पन्न उस पुष्प की भांति हैं जो स्वतः ही निष्पन्न होकर विविध अलंकारों की शोभा को धारण करते हैं और यही वास्तविक अलंकार है जैसा कि आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक में लिखते हैं -

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यकिया भवेत्। अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।।[5]

अर्थात् जो अलंकार रस से आक्षिप्त होने के कारण विना किसी अन्य प्रयत्न के निष्पन्न होते हैं वही वस्तुतः अलंकार होते हैं। इस दृष्टि से कालिदास के उपमा अलंकार ,अलंकारध्वनि के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। जिसमें रसानुभूति के अनन्तर उसकी अलंकृत अभिव्यक्ति होती है। कालिदास के द्वारा प्रस्फुटित उपमालंकार जीवन के आधारस्तम्भ हैं। नाटकों में इनकी उपमाओं द्वारा मानव जीवन का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत हुआ है। क्योंकि मनुष्य और वस्तुओं के सम्बन्ध में कवि का ज्ञानजगत् जितना व्यापक है उतना ही व्यापक उपमा का मूलस्रोत भी है। कालिदास की सभी उपमायें प्रायः सरल मनोहारी तथा मानव मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाली हैं। ये उपमायें उस समाज का चित्रण करती हैं जो प्रकृति से सदैव सम्बद्ध हैं। **रसविवेचन नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते**[6]काव्य की विलक्षणता एवं ग्राह्यता उसके आन्तरिक सौन्दर्य की उपज होती है। जिसको काव्य का मूलतत्त्व अथवा आत्मा की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इसे रस के रूप में भी जाना जाता है। रस के विना कोई नाट्यरूप में प्रवृत्त नहीं हो सकता। **रस्यते आस्वाद्यते इति रसः** रस आस्वाद्य है और अपनी आस्वाद्यता के कारण ही वह रस संज्ञा से उक्त होता है। संस्कृत जगत् में महाकवि कालिदास को रससिद्ध कवि के रूप देखा गया है और उनके रस को सिद्ध रस। जिसमें रस की भावना नहीं करनी पड़ती अपितु रस आस्वाद के रूप में स्वतः ही परिणत हो जाता है। कालिदास नैसर्गिक प्रतिभा के धनी कवि हैं। उनके काव्य में नवरसों का अद्भुत संगम है। फिर भी कालिदास की शृंगारिक वर्णन की छटा विश्वसाहित्य में अद्वितीय है, जैसा कि राजशेखर लिखते हैं -

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्। शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासः जयी किमु।।[7]

श्रृंगार रस की ललित अभिव्यंजनाओं से भरपूर कविता के क्षेत्र में कालिदास को कोई नहीं जीत सकता। श्रृंगार के दोनों पक्षों संयोग एवं वियोग की मनोरम अभिव्यंजना कालिदास की प्रायः सभी काव्यकृतियों में है।

संभोग शृंगार - संभोग शृंगार, के अन्तर्गत प्रतीमान रसाभिव्यंजक, नायक नायिका के परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन आदि समस्त शृंगारिक चेष्टायें कालिदास की रचनाओं में संयत रूप से प्रसृत हुई हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त मानसिक रूप से शकुन्तला को पत्नी रूप में वरण करता है अतः उसको यह असह्य है कि भ्रमर शकुन्तला के अधरों को स्पर्श करे -

चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं, रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं, वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।।[8]

संभोग शृंगार के संवेग से आक्षिप्त यहां स्वभावोक्ति अलंकार की निष्पत्ति हो रही है। शकुन्तला की दयनीय अवस्था को देखकर तथा पारस्परिक प्रेम का निर्णय हो जाने पर राजा प्रवेश करता है और गान्धर्व विवाह के लिये अपनी स्वीकृति प्रदान करता है और शकुन्तला को आश्वस्त करता है कि वह उससे ही हार्दिक प्रेम करता है यथा -

इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसन्निहिते हृदयं मम। यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः।।[9]

इसप्रकार विक्रमोर्वशीयम् एवं मालविकाग्निमित्र्म् नाटक में भी संभोग शृगांर की चर्वणा होती है।

विप्रलम्भ शृंगार - शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्[10] मन को अतिशय आर्द्रता प्राप्त कराने वाला तथा सहृदयों के हृदय को अतिशय आकृष्ट करने वाला विप्रलम्भ श्रृंगार कालिदास के मेघदूत में चरम परिणति को प्राप्त है। किन्तु नाटक की बात करें तो अभिज्ञानशकुन्तल में शाप के वशीभूत हाकर दुष्यन्त शकुन्तला का परित्याग कर देता है परन्तु स्वनामाङ्किकत अंगूठी को देखकर वह शाप मुक्त हो जाता है और उसे सभी घटनायें स्मरण आने लगती हैं। तब उसे शकुन्तला का वियोग सताने लगता है और वह असीम दुःख का अनुभव करता हुआ कहता है -

प्रजारागात् खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः। वाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि।।[11]

कालिदास की यह विरहवेदना हृदय को आर्द्र बना देती है। उनका वियोग वर्णन करुण की भावभूमि में पहुंच जाता है।

वीररस- अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त का राक्षसों पर विजय प्राप्त कर स्वर्ग लौटने पर उनके यशोगान का देवताओं द्वारा कल्पलता के वस्त्रों पर मुद्रण, वीर रसात्मक स्थायी भाव का व्यंजक हैं यथा -

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु। विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति।।[12]

कवि के वीररसोचित वर्णन में भी कविभारती वैदर्भी रीति का परित्याग नहीं करती है। यह कवि कालिदास की मौलिक विशेषता है।

वात्सल्यरस - कालिदास ने वात्सल्य वियोग का अत्यन्त हृदयावर्जक दृश्य शकुन्तला को पतिगृह भेजते समय दिखाया है -

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया, कण्ठं स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः, पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः।।[13]

शकुन्तला विदा हो रही है, काश्यप का गला आंसुओं के बहने से रोकने पर रुंध जाता है, चिन्ता से आंखें निश्चेष्ट हो जाती हैं, वे कहते हैं -जंगल में रहने वाले मुझको शकुन्तला के प्रति प्रेम के कारण इसप्रकार दुःख हो रहा है। तो गृहस्थ लोग पहली बार पुत्री के वियोग से कितने दुःखी होते होंगे।

इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् में राजा पुरुरवा का अपने पुत्र को देखकर जो प्रेम उमड़ा वह वत्सल स्नेह का सुन्दर दृष्टान्त है। राजा अपने पुत्र कुमार को देखकर कहता है कि - इसको देखते ही आंखें भर आईं हैं, हृदय में वात्सल्य प्रेम उमड़ रहा है और हृदय पुलकित हो गया है। मेरा शरीर धीरज खोकर कांपने लगा है और मेरी ऐसी इच्छा हो रही है कि इसे उठाकर कसकर गले लगा लूं - **वाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन्**

वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः। संजातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्तिरिच्छामि चेनमदयं परिरब्धुमंगैः।।[14] कालिदास की नाट्यकृतियों में समस्त रस अपने श्रेष्ठतम रूप में परिणत हैं। ये रस सामाजिक चर्वणा का विषय बनते हैं। रस सामाजिक निष्ठ होता है और वही नाट्य अथवा काव्य का फल होता है। रस सामाजिकों के हृदय में स्थित स्थायीभाव होता है। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी रस को सामाजिकनिष्ठ फलरूप बताते हुये लिखते हैं -

रसस्तेषां फलं तच्च सामाजिकचितिस्थितिम्। एतद्विघ्नापहारो यस्तस्यौचित्यमिति श्रुतिः।।[15]

महाकवि कालिदास की भी रससिद्धता सामाजिकनिष्ठता ही है। कालिदास निसर्ग से समरस थे अत एव उनकी रचनाओं में वाचिक, नेपथ्य और स्वाभावज आदि तीनों प्रकार के रस पाये जाते हैं। उनका यह भी वैशिष्ट्य है कि मनुष्य की भूमिका का निर्वहन करते हुये सामाजिक की सभी प्रकार की धाराओं का सुन्दर एवं सूक्ष्म रूप से वर्णन किया है। जिसका अनुशीलन करता हुआ पाठक काव्य के परम प्रयोजन सद्यःपरनिर्वृतये का अनुभव करने लगता है। कालिदास के रसविनियोजन में सर्वथा यही प्रयत्न है कि शृंगार, वीर, करुण आदि रसों के द्वारा उस उस आनन्द को प्रकट करते हुये अनंत में उस शाश्वतिक आनन्द को ही उपाधिरहित बनाकर प्राप्त करा दे जो शान्ति के रूप में आत्मा में विद्यमान है। वास्तव में यही है कालिदास का रस विवेचन। कालिदास का रस विवेचन आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन का मानदण्ड है। उनका रसप्रवाह प्राचीन तथा नूतन रसपरक विचार धाराओं का सम्मिलित रूप प्रस्तुत करता है जो सदैव अलौकिक आनन्दानुभूति का पोषक है।

प्रकृतिचित्रण - अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः[16] कालिदास वस्तुतः प्रकृति के प्रजापति हैं। कालिदास ने जिस रूप में प्रकृति के दर्शन किये प्रकृति उसी रूप में उनके समक्ष उपस्थित होती दीखती है। उन्होंने जड़ प्रकृति में भी चेतना का संचार किया है जो विश्वसाहित्य में अपूर्व है। कालिदास भावसमग्रता के कवि है उन्होंने जहां कहीं जिस भाव को भावित कराया वह उसी भाव रूप वाला हो गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मानवानुभूति का प्रकृति में चरम निदर्शन प्राप्त होता है। शकुन्तला के पतिगृह जाते समय प्राकृतिक वृक्ष मांगलिक आभूषण प्रदान करते हैं यथा -

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा मांगल्यमाविष्कृतं, निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै, र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः।।[17]

अर्थात् शकुन्तला को पतिगृह जाते समय अलग अलग वृक्षों नेश्श्वेत मांगलिक वस्त्र प्रदान किया, पैरों को रंगने के लिये लाक्षारस प्रकट किया तथा सुन्दर किसलयों की प्रतिस्पर्धा करने वाले कलाई तक उठे हुये वृक्षों ने वनदेवता के करतलों से आभूषण दिये। ऋषिकण्व वन के वृक्षों से शकुन्तला के पतिगृह जाने के लिये अनुमति मांगते हैं, जिन वृक्षों को जल दिये विना शकुन्तला जल ग्रहण नहीं करती थी, अलंकारप्रिया होने पर भी प्रेम के कारण उन पत्तों को नहीं तोड़ती थी, प्रथम पुष्पोद्गम के समय उत्सव मनाती थी, वह अपने घर जा रही है अतः आप सभी आज्ञा दीजिये -

पातु न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या, नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः, सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।[18]

कोयल की बोली द्वारा समस्त वनवासी के साथी वृक्ष शकुन्तला को जाने की अनुमति देते हैं। शकुन्तला के वियोग में तपोवन का समस्त वातावरण दुःखित हो जाता है। मृगियों ने कुशा के ग्रास को उगल दिया, मोरों ने नांचना छोड़ दिया और लतायें पीले पत्तों को डालकर मानों अपने आंसू बहा रही हैं (4.12)। मानवीय संवेदना प्रधान प्रकृति का यह चित्रण अत्यन्त सुकुमार एवं सरस है। नवयौवन शकुन्तला का शारीरिक

सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य में ही उत्कृष्टता को प्राप्त होता है उसके अधर कोमल किसलय के समान है, उसकी कोमल भुजायें, लता के सुकुमार शाखाओं के समान हैं, उसके अंगों में यौवन खिले हुये पुष्प के समान आकर्षक है। इस प्रकार कवि मानवीय सुन्दरता को प्रकृति की रमणीयता का एक अंग मानते हैं। कोकिलों के मधुर शब्द और दक्षिण पवन की पावनता का कवि ने मालविकाग्निमित्रम् में हृदयग्राही वर्णन किया है -

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां, सानूकोशं मनसिरुजः सह्यतां पृच्छतेव।
अंगे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे, सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापश्यतो माधवेन।।[19]

कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अंक में राजा के उन्माद के वर्णन में अपनी अलौकिक वर्णना शक्ति का चमत्कार दिखाया है उनकी सौन्दर्यान्वेषणी प्रतिभा साकार हो उठी है। जब उर्वशी लता के रूप में परिणत हो जाती है तब राजा उसके वियोग में विह्वल होकर पागल हो जाता है और वह प्रकृति के समस्त चराचर से उसके बारे में पूछता है। यहां कवि ने जल बरसाने वाले काले बादल पर अद्वितीय मानवीय चित्र लिया है- जब राजा आकाश में पानी बरसाने वाले मतवाले काले बादल को देखता है तो उसे अपने प्रिया का हरण करने वाला राक्षस समझता है परन्तु जब वास्तविकता का ज्ञान होता है तब वह कहता है-

नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः, सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नामशरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा, कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया मम नोर्वशी।।[20]

अर्थात् अरे! यह तो नया बादल आ रहा है अभिमानी राक्षस नहीं, और यह दूर तक खींचा हुआ इन्द्रधनुष है न कि राक्षस का धनुष, यह तो धारावृष्टि हो रही है न कि बाणों की, कसौटी पर सोने के समान चमचमाती बिजली है मेरी प्यारी उर्वशी। राजा के उन्माद में कवि ने प्रकृति का मनोरम वर्णन किया है। उर्वशी का नदी रूप में परिणत की आशंका करता हुआ कवि नदी का सुन्दर वर्णन करता है। तरंगें ही उसकी टेढ़ी भौहें हैं, कलरव करते हुये पक्षीगण ही उसके कटिसूत्र हैं, क्रोध से खिसके हुये अपने फेनरूपी वस्त्रांचल को समेटते हुये चली आ रही है। (विक्रमो) इस प्रकार अपने नाटकों में कवि कालिदास ने प्रकृति को नृत्यांगना के रूप में प्रकृति मंच पर उतारा है। आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते हैं - कालिदास की निरीक्षण शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म तथा पैनी है। उनका प्रकृति वर्णन वैज्ञानिक तथा प्रतिभामण्डित है। कालिदास प्रकृति के अन्तःस्थल के सूक्ष्म पारखी कवि हैं। जिनकी दृष्टि प्रकृति के सौम्य रूप, माधुर्यमय प्रवृत्ति तथा स्निग्ध सौन्दर्य के ऊपर रीझती है तथा उग्रता और भीषणता से सदा पराङ्गमुख रहती है।

पात्रों की सजीवता - नाट्य एवं काव्यग्रन्थों के पात्र मानवजीवन के सद्गुणों के भावपुंज होते हैं। संस्कृत साहित्य के इतिहास में उपाध्याय जी लिखते हैं कि कालिदास के पात्र जीवन शक्ति से सम्पन्न जीगते जागते प्राणी हैं। उनकी शकुन्तला प्रकृति की कन्या आश्रम की निसर्ग बालिका है जिसके जीवन को बाह्यप्रकृति ने अपने प्रभाव से कोमल तथा स्निग्ध बनाया है। धीरता की मूर्तिधारणी, चपल प्रेम की प्रतिमा मालविका, उन्मत्त प्रेम की अधिकारिणी उर्वशी, पारस्परिक ईर्ष्या तथा प्रणयमान की प्रतिनिधि इरावती संस्कृत साहित्य के अविस्मरणीय पात्र हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में पुरुवंशी दुष्यन्त की सच्चरित्रता और पवित्रता भी दर्शनीय है। दुष्यन्त शकुन्तला को कण्वाश्रम में देखकर मोहित हो जाता है परन्तु उसके मन में ब्राह्मण कन्या की शंका बना रहती है यथा -

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः। सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।।[21]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में 'अनार्यपरदारव्यवहारः' तथा 'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्' इन वाक्यों द्वारा

पुरुवंश के लोंगों की अन्तःप्रवृत्ति, पवित्रता और संयमशीलता का ज्ञान स्पष्ट होता है। कालिदास की प्रत्येक रचनाओं में नायक और नायिकायें भिन्न भिन्न कोटि में दिखाये गये हैं। जैसे मालविकाग्निमित्र में नायक अग्निमित्र उनके समकालीन राजाओं में से एक थे और वह भलीभांति जानते थे कि महाभारत और रामायण में चित्रित राजर्षियों के समान अग्निमित्र उदात्त चरित्रवान् नहीं थे तथापि उन्होंने अपनी नाट्यकला की प्रवीणता से उसको साधारण गुणों से युक्त नायक के रूप में स्वीकार किया। इतना ही नहीं उनकी प्रत्येक रचनाओं में एक न एक विशेषता परिलक्षित होती है। उन्होंने पात्रों के मनोभावों का सूक्ष्म विवेचन किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के चित्रित धीवर से लेकर राजा दुष्यन्त तक सभी चरित्र अपने अपने ढंग से रमणीय हैं। उनकी सभी रचनाओं में न केवल पात्रों का सजीव चित्रण हुआ है अपितु अचेतन सृष्टि भी सचेतन हो उठी है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में केवल पुरुष पात्रों का ही उदात्त चरित्र नहीं दिखलाया है अपितु स्त्री पात्रों के आदर्श चरित्र चित्रण में भी बड़ी कुशलता से काम लिया है। वस्तुतः कालिदास की कृतियों में स्त्री पात्रों ने पुरुषों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जिसके परिणाम स्वरूप उनकी समस्त रचना अधिक सरस सजीव रोचक, आकर्षक और हृदयाह्लादक बन गई है। स्त्री पात्रों के उज्ज्वल चरित्र का चित्रण कर कालिदास ने नारियों को गौरवता प्रदान की है। कालिदास की दृष्टि में स्त्री भोग विलास की ही एकमात्र वस्तु नहीं है अपितु सच्ची गृहस्वामिनी, सचिव, सखी, समस्त ललित कलाओं में निपुण जीवन संगिनी है -
गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ....(रघु 8.67।)

भाषा शैली - संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः[22] संस्कृत भाषा आदिकाल से ही इस संसार के लोकव्यवहार को प्रवर्तित करती हुई विद्वानों के लिये कामधेनु के रूप में प्रतिष्ठित है, जिसका आश्रय लेकर कवि कालिदास ने समस्त अभीप्सित फलों की प्राप्ति कर ली। कालिदास के नाटकों में उत्तम पुरुष पात्र राजा, गुरु, मन्त्री, तपस्वी, संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं यथा- दुष्यन्त, कण्व आदि। शकुन्तला आदि पात्र शैारसेनी भाषा का प्रयोग करती हैं। यथा शकुन्तला की सखियां आपसी संवाद में सखी अर्थ में 'हला' शब्द का प्रयोग करती हैं। हला शब्द शौरसेनी भाषा की बोलचाल में प्रयुक्त होता है। सिपाही धीवर आदि पात्र मागधी भाषा का प्रयोग करते हैं। मागधी में 'र' को 'ल' और 'स' 'ष' को 'श' बोला जाता है तथा कर्ता एकवचन में एकारान्त होता है जो धीवर के कथन में दृष्टिगत होता है। - अरे=अले, समासादितम्= शमाशादितम् आदि। भाषा के विविध रूप प्रान्तों की जनभाषा का प्रतिनिधित्व करते है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में बृहत्तर भारत की भाषाओं को समावेशित किया है। कहीं कहीं विदेशी भाषाओं का स्वरूप भी देखने को मिलता है। यथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में 'यवनी' शब्द का प्रयोग है। जो फारसी भाषा का प्रचलित शब्द है। इन समस्त भाषाओं का भावानुरूप सुन्दर प्रयोग कालिदास की भाषा का प्राण है। कालिदास की रचना, भाषा तथा साहित्य में तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करती है। भाषाओं की अनेकता के साथ उनके साहित्य की अलग पहचान है जो एक ही साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है वह है - संस्कृत साहित्य। कालिदास की प्रसिद्धि का मूल मापदण्ड काव्य की सरलता, सहजता, एवं बोधगम्य व्यंजक शैली है जिसके आलोक में पाठक सहज बुद्धि से काव्य मर्म को समझ सकता है। उनकी ललित परिष्कृत और प्रसाद गुणोपेत वैदर्भी रीति काव्य रचना का प्राण है। माधुर्य व्यंजक शब्द, छोटे-छोटे समास युक्त पदावली, रसाभिव्यंजकता में प्रकर्षता को लाती है। वैदभी रीति की प्रशंसा समस्त साहित्य समालोचकों ने की है, जिसमें माधुर्य व्यंजक अल्पसमासयुक्त रचना वैदर्भी के रूप में प्रसिद्ध है साहित्यदर्पणकार के अनुसार-

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका। आवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।।[23]

कालिदास के वैदर्भी रीति के प्रयोग की श्रेष्ठता को देखते हुए यह उक्ति प्रचलित है - 'वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते' दण्डी का यह मानना है कि वैदर्भी रीति की उद्भावना कालिदास ने ही की - तेनेदं वर्त्म वैदर्भ कालिदासेन शोधितम् (अवन्तिसुन्दरीकथा भूमिका) कालिदास की प्रमुख विशेषता है कि वे व्यंजना के सबसे बड़े कवि हैं। इसके द्वारा इन्होंने आन्तरिक एवं विस्तृत भावों को बड़े ही संक्षिप्त कथन के द्वारा अभिव्यक्त किया है यथा- दुष्यन्त, प्रिया शकुन्तला को देखकर मात्र एक वाक्य में अपने हर्षातिरेक को प्रकट कर देता है - अये लब्धनेत्रनिर्वाणम् (अभि.2.वाक्य 3) वहीं शकुन्तला भी एक ही श्लोक के माध्यम से अपने प्रणय को पत्र द्वारा प्रकट करती है-

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि। निर्घण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि।।[24]

चित्रकला - चित्रकला कालिदास का प्रिय विषय था मालविकाग्निमित्रम् में अग्निमित्र द्वारा एक चित्रशाला का निर्माण कराया गया था जिसमें चित्रकला का ज्ञान प्रदान किया जाता था। चित्रशाला में चित्रवीथी भी होती थी जहां चित्र लटकते रहते थे। चित्रशाला में राजमहिषी धारिणी जाती हैं और एक चित्र की प्रशंसा करती हैं जिसके रंग अभी सूखे नहीं हैं - प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखाम्[25] कालिदास के काल में भारतीय चित्रकला का विकास अपनी पूर्णावस्था को प्राप्त कर लिया था। कालिदास ने अपनी चित्रकला में पशु, पक्षी, वन, उपवन, पहाड़, समुद्र आदि का यथावत् चित्र खींचा है।

सौन्दर्य दृष्टि - साहित्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। चारुता रमणीयता चमत्कार एवं शोभा आदि पदों से सौन्दर्य अभिहित किया जाता है। कवि इसी संसार से सौदर्य को ग्रहण कर अपनी विलक्षण प्रतिभा के द्वारा जो अभिव्यक्ति देता है वही साहित्य है। सौन्दर्य की सृष्टि केवल सौषम्य से ही नहीं होती अपितु कभी कभी वैषम्य से भी वस्तु या व्यक्ति में जिस सौन्दर्य का आधान हो जाता है वह अनूठा ही होता है। शैवाल में उलझे हुये कमल, कलंक में निमग्न चन्द्रमा की कला तथा वल्कल पहने युवती की सुन्दरता के घटने का प्रश्न ही नहीं उठता, वह तो सहस्रगुणा अधिक वृद्धि को प्राप्त कर प्रेक्षकों के मन को अवर्जित करती है -

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।[26]

कालिदास संकेत देते हैं कि प्रकृति प्रदत्त सौन्दर्य ही वास्तविक सौन्दर्य होता है। वही स्वाभाविक सौन्दर्य ही मनोहर होता है। कालिदास की कृतियों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने भी सौन्दर्य की चरम परिणति नारी को ही माना है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नारी को बनाने में ब्रह्मा ने हाथ नहीं लगाया अपितु पूर्वरचित पदार्थों में से उत्तमोत्तम का चयन मन में कर उसमें ही प्राण फूंक दिये और वह नारी हो गयी -

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।।[27]

विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी को देखकर लगता है कि कामदेव ने उसकी रचना चुपके से की है अथवा उस वसन्त ने की होगी जो जड़ चेतन सबमें है क्योंकि वैदिक विधि के अनुसार सृष्टि करते करते ब्रह्मा की कला ने विषयों के प्रति जड़ रूप धारण कर लिया था अतः वे ऐसे मनोरम आकृति के निर्माता कैसे हो सकते हैं?-

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः, शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो, निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।।[28]

रूप के निरूपण में कालिदास सिद्धहस्त हैं कालिदास की दृष्टि में रूप ही सौन्दर्य नहीं है पर वह सौन्दर्य के आधायक तत्त्वों में प्रंमुख अवश्य है। रूप से अभिप्राय अंगों की बनावट एवं विशेष प्रकार की आकृति से है। शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त इस संकल्प विकल्प में होता है कि यह तो मानवीय आकृति नहीं है- मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपसंभवः। कालिदास की सौन्दर्य सृष्टि आधुनिक सौन्दर्य सृष्टि को भी पोषित करती है। जिसमें नखशिख से युक्त समस्त सौन्दर्य के उपादानों का कालिदास ने वर्णन अपनी रचनाओं में किया है। इस प्रकार कालिदास अपने काव्य चमत्कार से समस्त संसार में ख्यातिप्राप्त हैं। उपमा, पदसंघटना, वर्णनचातुर्य, कल्पनाशक्ति, प्रकृतिचित्रण, पात्रों की सजीवता, काव्य की सरसता, सौन्दर्य दृष्टि, भाषा तथा वाणी की महनीयता इत्यादि गुणों का एक साथ समागम इन्हें न भूतो न भविष्यति के महान् यशःपद में स्थापित करता है और प्रत्येक सामाजिक सहृदय पाठक के लिये पाथेय के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

सन्दर्भ -

1 *काव्यालंकारकारिका पृ.26*

2 *अभिज्ञानशाकुन्तल 2.10*

3 *वही, 1.21*

4 *विक्रमोर्वशीयम् 7.9*

5 *ध्वन्यालोक 2.16*

6 *नाट्य.पृ.228*

7 *सूक्तिमुक्तावली*

8 *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , 1.22*

9 *वही, 3.17*

10 *ध्वनयालोक2.8*

11 *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 6.22*

12 *वही, 7.5*

13 *वही, 4.6*

14 *विक्रमोर्वशीयम् 5.9*

15 *काव्यालंकारकारिका 23*

16 *ध्वनयालोक पृ. 312*

17 *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4.5*

18 *वही, 4.9*

19 *मालविकाग्निमित्रम् 3.4*

20 *विक्रमोर्वशीयम् 4.7*

21 *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1.22*

22 *काव्यादर्श 1.33*

23 *साहित्यदर्पण 9.2-3*

24 *अभिज्ञानशाकुन्तल 3.13*

25 *मालविकाग्निमित्र पृ.5।*

26 *अभिज्ञानशाकुन्तल 1.20*

27 *वही, 2.9*

28 *विक्रमोर्वशीयम् 1.10*

28

कालिदास का नाट्य-सौन्दर्य

हाईतोरंग्बे जेलिअंग

नाटक गद्य एवं पद्य दोनों के बीच की वस्तु है। इसकी गणना अनुतकाव्य के अन्तर्गत की जाती है। विद्वानों ने काव्य के दो मुख्य रूप माने हैं - श्रव्यकाव्य एवं दृश्यकाव्य। दृश्यकाव्य में शब्दों के अतिरिक्त पात्रों की वेशभूषा, उनकी आकृति और भाव भंगिमा तथा क्रियाओं के अनुकरण और भावों के अभिनय द्वारा दर्शकों को भावमग्न किया जाता है। इसी को रूपक अथवा नाटक भी कहते हैं।[1] नाटक संस्कृत साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है। काव्य की अपेक्षा नाटक की प्रतिष्ठा सदा अधिक रही है। अतः नाटक कवित्व की चरम सीमा माना गया है।[2] 'सौन्दर्य' मानव के मन से जुड़ा हुआ एक ऐसा तत्त्व है, जो मनुष्य को अन्य जीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट श्रेणी में स्थापित करता है। जीवन और जगत् के समस्त पक्षों में सौन्दर्य की संचेतना अविच्छिन्न रूप से प्रवाहमान दिखाई देती है। अभिव्यक्त या अनभिव्यक्त रूपों में सौन्दर्य सायास और निरायास रुझान का एक शाश्वत क्रम है, जो आदिकाल से चला आ रहा है।[3] **'सुन्दरस्य भावः सौन्दर्यम्'**[4] अर्थात् सुन्दरता का भाव ही सौन्दर्य है। सौन्दर्य शब्द की व्युत्पत्ति वाचस्पत्यम् कोशग्रन्थ में इस प्रकार की है 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'उन्द्' धातु से 'अरन्' प्रत्यय से सुन्दर शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है अच्छी तरह से आर्द्र करने वाला।[5] अमरकोष में सुन्दर शब्द का अर्थ रुचिर, साधु, शोभनम्, कान्तम्, मनोरम्, रुच्यम्, मनोज्ञम्, मंजु, मंजुलम् आदि है। कालिदास सौन्दर्य के द्रष्टा और स्रष्टा दोनों ही है। उन्होंने जो कुछ देखा वह सुन्दर था और जो दिखाया वह उससे भी अधिक सुन्दर हुआ, इसीलिए उनकी रचनाओं में सौन्दर्यपूर्ण रूपेण समाविष्ट है। उनका सौन्दर्यबोध पारस की क्षमता रखता है, जिस विषय को उन्होंने छू दिया वही काँचन बन गया। सौन्दर्यक्षेत्र में उनकी रचनाओं में कहीं भी अपूर्णता नहीं दिखाई देती है। मानव, समाज एवं प्रकृति सभी उनके सौन्दर्य में दृष्टि से संजोये गए हैं।[6] कालिदास ने अपने नाटकों में सौन्दर्यवाची अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा - अभिराम, रमणीय, लोभनीय, सुकुमार, रम्य, मधुर, सुभग, लावण्य आदि।

कालिदास के अनुसार सौन्दर्य - सौन्दर्य के विषय में कालिदास की एक और धारणा बड़ी स्पष्ट है। कालिदास सौन्दर्य का वस्तुनिष्ठता एवं व्यक्तिनिष्ठता का सन्तुलित समन्वय स्वीकार करते हैं। वैसे उनका झुकाव वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य की ओर कुछ अधिक ही था लेकिन उन्होंने व्यक्तिनिष्ठ सौन्दर्य को आवश्यक और महत्व की दृष्टि से साम्य माना है। उनका विचार था कि जैसे सौन्दर्य के निर्माण की प्रक्रिया विशिष्ट होती है, उसी प्रकार सौन्दर्य को देखने, समझने और मूल्याङ्कन करने की दृष्टि भी भिन्न होती है। यह दृष्टि वस्तु के मर्म को भेदकर उसके अन्तरतम सौन्दर्य तक पहुँच जाती है, जिसे सामान्य आँखे नहीं देख पाती है।[7]

कालिदास की नाट्यकला का सौन्दर्य - कालिदास के नाटकों की सफलता का रहस्य उनकी नाट्यकला का सौन्दर्य है। ये सौन्दर्य अनेक रूपों में हैं। यथा घटना संयोजन में सौष्ठव, वर्णन और घटनों की सार्थकता एवं संकेतात्मकता, वर्णनों स्वाभाविकता, रचना कौशल, चरित्रचित्रण, कवित्व और रस परिपाक। इससे सबसे बढ़कर कालिदास के नाटकों का जो वैशिष्ट्य है, वह है उनकी अभिनेयता।

कालिदास के अनुसार सौन्दर्य के तत्त्व - कालिदास ने रूप अथवा सौन्दर्य के लिए तथ्यों को आवश्यक माना है। यथा- सुन्दर वस्तु की बाह्यसंरचना अथवा आकृति का सुन्दर होना प्राथमिक आवश्यकता है। आकृति से अनुकूल ही उसमें रंग-निवेश हो अर्थात् उसका प्रसाधन, शृंगार और प्रभाव उसकी आकृति के अनुकूल हो। पुनः जिस तथ्य को कालिदास ने ध्यान में रखा है वह है - आचरण। तात्पर्य यह कि सुन्दर आकृति ही मात्र सौन्दर्य का आधार नहीं होती वरन् सुन्दर आचरण, सुन्दर व्यवहार, सुन्दरगुण और सुन्दर भावनायें भी सौन्दर्य का आधार होती हैं। आचरण के बाद कालिदास ने जिस तत्त्व को अनिवार्य माना है वह है - आध्यात्म। कालिदास का सौन्दर्य आध्यात्मिक स्पर्श के बिना पूर्ण ही नहीं होता है। इसीलिए उन्होंने सर्वत्र सौन्दर्य को लोकोत्तर ही वर्णित किया है।

कालिदास ने सौन्दर्य का जो अन्तिम तत्व स्वीकार किया है वही उनके सौन्दर्य वर्णन का चरम लक्ष्य भी कहा जा सकता है, यह है- आनन्द। जब तक सौन्दर्य हृदय को अलौकिक आनन्द न प्रदान करे, तब तक उसकी उपयोगिता ही क्या? इसी गुण के कारण तो सौन्दर्य सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सर्वव्यापी होता है। अन्ततः ये माना जा सकता है कि जैसे ये संसार-क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर इन पाँच तत्वों से निर्मित है, उसी प्रकार कालिदास का सौन्दर्य भी आकार, रंग, आचार, अध्यात्म और आनन्द इन पाँच तत्त्वों से निर्मित है।[8]

कालिदास के सौन्दर्य बोध विविध आयाम - नारी कालिदास ने तीनों नाटकों में नायिकाओं को अतीव रूपवती एवं युवावस्था सम्पन्न वर्णन किया है क्योंकि युवावस्था नारी-पुरुष दोनों के सौन्दर्य तथा एक-दूसरे के प्रति आकर्षण का सर्वोत्कृष्ट समय होता है। रूप का वर्णन कालिदास ने किया है-

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्, मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।[9]

सहज सौन्दर्य एवं प्रत्येक स्थिति में सौन्दर्य की कल्पना कवि की विशेष रुचि जान पड़ती है। मालविका के लिए अव्याजसुन्दरी तथा शकुन्तला के लिए 'इयमधिकमनोज्ञावल्कलेनापि तन्वी' की संज्ञा सहज सौन्दर्य की ही पोषक है।

कालिदास ने नारी सौन्दर्य वर्णन के लिए प्रायः प्रकृति से ही उपमान लिए हैं। सहज सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए भी कवि ने वस्त्र, आभूषण, अनुलेपन आदि प्रसाधन पर पूर्ण ध्यान रखा है। यहाँ तक कि प्रसाधन दृश्य रंगमंच पर भी प्रस्तुत किए गए हैं। यथा--अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उसे सखियाँ सजाती हैं तथा मालविकाग्निमित्रम् में दोहद के समय मालविका को भी उसकी सखी सजाती है एवं महावर लगाती है।

कालिदास ने साध्वी पतिव्रता पत्नी के आचरण का सौन्दर्य एक निराले ही रूप में प्रस्तुत किया है कि- पतिव्रता अपनी सौत के द्वारा भी पति की इच्छा पूर्ति करके पति की सेवा करती है।[10] नारी सौन्दर्य के प्रशंसक कालिदास मातृत्व की वन्दना करते हैं- आयुष के देख कर उर्वशी का मातृत्व बह चला था। दुष्यन्त शकुन्तला

की मातृत्व का जिस भव्य रूप से सत्कार करते हैं, वह दर्शनीय है। मालविकाग्निमित्रम् की धारिणी पुत्र प्रेम में इतनी प्रसन्न है कि वह अपने पति को उसकी मन चाही प्रेयसी ही समर्पित कर दती है। दाक्षिण्य के निर्वाह के लिए राजा द्वारा अन्तःपुर की रानियों के सौन्दर्य के प्रति झूठा प्रदर्शन करना भी कवि नही भूले हैं -

दातुमसहने प्रभवस्यन्यस्यै कर्तुमेव वा दासम्। नाहं पुनस्तथा त्वयि यथा हि मां शङ्कसे भीरु।।[11]

पुरुष-सौन्दर्य - कालिदास ने जिस प्रकार नारी के सौन्दर्य का उल्लेख किया है, उसी प्रकार उन्होंने पुरुष के व्यायाम से पुष्ट, कठोर, दृढ़ एवं उर्जस्वल शरीर के सौन्दर्य का भी वर्णन किया है - **अनवरत धनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वम रविकिरण सहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्। अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति।।**[12] पुरुष के भव्य सौन्दर्य के अन्तर्गत मारीच का सौन्दर्य दर्शनीय है। इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् में स्वर्ग से उतरते हुए नारद का सौन्दर्य वर्णन अत्यन्त मनोहारी है-

गोरोचनानिकषपिङ्गजटाकलापः संलक्ष्यते शशिकलामलवीतसूत्रः।
मुक्तागुणातिशयसम्भृतमण्डनश्रीः हैमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः।।[13]

कालिदास की सौन्दर्य के प्रति यह मान्यता है कि रूप सौन्दर्य गुणों से हीन नहीं होता है। शकुन्तला और दुष्यन्त के गान्धर्व विवाह के उपरान्त यज्ञ की समाप्ति पर दुष्यन्त के ऋषियों द्वारा विदा देने पर अनसूया कहती है कि न जाने नगर में पहुँचकर राजा को आश्रम की बातें याद भी रहेगी अथवा नहीं इस पर प्रियंवदा का उत्तर के रूप में कहती है- **'न तादृशा आकृति विशेषा गुणविरोधिनो भवति।'**[14]

समाज-सौन्दर्य - महाकवि कालिदास अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थ पूर्ण स्व नाटकों में वर्णन करते है। ब्राह्मणभाग, यज्ञ, अध्ययन-अध्यापन आदि धार्मिक कार्यों में रत रहते थे। यज्ञानुष्ठानों आदि का कण्व ऋषि के आश्रम में परिचय मिलता है। राजा प्रजा का रंजन करने वाला होता था, उसे ऋषियों की रक्षा की चिन्ता भी होती थी। वैश्य व्यापार के लिए दूसरे देशो में आवागमन किया करते थे तथा समुद्र यात्रा में भी कुशल थे। शूद्र भी स्वधर्मानुसार राष्ट्र की सर्वागींण उन्नति में ही तत्पर रहना अपना श्रेय मानते थे।

राजा दुखियों एवं पीड़ितो की रक्षा करना अपना परम पुनीत कर्त्तव्य समझता था। दुष्यन्त भौरे के अन्याय से शकुन्तला के रक्षक रूप में ही पहुँचता है तथा उर्वशी की भी वह केशी नामक दानव से रक्षा करता है। कालिदास ने मनु की आज्ञानुसार राज्य कर आय छठा भाग का विधान किया है। निःसन्तान व्यक्ति के स्वर्गस्थ होने पर उसकी चल एवं अचल समस्त सम्पत्ति राजा के आधीन हो जाती थी। इसका प्रसंग तो बड़े ही द्रवनशील रूप में नाटक में वर्णन मिलता है। **प्रजगरात् खिली भूतस्तस्या स्वप्ने समागभः। वाष्पस्तु म ददात्येनां द्रष्टु चित्रगतामणि।।**[15] शिक्षा के प्रसंग में कालिदास मानते है कि शिक्षक वह श्रेष्ठ है जिसने विद्या तथा शिक्षण की योग्यता दोनों है।[16] सच्ची शिक्षा की कसौटी यह है कि यथा अग्नि में सोना डालने पर काला नही पड़ता वैसे ही परीक्षा काल में शिक्षा मंद नही होती।[17]

प्रकृति-सौन्दर्य - कालिदास को प्रकृति और मानव जीवन में विकास की रहस्यमय क्रिया समान रूप से आकर्षित करती है परन्तु उन्होंने प्राकृतिक सौन्दर्य को मानवीय सौन्दर्य से अत्यन्त उत्कृष्ट माना है। कालिदास ने प्रकृति को मात्र पृष्ठाधार के रूप में नहीं लिया है, उन्होने उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित किया है। इसलिए इनकी सौन्दर्यानुभूति संश्लेषण की ओर जाती है। कालिदास के प्रकृति वर्णन की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने प्रकृति के उज्ज्वल पक्ष- उसके रम्य, कोमल, मधुर पहलू का ही चित्रण किया है। उनके लिए प्रकृति एक नायिका है, जिसमें सौन्दर्य, सरसता, स्निग्धता, सहृदयता और सुकुमारता का अजस्र स्रोत सदा प्रवाहित होता रहता है।[18]

महाकवि कालिदास ने प्रकृति को मानव जीवन से भिन्न वस्तु नहीं माना है। उनके विचार में दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यथा- 'त्वया समीपस्थितया लतासनाथ इव अयं चूतवृक्षः प्रतिभाति'।[19] इससे स्पष्ट है कि उन्होंने बाह्य प्रकृति का अन्तःप्रकृति के साथ मानवीकरण किया है। जिस प्रकार चेतन जगत् के लोग परस्पर प्रेम के कारण सुख-दुःख में एक दूसरे की सहायता करते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी करती है। शकुन्तला की विदाई के समय तपोवन के वृक्ष अनेक प्रकार के वस्त्र और आभूषण देकर कण्व ऋषि की सहायता करते हैं -

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृत, निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारस केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै, र्दत्तान्याभरणानि तत् किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभि।।[20]

कालिदास का विश्वास है कि प्रकृति भावी मंगल और अमङ्गल की सूचना देती है। माधवी लता का मुकुलित होना शकुन्तला के पाणिग्रहण के समय का सन्निकट होना सूचित करता है[21] और जो व्यक्ति अपने प्रेम अथवा प्रेमिका के वियोग से ग्रसित हुआ करता है, वह प्रकृति द्वारा अवश्य ही एक प्रकार की सान्त्वना को प्राप्त करता है। इसमें मलयानिल प्रकृति की वस्तुओं द्वारा अग्निमित्र को सान्त्वना प्रदान किए जाने का उल्लेख है। अग्निमित्र अपने मित्र विदूषक से कहते हैं-

आमत्तानां श्रवणसुभगौः कूजितैः कोकिलाना, सानुक्रोशमनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतैव।
अग्रेचूतप्रसवसूरभिर्दक्षिणो मारुते मे, सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन।।[22]

कालिदास की प्रकृति कही भी मूक चेतनाहीन तथा निष्प्राण नहीं है, मानव के समान उसमें सुख दुख की संवेदना के भाव भी दिखलाई पड़ते हैं। पतिगृह को जाते समय शकुन्तला को विदाई में महर्षि कण्व और उसकी सखियां ही नही अपितु समस्त तपोवन ही पीड़ीत हो उठता है। वृक्षों ने विदाई के समय आभूषण तथा महावर आदि प्रदान किए। प्रकृति कोयल की वाणी में अनुमति प्रदान करती है। महर्षि कण्व ज्ञानी होने के कारण आँसू रोक लिए हों पर लताओं के आँसू न रुक सके, मोर नाचना छोड़ देते हैं, मृगी दर्भकवल उगल कर उसकी ओर देखती है और लतायें पीले पत्तों के रूप में आंसू बहाती हैं। वनज्योत्स्ना अपनी शाखा-बाहुओं को फैलाकर विदा करती है। विरहग्रस्त प्रेम को तो प्रकृति अवर्णनीयसान्त्वना एवं सन्तोष प्रदान करती है।

प्रकृति में शील और सदाचार के दर्शन –

कालिदास की प्रकृति केवल मानवीय भावनाओं से परिपूर्ण नहीं है वरन् शील तथा आचरण की शिक्षा भी देती है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पंचम अंक में यह दिखाया गया है कि राजा धर्मासन से उठा ही था कि कण्व के शिष्य पहुंच गये। कंचुकी को राजा को उनके आगमन की सूचना देने में संकोच होता है परन्तु उसे तुरन्त राज धर्म मर्यादा का ध्यान आ जाता है -

भानु सकृद्शुक्ततुरङ्ग एव रात्रि दिवं गन्धवहः प्रयाति।शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृतेरपि धर्म एषः।।[23]

इसी प्रकार राजा की प्रशंसा में एक वाक्य कहता है- अपने सुख की चाह न करके तुम प्रजा के लिये कष्ट उठा रहे हो अथवा तुम्हारा तो यह दैनिक व्यवहार है। वृक्ष धूप को अपने सिर पर लेता है परन्तु अपनी छाया से आश्रितों के संताप को शान्त करता है।[24]

भाषा सौन्दर्य - कालिदास के नाटकों की भाषा अत्यधिक प्रांजल, परिमार्जित, परिष्कृत एवं प्रसादगुणपूर्ण है। उसमें क्लिष्टता या दूरान्वय दोष कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। प्रत्येक पात्र के मुख से जिस भाषा का जिस रूप में प्रयोग कराया गया है, वह तदनुरूप रूप ही है। उनके शिष्ट तथा पुरुष पात्रों की भाषा संस्कृत रही है। शेष पात्रों के द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग किया गया है। केवल मछुवा (धीवार) ही मागधी प्राकृत का प्रयोग करता है। शेष पात्र शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करते हैं।

रीति सौन्दर्य - कालिदास की वैदर्भी रीति उसकी लोकप्रियता का विशिष्ट कारण है। अतः उनके नाटकों में सर्वत्र सरल, सुकोमल भाषा एवं भावों का मनोहर चित्रण है। उनकी कृतियों में माधुर्य एवं प्रसाद गुण अपनी चरम सीमा तक पहुंच सके हैं। दण्डी ने तो इस रीति की उद्भावना सर्वप्रथम कालिदास द्वारा ही माना है।[25]
अलंकार सौन्दर्य - सालंकारता उनकी शैली की एक प्रमुख विशेषता है। वह उपमा के तो महान् आचार्य हैं। उनके विषय में कही गई है 'उपमाकालिदासस्य'की उक्ति नितान्त सत्य है। उपमाओं के प्रयोग में वे अद्वितीय है। उनकी उपमायें अत्यन्त सुन्दर सरस एवं स्वाभाविक है।
रस सौन्दर्य–- कालिदास के सभी नाटकों में रस निष्पत्ति पूर्ण रूपेण हुई है। उनके तीनों नाटकों में शृंगार रस हैं परन्तु श्रृंगार के साथ-साथ सहायक रूप में करुण, वीर, हास्य आदि सभी रसों का सुन्दर समावेश हुआ है। जिस समय दर्शक दुष्यन्त की विरह वेदना से दुःखी हैं, उस समय कथानक को एक नया मोड़ देने की आवश्यकता हुई और वीर रस का समावेश करना था तो उसका कैसा सुन्दर मनोवैज्ञानिक ढंग महाकवि ने निकाला है। मातलि राजा के प्यारे विदूषक को सताता है जिससे दुष्यन्त तथा सामाजिक में क्रोध की भावना जागृत हो जाय तथा मन स्थिति विप्रलंभ से वीर रस के योग्य हो जाये, ऐसी स्थिति में रस भंग का दोष नाटक में नहीं आ सका है, यही नाटक का सौन्दर्य है।[26]
भावगत सौन्दर्य - भावों के यथातथ्य प्रदर्शन में महाकवि सिद्धहस्त हैं। महात्मा कण्व के आश्रम में मुनि कन्या शकुन्तला से प्रथम साक्षात्कार होने के सुअवसर पर महाराज दुष्यन्त उनके कमनीय रूप एवं अनवद्य सौन्दर्य के विषय में अपने जिज्ञासा, चिन्ता तथा प्रेम मिश्रित भाव प्रकट करते हैं -

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैअनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रू पमनघं न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।।[27]

इस प्रकार कालिदास बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। सौन्दर्य के अनुभव को अभिव्यक्ति प्रदान करना और उस अनुभव तक जनसामान्य को पहुंचा देना किसी साधारण प्रतिभा का कार्य हो ही नहीं सकता। सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता, सौन्दर्य की व्यक्तिनिष्ठता अन्य वस्तु निरपेक्षता, सौन्दर्य का सभी अवस्थाओं में रमणीय होना, सौन्दर्य के लिए किसी भी वस्तु का मण्डन के समान सुशोभित होना, सौन्दर्य की पूर्णता हेतु आचरण व तपश्चर्या की अनिवार्यता, सौन्दर्य का अध्यात्मिक स्पर्श से मण्डित होना, सौन्दर्य की रचना प्रक्रिया पर सूक्ष्म प्रकाश, सौन्दर्य-सर्जना हेतु चित्त की एकाग्रता, अशिथिल समाधि वा सहृदयता की अनिवार्यता आदि कालिदास ने अपने नाटकों में प्रकृति का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। कालिदास प्रकृति में रम गये हैं और जिस प्रकार प्रकृति की रमणीयताएँ चिर-पुरातन होने पर भी चिर नवीन रहती हैं, उसी प्रकार कालिदास के नाट्यग्रन्थ प्रकृति-चित्रों को सजाने में कौशल का परिचय देते हैं। ये सौन्दर्य के आनन्द के रूप में महान परिणति सहित अनेक ऐसे तथ्य हैं, जो कालिदास की सौन्दर्य दृष्टि की अनुपमेयता एवं व्यापकता के स्वतः सिद्ध प्रमाण हैं।

सन्दर्भ -

1. *कालिदास और भवभूति के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ.245*
2. *नाटकान्त कवित्वम्। (संस्कृत साहित्य का इतिहास) बलदेव उपाध्याय, पृ.450*
3. *कालिदास की सौन्दर्य दृष्टि, पृ. 10*
4. *कालिदास की सौन्दर्य दृष्टि, पृ. 10*

5. वाचस्पत्यम् कोश, पृ. 5314
6. कालिदास और प्रसाद के नाटकों में सौन्दर्य बोध, पृ. 50
7. कालिदास की सौन्दर्य दृष्टि, पृ. 52
8. कालिदास की सौन्दर्य दृष्टि, पृ. 53
9. मालविकाग्निमित्रम्, 2/3
10. धारिणी- (मालविकां हस्ते गृहीत्वा) इदमार्यपुत्रः प्रिय- निवेदनानुरूपं पारितोषिकं प्रतीच्छत्विति।
मालविकाग्निमित्रम्, 5 अंक, पृ.262
11. विक्रमोर्वशीयम्, 3/14
12. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2/4
13. विक्रमोर्वशीयम्, 5/19
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ.106
15. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6/22
16. शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।। मालविकाग्निमित्रम्, 1/16
17. उपदेशं विदुः........ काञ्चनमिवाग्निषु।। मालविकाग्निमित्रम्, 2/9
18. कालिदास का प्रकृति चित्रण, पृ. 39 (निर्मल उपाध्याय)
19. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ.38 सं.19955
20. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/5
21. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ.43
22. मालविकाग्निमित्रम्, 3/4
23. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5/4
24. स्वसुख निरभिलाषः खिद्यते लोक हेतौः..... ।। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5/7
25. लिप्ता मधु द्रवेणासन् यस्य निर्विवशा गिरः।
तेनेदं वर्त्य वैदर्भ कालिदासेन शोधितम्।। दण्डी, (विक्रमोर्वशीयम्की भीमिका, पृ.12)
26. कालिदास और प्रसाद के नाटकों में सौन्दर्य बोध, पृ.63
27. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2/10

29

कालिदास के रूपकों में सौन्दर्य प्रसाधन

आशा सिंह रावत

महाकवि कालिदास सौन्दर्य के उपासक, श्रृंगारप्रिय कवि हैं, इसका प्रमाण उनकी रचनाओं से स्पष्टतः प्राप्त होता है। नाटकों के सन्दर्भ में इस तथ्य को देखें तो इनके तीनों ही नाटकों में श्रृंगार और सौन्दर्य का भरपूर चित्रण हुआ है। हालांकि इनके पात्र प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक सौन्दर्य के धनी हैं- यह बात इनके नाटकों के नायक-नायिकादि पात्रों के शारीरिक रूपसौन्दर्य के चित्रण से ज्ञात होती है। क्योंकि इन्होंने अनेक स्थलों पर नायिकाओं- मालविका[1], उर्वशी[2] और शकुन्तला[3] को तथा नायक- अग्निमित्र[4], पुरूरवा[5] और दुष्यन्त[6] को अनुपम, अपूर्व व दिव्य सौन्दर्य से सुशोभित बतलाया है। जिन्हें किसी भी प्रकार के बाह्य सौन्दर्य प्रसाधनों अथवा सौन्दर्यवर्द्धक सामग्री की आवश्यकता नहीं है। तथापि कवि की सौन्दर्यप्रियता के चलते श्रृंगारिकता का समावेश इनके नाटकों में हो गया है। विभिन्न मांगलिक अवसरों, प्रेम व श्रृंगार वर्णनों, विवाहादि उत्सवायोजनों, वन-तपोवनादि के सन्दर्भ में प्रकृति और मानवीय सौन्दर्यवर्णनों में सौन्दर्य को बढ़ाने वाले, परिवेश को रमणीय व मनमोहक बनाने वाले विभिन्न सौन्दर्य प्रसाधनों, उनके स्वरूप, प्राप्तिस्रोत व उपयोग के -अंगविशेष पर उनका विलेपन करने अथवा उन्हें लगाने के वर्णनोल्लेख प्राप्त होते हैं। जिससे ज्ञात होाता है कि विभिन्न प्रकार की सौन्दर्यवर्द्धक सामग्री प्रकृति से अर्थात् प्रकृतिरूप वृक्ष-वनस्पति, लता-पादप आदि से- जड़ी-बूटियों, पत्र-पुष्प, पुष्पराग आदि से प्राप्त की जाती थी।[7] यथा- चंदन, हल्दी, मेंहदी, केसर, महावर, अंगराग, अधरराग - इत्यादि विभिन्न प्रकार की सामग्री भिन्न-भिन्न वृक्ष-वनस्पतियों से प्राप्त कर विभिन्न अंगों के सौन्दर्य को बढ़ाने, निखारने, मनमोहक या रमणीय बनाने तथा सुगन्धित करने हेतु प्रयुक्त की जाती थी। सौन्दर्य को बढ़ाने वाली होने के कारण ही इन्हें सौन्दर्य प्रसाधन कहा जाता है। जैसा कि स्वयं कालिदास ने अपने नाटकों में इनके लिए 'प्रसाधन' शब्द का प्रयोग किया है- ''मुखप्रसाधनविधौ''[8] यहाँ मुख के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले प्रसाधन की बात कही है, तो वहीं मालविका के लिए ''प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः''[9] कहकर राजा पुरूरवा द्वारा उसे सौन्दर्य बढ़ाने वाले प्रसाधनों का भी सौन्दर्य प्रसाधन अर्थात् विशेष (अद्वितीय सौन्दर्य से युक्त) प्रसाधन कहा गया है। इस प्रकार शरीर की सुन्दरता बढ़ाने वाले पदार्थों या सामग्री के लिए प्रसाधन शब्द का प्रयोग हुआ है तथा इनके प्रयोग करने की कला को प्रसाधन कला कहा गया है[10]; जिसे आजकल मेक-अप करना कहा जाता है। जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रसाधनान्तर्गत अंगराग, उबटन, चन्दन, काजल, लाक्षारसादि सौन्दर्यवर्द्धक पदार्थ आते हैं। जबकि आभूषण या आभरण भी सौन्दर्य को बढ़ाने वाले होते हैं, परन्तु इन्हें

आभरण या अलंकार नाम से पृथक्शः जाना व कहा जाता है। प्रसाधन शब्दान्तर्गत उनका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता; क्योंकि प्रसाधन नाम से उसी सौन्दर्यवर्द्धक सामग्री का अर्थग्रहण किया जाता है, जो कि हल्की, चन्दनादि से तैयार अंगराग, उबटनादि रूप में शारीरिक स्वच्छता, शीतलता, सौन्दर्यवर्द्धन आदि हेतु प्रयुक्त होती हैं। ये आजकल के अंगराग (Cosmetics) की तरह तत्काल में प्रयुक्त होते थे, जिन्हें शुद्ध प्राकृतिक पदार्थों से तैयार किया जाता था तथा नखशिख तक इनका प्रयोग अर्थात् भिन्न-भिन्न अंगों हेतु भिन्न-भिन्न पदार्थों का प्रयोग होता था। आभूषण एवं प्रसाधन भिन्न-भिन्न होते हैं तथा कवि ने इन्हें भिन्न-भिन्न अर्थों में ही प्रयुक्त किया है- इस बात की पुष्टि स्वयं कवि के इस पद्य से होती है, जहाँ उन्होंने सौन्दर्यवर्द्धक के रूप में आभूषणों और प्रसाधनों के लिए अगल-अलग शब्दों का प्रयोग किया है- **आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।।**[11] इस प्रकार यहाँ ये दोनों सौन्दर्यवर्द्धक साधन अलग-अलग कहे गए हैं। इनके नाटकों में भी इन आभरणों व प्रसाधनों का भिन्न-भिन्न ही विवरण प्राप्त होता है; परन्तु हैं दोनों ही वर्ग की वस्तुएँ सौन्दर्यवर्द्धक। तदनुसार आभूषणों के अन्तर्गत कटक-कुण्डल-हार-मुद्रिका-नूपुर आदि आते हैं चाहे वे स्वर्ण, मणि आदि से निर्मित हों या पुष्प-पत्रादि से निर्मित पुष्पाभरण हों, वहीं प्रसाधनान्तर्गत अंगरादि आते हैं; जिन्हें लगाया जाता है अथवा लेप या विलेपन किया जाता है; जबकि आभूषणों को पहना व धारण किया जाता है। कालिदास के नाटकों के पात्र नैसर्गिक सौन्दर्ययुक्त हैं, तथापि विभिन्न अवसरों पर कवि ने चाहे स्त्री हो या पुरुष, चाहे राजप्रासाद में रहने वाले राजवर्ग के जन हों या वनवासी, तपस्वी वनकन्याएँ हों- सभी के सन्दर्भ में अवसरानुकूल एवं कथावस्तु के अनुसार सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग चित्रित किया है। अधिकांशतः प्रेम व शृंगार के वर्णनों, विशेषायोजनावसरों और प्रकृति के सौन्दर्य वर्णन में इनका उल्लेख अधिक हुआ है। कालिदास के नाटकों में उनकी नायिकाओं के नखशिख सौन्दर्य प्रसाधनों के रूप में मांग में सिन्दूर, मस्तक पर कुंकुम की बिन्दी, अधर अर्थात् ओष्ठों को लालिमावर्द्धन हेतु रंगना, नेत्रों में काजल, कपाल पर चित्रकारी, स्तनों पर चन्दन का लेप, चरणों में लाक्षारस आदि के खूब उल्लेख प्राप्त होते हैं। मालविकाग्निमित्र में वसन्तऋतु की शोभावर्णन के बहाने कवि ने स्त्रियों के इन प्रसाधनों का उल्लेख प्रस्तुत पद्य में इस प्रकार किया है-

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः, प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम्।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः, सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम्।।[12]

इस प्रकार यहाँ रमणियों के रक्ताशोक अर्थात् लाल अशोक पुष्प की लालिमावत् अलक्तक से रंगे हुए बिम्बसदृश अधर, श्यामश्वेत व अरुण रंगों से युक्त कुरबक पुष्प के समान उनके कपोल की चित्रकारी, पुन्नागपुष्प के समान ललाट तिलक तथा काले भ्रमर के समान काले अञ्जन या काजल का उल्लेख किया है, जहाँ इन्हें मुखप्रसाधनस्वरूप वर्णित किया है। इससे ज्ञात होता है कि तत्काल में रमणी स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य को बढ़ाने हेतु अथवा अपनी शृंगारप्रियता हेतु अपने अधरों को रक्तिम रंग के अलक्तक से रंगती थीं। मुख सौन्दर्य हेतु कपोलों पर नाना प्रकार की चित्रकारी भी बनाई जाती थी तथा ललाट पर कुंकुमादि का तिलक भी लगाया जाता था। चतुर्थ अंक में मालविका को मस्तक पर लगाई गई बिन्दी से अलंकृत चित्रित किया है- ''भ्रूभङ्गभिन्न तिलकं स्फुरिताधरोष्ठं...................।।''[13] यह तिलक, बिन्दी या टीका- सौभाग्य, मंगल का भी प्रतीक है एवं सौन्दर्यवर्द्धक भी है; इसीलिए पूजादि के शुभावसरों एवं विभिन्न उत्सवायोजनों के समय तथा सामान्यतः सौन्दर्यवृद्धि हेतु स्त्री-पुरुष -सभी लगाते थे। इसी प्रकार चरणों की सुन्दरता हेतु ऐसे ही विशेषावसरों पर अथवा सामान्यतया शृंगारप्रियता के चलते भी चरणों को रंगा जाता था। इसके लिए आर्द्रालक्तक अर्थात् गीले

अलक्तक पदार्थ का प्रयोग किया जाता था; जिसे सामान्यतः महावर कहा जाता है। मालविकाग्निमित्र के तृतीय अध्याय में बकुलावलिका मालविका के चरणों को अलंकृत करने हेतु अलक्तक अथवा महावर से रंगकर नूपुर पहनाती है।[14] पहले वह उन्हें आर्द्र अलक्तक से रंगती है और फिर उन्हें शीघ्र सुखाने हेतु फूँक लगाने अथवा प्राकृतिक हवा से सूख जाने की बात कहती है। वहाँ उपस्थित राजा अग्निमित्र भी कुछ देर मालविका का साथ पाकर प्रसन्न होता है और कहता है कि आर्द्र अलक्तक से भीगे हुए इसके (मालविका के) चरण को फूँक से शुष्क बनाने का यह प्रथम सुअवसर है- ''आर्द्रालक्तकमस्याश्चरणं मुखमारुतेन शोषयितुम्। प्रतिपन्नः प्रथमतरः संप्रति सेवावकाशो मे।।''[15]

यह अलक्तक अत्यन्त सुर्ख रक्त वर्ण का होता था, जिसे लाख से तैयार किया जाता था; इसीलिए इसे 'लाक्षारस' भी कहा जाता है।[16] रक्तवर्णीय महावर से रंगे हुए मालविका के चरणों पर बनी हुई गीली लकीर को देखकर राजा कहता है कि प्यारी मालविका के चरणों में बनी हुई यह महावर की गीली लकीर ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो महादेवजी के क्रोध से जले हुए कामदेव के वृक्ष में नई-नई कोपलें फूट आई हों।[17] वही महावर से रंगे हुए मालविका के अत्यन्त सुन्दर चरणों को देखकर बकुलावलिका उन्हें लाल कमल के समान बतलाती हुई कहती है कि- ''सखि, अरुणशतपत्रमिव शोभते ते चरणम्।''[18] अर्थात् तुम्हारे चरण रक्तकमल सदृश सुशोभित हैं। अलक्तक द्वारा चरण प्रसाधन कला में अपनी इस सखी की निपुणता को देखकर उसकी प्रशंसा करती हुई मालविका उससे पूछती है कि यह प्रसाधन कला तुम्हें किसने सिखाई है?-''केन प्रसाधनकलायामभिविनीतासि।''[19] इस पर बकुलावलिका कहती है कि यह कला तो मैंने स्वयं महाराज से सीखी है। इससे ज्ञात होता है कि स्त्री-पुरुष दोनों ही इस कला में निपुण होते थे। वास्तव में प्रसाधनों का भलीभाँति प्रयोग करना भी एक कला होती थी; जैसा कि आजकल मेक-अप करने की कला।

चरणों के सौन्दर्यवर्द्धक के रूप में अलक्तवत् ही लालचन्दन का प्रयोग भी किया जाता था। चतुर्थ अंक में राजा अग्निमित्र की महारानी के चरण रक्तचन्दन लगाकर अलंकृत करने एवं दासियों द्वारा उन्हें सूखने हेतु अच्छी तरह से संभाले जाने का उल्लेख मिलता है- ''देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनः हस्तगतेन चरणेन.................।।''[20] मालविका को उसके विवाहावसर पर विभिन्न प्रसाधनों व अलंकारों से सुसज्जित किया जाता है-

''भगवति, यत्त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि, तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे विवाहनेपथ्यमिति। तया सविशेषालंकृता मालविका।''[21] इस प्रकार यहाँ प्रसाधन कला में दक्ष 'कैशिकी' नामक महिला द्वारा मालविका के प्रसाधनकर्म और अलंकरण की बात कही गई है। विक्रमोर्वशीयम् नाटक की प्रस्तुत पद्य पंक्ति में राजमहल की पटरानी द्वारा सौन्दर्यवृद्धि हेतु प्रयोग में लिए गए सौन्दर्य प्रसाधनों का उल्लेख हुआ है- ''सितांशुका मङ्गलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका।''[22]

यहाँ सफेद रेशमी परिधान धारण की हुई महारानी को मांगलिक वस्तुओं- हल्दी, कुंकुम, अलक्तक आदि से अलंकृत और पवित्र दूब के प्ररोहों द्वारा जलाभिषेक से अभिषिक्त केशों से सुसज्जित चित्रित किया है। केशों को सुगन्धित तेल व अगरु आदि की सुगन्ध से सुवासित करने तथा खुशबू वाले भाँति-भाँति के पुष्पों व वेणियों द्वारा सुसज्जित करने के उल्लेख वाङ्मय में खूब मिलते हैं। कालिदास ने भी अपनी नायिकाओं व विभिन्न स्त्री पात्रों के बालों को अलग-अलग तरह से प्रसाधित करने के चित्र प्रस्तुत किए हैं; यथा- सुगन्धित पुष्पों व कमलनाल आदि से अलंकृत कहीं खुली लम्बी केशराशि तो कहीं केशपाश या शिखाबन्धन अर्थात् इन्हें

वेणी या जूड़ादि रूप में बाँधकर सुसज्जित व सुगन्धित कर इनका प्रसाधन बतलाया है।[23] उर्वशी के मन्दारपुष्प से सुगन्धित केशपाशों अथवा शिखा या चूड़ा को मणि से अलंकृत करने का उल्लेख चतुर्थ अंक में मिलता है- ''मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामयमर्पणीयः।''[24] रक्तकदम्ब द्वारा भी शिखाभरण का उल्लेख हुआ है।[25] इस प्रकार केशों को पुष्पादि से तथा अगरु आदि की धूप से सुगन्धित कर प्रसाधित किया जाता था। चतुर्थ अंक में ही समुद्र का मानवीकरण करने में उसे कुंकुम रूप आभूषण वाला कहा गया है।[26] रमणियों के अधरों की कृत्रिम लालिमा का वर्णन विक्रमोर्वशीयम् में भी कई स्थलों पर हुआ है, जो यह सूचित करता है कि अधरों को रंगकर मुख की सौन्दर्यवृद्धि की जाती थी। कई स्थलों पर अधरराग के अश्रुजल से धुलने की बात कही गई है- ''हृतोष्ठरागैर्नयनयोदबिन्दुभिः''[27] एवं ''धौताधरेवाश्रुभिः''[28] द्वारा ऐसा ही कहा गया है। उर्वशी के चरण अलक्तक से रंगे हुए रहते थे; वन में जब राजा अग्निमित्र अपनी प्रिया उर्वशी को उन्मत की भाँति खोजता है तो वह उसके जाने के मार्ग की पहचान महावर के रंग से रञ्जित पदपंक्ति को देखकर ही करता है- ''दृश्यते चारुपदपङ्क्तिरलक्तकाङ्का।।''[29] माता पार्वती के चरणों को रक्तिम राग से रञ्जित चित्रित किया है।[30] रक्तवर्ण कुंकुम, महावर तथा पीतवर्ण गोरोचन का सौन्दर्य प्रसाधन व पूजा-अर्चना की मांगलिक सामग्री के रूप में अनेक स्थलों पर नामशः उल्लेख मिलता है।[31] शरीर के निखार तथा शीतलता प्राप्ति हेतु समूचे शरीर व वक्षस्थलादि भागों पर चन्दन का लेप किया जाता था। शाकुन्तलम् में विरह पीड़िता शकुन्तला के स्तनों पर शीतलताप्रदायक उशीर का लेपन किया गया है- ''स्तनन्यस्तोशीरं।''[32] चन्दन, उशीरादि शीतलताप्रदायक भी हैं तथा सौन्दर्यवर्द्धक भी। क्योंकि इनसे त्वचा पर निखार आता है तथा सौन्दर्य भी बढ़ता है। विक्रमोर्वशीयम् में विरह पीड़ित राजा अग्निमित्र अपने समूचे शरीर पर चन्दन का लेप लगाए जाने पर भी अत्यधिक सन्तापयुक्त अनुभव करता है।[33] शाकुन्तलम् में इन्द्र के द्वारा वक्षःस्थल पर लगे हरिचन्दन से चिह्नित मन्दार पुष्प की माला दुष्यन्त को पहनाई जाती है- ''हरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा''[34] -इससे स्त्री-पुरुषों के द्वारा वक्षःस्थल पर खस व चन्दनादि से अनुपेलन करने प्रवृत्ति का परिज्ञान होता है। विक्रमोर्वशीयम् के पंचम अंक में राजा विशेष पर्व के समय गंगा-यमुना के सङ्गम पर स्नान करके अङ्राग, पुष्पमालादि से अलङ्कृत होते हैं;[35] इससे केवल स्त्रियों की ही नहीं, वरन् पुरुषों की भी श्रृंगार प्रियता सूचित होती है। इस हेतु वे भी सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग करते थे।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के नायक-नायिका नैसर्गिक सौन्दर्य के धनी हैं,[36] तथापि उनकी श्रृंगारप्रियता खूब देखी गई है। प्रेम, श्रृंगार व प्रकृतिवर्णनों में तथा विशेषावसरों पर जिन विभिन्न सौन्दर्य प्रसाधनों का उल्लेख हुआ है, वे प्रसाधनिक वस्तुएँ प्रकृति प्रदत्त हैं, प्रकृति से लेकर तैयार की गई हैं। नैसर्गिक सौन्दर्य युक्त, अपूर्व, दिव्य सुन्दरी शकुन्तला के लिए प्रकृति प्रदत्त विभिन्न वस्तुएँ, चाहे वे सौन्दर्यवर्द्धक न हों, तथापि शोभा को बढ़ाने वाले प्रसाधन-अलंकरण बन गए हैं। जैसा कि कवि ने कहा है- ''किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।''[37] नायिका के अधरोष्ठ प्राकृतिक लालिमायुक्त हैं- ''अधरः किसलय रागः''[38] एवं ''बिम्बाधरं''[39] द्वारा उसके अधरोष्ठ को कोमल नवीन पल्लव के समान, बिम्बसदृश चित्रित किया है। शकुन्तला की विदाई के समय उसकी सखी प्रियंवदा शकुन्तला के सुन्दर शरीर को आभरणोचित बतलाती है।[40] तथापि कवि की श्रृंगारप्रियता के चलते एवं अधिकाधिक सौन्दर्यवर्द्धन हेतु, प्रेम व श्रृंगारिक वर्णनों की पूर्णता हेतु तथा विभिन्न मांगलिक शुभावसरों पर और सौभाग्य के प्रतीकस्वरूप परम्परा का निर्वाह करते हुए नायिका के सौन्दर्य प्रसाधनों का चित्रणोल्लेख हुआ है।

वनकन्याएँ विभिन्न सौन्दर्य प्रसाधनों व आभरणों का प्रयोग सामान्यतः नहीं करती थीं, हाँ विशेषवसरों पर ही इनकी आवश्यकता होती थी; इसीलिए शकुन्तला की दोनों सखियाँ इस प्रसाधन कर्म से अनभिज्ञ हैं। यही कारण है कि शकुन्तलता की विदाई के समय उसे सुसज्जित करते हुए वे कहती हैं कि हम लोगों ने कभी आभूषणों का उपयोग नहीं किया है, तो भी चित्रों को देखने से प्राप्त अनुभव के कारण तुम्हारे अङ्गों में इन्हें सजा रही हैं।[41] इस प्रकार वे चित्र में देखकर, तदनुसार उसका शृंगार प्रसाधन पूरा करती हैं, तत्पश्चात् रेशमी वस्त्रों को धारण कराती हैं- ''अवसितमण्डनासि। परिधत्स्व साम्प्रतं क्षौमयुगलम्।''[42] शकुन्तला की विदाई के समय तपोवनीय प्रकृति ही उसे प्रसाधनालंकरण की समग्र सामग्री देती है; जिसमें मांगलिक रेशमी वस्त्र, पैरों में लगने वाला महावर या लाक्षारस तथा अन्यान्य आभूषण हैं- ''केनचिदिन्दुपाण्डु... ....चरणोपभोगसुलभः लाक्षारसः केनचित्........दत्तान्याभरणानि।।''[43]

चतुर्थांक के ''नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्''[44] से ज्ञात होता है कि आभूषण प्रिय होने पर भी शकुन्तला वृक्ष-पादपों से स्नेह के कारण उनके पल्लवों को नहीं तोड़ती थी। यहाँ शकुन्तला की शृंगार प्रियता से अधिक उसका प्रकृति प्रेम सूचित हाता है। देवाङ्गनाएँ भाँति-भाँति के रंग-बिरंगे अङ्गरागों से शरीर को सुसज्जित करती थीं- इसका उल्लेख प्रस्तुत पंक्तियों में हुआ है- ''विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी.........।''[45]

राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला के विरह में विशिष्टालंकारों से स्वयं को सजाने-संवारने की विधि का परित्याग कर दिया है- ''प्रत्यादिष्टविशेष- मण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं............।।''[46] तथापि के नैसर्गिक तेज व सौन्दर्य से युक्त होने से दर्शनीय हैं। इस प्रकार कवि कालिदास के नाटकों के स्त्री-पुरुष पात्रों के सन्दर्भ में तत्-तत् काल में प्रचलित व प्रयुक्त होने वाले विभिन्न सौन्दर्य प्रसाधनों का परिज्ञान होता है।

निष्कर्ष (Conclusion) - महाकवि कालिदास के नाटकत्रय का सम्यक् अवलोकन-अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि शृंगारप्रिय कवि की शृंगारप्रियता प्रेम, शृंगार व प्रकृति वर्णन के अवसरों पर खूब मुखरित व सूचित हुई है। उनके पात्र नैसर्गिक सौन्दर्ययुक्त हैं, तथापि कवि ने स्वयं की एवं पात्रों की शृंगारप्रियता के चलते तथा परम्परा का निर्वाहन करते हुए विभिन्न शुभावसरों, प्रेमप्रदर्शन के अवसरों और पात्रों के रूपसौन्दर्यादि के चित्रण-वर्णन में विभिन्न सौन्दर्य प्रसाधनों के उपयोग और उनके द्वारा सौन्दर्यवर्द्धन के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। प्रकृतिप्रदत्त विभिन्न प्रकार की सामग्री- कुंकुम, अलक्तक या लाक्षारस, चन्दन तथा विभिन्न प्रकार के पत्र-पुष्पों के पराग व रसादि से भाँति-भाँति के उबटन, विलेपन आदि अङ्गराग तैयार कर शरीर संस्करण, शीतलता, सुवास और सुगन्ध की प्राप्त्यर्थ इनका प्रयोग किया जाता था; जैसा कि आलेख में उल्लेखित है। नखशिख तक के शृंगार में इन विभिन्न प्रसाधनों का प्रयोग किया जाता था; यथा- मांग में सिन्दूर, माथे पर तिकल या बिन्दी, ओष्ठराग, कपोलों पर चित्रकारी, वक्षस्थल पर चन्दनादि का अनुपेलन, सुगन्धित जल से केशसिंचन व केशालंकरण, चरणों में अलक्तक आदि-आदि। कालिदास की इन नाट्य कृतियों के इस विषयक अध्ययनानुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय विभिन्न सौन्दर्य प्रसाधन प्रकृति से प्राप्त पूर्ण शुद्ध होते थे। जिनमें किसी तरह के हानिकारक पदार्थों का मिश्रण भी नहीं होता था तथा ये वास्तव में रूप को निखारने वाले, शीतलताप्रदायक एवं हर प्रकार से लाभदायक ही होते थे। यथा- आयुर्वेदानुसार आज भी त्वचा के लिए हल्दी, चन्दन, केसर, उशीर इत्यादि विभिन्न पदार्थों से बने उबटन का विलेपन करना श्रेष्ठ माना जाता है। परन्तु वर्तमान समय में पश्चिमी प्रभाव के चलते प्रयोग में लिए जाने वाले विभिन्न सौन्दर्य प्रसाधक अंङ्गराग

(Cosmetics) ने ले लिया है। जिनका पूर्णतः सकारात्मक प्रभाव भी नहीं होता है, वे हानिकारक भी सिद्ध होते हैं; क्योंकि वे बहुत से रासायनिक पदार्थों के मिश्रण से तैयार किए जाते हैं तथा मूल्य में भी महँगे होते हैं। कालिदास के नाटकों में उल्लेखित सौन्दर्य प्रसाधक शुद्ध-सात्विक शृंगार सामग्री वाले तथा प्रकृतिप्रदत्त होने से प्रकृति की समृद्धता एवं उपकार के सूचक हैं। अतः मानवीय तथा प्राकृतिक हित व संरक्षण का संदेश देने वाले और भारतीय संस्कृति की शृंगार व सौन्दर्य परम्परा को दर्शाने व बतलाने वाले हैं।

संदर्भ -

1. *मालविकाग्निमित्रम्, 2/2-3, 13-''अव्याजसुन्दरीं तां'', 4/13 ''विसृज सुन्दरि''*
2. *विक्रमोर्वशीयम्, 1/10-11 ''पथि स्थिता सुन्दरी'', 2/2 ''सुरलोकसुन्दरी'' 3/22, 4/6 ''सा सुगात्री'', 4/26 एवं उसके बाद गद्य, पृ. 215 ''सर्वाङ्गसुन्दरी''*
3. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/15-18, 22 ''मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभव।''*
4. *मालविकाग्निमित्रम्, 2/12*
5. *विक्रमोर्वशीयम्, 3/3 -''परिजनवनिता........... एवं विभाति दीपिकाभिः।''*
6. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6/6 -''प्रत्यादिष्टविशेषमण्डन...........महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते।।''*
7. *वि. 2/7 एवं इसके बाद गद्य पंक्तियाँ, पृष्ठ-69*
   अभि. शा; 1/4, 3/23, चतुर्थांक पृ. 215 पर गद्य एवं 4/5
8. *मालविकाग्निमित्रम्, 3/5*
9. *विक्रमोर्वशीयम्, 2/3*
10. *मालविकाग्निमित्रम्, तृतीयो अङ्क, पृष्ठ-86 पर गद्य पंक्ति- ''केन प्रसाधनकलायामभिविनीतासि।''*
11. *विक्रमोर्वशीयम्, 2/3*
12. *मालविकाग्निमित्रम्, 3/5*
13. *वही, 4/9*
14. *वही, तृतीयोऽङ्क, पृष्ठ-79 -''यावत्सालक्तककं सनूपुरं च करोमि'' एवं पृ. 91 -*
    ''ते निवृत्तपरिकर्मा चरणः। यावदेनं सनूपुरं करोमि।''
15. *मालविकाग्निमित्रम्, 3/13*
16. *अभिज्ञान शाकुन्तलम्, 4/5 -''चरणोपभोगसुलभः लाक्षारसः''*
17. *मालविकाग्निमित्रम्, 3/11 -''चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः.........हरदग्धस्य मनोभवद्रुमस्य।।''*
18. *वही, तृतीयोऽङ्क, पद्य 13 के बाद पृ. 88 पर गद्य पंक्ति*
19. *वही, तृतीयोऽङ्क, पृष्ठ-86 पर गद्य पंक्ति*
20. *वही, चतुर्थ अंक, पृष्ठ-111 पर गद्य पंक्ति*
21. *वही, पञ्चम अंक, पृष्ठ 153 पर गद्य पंक्तियाँ*
22. *विक्रमोर्वशीयम्, 3/12*
23. *वही, 3/6 ''अलकसंयमनादिव लोचने ह्रति'', 4/10- ''रतिविगलित बन्धे केशपाशे सुकेश्याः'', 4/24 -*
    'यूथिकाशबलकेशी'' 4/33- ''कुसुममसमग्र केसरविषममपि कृतं शिखाभरणम्।।''

अभिज्ञान शाकुन्तलम्, 1/26 -''बन्धे स्रंसिनि'' एवं षष्ठ अंक, पृ. 340 पर गद्य- ''यैषा शिथिलबन्धनोद्वान्त कुसुमेनकेशान्तेनोङ्गिन्न''

24. वही, 4/36 का पूर्वार्द्ध
25. वही, 4/33 -''रक्तकदम्बः सो ऽयं.........कृतं शिखाभरणम् ।।''
26. वही, 4/26 ''कुंकुम संखक आभरणु''
27. वही, 4/7
28. वही, 4/39
29. वही, 4/6
30. वही, 4/37 ''शैलसुताचरणरागयोनिरयम्'' एवं पृ. 237 पर गद्य- ''गौरीचरणरागसंभवं मणि''
31. वही, चतुर्थ अंक, प्रक्षेपः 19, पृ. 203 -''गोरोचनाकुङ्कुमवर्ण''
    5/19- ''गोरोचनानिकषपिङ्गजटाकलापः''
    अभिज्ञान शाकुन्तलम्, चतुर्थ अंक, पृ. 212 पर गद्य- ''गोरोचनां.......मङ्गल समालम्भनानि विरचयामि।''
32. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, 3/6
33. विक्रमोर्वशीयम्, 3/10 -''न च मलयजं सर्वाङ्गीणं''
34. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, 7/2
35. विक्रमोर्वशीयम्, पंचम अंक, पृ. 243 पर गद्य ''तत्र भवतो ऽलंक्रियमाणस्यानुलेपमाल्ये ऽग्रभागी भवामि।''
36. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, 1/15-17, 2/9, 5/19 -''इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति........... ।।''
37. वही, 1/17
38. वही, 1/18
39. वही, 6/20 -''अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं.....बिम्बाधरं... ।।''
40. वही, चतुर्थ अंक, पृ.215 पर गद्य पंक्ति -''आभरणोचितं रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनै. ।।''
41. वही, पृष्ठ-217 पर गद्यपंक्ति- ''अनुपयुक्तभूषणो ऽयं जनः। चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु तं आभरणविनियोगं कुर्वः।''
42. वही, पृष्ठ-220 पर गद्य पंक्ति
43. वही, 4/5
44. वही, 4/9
45. वही, 7/5
46. वही, 6/6

30

अभिज्ञानशाकुन्तलम् की सौन्दर्यपरक अर्न्तदृष्टि

ऋचा

भारतीय परम्परा में सौन्दर्य विषयक चिन्तन साहित्य की पीयूषवर्षी धारा के साथ ही प्रवाहित हुआ है। जो दार्शनिकों, सौन्दर्यशास्त्रियों और कवियों की वाणी से सौन्दर्य की रस स्रोतस्विनी का अजस्र प्रवाह त्रिवेणी की भाँति हर युग में सहृदय सामाजिकों को रससिक्त करता आया है। पृथक् भाव से सौन्दर्य पर चिन्तन न करते हुए भी उनकी सर्जना में यत्र-तत्र सौन्दर्य के प्रति उद्‌गार प्रकटीभूत हुए हैं। सौन्दर्य एक विशेष मनोदशा है, जिसका यथार्थ जीवन में प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। सौन्दर्य का अवबोध साधारणतः तीन स्तरों पर होता है- प्रकृतिगत, लोकगत, कलागत। द्यावा पृथिवी में जो भी पदार्थ अवस्थित हैं और उसके जितने व्यापार हैं समस्त दृश्यमान जगत् का समन्वित रूप प्रकृति है। लोकगत सौन्दर्य का रूप हम दैनन्दिन जीवन में अनुष्युत देखते हैं। ''लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतचमत्कारत्वापरपर्यायः'' सूत्र से ज्ञात होता है। कि सौन्दर्यगत आनन्द लौकिक नहीं होता अपितु यह लोक से परे लोकोत्तर है। लोक द्वारा आस्वादित होने के कारण तथा यथार्थ जीवन की वर्णना के कारण काव्य लौकिक है किन्तु इसका आनन्द अलौकिक है। 'सुन्दरस्य भावः सौन्दर्यम्' अर्थात् सुन्दरता का भाव ही सौन्दर्य है। आध्यात्मिक चिन्तन की परम्परा में 'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्' की प्रत्ययत्रयी के मूल में व्याप्त ब्रह्माण्ड के कण-कण को उस परमसत्ता से उत्पन्न मानकर उसी से अनुप्राणित माना जाता है। इसीलिए आरम्भिक कृति वेदों से लेकर क्रमशः परवर्ती सम्पूर्ण साहित्य परम्परा में सौन्दर्य की अभिराम इन्द्रधनुषी छटा प्राणतत्त्व के रूप में विद्यमान है। जिसे सहृदय साहित्य-स्रोतस्विनी की अगाध धारा में अनुभव कर सकते हैं। वैदिक से लौकिक संस्कृत की प्रवाहमान धारा में बहते हुए अनेकानेक परिवर्तन एवं परिवर्धन हुए, किन्तु सौन्दर्य के प्रति आकर्षण की परम्परा अक्षुण्य बनी रही। लौकिक संस्कृत के प्रकाश स्तम्भ आदिकवि वाल्मीकि ने सौन्दर्य चेतना के प्रणेता के रूप में अपने परवर्ती साहित्य जगत् पर अमिट प्रकाश डाला। जहाँ सौन्दर्य के परिष्कृत ब्राह्य स्वरूप के साथ ही उसके आन्तरिक पक्ष के रहस्य को भी परिवेष्ठित किया गया। महाकवि कालिदास ने सौन्दर्य के रमणीय चित्र प्रस्तुत कर बहुत से तथ्यों के सहारे पराश्रय-परपेक्षता, नित-नूतनता, पूर्णता, आनन्दात्मकता तथा आध्यात्मिकता की आधारपीठिका पर सौन्दर्यानुभूति का चित्रण किया है। कालिदास ने मानव, प्रकृति तथा विचार परम्परा के कमनीय पक्षों का स्तवन कर अपने कथानकों को नाना सौन्दर्यपरक उपादानों से अलंकृत किया। इस प्रकार सौन्दर्य के शास्त्रीय और स्वच्छन्द रूप की अन्विति कालिदास की लेखनी का विशेष चमत्कार है। राजभवन के कोलाहल से उन्मुक्त दुष्यन्त का मन आश्रम के

पावन रमणीय दृश्य को देखकर भाव-विभोर हो जाता है। अतएव प्रकृति के आलंबन रूप का हृदयग्राही चित्रण इनके लिए सहज सुलभ हो जाता है, इसलिए कालिदास की प्रकृति वाल्मीकि आश्रम की कन्या प्रतीत होती है। कालिदास रूप और सौन्दर्य के अद्‌भुत चितेरे थे। सौन्दर्य के विभिन्न पक्षों के चारुत्व को व्यक्त करने के लिए प्रसंगानुकूल शब्द चयन में कवि की कोई समता नहीं कर सकता। कवि ने अपने युग की सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना को अतीव मनोहरता के साथ अपनी सर्जना में मूर्त रूप दिया है। सौन्दर्य का नैसर्गिक रूप कवि की लेखनी का स्पर्श पाकर निःसन्देह निसर्गमय हो गया-

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू। कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।।[1]

शकुन्तला के हृदय को लुभाने में समर्थ सौन्दर्य के सन्दर्भ में लोभनीय शब्द ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह इसी के लिए बना हो। इसी प्रकार सौन्दर्य के पर्याय 'रम्य' शब्द को कालिदास ने बड़ी ही सहजता के साथ मनोहारी कोमल सौन्दर्यानुभूति को व्यक्त करने में अद्‌भुत रूप से प्रयोग किया है- **'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्।।**[2] कालिदास को मानव मन की अद्‌भुत परख थी इसीलिए उनका सौन्दर्य चित्रण इतना सफल और हृदयग्राही हो सका है। उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर प्रत्येक वस्तु अपने यथार्थ स्वरूप से भी अधिक लावण्यमयी हो गयी है। कवि की तत्वान्वेषिणी दृष्टि में यह बात घर कर गयी थी कि सौन्दर्य अनित्य उपकरणों का विषय न होकर नित्य एवं अपरिवर्तनीय है, तभी तो शकुन्तला के सौन्दर्य को निरूपित करते हुए उन्होंने इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखा कि सौन्दर्य किसी अलंकरण का हेतु नहीं होता है। अनुकूल अलंकरण सहज ही सौन्दर्य में वृद्धि का वाहक होता है और अनुपयोगी वस्तु भी सच्चे सौन्दर्य के सान्निध्य से शोभाधायक हो जाती है -

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं, मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतिनाम्।।[3]

यहाँ पर शैवाल और कलंक का उदाहरण देकर महाकवि ने यह घोषित किया है कि ये उपादान किसी भी स्थिति में सौन्दर्योत्पादक नहीं हो सकते, परन्तु सौन्दर्य के सामीप्य से स्वयं सुशोभित होते हुए दूसरों को भी सुशोभित करने में समर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार सौन्दर्य का अभिधाम शकुन्तला वल्कल वस्त्र में भी सुन्दर ही लगती है क्योंकि वास्तविक सौन्दर्य के लिए कोई भी वस्तु अलंकरण प्रदायक हो सकती है- **'अहो सर्वावस्थासु रमणीयत्वमाकृति विशेषाणाम्''**[4] अर्थात् विशिष्ट सौन्दर्ययुक्त आकृति प्रत्येक अवस्था में रमणीय लगती है क्योंकि सौन्दर्य का अपना गुण-धर्म अन्य वस्तु में किसी प्रकार की न्यूनता न लाकर अपितु वृद्धि को प्राप्त हो गयी- **''सर्वास्वस्थासु चारुतां शोभान्तरं पुष्पाति।''**[5] अर्थात् वास्तविक रूप से सुन्दर वस्तु हर अवस्था में सुन्दर व रमणीय ही रहेगी और कोई भी वस्तु उसकी चारुता में न्यूनता व वृद्धि कर सकती है। शकुन्तला के सौन्दर्य को दुष्यन्त के द्वारा चित्र-फलक पर प्रत्यंकित कराने में कवि ने अपना मत बहुत सफलतापूर्वक वर्णित किया है। दुष्यन्त ने यद्यपि कुशलतापूर्वक मानसिक चित्र निर्मित करने के उपरान्त ही शकुन्तला के अपूर्व सौन्दर्य को उकेरा है तथापि वे उसे चित्रित करने में पूर्णरूपेण सफल नहीं हो सके। स्वयं दुष्यंत भी उससे संतुष्ट न होकर उद्विग्न है।[6] जहाँ कवि ने व्यंजना से सौन्दर्य के प्राणतत्त्व पर दृष्टिपात करते हुए कहा कि सौन्दर्य का आकारमूलक रूप तो बनाया जा सकता है परन्तु जो उसकी आत्मा का लावण्य है उसे कैसे चित्रित किया जा सकेगा। यह ऐसी भावना है जिसे अन्तःकरण में केवल अनुभव किया जा सकता है फिर शकुन्तला जैसी अतीव सुन्दरी की सर्जना तो केवल कालिदास के ही चित्रण चातुरी की बात है क्योंकि स्रष्टा की कुशलता और

शकुन्तला का अनुपम सौन्दर्य दोनों पर बारम्बार चिन्तन करने से यही भान होता है कि उन्होंने किसी अनुपम और विलक्षण नारी रत्न की सर्जना में प्रवीणता प्राप्त की है।[7] इतना मनोहर सौन्दर्यपरक आचरण जो धर्म विज्ञान, नैतिकता, शील और समाज के अनुकूल हो तथा प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करने वाला न हो। शारीरिक सौन्दर्य, आचरण और चरित्र की सुन्दरता के बिना अपूर्ण होता है। कालिदास चरित्र और आचरण के विषय में अत्यन्त सैद्धान्तिक है। आचरण से च्युत होना उन्हें किंचित भी स्वीकार्य नहीं है। शाकुन्तल के प्रथम अंक में जब दुष्यन्त छुपकर शकुन्तला को देखता है और उस पर आसक्त हो जाता है तब उसके मन में शंका उठती है कि ''क्या ऋषि कन्या मेरे द्वारा ग्रहण करने योग्य है।'' तब स्वयं उसका मन शंका का समाधान कर देता है।[8] जहाँ पर कवि ने चरित्र और आत्मबल का अपूर्व संयोजन रखकर बताया कि सुन्दर, श्रेष्ठ और सदाचारी व्यक्ति की प्रवृत्ति कभी भी अनुचित कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकती। पंचम अंक में शकुन्तला के प्रत्याख्यान के समय भी दुष्यन्त का दृढ़ रूप उपस्थित होता है जब वह दुर्वासा के शाप-वशात् शकुन्तला को विस्मृत कर बैठते हैं और शकुन्तला के अनिंद्य रूप को सामने पाकर भी अस्वीकार कर देते हैं। अतः महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में उनकी आज्ञा के बिना ही दुष्यन्त और शकुन्तला के द्वारा गन्धर्व विवाह कर मर्यादा को भंग करने का परिणाम उन दोनों को दुर्वासा ऋषि के शाप के रूप में भुगतना पड़ा। उन्मत्त रूप के आकर्षण में आचरण को ताक पर रख देने वाला सौन्दर्य तपस्वी के महज एक वाक्य से निष्फल हो गया।[9] फिर उसी सौन्दर्य के बार-बार प्रदर्शन से भी वही दुष्यन्त शकुन्तला पर विश्वास न कर सका। सौन्दर्य जैसी अलौकिक वस्तु के सर्जन में हाथों का स्पर्श भी कालिदास को स्वीकार्य नहीं, क्योंकि उस तरल आभा की सर्जना तो मन से ही हो सकती है। शकुन्तला के रूप लावण्य को देखकर दुष्यन्त को यकीन ही नहीं होता कि ऐसा रूप पृथ्वी पर संभव है। अनुसूया के बताने पर कि शकुन्तला विश्वामित्र और मेनका की पुत्री है तब दुष्यन्त कह उठते हैं-

मानषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः। न प्रभातरलं ज्योतिस्देति वसुधातलात्।।[10]

महाकवि कालिदास की लेखनी की सबसे बड़ी विशेषता नैसर्गिक सौन्दर्य है। उन्हें प्रकृति के कण-कण में सौन्दर्यानुभूति होती है। इसीलिए उनके प्रकृति विषयक उपादानों में मानवीय सौन्दर्य की प्रतीति होती है। प्रत्येक उपादान में मानवीय सौन्दर्य से बढ़कर एकत्रीकृत और लोकोत्तर सौन्दर्य का भान होता है। उनके कवित्व में अन्तःप्रकृति और बाह्य प्रकृति में समन्वय सदैव सफल रहा है। केवल बर्हिजगत की सौन्दर्यानुभूति ही कालिदास का विषय है किन्तु अर्न्तजगत का सफल चित्रण ही महाकवि की अनूठी प्रतिभा का समन्वय है क्योंकि अन्तः एवं बाह्य सौन्दर्य में गूढ़ सम्बन्ध हैं बाह्य सौन्दर्य का पान तो साधारण जन एवं मानवेतर जीव भी कर सकते हैं परन्तु अन्तः सौन्दर्य को कवि की लेखनी ही रच सकती है और सहृदय ही उसका अनुभव कर सकता है। मधुर एवं भव्य आकृति से मन के भाव उदात्त रूप में प्रस्तुत होते हैं तथापि बाह्य सौन्दर्य के चित्रण की अपेक्षा अन्तः सौन्दर्य के वर्णन में कवि को अधिक अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। इसकी पुष्टि के लिए शाकुन्तल का यह श्लोक द्रष्टव्य है-

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै, रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव न तद्रूपमनघं, न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।।[11]

यहाँ पर कवि ने बाह्य और अन्तः सौन्दर्य में अपूर्व समन्वय स्थापित किया है। पुष्प के सदृश होना शकुन्तला का बाह्य सौन्दर्य है तो 'अनाघ्रात' होना उसके अन्तः सौन्दर्य का फलक व्यक्त करता है। इसी प्रकार किसलय से सादृश्य उसकी कोमलता ओर 'कररुहैः अलूनं' उसकी पावनता की व्यंजना करता है तथा

'अनाविद्ध रत्न' और अनास्वादित रस उसकी अनुपभुक्तता को अभिव्यंजित करता है। अन्त में कवि कह उठता है कि ऐसी विशिष्ट रचना पुण्यों के अखण्ड फल का प्रतीक है और इसका भोक्ता होने के लिए मनः शक्ति और पुण्यपरक भाग्य की पृष्ठभूमि का होना परमावश्यक है। इससे स्पष्ट होता है कि शकुन्तला का बाह्य स्वरूप जितना सुन्दर था उतना ही पावन और निश्कलुष अन्तः स्वरूप भी था। मानव और प्रकृति के बीच जितना मनोहर संबंध कालिदास ने उकेरा है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जब दुष्यन्त शकुन्तला से प्रणय संबंध स्थापित करके विस्मृत कर देता है तब इसका पूर्व संकेत प्रकृति के इस रूप में दृष्टिगत होता है कि भ्रमर शिरीष-पुष्प का आस्वादन करके उसे भूला देता है[12] और इसकी पराकाष्ठा चतुर्थ अंक में होती है। जब शकुन्तला पति-वियोग में खिन्न होती है तो कुमुदनी भी चन्द्रमा के छिप जाने से दयनीय हो जाती है।[13] शकुन्तला के विदाई के अवसर पर जब सभी आश्रमवासी दुःखी हैं तो आश्रम के वृक्ष, लता, खग-मृग और वन देवता भी उदास हैं। सभी अपने-अपने ढंग से अपने घनिष्ठ प्रेम और विछोह के दुःख को व्यक्त करते हैं। जहाँ मृगियों ने कुशा के ग्रास उगल दिये, मोरों ने नृत्य करना छोड़ दिया और लतायें पीले पत्तों के रूपों में अपने आँसू गिराने लगी।[14] इसी प्रकार श्यामाक की मुष्ठियों से पुत्रवत पाला गया मृग शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उनका मार्ग नहीं छोड़ रहा है।[15] इस प्रसंग में कालिदास ने एक अपूर्व श्लोक की सर्जना की जो सम्पूर्ण साहित्य जगत में कवि का प्रकृति के प्रति अदम्य प्रेम तथा मानव और प्रकृति के साहचर्यमय समन्वय का अप्रतिम उदाहरण है-

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या, नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये व कुसुमप्रसूति समये यस्या भवत्युत्सवः, सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।[16]

इसके भावों को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सहृदय पाठक भी उसी आश्रम का एक अभिन्न अंग हो जो प्रिय कन्या के विदा करने की कल्पना से आकुल हो उठा हो। जो कालिदास के अपूर्व कवित्व-सौन्दर्य की अनुपम उपलब्धि का परिचायक है। यह श्लोक मानव एवं प्रकृति की भावनात्मक एकता का ही प्रदर्शन नहीं करता बल्कि अपने अनुपम सौन्दर्य से सहृदय पाठक या श्रोता को भाव विह्वल कर देता है। प्रणय सौन्दर्य की दृष्टि से दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम प्रणय कामवासना से वशीभूत होने के कारण सफल हुआ किन्तु वहीं वियोग के तपिश के बाद दोनों का प्रेम तपस्या के ताप से मलिनता को भस्मीभूत करके निखरा हुआ प्रेम अवशिष्ट रह जाता है तब दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति प्रणय सौन्दर्य की प्रतिभा के ताप को स्वीकार करने को विह्वल हो जाता है।[17] क्योंकि पारस्परिक प्रणय का हेतु पूर्व जन्म का संस्कार होता है जो अनुकूल अवसर पर प्रकट हो जाता है- ''भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।'' अतएव उन्होंने दाम्पत्य जनित प्रेम को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए उत्कृष्ट रूप में प्रतिष्ठित किया है। परस्त्री संसर्ग को अत्यन्त गर्हित मानते हुए संयम जनित प्रेम को सम्मान दिया है- ''विकारहेतौसति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि एव धीराः।'' कालिदास की सफलता का रहस्य उनकी नाट्यकला का अनुपम सौन्दर्य है। इनके नाटकों के घटना संयोजन में सौष्ठव, वर्णन कौशल की सार्थकता, संकेतात्मकता, स्वाभाविकता, रचना कौशल, चरित्र-चित्रणगत विशेषताएं, कवित्व एवं रस परिपाक तो है ही इन सबसे बढ़कर जो वैशिष्ट्य है वह है उनकी अभिनेयता। प्रायः नाटकों में ये न्यूनता पायी जाती है कि पठनीयता की दृष्टि से तो उत्तम कोटि के होते हैं, परन्तु अभिनय कौशल की दृष्टि से अनुपयुक्त होते हैं। जबकि नाटक का प्रथम लक्ष्य अभिनय कौशल ही है। कालिदास ने प्रायः सभी नाटकों की रचना अभिनय कौशल को ध्यान में रखकर किया है। इनके नाटक अभिनय की दृष्टि से उत्तम कोटि के माने जाते हैं। कथावस्तु में घटनाओं को किस क्रम में रखना है इस रहस्य को कालिदास से अच्छा कौन जानता

होगा? इनके नाटकों के घटना संयोजन पर दृष्टिपात करने पर प्रतीत होता है कि प्रत्येक घटना स्वाभाविक एवं प्रसंगानुकूल है। इनकी सार्थकता से कथानक के विकास में अपूर्व सौन्दर्य समाया हुआ है। किस घटना को कैसे और कहाँ निबद्ध करना है उसमें कालिदास की प्रवीणता देखने के लिए ग्रन्थ का अवलोकन करना अनिवार्य हो जाता है। यथा-अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक में दुष्यन्त का मृगया के लिए आश्रम में जाना, वहाँ तपस्वियों द्वारा मृगों को न मारने का अनुनय स्वीकार करने पर चक्रवर्ती पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद पाना, कण्व ऋषि के सोमतीर्थ यात्रा पर जाने पर भी राजा आतिथ्य स्वीकार करने आश्रम में जाते है। वहाँ तीनों सखियों को देखना, उनका हास-परिहास और गन्धर्व विवाह के सम्बन्ध में उनकी वार्ता से आगामी घटना के लिए एक सुन्दर वातावरण का निर्मित होना। नाटक का कथानक सदैव घटनाओं के घात-प्रतिघात से अग्रसर होता है। अतः अगले अंकों में भी इसी प्रकार का संयोजन दिखाई पड़ता है। द्वितीय अंक में राजा का मृगया हेतु न जाना, शकुन्तला को देखने का बहाना सोचते ही दो ऋषिकुमारों का प्रवेश और राक्षसों के संहार के लिए राजा से कहना, तृतीय अंक में गन्धर्व विवाह, चतुर्थ अंक में दुर्वासा का शाप और शाप परिहार के रूप में अँगूठी से पहचान। पंचम अंक में हंसपक्षी का प्रत्याख्यान के बाद मेनका द्वारा शकुन्तला को मारीच के आश्रम में ले जाना। षष्ठ अंक में अंगूठी का मिलना। ये सभी घटनायें प्रत्येक दृष्टि से सार्थक व स्वाभाविक प्रतीत होती हैं। सभी घटनायें एक दूसरे से इस प्रकार जुड़ी हैं कि इनसे नाटक के सौन्दर्य में निखार आ जाता है जो नाटक को गति देने में पूर्णतया सफल है। पंचम अंक में दुर्वासा के शाप से राजा को शकुन्तला विषयक सम्पूर्ण वृत्तान्त विस्मृत हो जाता है। फिर भी राजसभा में शकुन्तला का अनुपम सौन्दर्य देखकर उसका मन आकृष्ट हो जाता है।[18]

इस प्रकार नाटक का पंचम अंक सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपम है। चतुर्थ अंक का 'श्लोक चतुष्टय' कवित्व की दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण हो परन्तु नाटकीय दृष्टि से पंचम अंक का सौन्दर्य सम्पूर्ण नाट्य साहित्य में कोई सानी नहीं। कालिदास की प्रकृति कोई अचेतन प्रकृति नहीं है वरन् उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। वह अपने ढंग से अपने भावों को व्यक्त करती है। उसकी संवेदना शक्ति चरमकोटि की है। तभी तो वह प्रकृति पुत्री शकुन्तला की विदा वेला पर तपोवन वासियों की व्याकुलता के साथ प्रकृति भी व्याकुल हो उठती है।[19] शकुन्तला की विदाई के समय मार्ग में प्रकृति के अनुकूल रहने की आकाशवाणी का होना व्यक्त करता है कि मानव के सुख-दुःख में प्रकृति की कितनी सहभागिता है।[20] अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अंक में कालिदास का प्रकृति सौन्दर्य विशेष रूप से पुष्पित हुआ है लेकिन प्राकृतिक सौन्दर्य की अनुपम छटा से तो सम्पूर्ण नाटक ही ओत-प्रोत है। प्रथम अंक का पहला श्लोक इसका अनुपम प्रमाण है जिसमें प्रकृति के विभिन्न रूपों वाली आठ मूर्तियों से युक्त भगवान शिव की स्तुति की गई है।[21] नट और नटी के संवाद से प्रारम्भ प्रकृति का अनुपम मनोहारी सौन्दर्य प्रत्येक पात्र में समाहित दिखाई देता है। राजा दुष्यन्त को मृग नहीं अपितु मृग के रूप में प्रकृति ही बलात् हर ले जाती है। जहाँ निसर्ग कन्या शकुन्तला का दर्शन होता है। जहाँ दुष्यन्त कृत्रिमता से रहित अतीव मनोहारी मंत्रमुग्ध करा देने वाले प्राकृतिक सौन्दर्य का आस्वादन करता है जो उसने पहले अनुभव ही नहीं किया था- ''दूरीकृता खलु गणैरुद्यानलता वन लताभिः।''[22] जहाँ महाकवि पृथक-पृथक शब्दों में प्रकृति के विशुद्ध अनुपम सौन्दर्य को निरूपित करके भी तृप्त नहीं होता।[23] प्रकृति के विभिन्न दृश्य मानव को क्या संदेश देते हैं यह तो कालिदास ही समझ सकते हैं और कहते हैं कि ''एक ओर औषधिपति चन्द्रमा अस्ताचल को जा रहे हैं और दूसरी ओर अपने साथी अरुण को आगे किये हुए भगवान सूर्य उदित हो रहे हैं। इन दो तपस्वियों के

साथ उदय और अस्त को देखकर संसार को यही शिक्षा मिलती है कि दुःख के पीछे सुख और सुख के पीछे दुःख लगा ही रहता है।''[24] प्रकृति का मानव के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होना तो कई स्थानों पर वर्णित हुआ है परन्तु प्रकृति की ऐसी उदारता, ऐसा उमड़ता प्रेम तो बस कालिदास ही महसूस कर सकते हैं। इसके साथ ही अपने लेखनी के अद्भुत कौशल से अपने पाठकों की भावना को उस भूमि पर पहुँचाने में भी सक्षम है। जहाँ केवल प्रकृति हो, प्राकृतिक सौन्दर्य तथा प्रकृति का निश्छल प्रेम हो, शकुन्तला के पतिगृह गमन के अवसर पर प्रकृति का अद्भुत प्रेम कालिदास ही उकेर सकते हैं कि ''किसी वृक्ष ने पुत्री शकुन्तला के लिए चन्द्रमा के समान श्वेत मांगलिक रेशमी वस्त्र दिया। किसी ने पैरों को रंगने के लिए लाक्षारस प्रकट किया। अन्य वृक्षों ने कलाई तक उठे हुए सुन्दर किसलयों की प्रतिस्पर्धा करने वाले वन देवता के करतलों से सुन्दर आभूषण दिये।''[25] अन्यत्र कहाँ मिलेगा इतना आत्मीयता से परिपूर्ण आप्लावित अनुपम प्रकृति का सौन्दर्यपूरित चित्र। वह भी एक नहीं अनेक चित्रवलियाँ। प्रकृति की पवित्रता से कालिदास सर्वाधिक अभिभूत हुए हैं। शकुन्तला के अभुक्त यौवनावस्था की अनुपम उपमा के लिए कालिदास को प्रकृति में छिपी अप्रतिम सौन्दर्य के सिवाय कुछ नहीं सूझता। इसीलिए कह उठते हैं कि अनाघ्रात पुष्प और नाखूनों से न कुतरे हुए किसलय का सौन्दर्य अपनी अनुपम पवित्रता के कारण ही वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। इसी नवीन और पावनता से परिपूर्ण प्राकृतिक सौन्दर्य के सदृश ही शकुन्तला का भी सौन्दर्य शोभायमान था।[26] तभी तो वह विधाता द्वारा विशेष रूप से रचे गये मानव के द्वारा ही उपभोग्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास के इस श्लोक के बिना प्रकृति के अभुक्त, पावन सौन्दर्य की खान शकुन्तला के मनोहर सौन्दर्य की रहस्यानुभूति नहीं हो सकती।

महाकवि कालिदास का प्रिय विषय है सौन्दर्य निरूपण। इसीलिए श्रृंगारपरक सौन्दर्य की सीमा भी अपरिमित है। उनकी दृष्टि श्रृंगार के साथ-साथ काल, प्रयोजन, अवस्था, ऋतु और गरिमा के प्रति विशेष सतर्क रही। नयनों में विभ्रम और हृदय में विलास जनक प्रत्येक सामग्री उनके लिए सौन्दर्य का पर्याय है। तभी तो उन्होंने चित्र-विचित्र वस्त्रों, पुष्पाभरणों, अलंकरणों, अंगराग सभी को मण्डन की परिधि से बांधकर वल्कल और तरू पल्लवों को भी मण्डन द्रव्य बनाकर सौन्दर्य सर्जना में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। वह चतुर्थ अंक में कहते हैं कि यद्यपि शकुन्तला प्रियमण्डना है तथापि अत्यधिक स्नेह के कारण आश्रम-वृक्षों के पल्लवों को नहीं तोड़ती- ''नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।'' इसी प्रकार महाकवि की लेखनी का स्पर्श पाकर वल्कल वस्त्र भी श्रृंगार साधक बन गया है-

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं, मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।[27]

इस प्रकार अवलोकनोपरान्त हम देखते हैं कि कालिदास प्रसाधन को एक कला मानकर उसके प्रति नम्य होकर उदार भावों से परिष्करण करते हुए उनके रूप, वर्ण, प्रभा, राग, विलासिता, लावण्य, छाया और सौभाग्य को निखार कर अलंकार का स्वरूप देने में सक्षम रहे हैं। इसका प्रमुख कारण उनकी स्वभावतः नैसर्गिक सौन्दर्य-दर्शिनी दृष्टि है। इसके फलस्वरूप उन्हें सृष्टि का अनुपम उपहार नारी रूप में दृष्टिगत हुआ। महाकवि ने प्रायः सभी प्रकार के वस्त्रों के विभिन्न रंगों एवं गुणों की चर्चा के साथ ही उनकी सामग्री के प्राप्ति स्थल का भी प्रत्यक्ष या संकेत रूप में चित्रण किया है। 'शाकुन्तल' में चीन से आयातित उच्चकोटि के रेशमी वस्त्र का भी संकेत मिलता है। जो अत्यन्त कोमल, बारीक और हलके होते थे। जो वायु के प्रवाह से ही उड़ने लगते थे।[28] पुष्प अलंकरण के बिना शकुन्तला का सौन्दर्य कालिदास को अपूर्ण प्रतीत हो रहा था। तभी तो

दुष्यन्त के मुख कहलाया है कि कानों में गण्डस्थल तक झूलने योग्य केसर वाले शिरीष एवं वक्षस्थल पर झूलने वाले मृणाल तन्तु के हार के बिना शकुन्तला की कल्पना ही अधूरी थी।[29]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महाकवि कालिदास का लक्ष्य ही सौन्दर्य निरूपण था। जिसमें उनके अपार ज्ञान, कल्पनाशक्ति और उनकी सौन्दर्य विषयक अर्न्तदृष्टि ने अपूर्व योगदान दिया है। महाकवि के लेखनी ने अपने समय की सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना को सुन्दरतम् स्वरूप में सौन्दर्य रूपी सर्जना में पिरो दिया है। इनकी सतर्क दृष्टि से सौन्दर्य का कोई भी तत्त्व विस्मृत नहीं हुआ है। कालिदास मानव लोक चंचल और लोक लुभावन सौन्दर्य का आश्रय लेकर स्वर्ग के शान्त, पवित्र और स्निग्ध सौन्दर्य का साक्षात्कार कराना चाहते हैं। फलतः उनकी सौन्दर्योपासना और सौन्दर्य विषयक सृष्टि-प्रक्रिया एक साधना के रूप में फलीभूत हुई है। अतएव कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में त्याग एवं भोग का अनुपम सन्तुलन दर्शाते हुए अपनी अनुपम प्रतिभा से सौन्दर्य को चरमोत्कर्ष प्रदान किया है।

सन्दर्भ -

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-1/21
2. तदैव-5/2
3. तदैव-1/19
4. तदैव-षष्ठम् अंक
5. तदैव-द्वितीय अंक
6. तदैव-6/14
7. तदैव-2/9
8. तदैव-1/22
9. तदैव-4/1
10. तदैव-1/26
11. तदैव-2/10
12. तदैव-1/14
13. तदैव-4/3
14. तदैव-4/12
15. तदैव-4/14
16. तदैव-4/9
17. तदैव-7/21
18. तदैव-5/13
19. तदैव-4/12
20. तदैव-4/11
21. तदैव-1/1
22. तदैव-1/17
23. तदैव-1/20, 2, 814
24. तदैव-4/2
25. तदैव-4/5
26. तदैव-2/10
27. तदैव-1/19
28. तदैव-1/32
29. तदैव-6/18

31

कालिदास के नाटकों में सौंदर्याधायक तत्त्व

पूनम सिंह

कालिदास ने प्रकृति की रमणीयता का जितना सरस एवं ललित वर्णन किया है, उससे भी कहीं अत्यधिक हृद्यावर्जक चित्रण महाकवि ने मानव सौंदर्य का किया है। महाकवि कालिदास रूप सौंदर्य के मिथ्या ज्ञान से पूर्णतः अभिभावित हैं तथा महाकवि का नारी-सौंदर्य संस्पर्श मानो उनकी हृदय-विपंची के सम्पूर्ण तारों को एक साथ झंकृत कर देता है। महाकवि ने सौंदर्य को दैवीय प्रसाद माना है जिसमें मानव और प्रकृति दोनों के रूप एक समान भाव से भास्वर हो रही है। जो सौंदर्य नारीदेह में प्रकाश करता है वही सौंदर्य प्रकृति के विभिन्न पदार्थों में भी प्रतिबिम्बित है और जिस प्रकाश से प्रकृति की नानारूपिणी छवियाँ विश्व में अपना सम्मोहन बिखेरे हुए हैं, वही प्रकाश नारी रुप में फूट कर चराचर सृष्टि को बन्दी बना देता है। कालिदास सौंदर्य के इस रहस्य से पूर्णतः परिचित हैं। यही कारण है कि नारी रूप के वर्णन में उनकी दृष्टि प्रकृति-जगत् का अनुसंधान करने लगती है और प्रकृति रूपों के चित्रण में वह नारी रूप से अनुप्रमाणित हो जाती हैं, शकुन्तला के रूपश्री का मूल्यांकन करते हुए महाकवि ने लिखा है-

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू। कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम्।।[1]

अर्थात् शकुन्तला के लाल होंठ लता की कोपलों के समान सुन्दर हैं, दोनों भुजायें वृक्ष की कोमल शाखाओं के समान जान पड़ती है और इसके अंगों में खिला हुआ नया यौवन लुभावने फूल के समान सुशोभित होता है। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में बसन्त श्री के नव स्फुटित उल्लास का कथन करते हुए लिखा है- **'मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता।**[2] अर्थात् हे सखे! वसन्त श्री मुग्धा तथा युवती के मध्यवाली स्थिति में शोभा दे रही है। इस प्रकार महाकवि को यह अवश्य ज्ञात है कि मानव शरीर को आलोकित करने वाली प्रभा उसी व्यापक प्रभा की अंशभूत है जिससे विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ चमक रहे हैं, यद्यपि वह उतना ही क्षणभंगुर है जितना आकर्षक भी। महाकवि नारी-पुरुष की कल्पना करते समय सौंदर्य-समुच्चय का बारम्बार वर्णन करते हैं। सम्पूर्ण संसार के समस्त पदार्थों में सौंदर्य विद्यमान है और इनमें से कोई भी पदार्थ अपनी सुन्दरता से हम दर्शकों को चकित एवं आकर्षित कर सकता है। महाकवि की सौंदर्य कल्पना महाकवि की स्वयं की धरोहर है तथा सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की मानसिक कल्पना की सर्वाधिक श्रेष्ठ प्रसूति है। महाकवि ने शकुन्तला की रूप-सम्पदा का वर्णन करते हुए लिखा है -

चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्त्वयोगा रुपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा में धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।।[3]

महाकवि कालिदास स्त्री सौंदर्य एक विशिष्ट परिवेश में अवलोकित तथा चित्रित किया है। नवयौवन के प्रति उनका सहज आकर्षण देखते ही बनता है। महाकवि की दृष्टि में नारी सौंदर्य में वीर्यक्षोभ की क्षमता होनी चाहिए इसलिए महाकवि ने अपने नायिकाओं के सौंदर्य का वीर्यक्षोभाकारित्व अत्यन्त स्पष्ट भाव से निरूपित हुआ है। उर्वशी के सौन्दर्य की सृष्टि के लिए महाकवि ने कान्ति के दाता चन्द्रमा, श्रृंगार रस के देवता कामदेव की क्षमता को ही स्वीकार किया है और वेदानुशीलन से जड़ीभूत तथा विषयोपभोग से पराङ्मुख रहने वाले वृद्ध ऋषि की एतादृश रूप रचना की शक्ति का स्पष्ट प्रत्याख्यान करते हुए लिखा है-

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूचन्द्रो नु कान्तिप्रदः, शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाश्यासजङः कथं नु विषयाव्यावृत्तकौतूहलो, निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।।[4]

अर्थात् महाकवि की रूपविषयिणी दृष्टि-सौंदर्य विषय प्रेरक और विषय प्रेरित दोनों है।

महाकवि की सौन्दर्य दर्शिनी दृष्टि साधारण है परन्तु मन को विस्मय में डाल देने वाले रुप के उद्भव की कल्पना का प्रतिवाद करती है। महाकवि के रूपसौंदर्य में राजा अथवा देवता अथवा ऋषि अथवा अप्सराओं का सौंदर्य प्रतिस्फुटित होता है। सामान्य मनुष्य के रजवीर्य में प्रभा-तरल रूपज्योति के प्रसव की क्षमता असम्भव है। शकुन्तला के विषय में महाकवि ने अपने इसी मन्तव्य को व्यक्त करते हुए लिखा है-

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः। न प्रभातरलं ज्योतिरूदेति वसुधातलात्।।[5]

अर्थात् वसुधातल से उत्कृष्ट सौन्दर्य की ज्योति प्रतिस्फुटित नहीं हो सकती।

महाकवि सरल, निरलंकृत सौंदर्य का उपासक है। शकुन्तला तथा उसकी सखियों के मधुर दर्शन से चमत्कृत होकर दुष्यन्त अत्यन्त विस्मय से स्वीकार करता है कि तपोवन में रहने वाली इन सहज सुन्दरियों की तुलना में राजप्रासाद में पलने वाली रम्य-अङ्गनायें कुछ भी नहीं हैं- **दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः।**[6]

वहीं सौंदर्य, सौन्दर्य कहलाता जो सहज ही चमकता हो जो ''अक्लिष्कान्ति''[7] हो। यह रूप सौंदर्य सभी अवस्थाओं में अनवद्य रहता है सभी स्थितियों में शोभा का पोषण करता है- **अहो सर्वास्ववस्थास्वनवद्यता रूपस्य।**[8] **अहो सर्वास्ववस्थासु चारूता शोभां पुष्यति।**[9] समस्त अवस्थाओं में चेष्टाओं की रमणीयता माधुर्य कही गयी है- **''सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्ये रमणीयता''**[10] जिस रुप में यह गुण वर्तमान रहता है, वह मधुर कहलाता है। शकुन्तला की आकृति ऐसी ही है। महाकवि के अनुसार-कमल का फूल, शैवालजाल से अनुविद्ध होकर भी रमणीय बना रहता है, चन्द्रमा का धब्बा मलिन होकर भी शोभा का विस्तार करता है और उसी तरह तन्वी शकुन्तला वल्कलवेष्टिता होने पर भी मनोज्ञ बन गयी है-

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं, मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।[11]

भारतीय सौंदर्य अवधारणा ने आभूषणों को आवश्यक नहीं माना है परन्तु रूप के सहज गुणों के आवर्जन को महत्त्व दिया है। महाकवि को भी उर्वशी के रूप सौंदर्य-वर्णन में अलंकारों का भूष्य-भाव ऐसे ही विवक्षित है- **आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः। उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः।।**[12]

अर्थात् उसका शरीर आभरणों का भी आभारण है, श्रृंगार की सामग्रियों का भी श्रृंगार है और उपमा की वस्तुओं की भी उससे उपमा दी जा सकती है। सौंदर्याधायक तत्त्वों में महाकवि कालिदास कान्ति, दीप्ति एवं माधुर्य के अतिरिक्त लावण्य से भी प्रभावित है। मोतियों में छाया की आन्तरिक तरलता के समान अंगों में चमकने वाली वस्तु को लावण्य कहा गया है- **मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदंगेषु लावण्यं**

तदिहोच्यते ।।[13] यह लावण्य ही क्षण-प्रतिक्षण नव्य आभा ग्रहण करता रहता है तथा इसकी पकड़ में बड़े से बड़े कलाकार भी असमर्थ सिद्ध होते हैं। महाकवि ने दुष्यन्त के माध्यम से लावण्य की इसी अग्राह्यता की निवृति की है, उसे रेखाओं में बन्दी बनाकर चित्र में उतारा नहीं जा सकता है-

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा। तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम् ।।[14]

नवप्रस्फुटित यौवन की श्री आपके अंगों से विच्छुरित हो रही है तो तपस्या का अब और फल क्या हो सकता है अर्थात् त्रिलोक-सौंदर्य एवं नववयस तप की प्रसूति है। **अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं।**[15] के प्रसिद्ध श्लोक में **अखण्डं पुण्यानां फलं।**[16] का कथन करके नाटककार ने रुप सौंदर्य को पूर्व जन्म के सञ्चित पुण्यों का परिणाम बताया है। महाकवि ने यह माना है कि आकृति का सौन्दर्य अन्तरात्मा के सौन्दर्य से समन्वित होता है-**न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति।**[17] राजानक रूय्यक ने दस शोभा विधायी धर्मों में प्रथम को 'रूप' कहा है और अन्तिम को 'सौभाग्य'। सुभग उस व्यक्ति को कहते हैं जिसके भीतर प्रकृत्या वह गुण रहता है जिससे सहृदय व्यक्ति स्वयमेव उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भौंरे। ऐसे ही सुभग व्यक्ति के आन्तरिक वशीकरण धर्म को सौभाग्य कहते हैं। शकुन्तला के प्रथम प्रेम का प्रत्याख्यान इसी मङ्गल निरपेक्ष यौन आकर्षण का प्रतिवाद है। बिना तप के ऐसा सौभाग्य, ऐसा प्रेम, ऐसा पति मिलना असम्भव है। तपस्या से लब्ध विशुद्ध प्रेम द्वारा व्यञ्जित यही सौभाग्य धर्म महाकवि कालिदास के सौन्दर्य वर्णन का लक्ष्य है।

सन्दर्भ -

1. *अभिज्ञानशाकुन्तल-1.20*
2. *विक्रमोर्वशीय-2.7*
3. *अभि.शाकुन्तल-2.9*
4. *विक्रमोर्वशीय-1.10*
5. *अभि. - 1.24*
6. *अभि. - 1.17*
7. *अभि. - 5.19*
8. *अभि. -*
9. *अभि. - 2 अंक*
10. *सा.द. - 3.97*
11. *अभि. - 1.19*
12. *विक्रमो. 2.3*
13. *उज्ज्वलनीलमणि*
14. *अभि. - 6.14*
15. *अभि. - 2.10*
16. *अभि. - 2.10*
17. *अभि. - 2 अंक*

32

मालविकाग्निमित्रम् का नाट्य शिल्प

सचिन देव द्विवेदी

'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु। प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते'।।[1]

यह निर्विवाद रूप से सत्य एवं मान्य है कि संस्कृत साहित्य में शृङ्गार के अमर कवि तथा वैदर्भी रीति के माध्यम से काव्य सरिता की अजस्र स्रोतस्विनी प्रवाहित करने वाले महाकवि कालिदास की समता का अन्य कोई वाणीपुत्र आज तक उत्पन्न नहीं हुआ है। इनकी प्रशंसा में साहित्य-मर्मज्ञ अनेक समीक्षकों ने अपने अनुच्छिष्ट, भाव सुमनों को अपनी सूक्तियों के माध्यम से समर्पित कर भारतीय संस्कृति के अमर गायक का पावन स्मरण एवं नमन किया है। भारतीय साहित्य की आस्तिक चिन्तनधारा में जगदीश्वर भगवान् शङ्कर और परमशक्तिरूपा जगदम्बिका पार्वती की कृपा के पावन प्रसाद के परिणामस्वरूप महाकवि का यश प्रलयान्त चिरस्थायी बन गया है। ऐसे महाकवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से प्रसूत उनकी प्रथम नाट्यकृति 'मालविकाग्निमित्रम्' जिसमें मालवदेश की राजकुमारी मालविका तथा विदिशा के राजा अग्निमित्र के मध्य प्रेम और उनके विवाह का वर्णन है। वस्तुतः यह नाटक राजमहलों में चलने वाले प्रणय षड्यन्त्रों का उन्मूलक है तथा इसमें नाट्यक्रिया का समग्र सूत्र विदूषक के हाथों में समर्पित है। कालिदास ने प्रारम्भ में ही सूत्रधार से कहलवाया है -

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।[2]

अर्थात पुरानी होने से ही न तो सभी वस्तुएँ अच्छी होती हैं और न नयी होने से बुरी तथा हेय। विवेकशील व्यक्ति अपनी बुद्धि से परीक्षा करके श्रेष्ठकर वस्तु को अंगीकार कर लेते हैं और मूर्ख लोग दूसरों द्वारा बताने पर ग्राह्य अथवा अग्राह्य का निर्णय करते हैं। वस्तुतः यह नाटक नाट्य-साहित्य के वैभवशाली अध्याय का प्रथम पृष्ठ है। लगभग 2200 वर्ष पूर्व के युग का चित्रण करते इस नाटक में शुंग वंश के काल की कला, संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था आदि की उल्लेखनीय झलक मिलती है। इस नाटक में कालिदास द्वारा स्वांग, चतुष्पदी छन्द तथा गायन के साथ अभिनय के भी संकेत किये गए हैं, जो तत्कालीन लोकनाट्य के विद्यमानता को दर्शाता है। पाँच अंकों में विभक्त नाटक में समस्त नाट्य शास्त्रीय तत्त्वों का प्रयोग उचित ढंग से किया गया है नाटक के कथानक का प्रारम्भ मिश्र विष्कम्भक से होता है। अर्थप्रकृतियों एवं कार्यावस्था के संयोग से पञ्च सन्धियों का निर्माण होता है जैसा कि कहा गया है-

अर्थप्रकृतय : पञ्चपञ्चवस्थासमन्विता। यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्या पञ्चसन्धयः।।[3]

प्रकृत नाटक के प्रथम अंक का कथानक जिसमें राजा अग्निमित्र द्वारा चित्रपट में विद्यमान मालविका को देखकर **''का इयंदारिका''** इस कथन से उसके अंतर्मन में विद्यमान मालविका के प्रति आकर्षण रूप प्रेम के प्रथम बीज का अंकुरण तथा नर्म सचिव द्वारा इसमें सहायतार्थ कार्य आरम्भ करना। अर्थात् राजा द्वारा मालविका के प्रत्यक्ष दर्शन की उत्सुकता रूप अवस्था ही मुख संधि है जैसा कि कहा गया है -

यत्र बीजसमुत्पत्तिनानार्थरससम्भवा। प्रारम्भेण संयुक्ता तत्मुखं परिकीर्तितम्।।[4]

प्रतिमुख संधि का प्रयोग नाटक के प्रथम अंक के अंतिम एवं द्वितीय अंक में किया है जहाँ राजप्रासाद के संगीतशाला में आयोजित नृत्य में मालविका के दर्शन की उत्सुकता में राजा का कथन - **राजा- अत्र भवतोआचार्ययोः प्रथमं कतरस्योपदेशं द्रक्ष्यामः, परिव्राजिका- ननु समानेऽपि ज्ञानवृद्धभावे वयोवृद्धत्वात् गणदास: पुरस्कारमर्हति।**[5] इत्यादि कथन से राजा द्वारा मालविका का कुछ क्षण का दर्शन तथा पुनः देवी धारिणी के कोप से उस योजना में बाधा आती हुए देखकर विदूषक का पुनः उसी प्रदर्शन प्रस्ताव पर ध्यान केन्द्रित करना। इस प्रकार बीज के विकास के दृश्यादृश्य होने से प्रतिमुख संधि का दिग्दर्शन होता है

फलप्रधानोपायास्य मुखसंधिनिवेशिनः। लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्।।[6]

तृतीय अंक के कथानक में गर्भसंधि की योजना दिखाई पड़ती है, जिसमें धारिणी के पास सर्परक्षित निधि के समान संरक्षित की गयी मालविका को चातुर्य पूर्ण तरीके से प्राप्त करने के अनेक उपाय किये गये हैं। अनन्तर चतुर्थ अंक के कथानक में मालविका की प्राप्ति निश्चित हो जाने के कारण यहाँ अवमर्श संधि की योजना तथा पंचम अंक में निर्वहण संधि की योजना के साथ नाटक के मुख्य प्रयोजन की प्राप्ति होती है जैसा कि राजा अग्निमित्र और उसकी प्रेयसी मालविका के उस प्रेम को प्रणयसूत्र में बांधकर सफल ही नहीं अपितु पूर्वकथानक के अनुसार समस्त शंकाओं को उद्घाटित करता है जिसके प्रति दर्शक संशय युक्त थे।

नाट्य निर्माण में पात्रों के चरित्र चित्रण का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि ये पात्र ही कथावस्तु के कारक तथा रस के आधार होते हैं। पात्रों की क्रियाशीलता पर ही नाट्य की सफलता आश्रित होती है। संक्षेपतः यह कहा जाना उचित होगा कि बिना पात्र के कथा और रस नहीं हो सकता है। रूपकों में पात्रों का चरित्र उनकी उपस्थिति, उनके संवाद तथा उनके बारे में उनके अतिरिक्त अन्य नाटकीय पात्रों से होता है। उनकी अभिनय परक सक्रियता से उनके चरित्र का प्रकाश होता है तथा यह चारित्रिक वैशिष्ट्य ही सहृदय हृदय तक जाता है। मालविकाग्निमित्रम् नाटक पात्र एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उच्चकोटि का नाटक है जिसके पात्र इतिहास प्रसिद्ध एवं उच्चकुलीन हैं नाटक का नायक अग्निमित्र इतिहास प्रसिद्ध विदिशा का राजा तथा दो पत्नियों रानी धारिणी एवं इरावती का पति है तथापि वह संगीत कला निपुण रूपसी सेविका मालविका जो इस नाटक की नायिका है, को चित्रपट में देखकर हतप्रभ ही हो गया।

अव्याजसुन्दरीं तां विज्ञानेन ललितेन योजयता। परिकल्पितो विधात्रा वाणः कामस्य विषदग्धः।।[7]

नाटक का नायक धीरोदात्त की कोटि से हटकर 'धीरललित' नायक है जिसका लक्षण आचार्य धनञ्जय करते हुए कहते हैं कि-**निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः।**[8] अग्निमित्र एक कलाप्रेमी, सौन्दर्यानुरागी, कामुक और दाक्षिण्यगुण भूयिष्ठ रूप में चित्रित किया गया है। अन्य पात्रों में नाट्याचार्य द्वय गणदास एवं हरदत्त जो मालविका को छलित नृत्य का प्रशिक्षण दे रहे थे, प्रस्तुत नाटक का विदूषक गौतम है

चारित्रिक दृष्टि से नाटक में इस पात्र को जितना महत्त्व प्रदान किया गया है उतना अन्य पात्र को नहीं। यदि प्रस्तुत नाटक से विदूषक को अलग कर दिया जाये तो नाटक का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाता है जिसके बुद्धि कौशल से राजा नायिका मालविका को प्राप्त करने में सफल होता है। राजा को अपने कामतंत्र सचिव पर पूर्ण विश्वास है कि यह उसका सफल सहायक सिद्ध होगा। राजा के ही शब्दों में "प्रतिगृहीतं वचः सिद्धिदर्शिनो, ब्राह्मणस्य" अन्य पात्रों में विदुषी वृद्धा संन्यासिनी कौशिकी, बकुलावलिका, परिव्राजिका आदि पात्र प्रमुख रूप से नाट्य के सौंदर्य को उत्कृष्ट बनाते हैं।

मालविकाग्निमित्रम् नाटक में अत्यंत उचित ढंग से सभी तत्त्वों का निर्वहन किया गया है कथा में संवाद छोटे एवं भाषा शैली सरल सरस एवं बोधगम्य है। महाकवि कालिदास को वैदर्भी रीति का कवि कहा जाता है अतः प्रकृत नाटक में भी उसी का निर्वहन किया है श्रृंगार रस प्रधान होने के कारण नाटक में माधुर्य एवं प्रसाद गुण का सुन्दर प्रयोग किया है जैसा कि मालविका की योग्यता के सन्दर्भ में उसका गुरु गणदास कहता है

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तर व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रसुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।।[9]

महाकवि ने गणदास के माध्यम से शिक्षा जगत् में यह सिद्धांत प्रतिष्ठित किया है कि गुरु और शिष्य के मध्य आयी हुयी विद्या तभी कृतार्थ होती है जब उभय पक्ष अपनी पात्रता की परिधि में हुआ करता है। नाट्यशास्त्रीय नियमानुसार नाटक में वीर अथवा श्रृंगार ही मुख्य रस हुआ करता है महाकवि कालिदास द्वारा प्रणीत मालविकाग्निमित्रम् श्रृंगार रस प्रधान नाटक है। नाटक के प्रारंभ से लेकर मालविका की प्राप्ति पर्यन्त श्रृंगार रस का प्रवाह अजस्र रूप से दृष्टिगत होता है यद्यपि अन्य रसों का भी उन्मेष नाटक में किया गया है परन्तु अग्निमित्र एवं मालविका के प्रणय प्रसंग का वर्णन होने के कारण श्रृंगार रस को ही पुष्ट करते हैं। कालिदास श्रृंगार के कवि हैं और उनकी प्रतिभा ने काव्य सुन्दरियों का भांति-भांति से चित्रण किया है। इस नाटक की मालविका का नख शिख सौंदर्य अनिन्द्य है। यथा उसकी अंखियाँ बड़ी-बड़ी हैं तो मुख भी शरत्कालीन निष्कलंक चन्द्र से कमदीप्ति नहीं रखता। कन्धों पर झुकी हुयी भुजायें है तो उसकी छाती भी छोटे और कठोर स्तनों से जकड़ी हुयी है। उसका कुक्षि चिकना है तो कटि भाग भी मुट्ठी में समा जाने वाला है, जङ्घायें मोटी हैं पैरों की उंगलियाँ कुछ झुकी हुयी हैं। इस प्रकार उसके शरीर की रचना मानों उसके नाट्य गुरु के संकेत पर ही की गयी है-

दीर्घाक्षं शरदिन्तुकान्तिवदनं वाहू नतावंसयोः, संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बिजघनं पादावरालांगुली, छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः।।[10]

सुन्दरता प्रत्येक परिस्थिति में मनोहर हुआ करती है। तभी तो अग्निमित्र को मालविका हर प्रकार से सुन्दर ही सुन्दर प्रतीत हो रही है। और नृत्य करते समय अब मालविका राजा को और अधिक सुन्दर लग रही है-

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे, कृत्वाश्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं, नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्।।[11]

सौंदर्यानुप्राणित अनुराग में उसकी रूप माधुरी प्रिय के लिए संजीवनी का कार्य करती है। अग्निमित्र जब तक अपनी प्रेयसी की रूपमाधुरी को सुस्थिर दृष्टि से पीता रहा तब तक तो स्वयं को धन्य मानता है और

जब वह आंख से ओझल हो जाती है तो राजा का मानो भाग्य ही फूट जाता है साथ ही उसकी शून्यता विनिवृत्त महोत्सव जैसी हो जाती है-

भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोहृदयस्य महोत्सवावसानमिव। द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरकरणम्।।[12]

विरही अग्निमित्र को बसन्त उद्दीपन रूप में नहीं अपितु सहयोगी मित्र के रूप में चित्रित किया गया है जो अग्निमित्र को विरहव्यथा सहन करने में सहयोग करता है-

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां, सानुक्रोशं मनसि जरुजः सह्यतां पृच्छतेव।
अंगे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणा मारुतो मे। अंगे सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्याप्ततो माधवेन।।[13]

आम्र मंजरियों की गन्ध सें सुगन्धित दक्षिण पवन के संघात के बहाने, वसन्त अपने सुखद स्पर्श वाले हाथ से राजा के शरीर को सहला रहा है। मतवाली कोयलों की श्रवण सुभग कूक से वह मानो राजा से पूछ रहा है कहो, बताओ तो, क्या प्रेम की पीड़ा सही जा रही है? इसी प्रकार मालविका के पैरों में महावर की रेखायें राजा को ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानो महादेव के क्रोध से जले हुए कामदेव के वृक्ष में नई-नई कोपलें फूट पड़ी हों-

चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रागलेखाम्।
प्रथमामिव पल्लव प्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभव द्रुमस्य।।[14] **3-11**

प्रेम के उद्दाम वेग से आहत विरही राजा अपनी प्रेयसी के महावररञ्जित चरणों का अपने सिर पर आघात की संभावना को भी अपना सौभाग्य मान रहा है-

नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला, स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।
अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा, प्रणमितशिरसावाकान्तमार्द्रापराधम्।।[15]

प्रस्तुत नाटक में महाकवि की नाट्यकला के भी आदर्शरूप प्राप्त होते हैं। कालिदास नाटक में अभिनय को प्रधानता देने के पक्षपाती हैं। विदुषी कौशिकी कहती है ''प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्'' अर्थात् नाटक में प्रयोग अभिनय प्रधान हुआ करता है। इसी के समर्थक रूप में कालिदास ने पूर्व ही कहा है ''मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः'' तथा गौतम भी यही कहता है कि 'पण्डित परितोषप्रत्यया ननु मूढजातिः' अर्थात् मूर्खजन ही पण्डितों की बातों पर विश्वास करते हैं।

यही नहीं महाकवि ने नाट्य के वर्णन सन्दर्भ में जिस सिद्धान्त पक्ष की प्रतिष्ठा की है तदनुसार मुनियों का कथन है कि नाट्य देवताओं के नेत्रों का प्रसादन करने वाला चाक्षुष यज्ञ है। शिव जी ने उमा से विवाह करके स्वशरीर को द्विधा विभक्त कर दिया जिनमें से ताण्डव और लास्य की सृष्टि हुयी। इसमें सत्वरज और तम तीनों समाहित पाये जाते हैं। इसमें नानारस लोक चरित के माध्यम से प्रदर्शित हुआ करते हैं। अतएव विभिन्न रुचि वाले लोगों के लिए प्रायः नाट्य ही वह उत्सव है जिसमें सब को समान आनन्द मिला करता है-

देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं, रुद्रेणेदमुमा—तव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते, नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।।[16]

परिव्राजिका ने मालविका के श्रेष्ठ अभिनय की भूरिशः प्रशंसा करते हुये कहा कि- इसके अंग अपनी अभिनय दक्षता के कारण मानो भावों को मुखरित कर रहे हैं, पाद विन्यास लय से तादात्म्य स्थायित किये हुए हैं, भाव प्रदर्शन में तन्मयता है, हस्तसंचालन द्वारा किया गया अभिनय मृदु था। अभिनय में परिवर्तनों का ऐसा तारतम्य रहा जिससे कि रस का एक भाव तत्काल ही दूसरे भाव का स्थान लेता जा रहा था किन्तु राग की समाँ ज्यो की त्यों बँधी रही है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाट्यकला एवं अभिनय कला को प्रधानता प्रदान करने वाले महाकवि कालिदास द्वारा विरचित मालविकाग्निमित्रम् नाट्य परंपरा उत्कृष्ट नाटक है। यद्यपि कालिदास के अन्य नाटकों की अपेक्षा प्रकृत नाटक उतना उत्कृष्ट नहीं है परन्तु समस्त नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का प्रयोग उचित ढंग से होने के कारण यह नाट्यकला के आदर्श रूप को उपस्थापित करता है।

सन्दर्भ -

1. हर्षचरित
2. मालविकाग्निमित्रम्, 1-2
3. साहित्यदर्पण
4. वही
5. मालविकाग्निमित्रम्
6. दशरूपक
7. मालविकाग्निमित्रम्, 2-13
8. दशरूपक
9. वहीं 1-6
10. वहीं 2-3
11. वहीं 2-6
12. वहीं 2-11
13. वहीं
14. वहीं 3-11
15. वहीं 3-12
16. वहीं– 1-16 पृष्ठ संख्या-22

33

मालविकाग्निमित्रम् की नाट्यशास्त्रीय समीक्षा

शिवानी कुमारी एवं शांतिलाल सालवी

कवि के लोकोत्तर कर्म को काव्य कहते हैं। लोकोत्तर कर्म ही सहृदयों को आह्लादित करता है जिससे सहृदय सामाजिक कवि और उसके कर्म को दीर्घ काल पर्यन्त स्मरण रखते हैं। संस्कृत नाट्य जगत में महाकवि कालिदास एवं उनकी कृतियाँ आज भी सहृदयों के लिए आनन्द का विषय बने हुए हैं। वस्तुतः महाकवित्व के लाभ के लिए व्यंग्य-व्यंजक शब्दों का प्रयोग अत्यावश्यक है और इस क्षेत्र में महाकवि कालिदास सिद्धस्त हैं। महाकवित्व का लाभ अल्प प्रयास में ही प्राप्त नहीं होता है उसके लिए जन्म-जन्मान्तर के संस्कार भी महत्त्वपूर्ण है। महाकवित्व के प्रयास तो प्रायः सभी कवि करते हैं, लेकिन सभी सकल नहीं होते हैं। जैसा कि आनन्दवर्धन ने कहा है कि- **प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत् तत् प्रसिद्धाऽवयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवानिंासु।।**[1] पुनः वृत्ति भाग में कहा गया है कि- **येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे 'कालिदास' प्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।**[2] संस्कृत नाट्य साहित्य में महाकवि कालिदास के तीन नाटक हमें प्राप्त होते हैं- मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीय एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम्। इन तीनों नाटकों में मालविकाग्निमित्रम् महाकवि की प्रथम रचना है जिसमें नाट्यकला का विकास अन्य नाटकों की अपेक्षा कम है। इसलिए अपनी नूतन नाट्य रचना को लेकर महाकवि ने संकुचित भाव से इस प्रकार कहा है-

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।[3]

मालविकाग्निमित्रम् पाँच अंकों से युक्त ऐतिहासिक नाटक है। इसका नायक अग्निमित्र तथा प्रधान रस शृंगार है। नायक धीरललित ज्ञात होता है। कुछ विद्वान धीरोदात्त नायक मानते हैं; किन्तु उन विद्वानों का मत मुझे मान्य नहीं है, क्योंकि धीरोदात्त नायक के गुण इसमें लेशमात्र भी नहीं है। अग्निमित्र नायक में धीरललित नायक के समस्त गुण विद्यमान हैं। अंग रस में हास्यादि रस निबद्ध है। नायिका मालविका का नाटक के अभिवर्धन में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से मालविकाग्निमित्रम् की समीक्षा- कथावस्तु, नाट्यसन्धि, नायक रस, अभिनेय इत्यादि से की जा सकती है, जिसका संक्षेप में विवेचन इस प्रकार है-

कथावस्तु- नाटक की कथावस्तु प्रख्यात कवि-कल्पित अथवा मिश्रित के भेद से तीन प्रकार की होती है-

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत्त्रिधा। प्रख्यातमितिहासादेरूत्पाद्यं कविकल्पितम्।।[4]

इस दृष्टि से मूल कथावस्तु के सम्बन्ध में विचार करने पर 'मालविकाग्निमित्रम्' की कथावस्तु प्रख्यात ही कहा जा सकता है। यद्यपि इस ग्रन्थ का आधार वृहत्कथा अथवा कथासरितसागर भी है तथापि प्राचीन शुंग वंश से सम्बन्ध होने के कारण यह वृत्त ऐतिहासिक है, अतः प्रख्यात की श्रेणी में है।

अर्थ प्रकृतियाँ- नाटक में प्रयुक्त अर्थ प्रकृतियाँ कथा-वस्तु के प्रयोजन सिद्धि में हेतु होती है। यथा-

अर्थप्रकृतयः = प्रयोजनसिद्धिहेतवः।।[5] अर्थप्रकृतियाँ (कलावस्था) पाँच प्रकार की होती है।

बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः। अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः।।[6]

बीज- स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।[7] जिसका पहले अल्पमात्र में कथन किया जाये, किन्तु उसका विस्तार आगे की कथा में अनेक प्रकार से हो उसे बीज नामक अर्थप्रकृति कहते हैं। यह फल सिद्धि का प्रथम हेतु होता है। नाटक के प्रथम अंक में चित्रगत मालविका को देखकर राजा अग्निमित्र उसके रूपमाधुर्य पर मोहित हो जाता है। राजा द्वारा इस प्रकार मालविका को देख लेना ही कथावस्तु की बीज है। इसी बीज ने अनेक रूपों में पल्लवित होकर कथानक को विकसित किया है।

बिन्दु- अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।[8] अवान्तर कथा के समाप्त हो जाने पर भी जिसके कारण प्रधान कथा निरंतर रूप से चलती रहती है, उस अर्थप्रकृति को बिन्दु कहते हैं। प्रथम अंक में नाट्याचार्यों में विरोध के कारण मूल कथा विच्छिन्न हो जाती है। द्वितीय अंक में मालविका के नृत्य से मूल कथा पुनः प्रारम्भ होती है तथा राजा द्वारा मालविका की प्राप्ति के लिए विदूषक की सहायता लेने से पुनः प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है। यही अंश बिन्दु है।

पताका- सानुबन्धं पताकाख्यं।[9] प्रधान कथा के साथ दूर तक चलने वाली प्रासंगिक कथा को पताका अर्थप्रकृति कहते हैं। चतुर्थ अंक में विदूषक तथा महारानी धारिणी का वार्तालाप पताका की श्रेणी का है। धारिणी से प्राप्त अंगूठी की सहायता से विदूषक मालविका को बन्दीगृह से छुड़ा लेता है। यह प्रासंगिक कथानक मूल कथा के साथ दूर तक चलती है। अतः यह अंश पताका है।

प्रकरी- प्रकरी च प्रदेशभाक।[10] प्रसंगवश उपस्थित तथा एकदेशस्थित चरित को प्रकरी नामक अर्थप्रकृति कहते हैं। पंचम अंक में विदर्भराज माधवसेन का विजय वृत्तान्त तथा वहाँ से आये दूतों के साथ दो बालिकाओं का आगमन जो मालविका को पहचान लेती है, उधर अशोक वृक्ष भी पुष्पित हो जाता है। अतः मालविका के राजकुमारी होने का भेद खुलना, यह छोटा सा वृत्तान्त मुख्य कथा का पूर्णरूप से उपकारक होने से प्रकरी की श्रेणी में आता है।

कार्य- कार्यं त्रिवर्गं तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च।[11] जो प्रधान साध्य है, जिसके लिए सब उपायों का आरम्भ किया जाता है, जिसकी सिद्धि के लिए समस्त समापन किया जाता है, उसे कार्य नामक अर्थप्रकृति कहते हैं। नाटक के अन्त में राजकुमारी मालविका तथा राजा अग्निमित्र विवाह बंधन में बंध जाते हैं। इस प्रकार उनका स्थायी सम्बन्ध नाटक का मुख्य कार्य है।

पञ्चकार्यावस्थाएँ- फल की इच्छा रखने वाले पुरुषों द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं- आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।

आरम्भ- मुख्य फल की प्राप्ति के लिए नायक की इच्छा में उत्सुकतामात्र का पाया जाना ''आरम्भ'' कहलाता है।[12] प्रथम अंक के शुरूआत में विदूषक राजा की आज्ञा का प्रशंसा करता हुआ उन्हीं की बातों को दुहराता है-

चिन्तय तावदुपायम्। यथा मे यदृच्छा दृष्टप्रतिकृतिर्मालविका प्रत्यक्षदर्शना भवतीति।''[13] इन वचनों

द्वारा राजा अग्निमित्र के मालविका को प्राप्त करने की इच्छा, कार्य की आरम्भ अवस्था को व्यक्त करती है।

यत्न- अभीष्ट फल की प्राप्ति न होने पर उसे पाने के लिए अत्यधिक तेजी के साथ जो योजनाबद्ध व्यापार होता है, उसे ''प्रयत्न'' कहते हैं।[14] द्वितीय तथा चतुर्थ अंक में राजा मालविका की प्राप्ति के लिए विदूषक की सहायता से निरन्तर प्रयत्नशील है, यहाँ प्रयत्न नामक कार्यावस्था है।

प्राप्त्याशा- अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण फल प्राप्ति की सम्भावना तथा असम्भावना की संदिग्धावस्था को 'प्राप्त्याशा' कहते हैं।[15] तृतीय अंक में रानी इरावती, मालविका तथा राजा का मिलन देखकर अत्यधिक कुपित होती है तथा यह सूचना महारानी धारिणी को देती है। धारिाी, मालविका को बन्दी बनाकर कारावास में डाल देती है। इससे राजा की लक्ष्य प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होता है, किन्तु चतुर्थ अंक में विदूषक के प्रयत्न से मालविका के मिलन की आशा पुनः प्राप्त होती है। यहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था है।

नियताप्ति- जब विघ्नों के अभाव के कारण फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है, तो 'नियताप्ति' नामक चतुर्थ कार्यावस्था होती है।[16] पंचम अंक में मालविका का भेद खुलना कि वह राजकुमारी है तथा अशोक के पुष्पित होने आदि समाचारों से मालविका प्राप्ति नियत हो जाती है। अतः यहाँ नियताप्ति अवस्था है।

फलागम- समस्त फल की प्राप्ति ही कार्य की फलागम नामक अन्तिम कार्यावस्था है।[17] पंचम अंक के अन्त में नायक एवं नायिका का स्थायी मिलन अर्थात् विवाह बंधन में बंध जाना ही फल की प्राप्ति है। यही फलागम नामक अन्तिम कार्यावस्था है।

पञ्चसन्धियाँ- पाँच अर्थप्रकृतियों और कार्य की पाँच अवस्थाओं के क्रमशः योग होने पर पाँच सन्धियों का निर्माण होता है। **अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः। यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च संधयः।।**[18] **मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहतिः।**[19] ये पाँच सन्धियाँ इस प्रकार है- मुख, प्रतिमुख, गर्भ, सावमर्श और उपसंहति या उपसंहार।

मुख सन्धि-

बीज की उत्पत्ति तथा रस के आश्रयभूत मुख्य इतिवृत्त का सर्वत्र प्रथम दृष्टिगत होने वाला अंश 'मुख सन्धि' कहलाता है।[20] मालविकाग्निमित्रम् के प्रथम अंक से लेकर अग्निमित्र द्वारा विदूषक को अपने इष्ट की प्राप्ति के लिए आज्ञा प्रदान करना, इस प्रसंग तक मुखसन्धि है।

प्रतिमुख सन्धि-

बीज के कुछ-कुछ दिखाई देने तथा कुछ न दिखाई देने पर 'प्रतिमुख सन्धि' होती है।[21] नाटक के प्रथम अंक में गणदास एवं हरदत्त के मध्य शास्त्र तथा प्रयोग ज्ञान में श्रेष्ठ कौन है इस विषय पर कलहवृत्तान्त से लेकर चतुर्थ अंक में विदूषक द्वारा नागमुद्रा वाली अंगूठी प्राप्त करने तक 'प्रतिमुख सन्धि' है।

गर्भ सन्धि-

बीज के दिखने के बाद, फिर नट हो जाने पर जब उसका बार-बार अन्वेषण किया जाता है, तब 'गर्भसन्धि' होती है।[22] चतुर्थ अंक के अन्त में कारावास से मालविका की मुक्ति से लेकर रानी इरावती द्वारा समुद्रगृह में पुनः राजा एवं मालविका के मिलन देखने तक की घटना गर्भ सन्धि है।

अवमर्श सन्धि-

'ऐसा करने से यह होगा' इस प्रकार फल प्राप्ति के निश्चय का अवधारण जहाँ हो, तथा गर्भसन्धि के द्वारा उद्भिन्न बीजार्थ का जहाँ सम्बन्ध पाया जाय वहाँ 'अवमर्श सन्धि' होती है।[23] चतुर्थ अंक के अन्त में

कुमारी वसुलक्ष्मी के बन्दर के डर से अत्यंत भयभीत हो जाने की सूचना से लेकर पञ्चम अंक में मालविका का राजकुमारी के रूप में पूर्ण परिचय प्राप्त करना विमर्श सन्धि है।

निर्वहण सन्धि-

कथावस्तु के बीज से युक्त मुखादि अर्थ जो अब तक इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। जब एक अर्थ के लिये एक साथ समेटे जाते हैं, तो ''निवर्हण सन्धि'' होती है।[24] मालविका एक राजकुमारी है ये भेद खुल जाने से लेकर पंचम अंक के अन्त तक निर्वहण सन्धि है।

नाट्यवैशिष्टय- गहन रूप से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि मालविकाग्निमित्रम् नाटक अन्य नाटकों के समान चमत्कार को उत्पन्न नहीं करता है तथापि प्रतिपाद्य कथावस्तु की दृष्टि से प्रणयगाथा नाट्य वैभव को उत्पन्न करती है। नाट्यशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अग्निमित्र को धीरोदात्त नाटक की श्रेणी में रखा जा सकता है लेकिन गम्भीर रूप से उनके क्रिया-कलापों को देखने से वह धीरललित कोटि का ही प्रतीत होता है। इसका अंगी रस श्रृंगार है। यत्र-तत्र विदूषक का कथन ही इसमें हास्य का समावेश करता है। पाँच अंकों में विभक्त होने के कारण इसे नाटक की श्रेणी में रखा जाता है। इस नाटक में तत्कालीन राजमहलों में लने वाले प्रणय षड़यन्त्र का सुन्दर विवेचन किया गया है। जिसमें नाट्य क्रिया-कलापों के सभी सूत्र विदूषक के हाथ में है। नायक अग्निमित्र निष्क्रिय और निष्प्रभ ज्ञात होता है। मालविका सौन्दर्यवती और संगीत-कला में निपुण है फिर भी परिस्थितियों के कारण वह सम्पूर्ण नाटक में शंका से युक्त बनी हुई है। नायक-नायिका का प्रणय सम्बन्ध विदूषक पर आश्रित है। कालिदास ने कुशलता पूर्वक नाटकीय ढंग से प्रथम अंक में सीमान्त के ग्रहण-विप्लव में माधवसेन की बहन मालविका के खो जाने तथा यज्ञसेन द्वारा उसे खोजने के उद्योग की दी गयी सूचना के अनुसार वस्तुस्थिति की जिज्ञासा की पूर्ति के लिए अंतिम अंक में सारे रहस्योद्घाटन के द्वारा समाधान प्रस्तुत किया है। प्रथम अंक में अग्निमित्र का सांकेतिक नरेन्द्र रूप अन्तिम अंक में स्पष्ट रूप से व्यक्त हो गया, वह एक अधिशासक की भाँति कहता है क जैसे सूर्य एवं चन्द्रमा दिन-रात को आपस में बाँटकर अलग-अलग चमकते हैं वैसे ही यज्ञसेन तथा माधवसेन वरदा नदी के दक्षिण तथा उत्तर तट का अलग-अलग शासन करें। **तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टानुत्तरदक्षिणे। नक्तंदिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव।।**[25] हम देखते हैं कि इस अंक में नाटकीय कौशल के साथ मालविका के कुलशील की विज्ञप्ति, विदर्भ- विजय, अग्निमित्र के सम्राट रूप आदि को सामंजस्यपूर्ण ढंग से उल्लिखित किया गया है। मालविकाग्निमित्रम् नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु का अध्ययन करने के बाद हम यह कह सकते हैं कि इसमें आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथावस्तु स्वाभाविक रूप से परस्पर श्रृंखलाबद्ध हैं। इसकी सभी प्रासंगिक कथाएँ मुख्य कथा से सम्बद्ध है तथा प्रयोजन सिद्धि में सहायक है। इसमें आन्तरिक एवं बाह्य संघर्षों को निपुणता के साथ प्रदर्शित किया गया है।

रस विवेचन- कविराज विश्वनाथ ने नाटक के अंगी एवं अंग रस की विशद् व्याख्या करते हुए अपने ग्रन्थ में लिखा है कि- **एक एव भवेद् अंगी श्रृंगारो वीर वा। अंगमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणऽभुतम्।।**[26] अर्थात् नाटक में श्रृंगार या वीर रस प्रधान तथा अन्य रस अंक के रूप में निबद्ध होने चाहिए। मालविकाग्निमित्रम् में संयोग श्रृंगार रस प्रधान है। कालिदास की कृतियों में मुख्यतः श्रृंगार ही प्रधान होता है। संयोग श्रृंगार[27] के साथ-साथ कालिदास वियोग श्रृंगार का वर्णन करने में भी दक्ष थे। इस नाटक में वियोग का अभाव है उसमें अग्निमित्र का प्रेम विरह की आग में तपकर परिपक्व नहीं हुआ है। मालविकाग्निमित्रम् में श्रृंगार के अतिरिक्त भी कई रसों का परिपाक हुआ है। वीर रस[28], अद्भुत रस[29], रौद्र रस[30], भयानक रस[31], वीभत्स रस[32], हास्य रस[33] आदि रसों का नाटक में अंग के रूप में प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार मालविकाग्निमित्रम् नाटक में महाकवि कालिदास ने अपनी प्रतिभा के बल से नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का सन्निवेश किया है जिससे इस नाटक का सौन्दर्य बढ़ गया है तथा सौन्दर्य प्रेमी सहृदयों के लिए यह आनन्द का विषय बन गया है।

सन्दर्भ -

1. *ध्वन्यालोक, 1/4*
2. *ध्वन्यालोककारिका, 1/6 वृत्ति द्भाग*
3. *मालविकाग्निमित्रम्, 1/2*
4. *दशरूपक, 1/15*
5. *वही, 1/18 वृत्ति भाग*
6. *वही, 1/18*
7. *वही, 1/17*
8. *वही, 1/17*
9. *वही, 1/13*
10. *वही, 1/13*
11. *वही, 1/16*
12. *वही, 1/20*
13. *मालविकाग्निमित्रम्, प्रथम अंक*
14. *दशरूपक, 1/20*
15. *वही, 1/21*
16. *वही, 1/21*
17. *वही, 1/22*
18. *वही, 1/22*
19. *वही, 1/24*
20. *मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानानार्थरससम्भवा। ... द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात्।। वही, 1/24*
21. *लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्। बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्ग्यिस्य त्रयोदश।। वही, 1/30*
22. *गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषां मुहुः। ...ताकास्यान्न वास्यात्प्राप्तिसम्भवः।। वही, 1/36*
23. *क्रोधेनावमशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्। गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः, सोऽवमर्श इति स्मृतः।। वही, 1/43*
24. *बीजवन्तो मुखाद्यार्था विप्रकीर्णा यथायथम्। ऐकार्थ्यमुपनीयत्ने यत्र निर्वहण हि तत्।। वही, 1/48*
25. *मालविकाग्निमित्रम्, 5/13*
26. *साहित्यदर्पण, 6/10*
27. *मालविकाग्निमित्रम्, 4/15*
28. *वही, 5/1-2*
29. *वही, 1/6*
30. *वही, 3/20, 21, 22*
31. *वही, 5/10*
32. *वही, 4/4*
33. *वही, 2*

34

विक्रमोर्वशीयम् की नाट्य समीक्षा

राघवेन्द्र शर्मा

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य रूपी आकाश के सूर्य है जिनके प्रकाश से संपूर्ण संस्कृत साहित्य प्रकाशित हो रहा है इनकी रचनाओं को आधार बनाकर परवर्ती नाट्य शास्त्रियों ने अपने लक्षण ग्रन्थों को सार्थक किया है। उनके रूपक संस्कृत नाट्यशास्त्र के लिए लक्षण और लक्ष्य ग्रंथों के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। महाकवि कालिदास की तीन प्रसिद्ध नाट्य रचनाएं है। विक्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्रम् अभिज्ञानशाकुन्तलम्। महाकवि कालिदास का विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक सहृदय समाज के लिए अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराने का साधन है। जिसकी नाट्य समीक्षा यहां प्रस्तुत की जा रही है।

त्रोटक - आचार्य विश्वनाथ के अनुसार किसी भी रूपक के प्रारम्भ में सर्वप्रथम पूर्वरंग, सभापूजा, कवि और रूपक की संज्ञा और आमुख होना चाहिए।[1] महाकवि कालिदास द्वारा रचित विक्रमोर्वशीयम् में सूत्रधार के इस कथन से यह क्रम स्पष्ट प्रतीत होता है-

सूत्रधारः मारिष! परिषदेषा पूर्वेषाम् कवीनां दृष्ट रसप्रबन्धाः अहमस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन विक्रमोर्वशीयनामधेयेन त्रोटकेनोपस्थास्ये।[2] महाकवि कालिदास के द्वारा रचित विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक है। त्रोटक एक उपरूपक होता है। जहाँ 5, 7, 8 अथवा 9 अंक हो, दिव्य और मनुष्य श्रेणी के पात्र हो, प्रत्येक अंक में विदूषक हो, श्रृंगाररस प्रधान हो,एवं शेष सब नाटक के समान हो उसे त्रोटक कहते हैं। यथा-

सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम्।
त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यंकं सविदूषकम्।।
प्रत्यङ्कं सविदूषकत्वात् अत्र श‍ृङ्गारौङ्गी। पञ्चाङ्कं यथा विक्रमोर्वशीयम्।[3]

कुछ आचार्यो के मतानुसार विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक नहीं है। इसके पीछे उनका तर्क है कि इसके प्रथम और चतुर्थ अंक में विदूषक का अभाव है एवं विक्रमोर्वशीयम् की कुछ पाण्डुलिपियों, मूल ग्रन्थों में त्रोटक के स्थान पर नाटक शब्द का प्रयोग मिलता है। सनातन कवि रेवाप्रसाद द्विवेदी ने कालिदास ग्रंथावली के अंतर्गत विक्रमोर्वशीयम् के सूत्रधार के उक्त कथन के निमित्त पाद टिप्पणी में साहित्य अकादमी से प्रकाशित विक्रमोर्वशीयम् संस्करण 1961 का उल्लेख किया है जहाँ त्रोटक के स्थान पर नाटक शब्द लिखित है।[4] किन्तु यह मत सर्व विद्वज्जन ग्राह्य नहीं है। प्रायः सभी विद्वानों ने विक्रमोर्वशीयम् को त्रोटक के रूप में ही स्वीकार किया है।

नान्दी योजना - अनेक नाट्यशास्त्रियों ने विक्रमोर्वशीयम् के नान्दी की समालोचना अपने नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ में की है। नाट्यशास्त्रियों के मतानुसार रंगस्थल के विघ्नों की शान्ति के लिए नान्दीपाठ अवश्य करना चाहिए। नान्दी में देवता, द्विज तथा राजादि की आशीर्वाद युक्त स्तुति की जाती है, इससे सहृदय समाज आनन्दित होता है। अतः इसे नान्दी कहते हैं। यथा-

यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके। तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये।।
देवद्विजनृपादीनामाशीर्वचनपूर्विका। नन्दन्ति देवता यस्मात्तस्मान्नान्दी प्रकीर्तिता।।[5]

यह द्वादश पदा अथवा अष्टपदा होती है यहाँ पद शब्द से सुबन्त और तिङन्त का भी ग्रहण होता है एवं श्लोक के चतुर्थांश पाद का भी ग्रहण होता है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का मत है कि कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् में रंगद्वार का प्रयोग किया है, नान्दी का नहीं। यहाँ उक्त नान्दी लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है क्योंकि यह द्वादश पदा और अष्टपदा नहीं है। आचार्य का मानना है कि कवि को नाटक की रचनारंगद्वार से करनी चाहिए। यही कारण है कि प्राचीन पुस्तकों में 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' के उपरांत ही

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी, यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यनिषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्रादिभिर्मृग्यते, सः स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायाऽस्तु वः।।[6]

यह पद्य सम्प्राप्त होता है। जहाँ उक्त पद्य के उपरांत ही 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' लिखा होता है वहाँ 'नान्दी के अंत में सूत्रधार ने यह पद्य कहा है' यह अर्थ आता है।[7]

आचार्य दशरूपककार के अनुसार वस्तु, पात्र, और रस रूपक के प्रमुख विभेदक तत्त्व होते हैं।[8] जिन पर सम्पूर्ण नाट्य आश्रित होता है।

वस्तुविन्यास - विक्रमोर्वशीयम् में पुरुरवा और उर्वशी की प्रेमकथा सम प्राप्त होती है। जो मूलतः ऋग्वेद के 10 मण्डल के 95 सूक्त में उल्लिखित है। इसके अतिरिक्त यह कथा महाभारत के आदि पर्व अध्याय 69, पद्मपुराण सृष्टिखंड 12/51-87, मत्स्यपुराण अध्याय 11, 12, 24, 115 से 120, कथासरित् सागर 17/4/30 आदि में विस्तार से सम प्राप्त होती है। महाकवि ने ख्यात इतिवृत्त को नाट्योपयोगी, सहृदयहृदयाह्लादक, सर्वांगसुंदर, काव्यप्रतिभा प्रदर्शक बनाने के लिए मूल कथा में अनेक परिवर्तन किए हैं जो महाकवि की काव्यप्रौढ़ि के परिचायक सिद्ध होते हैं। जैसे - उर्वशी का अपहरण, पुरुरवा के द्वारा केशी नामक दैत्य का वध, पुरुरवा की पटरानी औशीनरी की कल्पना, संगमनीयमणि का प्रयोग, कुमार आयु को सत्यवती को सौपना, गृद्ध के द्वारा संगमनीयमणिका हरण, कुमार आयु के द्वारा गृद्ध वध, आयु के मुख दर्शन से प्राप्त भावी वियोग नाशक इंद्र का संदेश लेकर नारद का आगमन, आदि अनेक परिवर्तन विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक को कमिनीय, सहृदय हृदयावर्जक, एवं नाट्योपयोगी बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

कथावस्तु विन्यास ही वह तत्त्व है जिस पर पात्र विन्यास, और रसपरिपाक आश्रित होते हैं। दशरूपककार आचार्य धनञ्जय की दृष्टि में कथानक तीन प्रकार का होता है प्रख्यात उत्पाद्य और मिश्र। यथा-
प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा।[9]

विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक का कथानक प्रख्यात श्रेणी का है। फलाधिकार की दृष्टि से नाट्यशास्त्रियों ने कथावस्तु को दो भागों में विभक्त किया है आधिकारिक और प्रासंगिक। मुख्य कथावस्तु को आधिकारिक और अंग कथावस्तु को प्रासंगिक कहते हैं।[10] विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक में पुरुरवा और उर्वशी की प्रेमकथा आधिकारिक इतिवृत्त है। चतुर्थ अंक में उर्वशी के लता रूप में परिणत होने की कथा प्रासंगिक इतिवृत्त है।

रूपककार किसी भी रूपक की कथा को मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त करता है सूच्य, श्रव्य और दृश्य। अभिनय की दृष्टि से नाटकों में जो कथांश शुष्क, नीरस अनभिनेय रस अभिव्यंजना में बाधक होता है अथवा अश्लील होता है फिर भी नाटक के लिए अपेक्षित होता है उसकी सूचना मात्र दी जाती है जिसे सूच्य कहते हैं। नाट्यशास्त्रकार के मत में युद्ध, राजविप्लव, मरण, नगरावरोध आदि का प्रत्यक्ष प्रदर्शन नहीं करना चाहिए अपितु उसकी केवल सूचना ही देनी चाहिए।[11] यह सूच्य वस्तु के अर्थ का उपक्षेप कर लेता है अतः इसे अर्थोपक्षेपक कहते हैं। अर्थोपक्षेपक मुख्यतया पाँच प्रकार का होता है। यथा –

अर्थोपक्षेपकैः सूच्यंः पञ्चभिः प्रतिपादयेत्। विष्कम्भकचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः।।[12]

विष्कम्भक- आचार्य धनञ्जय के अनुसार जो अर्थोपक्षेपक बीते हुए और आने वाले कथाभाग का सूचक, संक्षिप्त अर्थवाला तथा मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त होता है वह विष्कम्भक कहलाता है। दो मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक शुद्ध एवं मध्यम और अधम पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक मिश्र कहलाता है।[13]

विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक के तृतीय अंक के प्रारंभ में भरत मुनि के दो शिष्य गालव और पेलव जो मध्य और अधम श्रेणी के पात्रों द्वारा उर्वशी को मिले शाप और उसके पृथ्वी पर आगमन की सूचना मिश्र विष्कम्भक से मिलती है।

प्रवेशक - प्रवेशक विष्कम्भक के जैसा ही होता है। यह अधम श्रेणी के पात्रों के द्वारा यह प्रयुक्त होता है, इसकी भाषा प्राकृत आदि होती है, यह दो अंकों के मध्य में आता है।[14] विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीयांक और चतुर्थांक के प्रारंभ में इसका प्रयोग दृष्टव्य है।

चूलिका - जवनिका (पर्दे) के पीछे स्थित पत्रों के द्वारा की हुई वस्तु की सूचना को चूलिका कहते हैं।[15] द्वितीयांक के प्रारंभ में नेपथ्य में स्थित वैतालिक द्वारा महाराज पुरुरवा के आगमन की सूचना चूलिका का उत्कृष्ट उदाहरण है।[16]

अंकावतार - जहाँ अंक का अंत हो जाने पर अग्रिम अंक का अविच्छन्न रूप से अवतरण होता है वहाँ अंकावतार अर्थोपक्षेपक होता है।[17] प्रथम अंक के अन्त में राजा पुरुरवा के उक्त कथन से अग्रिम अंक की सूचना प्राप्त होती है।

राजा - (उर्वशीवर्त्मोन्मुखः) अहो ! दुर्लभाभिलाषी मदनः।

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुरङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी।।[18]

सूचना वृत्तांश के अतिरिक्त जो कथावस्तु है उसका दृश्यांश संवाद की दृष्टि से ही तीन प्रकार का होता है। जिसे सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य कहते हैं। जो सभी के सुनने योग्य वस्तु है उसे 'प्रकाश' और जो किसी के भी ना सुनने योग्य है उसे 'स्वगत' या 'आत्मगत' कहते हैं।[19] त्रोटक के प्रथमांक में उर्वशी राजा को देखकर 'आत्मगत'और 'प्रकाश' के रूप में कथन करती है। यथा -

उर्वशी - (आत्मगतम्) अमृतं खलु ते वचनम् अथवा चन्द्रादमृतमिति किमाश्चर्यम् (प्रकाशम्) अतएव मे प्रेक्षितुं त्वरते हृदयम्।[20]

अर्थप्रकृति- फलसिद्धि की दृष्टि से नाटकीय इतिवृत्त को पांच भागों में विभक्त किया गया है बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य जिसे अर्थ प्रकृति कहते हैं।[21]

बीज- फल का निमित्त बीज होता है जिसका आरंभ में सूक्ष्म रूप से संकेत किया जाता है और आगे चलकर

उसका अनेक प्रकार से विस्तार हो जाता है।[22] विक्रमोर्वशीयम् के प्रथम अंक में उर्वशी और पुरुरवा की उक्ति-
उर्वशी – (राजानमवलोक्य) उवकिदं क्खु दाणवेन्द्र संरम्भेण।
राजा – (उर्वशीमवलोक्यात्मगतम्) स्थाने खलु नारायणमृषिम विलोभयन्त्यस्तदूरुसम्भवामिमां विलोक्य व्रीडिताः सर्वाः अप्सरस इति। अथ नेयं तपस्विनः सृष्टिरित्यवैमि। कुतः–

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूचन्द्रो नु कान्तिप्रदः, शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतुहलो, निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।।[23]

यह संवाद विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक का बीज माना जाता है। यहाँ नायक और नायिका का एक दूसरे के प्रति जागृत अभिलाषा रूपविक्रमोर्वशीयम् का बीज है।

बिन्दु- जहाँ अवान्तर कथा के विच्छिन्न हो जाने पर कथानक को जोड़ने और आगे बढाने में जो कारण है वह बिन्दु कहलाता है। विक्रमोर्वशीयम् के वृतांत में उर्वशी के स्वर्ग चले जाने के उपरान्त राजा का उक्त कथन मुख्य कथावस्तु को जोड़ने का कार्य करता है-

आदर्शनात् प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम्। बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गवन्ध्य पातेन।।[24]

पताका - कुछ दूर तक साथ चलने वाले कथानक को पताका कहते हैं। आचार्य सुरेंद्वनाथ शास्त्री ने विक्रमोर्वशीयम् की कल्पलता व्याख्या में काशिराज की पुत्री औशीनरीपट्टमहिषी का वृतांत पताक माना है। इयं पताका प्रासंगिक वृत्तस्याख्या समाप्तिव्याप्तत्वात्।[25]

कार्य- भरतमुनि के अनुसार जिस साध्य की प्राप्ति के लिए आधिकारिक कथावस्तु का प्रयोग किया जाता है उसकी पूर्ति को कार्य कहते हैं।[26] विक्रमोर्वशीयम् में पुरुरवा, उर्वशी और उनके पुत्र आयु का समागम ही कार्य है। जिसकी सूचना नारद के उक्त कथन से मिलती है-

नारदः - अविरहितौ दम्पती भूयास्ताम्।[27]

कार्यावस्था- फल की इच्छा वाले व्यक्ति के द्वारा आरम्भ किए गए कार्य की पाँच अवस्थाएं होती हैं। आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागम।[28]

आरम्भ - प्रचुर फल की प्राप्ति के लिए उत्सुकता मात्र होना ही आरम्भ नामक कार्यावस्था कहलाती है।[29] विक्रमोर्वशीयम् के प्रथमांक में राजा पुरुरवा की उर्वशी के प्रति उत्सुकता एवं उर्वशी की पुरुरवा के प्रति उत्सुकता दृष्टिगोचर होती है। यथा-

उर्वशी - (आत्मगतम्) अमृतं खलु ते वचनम् अथवा चन्द्रादमृतमिति किमाश्चर्यम् (प्रकाशम्) अतएव मे प्रेक्षितुं त्वरते हृदयम्।

राजा - एताः सुतनु मुखं ते सखयः पश्यन्ति हेमकूटगताः।
उत्सुकनयना लोकाश्चन्द्रमिवोपप्लवान्मुक्तः।।[30]

यह आरम्भ नमक कार्यावस्था की प्रतीति विक्रमोर्वशीयम् में प्राप्त होती है।

प्रयत्न - अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नही होने पर उसे प्राप्त करने के लिए अत्यधिक तेजी से योजनाबद्ध तरीके से चेष्टा करना प्रयत्न कहलाता है।[31] द्वितीयांक में राजा विदूषक से उर्वशी की प्राप्ति के लिए यत्न करने के लिए निर्देशित करता है तभी उसे शुभ शकुन प्रतीत होने लगते हैं जो प्रयत्न नामक कार्यावस्था है। यथा-

राजा - असुलभा सकलोन्दुमुथी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम्।
अभिमुखीष्विव वाञ्छितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदो मनः।।[32]

प्राप्त्याशा - इस अवस्था में फल प्राप्ति की सम्भावना उपाय और विघ्न शंका के मध्य दोलायमान होती रहती है।[33] विक्रमोर्वशीयम् के तृतीय अंक में रानी औशीनरी द्वारा किए गए विघ्नों से निरस्त हो जाने पर उर्वशी के मिलन की अभिलाषा ही प्राप्त्याशा नामक कार्य अवस्था है।

नियताप्ति - जहाँ विघ्नों के अभाव के कारण फलसिद्धि सुनिश्चित हो जाती है वहां नियताप्ति नामक कार्यावस्था होती है।[34] विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थांक में गौरीचरणराग संभव संगमनमणि की प्राप्ति से मिलन की संभावना निश्चित हो जाती है यहाँ नियताप्ति कार्य अवस्था का कवि ने सुंदर विन्यास किया है।

फलागम- समस्त फल की प्राप्ति ही कार्य की फलागम नामक कार्यावस्था है।[35] विक्रमोर्वशीयम् के पंचम अंक में पुरुरवा, उर्वशी और उनके पुत्र आयु का सुखपूर्वक मिलन ही फलागम नामक कार्यावस्था है। जो नारद की इस उक्ति से चरितार्थ होती है-

नारदः- .... इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति।[36]

इस प्रकार महाकवि कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीयम् में पाँच कार्यावस्थाओं का समुचित विन्यास करके उसकी कथावस्तु को उत्तम स्वरूप प्रदान किया है।

पञ्चसन्धि- अर्थप्रकृति और कार्यावस्था के योग से नाटकीय कथानक का पुनः समविभाग किया जाता है जिसे संधि कहते हैं। यह पाँच होती हैं। मुखसन्धि, प्रतिमुखसन्धि, गर्भसन्धि, अविमर्शसन्धि और निर्वहण सन्धि। यथा– **अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्वितः। यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसन्धयः।।**[37]

मुखसन्धि - अर्थप्रकृति और आरम्भ कार्यावस्था के योग से मुखसन्धि होती है। इसमें नाटकीय कथानक के बीज की सूचना दी जाती है। आरम्भ अवस्था के साथ होने के कारण यह प्रधान कथानक मुख की तरह परिलक्षित होता है। अतः इसे मुखसन्धि कहते हैं।[38] विक्रमोर्वशीयम् के प्रथम अंक से द्वितीय के प्रवेशक तक मुखसन्धि का परिक्षेत्र है।

प्रतिमुखसन्धि- जहाँ उस बीज का कुछ लक्ष्य रूप से तो कुछ अलक्ष्यरूप से उद्भेद होता है वहाँ प्रतिमुखसन्धि होती है। बिन्दु अर्थप्रकृति और यत्न कार्यावस्था के योग से इसका विन्यास होता है।[39] विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीयांक में पुरुरवा के उक्त कथन से प्रतिमुखसन्धि का प्रारम्भ होता है-

पुरुरवा - आदर्शनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम्। बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गवन्ध्य पातेन।।[40]

तृतीयांक में विदूषक के उक्त कथन पर यह समाप्त होती है

विदूषकः – भो! न दृश्यत एषा। किंतु तस्यास्तादृशमनुरागं प्रेक्ष्य शक्यं खल्वाशाबन्धनेनात्मानं धारयितुम्।[41]

गर्भसन्धि- मुख और प्रतीमुख सन्धि से उत्पन्न एवं उद्घाटित बीज का उद्भेद गर्भ सन्धि में होता है। फलप्राप्ति की संभावना होने से यह प्राप्त्याशा अवस्था से अनुप्राणित होती है एवं इसमें फल गर्भित होने के कारण यह गर्भ सन्धि के नाम से विख्यात है।[42] विक्रमोर्वशीयम् के तृतीय अंक में पुरुरवा के कथन ''एवमेतत् बलवान् पुनर्मम मनसोऽभितापा।''[43] से प्रारंभ होकर इसी अंक के देवी के कथन ''आर्यपुत्र ! न लंघितपूर्वः साम्प्रतं नियमः।''[44] पर समाप्ति होती है। डॉ. श्याम शरण पांडे ने अपने ग्रंथ कालिदास का नाट्यकल्प में विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक में पताका नामक अर्थप्रकृति का अभाव स्वीकार किया है।[45]

अवमर्शसन्धि- जहाँ क्रोध से,व्यसन से अथवा प्रलोभन से फल प्राप्ति के विषय में विमर्श किया जाता है तथा जिसमें गर्भ संधि द्वारा निर्मित बीज का संबंध दिखलाया जाता है उसे अवमर्श या विमर्श सन्धि कहते हैं।[46] विक्रमोर्वशीयम् के तृतीयांक में गर्भसन्धि के बाद उर्वशी के प्रवेश से प्रारम्भ होकर चतुर्थांक के अंत तक विमर्शसन्धि है। यहाँ उर्वशी के लतारूप में परिणत होने से नीयताप्ति में बाधा दृष्टिगोचर होती है।

निर्वहणसन्धि - जहाँ बीज से संबंध रखने वाले मुखसन्धि आदि में अपने-अपने स्थान पर बिखरे हुए प्रारंभ आदि अर्थ का एक मुख्य प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है उसे निर्वहणसन्धि कहते हैं।[47] विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक के पञ्चमांक के आरम्भ से अन्त तक निर्वहणसन्धि का विन्यास महाकवि कालिदास ने किया है। इस प्रकार महाकवि कालिदास ने पुरुरवा उर्वशी के कथानक को अपनी नाट्यप्रौढ़ि के द्वारा पाँच सन्धियों में विभक्त किया है। जिसके कारण यह सकलसहृदय समाज को आनन्द प्रदान करने वाला सिद्ध होता है।

पात्रविन्यास - विक्रमोर्वशीयम् एक त्रोटक है। जिसमें दिव्य और मनुष्य श्रेणी के पात्रों का निबन्धन किया गया है। महाकवि कालिदास ने त्रोटक के अनुरूप ही दिव्य श्रेणी की स्वर्ग अप्सरा उर्वशी आदि की सृष्टि एवं मनुष्य श्रेणी के अंतर्गत चंद्रवंशी पुरुरवा आदि की सृष्टि की है। पुरुष वर्ग के पात्रों में नायक चंद्रवंशी राजा पुरुरवा, विदूषक माणवक, सूत सारथी, भरत मुनि के शिष्य गालव और पेलव, कञ्चुकी लातव्य, वेधक किरात, आयु पुरुरवा कुमार आदि पुरुष पात्रों का विन्यास विक्रमोर्वशीयम् में देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तावना में सूत्रधार एवं पारिपार्श्वक का सुंदर संवाद भी दृष्टिगोचर होता है। स्त्री पात्रों के अन्तर्गत दिव्य श्रेणी की नायिका उर्वशी एवं उनकी सखियाँ रम्भा, सहजन्या, मेनका, चित्रलेखा आदि अप्सरा, औशीनरी काशीराज दुहिता महारानी, निपुण्णिका महारानी की दासी, चेटी आदि स्त्री पात्र इस त्रोटक में प्रासंगिक सिद्ध होते हैं। उक्त पत्रों की कल्पना महाकवि कालिदास ने रसानुकूल प्रसंगों के अनुसार ही की है। जो विक्रमोर्वशीयम् को सहृदय संवेद्य बना रहे हैं।

नायक पुरुरवा - यह एक धीरोदात्त श्रेणी का नायक है। धीरोदात्त नायक उत्कृष्ट अंतःकरण वाला, अत्यंत गंभीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघान करने वाला, स्थिर,अहम्भाव को दबाकर रखने वाला एवं द्रढ़बुद्धि होता है।[48] धीरोदात्त नायक के सभी गुण चन्द्रवंशी, विक्रम उपाधि से विभूषित, राजर्षि, पुरुरवा के चरित्र में विद्यमान हैं। साहित्य दर्पणकार नायक की शृंगार रस सम्बन्धी अनेक अवस्थाओं का उल्लेख करता है राजा पुरुरवा की शठशृंगार अवस्था हमें यहाँ देखने को मिलती है। साहित्यदर्पणकार के मत में जो नायक अनुरक्त तो किसी अन्य नायिका में होता है, परंतु प्रकृत नायिका में भी बाहरी अनुराग दिखलाता है और प्रच्छन्नरूप से उसके साथ अप्रिय करता है, वह शठ कहलाता है।[49] पुरुरवाउर्वशी को देखकर उसे प्रेम करने लगता है एवं महारानी औशीनरी का भी वह कृपा पात्र बना रहना चाहता है। जो राजा की शठ अवस्था का वर्णन करता है। जो राजा के उक्त कथन से स्पष्ट होता है-

राजा – उपपन्नं भवानाह। तथा हि –

अवधूतप्रणिपाताः पश्चात्सन्तप्यमानमनसोऽपि। निभृतैर्व्यपत्रपन्ते दयितानुशयैर्मनस्विन्यः।।[50]

नायिका उर्वशी- यह दिव्य श्रेणी की नायिका स्वर्ग की अप्सरा है। जो साधारण स्त्री के भेद में अंतरभूत होती है। यह धीरा नायिका है जो 64 कलाओं में प्रगल्भ है। धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका।[51]

कवि ने विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी की अभिसारिका अवस्था का वर्णन किया है। जो काम से पीड़ित होकर नायक के पास स्वयं चली जाती है।[52] विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीयांक में उर्वशी की इस सूक्ति से उसकी अभिसारिका अवस्था स्पष्ट परिलक्षित होती है-

उर्वशी - (मदनवेदनाभिनीय सलज्जम्) सखी! हेमकूटशिखरे लताविटपान्तरे लग्ना वैजयन्तिका मया भाणिता उपहस्यमां भणसि दृढं खलु लग्ना नशक्या मोचयितुम्। इदानीं पृच्छसि कुत्रानिर्दिष्टकारणं गम्यत इति।[53]

प्रतिनायिका औशीनरी - काशिराज दुहिता औशीनरी राजमहिषी है वह एक स्वीया नायिका है। जिसके समस्त

गुण उसके चरित्र में परिलक्षित होते हैं। विनम्रता, सरलता आदि गुणों से युक्त घर के कार्यों में तत्पर रहने वाली पतिव्रता स्त्री स्वीया नायिका होती है।[54] औशीनरी में स्वीया नायिका के सभी गुण विद्यमान हैं, वह मध्या धीरा की श्रेणी में आती है, वह क्रोध करने पर प्रियतम को सपरिहास वक्रतापूर्ण उक्ति के द्वारा राजा को प्रताड़ित करती है।[55] महाकवि ने औशीनरी की कलहान्तरिता अवस्था का भी वर्णन द्वितीयांक में किया है। जहाँ वह द्वितांक में क्रोध से अपराध युक्त उर्वशी को चाहने वाले पुरुरवा राजा को तिरस्कृत करके तृतीयांक में व्रत के द्वारा पूर्व को प्रसन्न करने का पश्चाताप करती है।

रसाभिव्यंजना- रस काव्य का आत्म स्थानीय तत्त्व होता है। जिसका परिपाक किसी भी कवि का प्रमुख धर्म होता है। त्रोटक शृंगार रस प्रधान होता है, जिसका स्थाई भाव रति है, यह शृंगार रस आद्योपान्त संपूर्ण विक्रमोर्वशीयम् रूपक में अभिव्यंजित होता है। इसकी संभोग शृंगार के रूप में व्यंजना द्वितीय और तृतीय में परिलक्षित होती है एवं विप्रलम्भशृंगार की व्यंजना चतुर्थांक में परिलक्षित होती है। कवि ने विशेष रूप से विप्रलम्भशृंगार को उद्देश्य करके ही चतुर्थ अंक की परिकल्पना की है। इसमें वह राजा पुरुरवा के उर्वशी विषयक वियोग को आधार मानकर ही कालिदास ने चतुर्थांक में अनेक गाथाओं की परिकल्पना की है जो उनके विप्रलम्भ विषयक शृंगार को उद्घाटित करती है। शृंगार रस के आलंबन विभाव के रूप में पुरुरवा और उर्वशी का ग्रहण होता है। उद्दीपन विभाव के रूप में उपवन, गंधमादनवन, कुमारवन आदि का ग्रहण किया गया है। अनुभाव के रूप में भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि का ग्रहण होता है। व्यभिचारिभाव के अंतर्गत यहाँ आवेग, दैन्य, जड़ता, मोह, आलस्य, हर्ष, असूया, विषाद, उत्सुकता, उन्माद, शंका आदि परिलक्षित होते हैं। इस प्रकार उर्वशी विषयक आलम्बन विभाव गंधमादन, कुमारवन विषयक उद्दीपन विभाव,भ्रू विक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभाव, मोह, विषाद आदि व्यभिचारी भाव के द्वारा सहृदय के हृदय में स्थित रति नामक स्थायीभाव स्पष्ट होकर शृंगार रस के रूप में अभिव्यक्त होता है जो कवि का मुख्य एवं प्रधान रस है। विक्रमोर्वशीयम् में महाकवि कालिदास ने हास्य रस, अद्भुत रस आदि अंग रसों का भी विन्यास किया है।

महाकवि कालिदास की यह कृति विक्रमोर्वशीयम् सहृदयों के हृदय को अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराने वाला है। इसके नाट्य तत्त्वों का प्रभाव न केवल परवर्ती नाट्यशास्त्रियों पर अपितु कवियों और साहृदय समाज पर भी विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। जिससे प्रभावित होकर प्राय अनेक परवर्ती कवियों ने उनकी भूरिशः प्रशंसा की है।

सन्दर्भ -

1. *साहित्यदर्पण 6/21, पृष्ठ 172*
2. *विक्रमोर्वशीयम् 1/1-2, पृष्ठ 437*
3. *साहित्यदर्पण 6/273, पृष्ठ 221*
4. *कालिदास ग्रंथावली, विक्रमोर्वशीयम्, पृष्ठ संख्या 437,पाद टिप्पणी 5*
5. *अलंकारसङग्रह 9/10-12, पृष्ठ 106-107*
6. *विक्रमोर्वशीयम् 1/1, पृष्ठ 01*
7. *साहित्यदर्पण 6/25 वृत्ति, पृष्ठ 173-174*
8. *दशरूपक 1/11, पृष्ठ 12*
9. *दशरूपक 1/15, पृष्ठ 16*
10. *दशरूपक 1/11, पृष्ठ 12*
11. *नाट्यशास्त्र 18/21, पृष्ठ 288*
12. *दशरूपक 1/58, पृष्ठ 97*
13. *दशरूपक 1/59, पृष्ठ 97*

14. दशरूपक 1/60, पृष्ठ 98
15. साहित्यदर्पण 6/58, पृष्ठ 181
16. विक्रमोर्वर्शीयम् 2/1, पृष्ठ 44
17. दशरूपक 1/62, पृष्ठ 101
18. विक्रमोर्वर्शीयम् 1/20, पृष्ठ 37
19. दशरूपक 1/64, पृष्ठ 103
20. विक्रमोर्वर्शीयम् 1/11-12, पृष्ठ 25
21. दशरूपक 1/18, पृष्ठ 20
22. साहित्यदर्पण 6/65-66, पृष्ठ 182
23. विक्रमोर्वर्शीयम् 1/10, पृष्ठ 20
24. विक्रमोर्वर्शीयम् 2/2, पृष्ठ 47
25. विक्रमोर्वर्शीयम् कल्पलता व्याख्या द्वितीयांक, पृष्ठ 39
26. नाट्यशास्त्र 19/27, पृष्ठ 311
27. विक्रमोर्वर्शीयम् 5/19-20, पृष्ठ 252
28. दशरूपक 1/19, पृष्ठ 21
29. साहित्यदर्पण 6/71, पृष्ठ 183
30. विक्रमोर्वर्शीयम् 1/12, पृष्ठ 25
31. साहित्यदर्पण 6/71, पृष्ठ 183
32. विक्रमोर्वर्शीयम् 2/9, पृष्ठ 59
33. दशरूपक 1/21, पृष्ठ 22
34. वहीं
35. साहित्यदर्पण 6/73, पृष्ठ 184
36. विक्रमोर्वर्शीयम् 5/19-20, पृष्ठ 254
37. दशरूपक 1/22, पृष्ठ 24
38. साहित्यदर्पण 6/76, पृष्ठ 184
39. दशरूपक 1/30, पृष्ठ 38
40. विक्रमोर्वर्शीयम् 2/2, पृष्ठ 47
41. विक्रमोर्वर्शीयम् 3/7-8, पृष्ठ 114
42. साहित्यदर्पण 6/77, पृष्ठ 184
43. विक्रमोर्वर्शीयम् 3/7-8, पृष्ठ 114
44. विक्रमोर्वर्शीयम् 3/14-15, पृष्ठ 135
45. कालिदास का नाट्यकल्प पृष्ठ 309
46. दशरूपक 1/43, पृष्ठ 63
47. दशरूपक 1/48, पृष्ठ 81
48. दशरूपक 2/4-5, पृष्ठ 116 उक्त
49. साहित्यदर्पण 3/37, पृष्ठ 67
50. विक्रमोर्वर्शीयम् 3/5, पृष्ठ 109
51. साहित्यदर्पण 3/67, पृष्ठ 78
52. दशरूपक 2/27, पृष्ठ 156
53. विक्रमोर्वर्शीयम् 2/9-10, पृष्ठ 60
54. साहित्यदर्पण 3/57, पृष्ठ 72
55. साहित्यदर्पण 3/61, पृष्ठ 75

35

अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नाट्यशास्त्रीय समीक्षा

हेमन्त शर्मा

महाकवि भवभूति विरचित उत्तररामतरितम् की यह पंक्ति लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हसि[1] युग प्रवर्तक महाकवि कालिदास के ऊपर अक्षरशः चरितार्थ होती है। उनका केवल चरित ही नहीं अपितु प्रतिभा भी लोकोत्तर रही। इनकी इस लोकोत्तर प्रतिभा की प्रशंसा भारतवर्ष के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व में होती रही है। उनकी इसी लोकोत्तर काव्यचातुरी की चमत्कृति से आप्लावित होकर जर्मन कवि गेटे स्वतः ही स्वोद्‌गार अभिव्यक्त करते हुये कहता है कि यदि कोई स्वर्ग का ऐश्वर्य धरा पर चाहता है तो वह अभिज्ञानशाकुन्तलम् का सेवन करे- **वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्व च यत् यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।**[1] एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-**रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखि शाकुन्तलम् सेव्यताम्।।**[2] महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञान शाकुन्तलम् की वैश्विक स्वीकृति उसकी महत्ता एवं प्रसिद्धि को स्वतः ही प्रमाणित करती है। पाश्चात्य जगत् के साथ-साथ भारतीय मेधा ने भी नाट्यजगत् में अभिज्ञानशाकुन्तलम् को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। इस सम्बन्ध में निम्न श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध ही है- **काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला। तत्रपि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्रश्लोक चतुष्टयम्।।**[3] भारतीय विद्वानों के अनुसार शब्दार्थ का मञ्जुल साहित्य काव्य प्रमुख रूप सेदो प्रकार का होता है। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में दृश्य-श्रव्य भेद से काव्य के इन्हीं दो भेदों का प्रमुखता से उल्लेख किया है। **दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।**[4] दृश्यकाव्यों में अभिनय की प्रधानता होने से यह अभिनेय होता है। श्रव्य काव्यों में श्रवणप्राधान्यता होने से अभिनय सम्भव नहीं होता है। महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् दृश्यकाव्य के अन्तर्गत समाहित होता है। भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने दृश्य काव्य का रूपक एवं उपरूपक के द्वारा विभाजन किया। अभिज्ञानशाकुन्तलम् रूपक भेदान्तर्गत नाटक के अन्तर्गत अन्तर्भूत होता है। रूपक के दश भेद निम्नलिखित हैं- **नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः। व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति।।**[5] नाटकलक्षण-दशरूपककार के अनुसार विविध अवस्थाओं का अनुकरण नाट्य कहलाता है।[6] आचार्य भरत ने अभिनेय लोकस्वभाव को नाट्य के द्वारा सम्बोधित किया है –

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः। सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।।[7]

आचार्य विश्वनाथ ने नाटक को परिभाषित करते हुए कहा है, कि नाटक की कथावस्तु प्रख्यात होनी चाहिए, उसमें मुखादि पंचसन्धियों का यथाकाल सन्निवेश होना चाहिए, लीला-विलास-समृद्ध्यादि गुणों का तथा विविध ऐश्वर्य का वर्णन होना चाहिए, अंको की संख्या 5-10 तक होनी चाहिए, नाटक का नायक

प्रख्यातवंशीय एवं धीरोदात्त प्रकृति का हो, उसमें शृंगार अथवा वीर में से किसी एक रस की प्रधानता तथा अन्य रसों की अंगता होनी चाहिए, नाटक के अन्त में निर्वहण सन्धि का प्रयोग होना चाहिए तथा गोपुच्छ के समान उसका समापन करना चाहिए ।

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्। विलासद्धर्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः।।
सुखदुःख समुद्भूति नानारसनिरन्तरम्। पञ्चाधिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः।।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्। दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवन्नायको मतः।।
एक एव भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा। अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः।।
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपुरुषाः। गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्।।[8]

महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथावस्तु प्रख्यात एवं इतिहास प्रसिद्ध है। इसमें समस्त नाट्यसन्धियों का, अवस्थाओं का, अर्थ प्रकृतियों का समुचित समावेश किया गया है। इसमें सात अंक हैं। समस्त नाट्यवृत्तियों का यथासमय प्रयोग इसमें किया गया है। इसका कथानक सुख-दुःख की समुद्भूति के द्वारा सहृदयों का आनन्द देता है। शृंगार इसका प्रधान रस है एवं अंग के रूप में समस्त रसों का प्रयोग इसमें देखा जा सकता है। इसका नायक प्रख्यातवंशीय चक्रवर्ती सम्राट् दुष्यन्त एवं नायिका स्वीया प्रकृति की शकुन्तला है। कवि ने बहुत ही कुशलता के साथ इसका सुखान्त समापन किया है।

पूर्वरङ्ग एवं नान्दी- नाट्यप्रस्तुति के पूर्व विघ्नों के निवारण के लिये पूर्वरंग का विधान प्राप्त होता है। किसी भी नाट्यरचना के प्रारम्भ के पूर्व नटादि द्वारा मांगलिक गायनवादनादि इसके अन्तर्गत किये जाते हैं। नान्दी पाठ इसका अनिवार्य आनुष्ठानिक कृत्य माना जाता है अतः नाट्यविघ्नों की शान्ति के लिये नान्दी की परम्परा प्राचीन काल से रही है। यह नान्दी पाठ आशीर्वचनयुक्त, नमस्कारयुक्त अथवा वस्तुनिर्देशयुक्त हो सकता है-

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये। कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते।।
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि। तथाऽप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये।।[9]
आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।।
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी। पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत।।[10]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में आशीर्वचनयुक्त अष्टपदात्मक नान्दी पाठ के द्वारा भगवान शिव की अष्टमूर्तियों की स्तुति की गई है ।

प्रस्तावना/आमुख - आमुख या प्रस्तावना किसी भी नाट्य रचना का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग होता है। नाटकीय कथावस्तु का विधिवत् प्रारम्भ प्रस्तावना के द्वारा ही होता है। नाट्यशास्त्रीय नियमों के अनुसार जिसमें नटी अथवा विदूषक अथवा पारिपार्श्विक का नाट्यपरिचय विषयक संवाद सूत्रधार के साथ वर्णित होता है। इसमें स्व-स्वविषयक अभिप्राय के सूचक चित्र-विचित्र वाक्यों का परस्पर प्रयोग किया जाता है -

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा। सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते।।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः। आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा।।[11]

साहित्यदर्पणकार ने प्रस्तावना के पाँच भेद माने हैं-

उद्घात्य(त) कः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा। प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः।।[12]

आचार्य विश्वनाथ ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अवलगित प्रस्तावना मानी है। उन्होंने अवलगित का लक्षण करते हुये कहा है कि जहाँ सूत्रधार अपने प्रस्तावना अनुष्ठानरूप एक प्रयोग में नाट्यारम्भ रूप अन्य प्रयोग की भी युक्तिपूर्वक योजना कर देता है वहाँ अवलगित प्रस्तावना होती है-

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते। प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः।।

यथा शाकुन्तले- सूत्रधारो नटीं प्रति। तवास्मि गीतरागेण इत्यादि। ततो राज्ञः प्रवेशः।[13]

महाकवि कालिदास रचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् की प्रस्तावना में नटी एवं सूत्रधार के संवाद के द्वारा नाट्य का प्रारम्भ सूचित होता है। किन्तु दशरूपककार धनञ्जयाचार्य अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रयोगातिशय प्रस्तावना मानते हैं। उनके अनुसार यह वह है इत्यादि प्रकार के वाक्य से जब सूत्रधार किसी पात्र का मंच पर प्रवेश कराता है तब वहाँ प्रयोगातिशय प्रस्तावना होती है-

एषोऽयमित्युपक्षेपपात्सूत्रधारप्रयोगतः। पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः।। यथा- एष राजेव दुष्यन्तः इति।[14]

भारतीय विद्वानों के अनुसार वस्तु, नेता एवं रस किसी भी रूपक अथवा उपरूपक के प्रमुख भेदक तत्त्व माने गये हैं। किसी भी नाट्य की रचना में इनकी भूमिका अपरिहार्य सिद्ध है। दशकरूपक में कहा गया है-

वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः।[15]

कथावस्तु - वस्तु ही कथावस्तु कहलाती है। सामान्यतया बोलचाल की भाषा में इसे कथा या कहानी कहा जाता है। किसी भी रचना का मूलाधार उसकी कथावस्तु ही होती है। कथावस्तु का चयन कवि को अत्यन्त सावधानी से करना चाहिये। नाट्यशास्त्र में इस कथावस्तु को आधिकारिक एवं प्रासंगिक के रूप में दो भागों में विभाजित किया गया है। इसमें मुख्य कथा वस्तु आधिकारिक एवं मुख्यकथा के साथ चलने वाली प्रंसगप्राप्त कथा प्रासंगिक कहलाती है- **वस्तु च द्विधा। तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः।।**[16] महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक की कथावस्तु में दुष्यन्त-शकुन्तला की कथा मुख्य है तथा दुर्वासा, विदूषक, मल्लाहवृत्तान्तादि मुख्यकथा के अंग के रूप में आने से प्रासंगिक हैं। प्रस्तुत नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथा का मूल आधार महाभारत का आदिपर्व अध्याय 69 से 74 तक माना जाता है। नाटक की कथावस्तु प्रख्यात है। महाकवि कालिदास ने अपनी प्रतिभा के द्वारा महाभारतीय दुष्यन्त-शकुन्तलोपाख्यान में विविध मौलिक परिवर्तन किये। जहाँ महाभारत की कथा नीरस सी प्रतीत होती है वहीं अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथा रस से परिपूर्ण सरस रचना है। कालिदास ने महाभारत के कथानक से निम्न प्रमुख परिवर्तन अभिज्ञानशाकुन्तलम् में किये-

1. महाभारत में दुष्यन्त जब कण्व के आश्रम में प्रवेश करता है तब महर्षि फल लेने के लिये वन में गये हुये थे तथा यह सूचना स्वयं शकुन्तला राजा को देती है किन्तु शाकुन्तलम् में उस समय कण्व शकुन्तला के क्रूर ग्रहों की शान्ति हेतु सोमतीर्थ गये थे और यह सूचना वैखानस के द्वारा राजा को प्रदान की जाती है ।

2. महाभारत में शकुन्तला स्वयं ही विश्वामित्र के द्वारा स्वोत्पत्ति की सूचना राजा को देती है किन्तु शाकुन्तलम् में यह जानकारी अनसूया के द्वारा दी जाती है ।

3. महाभारत में शकुन्तला सशर्त (स्वयं के पुत्र को ही उत्तराधिकारी बनाने विषयक) विवाह के लिये तैयार होती है किन्तु शाकुन्तलम् में परस्पर अनुराग, पत्रलेखनादि के द्वारा गन्धर्व विवाह सम्पन्न होता है।

4. महाभारत में महर्षि कण्व के भय से राजा स्वराजधानी चला जाता है किन्तु शाकुन्तलम् में राजधानी जाने के कारण का स्पष्ट उल्लेख नहीं है ।

5. महाभारत में शकुन्तला कण्वाश्रम में ही पुत्र को जन्म देती है किन्तु शाकुन्तलम् में मरीच्याश्रम में जन्म देती है ।

6. महाभारतीय कथानक के अनुसार उसका पुत्र जब छः वर्षों का हो जाता है तब वह दुष्यन्त के पास

जाती है तथा अपने पुत्र को ही युवराज बनाने के लिये अनुनय-विनय करती है किन्तु शाकुन्तलम् में गर्भावस्था में ही उसके पास जाती है ।

7. महाभारत में दुष्यन्त शकुन्तला को पहचानते हुये भी लोकापवाद के डर से पहचानने से मना कर देता है किन्तु शाकुन्तलम् में दुर्वासा के शाप के कारण वह शकुन्तला को नहीं पहचानता है ।

8. महाभारत में दुष्यन्त के न पहचानने पर शकुन्तला पुनः कण्वाश्रम लौटती है किन्तु तभी आकाशवाणी को सुनकर पुरोहितों एवं मन्त्रियों की सहायता से दुष्यन्त शकुन्तला को स्वीकार कर लेता है किन्तु शाकुन्तलम् में दुष्यन्त के न पहचानने पर पुरोहित के साथ जाती हुई शकुन्तला को एक अप्सरा मरीचि के आश्रम में पहुँचा देती है तथा दुष्यन्त को जब मल्लाह के द्वारा अगूँठी प्राप्त हो जाती है तब दुर्वासा का शाप की स्वतः निवृत्ति हो जाने पर शकुन्तला का स्मरण हो जाता है तथा देवराज इन्द्र के यहाँ से लौटते समय मरीचि आश्रम पर शकुन्तला एवं पुत्र सर्वदमन की प्राप्ति होती है ।

डॉ. गंगासागर राय, डॉ. बाबूलाल त्रिपाठी आदि विद्वानों ने इन्हीं प्रमुख परिवर्तनों का उल्लेख स्वरचनाओं में किया है।[17] इस प्रकार महाकवि कालिदास ने मूल कथा में परिवर्तन कर दुर्वासा शाप, अगूँठी वृत्तान्त, इन्द्रवृत्तान्तादि के द्वारा एवं नये पात्रों की सृष्टि कर इस नाटक को विश्व का सर्वश्रेष्ठ नाटक बना दिया।

नेता(नायक) एवं नायिका-किसी भी नाट्यरचना में नायक एवं नायिका का होना प्रायः अनिवार्य होता है। भारतीय चिन्तन में प्रसिद्ध कथावस्तु को ग्रहण कर जब कवि या रचनाकार कोई रचना बनाता है तो उसका उद्देश्य लोकमंगल एवं व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना भी होता है। कहानी के नायक एवं नायिका इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि लोक उनके जीवनचरित से बहुत कुछ ग्रहण करता है तथा रामादि जैसे धीरोदात्त नायकों से एवं सीतादि जैसी नायिकाओं से जीवनार्ह व्यावहारिक ज्ञान का उपदेश भी लोकमंगल के लिये अत्यन्त उपकारी सिद्ध होता है। किसी भी उदात्तचरित प्रधान नाटक का नायक एवं नायिका कैसे हों इस सम्बन्ध में नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विस्तार से विवेचन किया गया है। दशरूपक में नायक के कुछ विशिष्ट गुणों को विस्तार से बताया गया है-

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः। रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशो स्थिरो युवा।।
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः। शूरो द्रढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः।।[18]

प्रस्तुत नाटक का नायक राजा दुष्यन्त उदात्तचरित सम्पन्न है। दशरूपक में धीरोदात्त को परिभाषित करते हुये कहा गया है - महान् पराक्रम से युक्त, अत्यन्त गम्भीर प्रकृति वाला, क्षमाशील गुण वाला, अपनी प्रशंसा स्वयं न करने वाला, स्थिर मति वाला, स्वयं के विनयादि गुणों के द्वारा अहंकारादि दुर्गुणों को छुपाने वाला, कृतज्ञ के भाव से सम्पन्न द्रढ़संकल्प वाला धीरोदात्त नायक होता है-

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः। स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो द्रढव्रतः।।[19]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में विनीत वेशेन प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि तदिमानि गृह्यन्तामाभरणानि धनुश्च।[20], सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।[21], स खलु गर्भः पित्र्यमृक्थमर्हति।[22] इत्यादि वाक्य उसकी धीरादात्तता को प्रमाणित करते हैं ।

नाटक की नायिकायें तीन प्रकार की होती हैं। इनमें भी अवान्तर भेद हो जाते हैं। नाटक में मुग्धा प्रकृति की नायिका सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है - **स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा। मुग्धा मध्या**

प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्।। मुग्धा नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि।[23] अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नायिका शकुन्तला मुग्धा कोटि की नायिका है। वह परम चरित्रवती, शीलवती एवं संस्कार की प्रतिमूर्ति ही है। इसके अलावा विविध स्त्री एवं पुरुष पात्रों का नाट्य घटनानुकूल वर्णन महाकवि कालिदास ने किया है ।

सन्ध्यादि नाट्यंग विवेचन - किसी भी नाट्यरचना में कथावस्तु के व्यवस्थित विन्यास के लिये पंचसन्धि, पंचावस्था एवं पंचार्थप्रकृतियों की अपरिहार्य भूमिका होती है। नाट्यशास्त्रीय नियमों के अनुसार पंचसन्धियों का निर्माण पंचावास्थाओं एवं पंचार्थ प्रकृतियों के सम्यक्मेल से होता है। इस प्रकार नाट्यरचना में इन सभी भूमिका सहधर्मचारिणी के रूप में होती है। दशरूपक में कहा भी गया है-

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्था समन्विताः। यथा संख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः।।[24]

किसी भी रूपक में प्रस्तुत होने वाली कथावस्तु का विभाजन नायक के प्रयोजन की सिद्धि के लिये अर्थ प्रकृतियों के द्वारा किया जाता है।[25] इसी प्रकार नायकादि फलार्थी के द्वारा इष्टफल प्राप्ति के लिये जो कार्य प्रपंच किया जाता है वे हीं आरम्भादि अवस्थायें कहलाती हैं।[26] नाटक में सन्धियों का मुख्य प्रयोजन परस्पर कथांशों को एक-दूसरे से अन्वित करना होता है।[27] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में इन सन्धियों का, इसके साथ-साथ पंचावस्थाओं का एवं पंचार्थ प्रकृतियों का बहुत ही सुन्दर तरीके से विन्यास किया गया है। महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् के आधार पर सन्ध्यादि का एकत्र समीक्षण यहाँ प्रस्तुत किया जायेगा ।

1. मुखसन्धि - कवि कथावस्तु में जहाँ विविध प्रकार के प्रयोजनों एवं रसों की उत्पत्तिकारक बीजोत्पत्ति का विवेचन करता है वहाँ बीज के समान मुख्य होने के कारण मुख सन्धि कहलाती है। इसके द्वादश अंग होते हैं-

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवाः। अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात्।।[28]

रतन प्रकाशन मन्दिर से प्रकाशित अभिज्ञानशाकुन्तलम् बाबूराम त्रिपाठी ने प्रस्तुत नाटक में प्रथमांक में ततः प्रविशति से लेकर द्वितीयांक में इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ तक मुख सन्धि का कार्यक्षेत्र माना है।[29] पंचशील प्रकाशन जयपुर से प्रकाशित अभिज्ञानशाकुन्तलम् के डॉ. प्रभाकर शास्त्री ततः प्रविशति से लेकर प्रथमांक समाप्ति पर्यन्त मुख सन्धि को स्वीकार करते हैं।[30] इस प्रकार मुख सन्धि का मुख्य केन्द्र बिन्दु प्रथमांक ही सूचित होता है।

1. आरम्भावस्था - फल की अभिलाषा से जहाँ कार्य का आरम्भ किया जाता है वहाँ आरम्भ नामक अवस्था होती है- **औत्सुक्यमात्रमारम्भः फलालाभाय भूयसे।**[31] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त की शकुन्तला विषयक दर्शनेच्छा से आरम्भ नामक कार्यावस्था का प्रारम्भ विद्वानों ने स्वीकार किया है।[32] नाटक में राजा दुष्यन्त के इस वचन से राजा- भवतु तामेव द्रक्ष्यामि से इसका प्रारम्भ होता है।

1. बीजार्थप्रकृति - इसको परिभाषित करते हुये कहा गया है कि जो पहले स्वल्प रूप में दिखाई देता हैं किन्तु फलप्राप्ति तक अत्यन्त विस्तार को प्राप्त कर लेता है अर्थात् जो कथावस्तु में अनेक प्रकार से पल्लवित एवं वर्धित होता है बीज कहलाता है- **स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।**[33] कालिदास प्रणीत अभिज्ञानशाकुन्तलम् में वैखानस का यह वाक्य पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमवाप्नुहि कथावस्तु का बीज है।[34]

कुछ आचार्य प्रथमांक में वैखानस की उक्ति एष चास्मद्गुरोः कण्वस्य कुलपतेः से लेकर राजा दुष्यन्त की उक्ति-सा खलु विदित भक्तिर्मा महर्षये निवेदयिष्यति तक बीज नामक अर्थप्रकृति को मानते हैं।[35]

2. प्रतिमुखसन्धि - कथावस्तु के बीज का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाशन प्रतिमुख सन्धि कहलाती है। इसमें बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति एवं प्रयत्न नामक कार्यावस्था होती है-

लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्। बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश।।[36]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कुछ विद्वानों के अनुसार सखे! माढव्य। अनाप्त चक्षुःफलोऽसि। येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम् से तृतीयांक समाप्ति पर्यन्त प्रतिमुख सन्धि है।[37] कुछ आचार्यों के अनुसार ततः प्रविशति विषण्णो विदूषकः से लेकर तृतीयांक में उभे- स्निग्धजनसविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति तक प्रतिमुख सन्धि है।[38] इस प्रकार निष्कर्ष रूप में तथ्य उद्भासित होता है कि द्वितीयांक से तृतीयांक पर्यन्त प्रतिमुख सन्धि का कार्यक्षेत्र विद्यमान है ।

2. यत्नावस्था - इष्टफल की प्राप्ति के लिये जो निरन्तर प्रयास किया जाता है वही प्रयत्न नामक कार्यावस्था है- **प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।**[39] कुछ विद्वानों के अनुसार प्रस्तुत नाटक में द्वितीयांक में तपस्विभिः कैश्चित् परिज्ञातोऽस्मि से तृतीयांक पर्यन्त प्रयत्न नामक कार्यावस्था चलती है।[40] कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जिन्होंने द्वितीयांक तक इसकी सत्ता स्वीकार की है।[41] वस्तुतः राजा के द्वारा शकुन्तला रूप फलप्राप्ति के लिये अतित्वरान्वित व्यापार प्रयत्न नामक अवस्था है।

2. बिन्दु अर्थप्रकृति - प्रधान कथा के साथ अवान्तर कथा का सम्बन्ध बनाये रखने वाला बिन्दु कहलाता है। **अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।**[42] प्रस्तुत नाटक में प्रथमांक एवं द्वितीयांक में दुष्यन्त-शकुन्तला विषयक अनुराग का परस्पर संयोजन बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति के द्वारा होता है। नाटक में दुष्यन्त के वाक्य-सखे! माधव्य। अनाप्तचक्षुः फलोऽसि। येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्। से लेकर सर्वतः खलु कान्तमात्मानं पश्यति। अहन्तु तामेवाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि तक बिन्दु नामक अर्थप्रकृति की योजना है।[43]

3. गर्भसन्धि - जहाँ प्रथम दिखाई दिये तथा बाद में नष्ट हुये बीज का बारम्बार अन्वेषण किया जाता है वहाँ गर्भ सन्धि होती है। इसमें कहीं-कहीं पताका अर्थप्रकृति होती हैं कहीं पर नहीं किन्तु प्राप्त्याशा रूपी कार्यावस्था अनिवार्यतया होती है। इसमें फलप्राप्ति एवं अप्राप्ति का प्रंसग एक साथ चलता है- **गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः। द्वादशाङ्गाः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः।।**[44] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में चतुर्थांक के प्रारम्भ से लेकर पंचमांक के गौतमी के इस वाक्य- जाते! मुहुर्तूतं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत् तेऽवगुण्ठनम्। ततस्त्वां भर्ताऽभिज्ञास्यसि। (इति यथोक्तं करोति) तक गर्भ सन्धि की योजना है।[45]

3. प्राप्त्याशावस्था - जहाँ फलप्राप्ति के सम्बन्ध में आशङ्का की स्थिति रहती है वहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था होती है। इसमें कभी फल प्राप्ति का उपायभूत साधन प्राप्त होता है तो कभी फलनाश रूप विघ्न उपस्थित हो जाते हैं।**–उपायपायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः।**[46]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला को राजधानी बुलाने के लिये आश्वासन दिये जाने से मिलन की सम्भावना बनती है किन्तु दुर्वासा के शाप के कारण दोनों के मिलन में विघ्न उपस्थित हो जाता है। उसके बाद अंगुलीयक रुप अभिज्ञान के दिखा देने पर शाप के विनष्ट होने पर पुनः मिलन की सम्भावना किन्तु उस अंगुलीयक के शचीतीर्थ में गिर जाने से विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार प्राप्त्याशा में कभी मिलन की सम्भावना बनती है तो कभी विघ्न उपस्थित होकर उस सम्भावना को नष्ट कर देते हैं।

3. पताका अर्थप्रकृति - नाटक में जो इतिवृत्त दूर तक चलता है पताका कहलाता है। **सानुबन्धं पताकाख्यम्।**[47] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के इस प्रसंग के सन्दर्भ में साहित्यदर्पणकारादि कुछ विद्वान् पताका की अवस्थिति यहाँ स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार विदूषक की कथावस्तु पताका के रूप में आई है क्योंकि द्वितीयांक से षष्ठांक पर्यन्त यह कथावस्तु आई है। कुछ ऐसे विद्वान् भी हैं जो दुर्वासा के वृत्तान्त को भी पताका के रूप में

स्वीकारते हैं। उनके अनुसार दुर्वासा के शाप का प्रभाव तथा अगूँठी का वृत्तान्त सम्पूर्ण नाटक में व्याप्त है। कालिदास का नाट्यकल्प के लेखक के अनुसार दोनों ही वृत्तान्तों को पताका माना जा सकता है।[48] क्योंकि ऐसी अनेक रचनायें हैं जिनमें एक से अधिक बार पताका का प्रयोग हुआ है।

4. अवमर्शसन्धि - जहाँ क्रोध-व्यसन-विलोभनादि के द्वारा फलप्राप्ति के विषय में विचार किया जाता है वहाँ विमर्श सन्धि होती है। इसमें प्रकरी नामक अर्थप्रकृति हो भी सकती है नहीं भी तथा नियताप्ति कार्यावस्था अनिवार्यतया होती है- **क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्। गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः।।**[49]

गंगासागर राय के अनुसार अभिज्ञानशाकुन्तलम् में पंचमांक में दुष्यन्त के इस कथन - शकुन्तलां निर्वर्ण्य, आत्मगतम् से लेकर छठे अंक की समाप्ति तक विमर्श सन्धि है।[50]

4. नियताप्त्यवस्था - सभी प्रकार के विघ्नों के अभाव या समाप्त होने पर जब फलप्राप्ति की नियत प्राप्ति सुनिश्चित प्रतीत हो वह नियताप्ति कहलाती है। **अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता।**[51]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् का षष्ठांक नियताप्ति का द्योतक माना जाता है। इसमें भी सानुमति का यह वाक्य-अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखाद् यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथाऽनुष्ठास्यन्ति यथाचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताभिनन्दयिष्यतीति।[52]

4. प्रकरी अर्थप्रकृति - मुख्यकथावस्तु के साथ किंचित् दूर तक चलने वाला इतिवृत्त प्रकरी कहलाता है। **प्रकरी च प्रदेशभाक्।**[53] प्रस्तुत नाटक में इन्द्र-मातलि वृत्तान्त कथा का प्रकरी भाग है। इसके अलावा सानुमति का वृत्तान्त भी प्रकरी भाग के अन्तर्गत समाहिता होता है।

5. निर्वहणसन्धि - इस सन्धि में फलागम नामक कार्यावस्था एवं कार्य नामक अर्थप्रकृति होती है। इसमें कथावस्तु के बीज से युक्त यत्र-तत्र विखरे हुये समस्त मुखादि अर्थों का प्रयोजन सिद्धि के लिये एक साथ संकलन कर लिया जाता है। –

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्। ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।।[54]

गंगासागर राय आदि विद्वानों के अनुसार प्रस्तुत नाटक में सप्तमांक के प्रारम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त निर्वहण सन्धि विद्यमान है।[55]

5. फलागमावस्था - इष्ट फल की प्राप्ति फलागम कहलाती है - **समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः।**[56] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त को शकुन्तला की पुत्र सर्वदमन के साथ प्राप्ति फलागम है। इस सम्बन्ध महर्षि मारीचि का निम्न वाक्य स्पष्टतः फलागम को सूचित कर रहा है-

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्। श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्।।[57]

5. कार्य अर्थप्रकृति - नायक जिस साध्य की प्राप्ति के लिये कार्य का प्रारम्भ करता है तथा जिसकी प्राप्ति में उसका कार्यानुष्ठान समाप्त हो जाता है वह कार्यार्थप्रकृति कहलाती है। –

अपेक्षितन्तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः। समापयन्तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति सम्मतम्।।[58]

सप्तमांक में राजा दुष्यन्त एवं शकुन्तला का पुनर्मिलन नाटक का मुख्य कार्य है। इसकी सूचना दुष्यन्त के इस वाक्य- प्रिये! क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तम् यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि। से लेकर मातलि की उक्ति-दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते तक स्पष्टरूप से दी गई है।[59]

इस प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् में समस्त नाट्यसन्धियों का, नाट्यावस्थाओं का एवं नाट्यार्थ प्रकृतियों का यथास्थान विन्यास किया गया है।

रसयोजना-किसी भी कथावस्तु के आनन्द को प्रवाहित करने में रस की अपरिहार्य भूमिका होती है। सम्यक् रस के प्रयोग से काव्यरचना सहज ही सहृदयाह्लादक हो जाती है। प्रस्तुत नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् का मूल रस शृंगार है। महाकवि कालिदास ने शृंगार के दोनों भेदों का यथावसर सुप्रयोग किया है। शाकुन्तलम् में शुद्धान्त दुर्लभमिदं वपुः[60], सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापिरम्यम्[61] इत्यादि वाक्यों के द्वारा दुष्यन्तगत रति का तथा किं न खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता[62], वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः[63] इत्यादि वाक्यों के द्वारा शकुन्तलागत रति का सुन्दर परिपाक प्रस्तुत किया है। बाबूराम त्रिपाठी के अनुसार कालिदास का शृंगार ऐन्द्रिय वासना प्रधान नहीं है अपितु आदर्श शृंगार का वर्णन शाकुन्तलम् में है। उन्होंने पुत्रोत्पत्ति को ही सफल शृंगार माना है।[64] यद्यपि इसका प्रधान रस शृंगार है किन्तु कवि ने नाट्य कथानक के अनुरूप करुण, वीर, अद्‌भुत, हास्यादि रसों का भी यथास्थान समीचीन वर्णन किया है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् संस्कृत साहित्य की अद्वितीय रचना है। रस-भाव से परिपूर्ण, अलंकारों से अलंकृत, चारित्रिक वैशिष्ट्य से मण्डित, पात्रगाम्भीर्य से अनुप्राणित, भावबोध से अनुसिञ्चित, संवादकौशल से सुशोभित एवं नाट्यकला से अभिव्यञ्जित एक ऐसी कृति जिसने महाकवि कालिदास को वैश्विक ख्याति प्रदान की। इस कृति में उनकी प्रतिभा का चरम परिपाक पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है। नाट्यशास्त्रीय समीक्षण की दृष्टि से महाकवि कालिदास ने नाट्यशास्त्रीय नियमों के प्रयोग में कुशाग्र एवं प्रगतिशील सोच का परिचय दिया है। कथावस्तु में काव्यानुगुण परिवर्तन करके उसको सरस बनाना हो अथवा नवीन पात्रों की परिकल्पना हो इत्यादि विविध प्रसंगों में उनका व्यापक दृष्टिकोण स्पष्ट दिखाई देता है। उनके नाटक में विविध नाट्यशास्त्रीय तत्त्व यथा प्रस्तावना, पञ्चसन्धि, कार्यावस्था, अर्थप्रकृति, नायक एवं नायिका के गुण एवं रस परिपाकादि का स्पष्टतः विवेचन किया है। पताकास्थानक, सूच्यादि कथावस्तु, अर्थोपक्षेपकादि का भी अत्यन्त कुशलता के साथ कवि ने विन्यास स्वकृति में किया है। विभिन्न नाट्यसंवादों के वर्णन में उनकी पात्रानुकूल भाषा प्रयोग सहृदयों को सहज ही अर्थबोध करा देता है। उनकी प्रशंसा में दण्डी की यह पंक्ति सर्वदा प्रासंगिक है-

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विवशा गिरः। तेनेदं वर्त्म वैदर्भ कालिदासेन शोधितम्।।[65]

सन्दर्भ -

1. *उत्तररामचरितम् - 2.7*
2. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् (गंगासागर राय) - पृष्ठ 88 भूमिका, (गेटे का संस्कृतानुवाद)*
3. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् (गंगासागर राय)- पृष्ठ 85भूमिका*
4. *साहित्यदर्पण– 6.1*
5. *दशरूपक- 1.8*
6. *दशरूपक- अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्*
7. *नाट्यशास्त्र- 1.119*
8. *साहित्यदर्पण- 6.7-11*
9. *साहित्यदर्पण- 6.22-23*
10. *साहित्यदर्पण- 6.24-25*
11. *साहित्यदर्पण- 6.31-32*

12. साहित्यदर्पण- 6.33
13. साहित्यदर्पण- 6.38 श्लोक तथा वृत्ति
14. दशरूपकम् - 3.11 कारिका तथा वृत्ति
15. दशरूपक- 1.11
16. दशरूपक- 1.11
17. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (गंगासागर राय)- पृष्ठ 41 भूमिका
18. दशरूपक- 2.1-2
19. दशरूपक- 2.4
20. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (डॉ. गंगासागर राय)- प्रथमांक
21. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (डॉ.. गंगासागर राय)- प्रथमांक
22. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (डॉ. गंगासागर राय)- षष्ठांक
23. दशरूपक- 2.15-16
24. दशरूपक- 1.22-23
25. दशरूपक- बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः। अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः प्रकीर्तिताः।। (1.18)
26. दशरूपक- अवस्थाः पंचकार्यस्य ङ्कारब्धस्य फलार्थिभिः ।आरम्भयत्नप्राप्त्याशा-नियताप्तिफलागमाः ।। (1.19)
27. दशरूपक- अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति । (1.23)
28. दशरूपक- 1.24-25
29. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (डॉ. बाबूराम त्रिपाठी)- पृष्ठ 70
30. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (डॉ. प्रभाकर शास्त्री)- पृष्ठ 15
31. दशरूपक- 1.20
32. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (डॉ. बाबूराम त्रिपाठी)- पृष्ठ 71
33. दशरूपक- 1.17
34. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (डॉ. बाबूराम त्रिपाठी)- पृष्ठ 71
35. कालिदास का नाट्यकल्प- पृष्ठ 296
36. दशरूपकम् - 1.30
37. कालिदास का नाट्यकल्प- पृष्ठ 308
38. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (डॉ. बाबूराम त्रिपाठी)- पृष्ठ 126
39. दशरूपकम् - 1.20
40. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (डॉ. गंगासागर राय)- पृष्ठ 44 भूमिका
41. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (ड०. बाबूराम त्रिाठी)- पृष्ठ 126
42. दशरूपकम् - 1.17
43. कालिदास का नाट्यकल्प- पृष्ठ 297
44. दशरूपकम् - 1.36
45. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (गंगासागर राय)- पृष्ठ 45 भूमिका, कालिदास का नाट्यकल्प- पृष्ठ 308

46. दशरूपकम् - 1.21
47. दशरूपकम् - 1.13
48. कालिदास का नाट्यकल्प- पृष्ठ 298
49. दशरूपकम् - 1.43
50. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (गंगासागर राय)- पृष्ठ 45 भूमिका
51. दशरूपकम् - 1.21
52. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - श्लोक 6.25 उप. सानु संवाद
53. दशरूपकम् - 1.13
54. दशरूपकम् - 1.48-49
55. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (गंगासागर राय)- पृष्ठ 44
56. दशरूपकम् - 1.22
57. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (गंगासागर राय)- 7.29
58. साहित्यदर्पण- 6.69-70
59. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (गंगासागर राय) - पृष्ठ 484 एवं 494
60. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (बाबूराम त्रिपाठी)- 1.15
61. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (बाबूराम त्रिपाठी)- 1.17
62. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (बाबूराम त्रिपाठी)- पृष्ठ 100, 1.21 उप. शकुन्तला-अनसूया-प्रियम्वदा संवाद
63. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (बाबूराम त्रिपाठी)- 1.27
64. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (बाबूराम त्रिपाठी)- पृष्ठ 51 भूमिका
65. अवन्तिसुन्दरी कथा- श्लोक 15

36

कालिदास के रूपकों में नायकत्व-विचार

शैलेन्द्र कुमार साहू

कालिदास संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार हैं इनके द्वारा प्रणीत मालविकाग्निमित्रम् में नायक अग्निमित्र है। नायक की कोटि के अनुसार उत्तम कोटि धीरोदात्त प्रकृति के नायक का नायकत्त्व अग्निमित्र में दिखाई देता है। धीरोदात्त नायक वीर एवं विचारवान होते हैं। प्रस्तुत नाटक में अग्निमित्र में धीरोदात्त के सभी गुण पाए जाते हैं। इस नाटक में प्रमुख रूप से राजा अग्निमित्र को सौन्दर्य-प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। राजा अग्निमित्र बड़ा ही समझदार व्यक्ति है; अवसर को पहचानने वाला है, अकारण किसी के दिल को दुखाता नहीं। उसमें दाक्षिण्य चरम सीमा तक पहुँचाना है। यही कारण है कि वह अपनी रानियों के साथ बड़ा विनीत व्यवहार करता है। यदि वह चाहता, तो रानी धारिणी एवं इरावती की परवाह न करके, मालविका के साथ विवाह कर लेता, पर वह ऐसा नहीं करता, यह उसका गुण ही तो है, जब रानी इरावती राजा पर क्रोधित होती है तब वह अपने शब्दों पर काबू न रखने के कारण उसे 'शठ' तक कह देती है और अपनी तागडी से राजा को पीटने के लिए उद्यत तक हो जाती है, राजा तब भी क्रोध नहीं करता वह बड़ी विनम्रता से रानी को समझाने का प्रयास करता है यहां तक की रानी के पैरों में भी पड़ जाता है-

अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि। वर्धयसि विलसितं त्वं दासजनायाद्य कुप्यति च।।[1]

राजा बड़ा संयमी है, वह कोई भी कदम ऐसा नहीं उठाना चाहता जिससे उसकी किसी भी रानी को कष्ट हो, मालविका के साथ प्रेम हो जाने के कारण उसके अन्दर व्याकुलता है, अतः उसे इस बात का डर है कि कभी उसकी व्याकुलता रानी तक प्रकट न हो पाए-

उचितः प्रणयो वरं विहन्तु बहवः खण्डन हेतवो हि दृष्टाः।
उपचारविधिर्मनस्विनिनां नतु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः।।[2]

राजा अग्निमित्र केवल कामी ही नहीं, वह वीर भी है। नाटक में कहीं भी उसके शौर्य का प्रदर्शन नहीं हुआ, पर स्थान-स्थान पर उसके शौर्य की ओर संकेत किया गया है। राजा अग्निमित्र राजकार्य को बड़ी कुशलता से सम्पन्न करता है। पहले ही अंक से राजा राज्य की सुरक्षा के सम्बन्ध में चिन्तित दिखाई देता है और अपने साले वीरसेन को विदर्भ पर आक्रमण करने की आज्ञा देता है। राजा बड़ा उदार व्यक्ति है। उसने यज्ञसेन से उसका राज्य छीना नहीं, बल्कि उसका राज्य माधवसेन के साथ आधा-आधा बाँटकर अपनी उदारता को प्रदर्शित किया है। राजा सभी कार्य अपने मन्त्रिवर्ग के परामर्श से ही करता है। यदि वह चाहे तो स्वयं आज्ञा

देकर सभी काम करवा सकता है, पर वह ऐसा न करके मन्त्रिवर्ग को अपने विश्वास में रखना उचित समझता है। 'विदर्भ के राजा को बाँटने की अपनी इच्छा को राजा ने मन्त्रि-परिषद् के आगे रखा। अग्निमित्र ने सेवाधर्म को श्रेष्ठ माना है। दास की बड़ी भारी विशेषता यही है कि वह अपने स्वामी की सेवा करता हुआ प्राण त्यागे। इसी विचार से सुमति की मृत्यु पर वह परिव्राजिका को यह कह कर धैर्य बँधाता है कि 'न शोच्यस्तत्रभवान् सफलीकृत भर्तृपिण्डः'। राजा ललितकला का बड़ा प्रेमी है। तभी तो नृत्यकला तथा नाट्यकला के दो-दो आचार्य राज्याश्रय में पल रहे थे। चित्रकला को भी राजा ने राज्याश्रय में रखा। राजा अग्निमित्र केवल कामी प्रकृति का ही नहीं वह एक श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ, बड़ा योद्धा और कलाओं का प्रेमी तथा एक अच्छा कलाकार भी था। कालिदास ने बड़ी सफलता से अग्निमित्र का वर्णन किया है।

महाकवि कालिदास का मालविकाग्निमित्र के बाद की यह दूसरी रचना है विक्रमोर्वशीय जिसे महाकवि ने त्रोटक की कोटि में रखा है। क्योंकि इसका लक्षण साहित्यदर्पणकार के अनुसार त्रोटक में घटित होता है। त्रोटक का लक्षण - **सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम्। त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम्।।**[3] जहाँ पर रूपक में सात, आठ, नव या पांच अंकों का समावेश हो, दैवी और मानुषी दोनों प्रकार के इतिवृत्तों पर आश्रित हो, प्रत्येक अंक में विदूषक की उपस्थिति हो, वह त्रोटक कहलाता है। इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने रूपकों के विवेचन में त्रोटक के उदाहरण में विक्रमोर्वशीय की कथा मुख्य रूप से चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा और उर्वशी नामक अप्सरा के प्रणय की कथा वर्णित की है। उर्वशी और पुरुरवा की यह प्रणय-कथा अपने मूल-रूप में सर्वप्रथम ऋग्वेद में प्राप्त है। यह संवाद सूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल के 95 वां सूक्त के रूप क्रम में प्राप्त है जिसमें पुरुरवा के वचन उर्वशी के प्रति-

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहैनु। न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे चनाहन्।।[4]

विक्रमोर्वशीयम् का नायक पुराणप्रथित चन्द्रवंशी राजा, बुध और इला का पुत्र पुरूरवा है। यह प्रतिष्ठानपुर का स्वामी और युद्ध में इन्द्र की सहायता करने वाला अत्यन्त प्रतापी नृप है। मूलतः विक्रमोर्वशीय का नायक धीरोदात्त प्रकृति का है लेकिन वहीं उर्वशी के प्रेम में अधीर होने से उसमें शठ नायक का नायकत्त्व प्रतीत होता है इसलिए वहां शठ धीरोदात्त प्रकृति का नायक कहलाता है। शठ धीरोदात्त नायक का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार है- **अविकत्थनः क्षमावानति गम्भीरो महासत्त्वः। स्थेयान्निगूढमानी धीरोदात्त दृढव्रती कथितः।।**[5] **शठोऽयमेकत्रबद्धभावो यः। दर्शितबहिरनुरागोविप्रियमन्यत्रगूढमाचरति।।**[6] पुरुरवा के लिए प्राथमिक उद्दीपन तो रथ की गति ही है- **यदिदं रथसंक्षोभादंगेनांगं ममायतेक्षणया। स्पृष्टं सरोमकण्टकमंकुरितं मनसिजेनेव।।**[7] इसके पश्चात् यहाँ पर क्रमशः उद्यान, दक्षिणपवन, अशोक- कुरबक आदि वृक्ष तथा लता-वल्लरी आदि प्रभृति प्राकृतिक उपादान उद्दीपन के साधारण कारण है नायक के प्रति यहाँ पर रति नामक स्थायीभाव है। प्रस्तुत आख्यान में सम्भोग शृङ्गार की प्रधानता है इसलिए नायक शृङ्गार रस प्रधान है-

शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदः तदागमनहेतुकः। उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार उच्यते।।[8]

शृङ्गार के दो भेद हैं- सम्भोग शृङ्गार तथा विप्रलम्भ शृङ्गार। इसका रंग 'श्याम' तथा 'विष्णु देवता' है। प्रस्तुत रूपक में इन दोनों प्रकार के शृङ्गार के भेद का रूप देखने को मिलता है। पुरूरवा का उर्वशी से मिलन की उत्कण्ठा दोनों में पूर्वराग की स्थिति उत्पन्न करता है। प्रस्तुत रूपक का नाम नायक तथा नायिका के आधार पर पुरूरवा उर्वशी होना उचित लगता है किन्तु कवि ने अपने आश्रयदाता राजा विक्रमादित्य का संकेत करने के लिए विक्रम को पुरूरवा का ही अपर नाम कल्पित करके माना है। इसलिए 'विक्रमेण प्राप्ता उर्वशी, 'विक्रमोर्वशी' एवं तदधिकृत्य कृतं रूपं 'विक्रमोर्वशीयम्' ऐसा ग्रन्थ का नामकरण प्राप्त है।

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक का नायक राजा दुष्यन्त है। वह सभी नाटकीय नायकों में श्रेष्ठ है। वह धीरोदात्त प्रकृति का नायक है। धीरोदात्त के सभी गुण उसमें समाहित हैं। वीरता, गम्भीरता, क्षमा, स्थिरता गर्वराहित्य इत्यादि सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। वह पुरूवंशीय क्षत्रिय राजा है। वह सुन्दर तथा गम्भीर आकृति वाला है। वह बलिष्ठ तथा पराक्रमी होने पर भी विनय सम्पन्न है-

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्व, रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं, गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति।।[9]

राजा की पराक्रमशीलता एवं शूरवीरता से इन्द्र भी प्रभावित है तभी तो वह अपनी सहायता के लिए युद्ध में भाग लेने उसे बुलाता है। दानवों के वधार्थ राजा को स्वर्ग में जाना पड़ता है। उसकी प्रत्यञ्चा की टंकार मात्र से विघ्न दूर हो जाते हैं। उसके राज्य में निकृष्ट लोग भी कुमार्गगामी नहीं हैं। लता, वृक्ष तथा पक्षी भी उसका शासन मानते हैं। वह मृगया प्रेमी होने से मृग को धनुष की प्रत्यञ्चा से निशाना बनाए हुए अपने रथ तथा सारथी के साथ उसी वेग से गति करता है-

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां, यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत्।
प्रकृत्या यद्वकं तदापि समरेखं नयनयोर्न मे दूरे किञ्चित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्।।[10]

वह मधुरभाषी है उसके मधुर भाषण की प्रियंवदा के द्वारा प्रशंसा की गई है। जिस प्रकार से वह ब्रह्म रूप में है। उसी प्रकार का उसका हृदय भी है। उसका स्वभाव अत्यन्त स्निग्ध ललित एवं सुसंस्कृत है। शकुन्तला के साथ हुआ प्रणय-सम्भाषण इस बात का द्योतक है। 'आश्रमललामभूता' अर्थात् शकुन्तला के अपूर्व रूप-लावण्य का अवलोकन कर उसकी ओर आकर्षित हो जाना स्वााविक ही था, किन्तु एक भद्र पुरुष की तरह उसने यह पता लगा लेना अत्यन्त आवश्यक समझा कि उसका विवाह हो चुका है या नहीं, उसके साथ उसका प्रेम धर्मानुकूल है अथवा नहीं-

वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानात्, व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः।।[11]

उसे शकुन्तला के विषय में ज्ञात होने पर भी स्वयं को रोकता है फिर भी वह उसके प्रति अनुरक्त है वह बहुपत्नीक भी है, किन्तु ऐसा होने पर भी शकुन्तला के प्रति उसका स्नेह वास्तविक है और छल आदि से रहित है-

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे। समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्।।[12]

वह ललित-कलाओं का अच्छा ज्ञाता है। रानी हंसपदिका के संगीत का श्रवण कर उसके द्वारा 'अहोरागपरिवाहिती गीत' यह कहा जाना उसमें संगीत-कलाभिज्ञ होने का परिचायक है। प्रकृति की शक्ति भी उसके अन्दर विद्यमान है। वह एक कुशल चित्रकार भी है-

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्त्रोतोवहा मालिनी, पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः। शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।।[13]

इतना सब कुछ होने पर भी उसमें मानवोचित दुर्बलतायें भी हैं। मृगया के लिए भ्रमण करते हुए आश्रम में प्रविष्ट होने के पश्चात् शकुन्तला को देखकर यथासम्भव उसका पतन ही हुआ है। लुक-छिपकर युवती कन्याओं की विनोदसम्पन्न क्रीड़ाओं का देखना, भेंट होने पर अपना मिथ्या परिचय देना, शकुन्तला को देखते ही उसे उपभोग-योग्य स्त्री समझना, माता द्वारा बुलाये जाने के सन्देश को प्राप्त कर केवल शकुन्तला के प्रेम में लीन होने के कारण अपने स्थान पर विदूषक को राजधानी भेज देना और उससे असत्य बोलना-

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो,मृगशावैः सममेधितो जनः। पारिहासविजल्पितं सखे, परमार्थेन न गृह्यतां वचः।।[14]

विवाह के पश्चात् ऋषि कण्व के आगमन के पूर्व ही हस्तिनापुर लौट जाना आदि अनेक ऐसे कार्य हैं जिनमें उसकी मानवोचित दुर्बलताओं का स्पष्ट पता चलता है। हस्तिनापुर आ जाने के बाद शकुन्तला को एकदम भूल जाना और उसके द्वारा स्वयं ही वहां उपस्थित होने पर भी उसे न पहचानना आदि उसके पतन की अन्तिम सीमा है। किन्तु इसके बाद भी महाकवि कालिदास ने उसके चरित्र को बड़ी चतुरता और योग्यता से ऊपर उठाया है। किसी भी मनोहर युवती को देखकर मोहित हो जाने की मधुकरवृत्ति उसमें नहीं है। कालिदास के रूपकों का नायक 'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम् तथा अनार्यः परदारव्यवहारः है। उपर्युक्त तीनों रूपकों में कालिदास ने नायकत्व के गुण धर्मों को बड़ी ही कुशलता से दर्शाया है जैसा कि एक नाटक की रूप-रेखा होती है। उसी के अनुसार नेता के पात्र को दिखाया है, क्योंकि रूपकों में नेता अर्थात् नायक प्रधान पात्र होता है जो कथा को फल की ओर ले चलता है, वही नेता कहलाता है। यही फल का प्राप्तिकर्ता, भोक्ता भी होता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नायक चार प्रकार का माना गया है-(1) धीरोदात्त, (2) धीरोद्धत, (3) धीरललित, (4) धीरशान्त। भरतमुनि के अनुसार देवता प्रकृति के धीरोद्धत्त होते हैं। राजा धीर-ललित होते हैं तथा सेनापति एवं अमात्य धीरोदात्त होते हैं। ब्राह्मण और वैश्य धीर-शान्त होते हैं। कालिदास के रूपकों मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् तीनों में एक समान नायक धीरोदात्त प्रकृति का ही है, क्योंकि संस्कृत नाटकों में उपर्युक्त चारों प्रकार के नायकों में धीरोदात्त को ही सर्वाधिक श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है -

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः।।[15]

यह नायक घमण्ड और ईर्ष्या से भरा नहीं है महासत्त्व-सम्पन्न आदि विकारों से अभिभूत नहीं है। वह अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन स्थिरचित्त निर्गूढाहंकार, विनम्रता द्वारा दबे हुए अभिमान वाला, दृढ़व्रत है। नाटक का नायक इसी प्रकृति का चुना जाता है। इसीलिए महान् कवि कालिदास ने अपने रूपकों-मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम्, तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् का नायक धीरोदात्त ही चुना है।

सन्दर्भ -

1. *मालविकाग्निमित्रम् 3/22*
2. *मालविकाग्निमित्रम् चतुर्थ अंक*
3. *साहित्य द. 6/457*
4. *पुरूरवाउर्वशी संवाद सूक्त 10/95*
5. *साहित्य द. 3/32*
6. *साहित्य द. 3/37*
7. *विक्रमोवर्शीयम् 1/13*
8. *साहित्य द. 3/183*
9. *अभिज्ञान शा. 2/4*
10. *अभि. शा. 1/9*
11. *अभिज्ञान शा. 1/27*
12. *अभि. शा. 3/17*
13. *अभि. शा. 6/17*
14. *अभि. शा. 2/18*
15. *दशरूपक, 2/4-5*

37

अभिज्ञानशाकुन्तल में महर्षि कण्व का तप प्रभाव

सूर्य प्रकाश शुक्ल

आखेटक क्रीड़ा के सन्दर्भ में आश्रम के निकट का दृश्य देखकर राजा दुष्यन्त अपने सारथी से कहता है कि विना किसी के बताये ही यहां के विविध लक्षणों को देखकर स्वतः ज्ञात होता है कि यह एक आश्रम है। यहाँ वृक्षों के नीचे नीवार के कण बिखरे पड़े हैं जो कोटरस्थ शुकों के मुखों से खाते हुए गिर गये हैं। यहाँ पत्थर पड़े हुए हैं जिनसे इंगुदी के फलों को तोड़ा जाता है। यहाँ हरिण निर्भय विचरण करते हैं क्योंकि अपने रथ की घरघराहट से इन्हें कोई उद्वेग नहीं हो रहा है। स्नान करके लौटते हुए ऋषियों के आर्द्र वलकलवस्त्रों के जल से मार्ग में रेखायें बन गयी है-

''नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः, प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः। विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः।।''[1]

यहाँ आश्रमस्थ ऋषियों की जीवनशैली तथा उनके तपप्रभाव जनित सौहार्द से परिचित मृगों की निर्भयता का उल्लेख किया गया है। आश्रम में नित्य हवन होता है जिसके धूम्र से वृक्षों के कोमल पत्ते भी मलिन हो रहे हैं।**''भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।''**[2] वस्तुतः तपस्वी अत्यन्त तेजस्वी होते हैं, वे अत्यन्त शान्तिप्रिय होते हैं तथापि उनमें विपरीत आचरण करने वालों को दग्ध कर देने का भी सामर्थ्य रहता है। जिस प्रकार सूर्यकान्त मणिका सुखस्पर्श है तथापि सूर्य की किरणों से आक्रान्त होने पर वह भी अग्नि उगलने लगती है उसी प्रकार तपस्वी जन भी क्रुद्ध हो जाते हैं। उनका क्रोध क्रोधास्पद के प्रति असह्य हो जाता है। **''शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति देजः। स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति।।''**[3]

महर्षि कण्व एक सिद्ध तपस्वी हैं। उनका प्रभाव शाकुन्तल में विभिन्न स्थलों पर दिखायी देता है। शकुन्तला की विदा वेला पर उसे अलङ्करणों से विभूषित किये जाने के लिए जब अनसूया और प्रियंवदा व्यवहार करती हैं तब उन्हें लगता है कि शकुन्तला के अत्यन्त आकर्षक नैसर्गिक सौन्दर्य के अनुकूल आभूषण यहाँ नहीं हैं। दोनों सखियाँ प्राकृतिक उपादानों से उसे समलङ्कृत करते हुए विचार करती हैं कि इन उपादानों से शकुन्तला का समुचित अलङ्करण नहीं अपितु रूप विकृत किया जा रहा है क्योंकि अलङ्कार तो वह है जो अलङ्कार्य के सौन्दर्य मे अभिवृद्धि करता हो-**''आभरणोचितं रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यते।''**[4] इतने में ही दो ऋषिकुमार आकर प्रियंवदा को आभूषण देते हैं- **''इदमलङ्करणम्। अलङ्क्रियतामत्रभवती।''**[5] यह देखकर गौतमी को कौतूहल होता है कि ये आभूषण कहाँ से मिले? इस पर ऋषिकुमार उत्तर देता है- ''तात

काश्यप प्रभावात्'' अर्थात् यह पिता कण्व के प्रभाव से अलङ्करणोपलब्धि हुई है। गौतमी पुनःजिज्ञासावशात् पूँछती है- ''किं मानसीसिद्धिः?'' अर्थात् यह मानसी सिद्धि क्या है? वस्तुतः मानसी सिद्धि का प्रभाव यह होता है कि मन से सोची गयी वस्तु स्वतः प्राप्त हो जाती है। ऐसी सिद्धियाँ भारतीय ऋषियों मुनियों के पास होती है जिसे योगसिद्धि भी कहा जाता है। यह योगसिद्धि महर्षि कण्व को उनके तप प्रभाव से सहज सिद्ध थी। योगसिद्धि जिसे होती है उसमे अन्तर्धान होने, तीव्र स्मृति, क्रान्तदृष्टि, परकायप्रवेश, ऐच्छिक अर्थप्राप्ति, भोगादि सिद्धियाँ मिल जाती है- ''योगिनान्तु तपसाऽखिला सिद्धिः।'' तब शिष्य ने उत्तर दिया कि पूज्य कण्व ने हम लोगों को शकुन्तला के लिए पेड़ पौधों से पुष्पाचयन की आज्ञा दी थी तब वृक्षों के निकट जाने पर किसी वृक्ष ने चन्द्रमा के समान धवल माङ्गलिक रेशमी वस्त्र प्रदान किया। किसी वृक्ष ने पादरञ्जन हेतु लाक्षारस प्रदान किया। इनके अतिरिक्त अन्य वृक्षों ने जिनके नव पल्लवों के समान कोमल हाथ दिखायी पड़ रहे थे, ऐसे हाथों से आभूषण दिये-

''क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं, निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै, र्दत्तान्याभरणानि, तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः।।''[6]

यहाँ ध्यातव्य है कि महर्षि कण्व की आत्म चेतना का विस्तार इतना व्यापक है कि वृक्षादि जड़ पदार्थ भी मनुष्यवत् आचरण करते हैं। आत्मीयतावश लोकव्यवहार का अनुसरण करते हुए विविध प्रकार के उपहार प्रदान करते हैं। यहाँ एक यह वैशिष्ट्य भी दृष्टिगत होता है कि ऐसे सिद्ध तपस्वी भगवत् चिन्तन मात्र में ही रहकर एकान्तवास नहीं करते अपितु वे अत्यन्त संवेदनशील और लौकिक व्यवहार पारङ्गत भी होते हैं तभी तो मेनका अप्सरा द्वारा परित्यक्त नवजात कन्या शकुन्तला का पालन-पोषण और विवाह आदि भी करते हैं। यद्यपि कण्व ऋषि सर्वथा विरक्त और वनवासी हैं तथापि गृहस्थ जीवन के समस्त लोकसम्मत समस्त व्यवहारों से सुपरिचित हैं। यह उनकी दिव्य साधना का प्रभाव है। वास्तव में जब दुष्यन्त का आश्रम में आगमन हुआ था तब महर्षि कण्व प्रवास में थे। उनके आने पर जब उन्होंने यज्ञशाला में प्रवेश किया तब आकाशवाणी के द्वारा उन्हें विदित हुआ कि दुष्यन्त के द्वारा स्थापित तेज से शकुन्तला गर्भवती हो चुकी है-

''दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः। अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भा शमीमिव।।''[7]

यह महर्षि कण्व का दिव्य प्रभाव है जिससे उन्हें विना किसी भौतिक साधन से शकुन्तला विषयक सूचना मिली- **''अग्निसरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या''।**[8] यह महर्षि कण्व की ही तपोजनित महिमा है कि आश्रम के मृगमयूरादि पशुपक्षी भी मनुष्यवत् व्यवहार करते हैं। शकुन्तला की विदाई को देखकर हरिणियों ने अपना ग्रास उगल दिया। मयूरों ने नर्तन छोड़ दिया और वे शिथिल हो गये। इस अवसर पर महाकवि कालिदास उत्प्रेक्षा करते हैं कि लतायें भी पीले पत्तों को छोड़कर दुःखित होकर अश्रुमोचन कर रही हैं-

''उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः। अपसृतपाण्डुपत्र मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः।।''[9]

यहाँ एक व्यावहारिक तथ्य यह भी स्मरणीय है कि कण्व के संरक्षण में रहने वाली शकुन्तला भी तद्वत् व्यवहार करती है। वह तभी तो पतिगृहगमन अवसर पर वनज्योत्स्ना से आलिङ्गनपूर्वक मिलती है- **''वनज्योत्स्ने। चूतसङ्गताऽपि मां प्रत्यालिङ्गतोगतभिः शाखाबहुभिः।''**[10] वस्तुतः ब्रह्मा की इस स्थावरजङ्गमात्मक सृष्टि में एक ही ब्रह्म सत्ता की परिव्याप्ति है। उसी से सारी सृष्टि जीवन्त है। जब किसी की चेतना अथवा आत्मा का पूर्ण विकास हो जाता है तब सम्पूर्ण जगत् में आत्मवत् दृष्टि के कारण सभी के प्रति आत्मवत् व्यवहार होने लगता है। इतना ही नहीं जगत् के जड़ चेतन समस्त उपादान भी तदनुकूल व्यवहार करने लगते

हैं। इसी कारण सिद्धपुरुष अथवा ऋषि मुनि सबके साथ अपने सदृश व्यवहार करते हैं और सबके प्रति समत्व के कारण प्रणति भाव रखते हैं। इस स्थिति में पहुंचने के लिए सर्वथा भोग विलास से निरपेक्ष होकर कठोर साधना की अपेक्षा होती है तभी ऐसी सिद्धि प्राप्त होती है। इस दृष्टि से महाकवि कालिदास ने अपने अप्रतिम रम्य नाटक अभिज्ञानकुन्तल में महर्षि कण्व के तप प्रभाव तथा तज्जनित व्यवहार का सम्यक् समावेश किया है।

सन्दर्भ -

1. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 1/14*
2. *तदेव - 1/15*
3. *तदेव- 2/7*
4. *तदेव -4/5 के पूर्व का गद्य*
5. *तदेव - 4/5के पूर्व का गद्य*
6. *तदेव- 4/5*
7. *तदेव- 4/4*
8. *तदेव - 4/4 के पूर्व का गद्य*
9. *तदेव- 4/12*
10. *तदेव- 4/12 के बाद का गद्य*

38

कालिदास के नाटकों में विदूषक

शशिकुमार सिंह

अर्द्धनरीश्वर कपाली सकल अभिनय का सदन है।
अधिष्ठाता हास्य का उस नटेश्वर शिव को नमन है।।

नाटक जीवन के अनुकरण का नाम है **अवस्थाऽनुकृतिर्नाट्यम्**[1] । जीवन में हंसना-हंसाना मनुष्य की एक सहज प्रवृत्ति है। यही कारण है कि नाटकों में भी मानवीय जीवन के सम्यक् अनुकरण के निमित्त हंसने और हंसाने के लिए हास्य रस का प्रयोग किया जाता है। कहा भी गया है -

हंसी बिना ज्यों जीवन सूना, हास्य बिना नाटक भी सूना।

संस्कृतनाट्यों में हास्य रस के हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी उपस्थापन के लिए संस्कृत नाटककारों के द्वारा एक विशेष प्रकार के पात्र की योजना करने की परम्परा रही है जिसे विदूषक कहा जाता है। विदूषक नाटक के नायक का सहयोगी पात्र होता है जो अपने शारीरिक स्वरूप, वाग्चातुर्य एवं वेशभूषा आदि के वैचित्र्य से नाटक में हास्य रस का सृजन करता है। अग्नि पुराण में विदूषक को वैहासिक कहा गया है- **विदूषको वैहासिकः**[2] जिसका अर्थ है कि विदूषक हंसी का प्रतिपादन करने वाला एक पात्र विशेष होता है। हास्यरस का आनन्दप्रद उपस्थापन संस्कृत नाटकों-की प्रमुख विशेषताओं में से एक है। यद्यपि शृङ्गार अथवा वीर में से एक रस को संस्कृत नाटकों में प्रधान रस बताया गया है।[3] परन्तु हास्यादि रसों का भी नाटकों में अङ्ग रूप में अङ्गीकार किया गया है। हास्यरस का लक्षण करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं -

विकृताकार वाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत। हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथ दैवतः।
विकृताकारवाकूचेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः। तमत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्।।[4]

अर्थात् नाटकों में हास स्थायीभाव के अभिव्यञ्जन को हास्य रस कहा जाता है जिसमें हास्य रस की प्रस्तुति के लिए नाटक के पात्रों की आकार विकृति, वाणी की विकृति वेषभूषा की विकृति एवं चेष्टा की विकृति को मनोरंजक रुप में प्रस्तुत किया जाता है जो दर्शकों के हंसी का आधार बनता है। श्वेतवर्णीय हास्य रस के अधिष्ठातृदेव प्रमथगण होते हैं। इस रस का आलम्बन वह व्यक्ति होता है जिसमें आकार, वाणी वेषभूषा, चेष्टादि की विकृतियां दिखाई दिया करती है और जिसे देखकर दर्शक हंसा करता है। ऐसे व्यक्ति की चेष्टाएं हास्य रस के उद्दीपन का कार्य करती हैं। आचार्य शारदातनय ने भावप्रकाशमें संस्कृतनाटकों में हास्य को उत्पन्न करने वाले ऐसे विकृत अंग, विकृत वाणी एवं विकृत वेषभूषा वाले पात्र को विदूषक कहा है -

''विकृताङ्गवचोवेषैर्हास्यकृत्स्याद्विदूषकः[5]। विदूषक शब्द का निर्वचन करते हुए नाट्यदर्पणकार आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने कहा है कि - **''सन्धि विग्रहेण, विग्रहं सन्धिना च विशेषेण दूषयन्ति विनाशयन्ति विप्रलम्भं तु विनोददानेन विस्मारयन्ति इति विदूषकाः**[6] अर्थात् जो विग्रह के द्वारा सन्धि को, सन्धि के द्वारा विग्रह को और विनोद के द्वारा विप्रलम्भ को जो विशेष रूप से दूषित करता है वह विदूषक कहलाता है। विदूषक की इस प्रकार की विरोधाभासी क्रियायें नाटकों में हास्य का सृजन करने में भरपूर सहायक होती हैं। विदूषक के कारण नाटकों में हास्य का वातावरण बना रहता है। विदूषक नामक यह पात्र अपने विविध चित्र विचित्र क्रियाकलापों से दर्शकों को हँसाता रहता है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने संस्कृत नाटकों के नायकों के विविध आचार व्यवहारों के सम्यक् सम्पादन हेतु उनकी सहायता के लिए आवश्यक सहायक पात्रों की कल्पना की है जिसमें उन्होंने तीन कोटियाँ-निर्धारित की है (1) उत्तम (2) मध्यम (3) अधम। आचार्य विश्वनाथ ने विदूषक को नायक का मध्यम कोटि का सहायक पात्र माना है- **'मध्यौ विटविदूषकौ**[7]। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विट, चेट और विदूषक ये तीन पात्र नायक के श्रृङ्गाराश्रित विविध व्यवहारों के सम्पादन में सहायक होते हैं। ये सहायक नायक के स्वामिभक्त होने के साथ-साथ नायक की मानिनी नायिकाओं को मनाने में भी चतुर होते हैं और ये अत्यन्त नर्मनिपुण होने के साथ-साथ चारित्रिक रूप से पवित्र भी हुआ करते हैं।

शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः। भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जकाः शुद्धाः।।[8]

भावप्रकाशकार शारदातनय ने नाटक के नायक के सहायकों पीठमर्द एवं विट के साथ विदूषक की गणना भी नायक ने काम सचिव के रूप में की है-

एते स्युः कामसचिवाः पीठमर्दो विटस्तथा। विदूषकश्च सख्यादिपरिवारेण संयुतः।।[9]

नाट्य में हास्य रस को प्रस्तुत करने वाले और लोक में मनोजरंजन के तत्त्व को घोलने वाले इस विशिष्ट पात्र विदूषक के लक्षण करते हुए नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरतमुनि ने कहा है-

वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः। खलतिः पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः।।[10]

अर्थात् बौने कदवाला, चित्र विचित्र दांतों वाला, कूबड़ युक्त, दो मुंही बात करने वाला, विकृत मुखी तथा पिङ्गल (पीली) नेत्रों वाला पात्र विदूषक कहलाता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ विदूषक के नामादि का आधार पुष्पादि को बताते हुए कहते हैं-

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः। हास्यकारः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः।।[11]

अर्थात् किसी पुष्प अथवा वसन्त आदि पर जिसका नाम रखा जाता है, जो अपने क्रियाकलाप, अपनी शरीर, अपनी वेशभूषा, अपने वाङ्व्यवहार के द्वारा जनसामान्य को हंसाता है तथा जो अपना विदूषक कार्य करते हुए दूसरे से झगड़ने में आनन्द का अनुभव करता है वह विदूषक कहलाता है।

इस प्रकार संस्कृत नाट्यशात्रियों का शास्त्रीय दृष्टिकोण विदूषक को नाटक के ऐसे पात्र के रूप में परिभाषित करता है जो नाटक में हास्यरस का उपस्थापक एक विशिष्ट व्यक्ति होता है। संस्कृत नाटककारों ने अपने नाटकों में विदूषक को एक हास्य पात्र के रूप में स्थान देने में भरपूर दिलचस्पी दिखाई है। शूद्रक, भास, कालिदास, हर्ष आदि संस्कृत नाटककारों ने विदूषक का प्रयोग हास्यरस के अभिव्यञ्जन के लिए तो किया ही साथ ही नाटक के कथा के विकास में भी विदूषक की भूमिका के महत्त्व को रेखांकित किया है।

संस्कृत साहित्य के महान् नाटककार कविकुलगुरुकालिदास अपने तीनों नाटकों अभिज्ञान शाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा मालविकाग्निमित्रम् में नाटक के नायकों क्रमशः राजा दुष्यन्त, राजा पुरुरवा

तथा राजा अग्निमित्र के घनिष्ठ मित्रों क्रमशः माधव्य, माणवक, तथा गौतम को विदूषक के रुप में प्रस्तुत किया है। कालिदास के तीनों नाटक शृङ्गाररस प्रधान हैं परन्तु उनके तीनों ही नाटकों में हास्य रस का अत्यन्त मर्मस्पर्शी उपस्थापन का आधार उनके तीनों विदूषक ही रहे हैं।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् का विदूषक-माधव्य

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के विदूषक का नाम माधव्य है। माधव्य नाटक के नायक हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त का अभिन्न ब्राह्मण मित्र है। वह राजा से प्रायः हास परिहास करता रहता है। वह अत्यन्त आलसी, विनोदी, भोजन प्रेमी, भीरु, वाक्पटु, सरल हृदय राजा के परिवार के सदस्य के समान नाटक में हास्य रस का संचार करने वाला तथा कथा के विकास में महत्त्वपूर्ण सहायक के रुप में दिखलाया गया है।

माधव्य के आलसी स्वभाव का दर्शन तब होता है जब वह राजा के साथ आखेट करते हुए थक जाता है उसकी आखेट करने की इच्छा शेष नहीं रहती है। राजा के आगमन पर वह लुंजपुंज मुद्रा में खड़े होकर कहता है- **भो वयस्य। मे हस्तपादाः प्रसरन्ति। तद् वाचा मात्रेण जयी क्रियते। जयतु जयतु भवान्।।**[12]

अर्थात् हे मित्र, मेरे हाथ और पैर फैल नहीं रहे हैं इसलिए मैं केवल वाणी मात्र से ही आपकी जय जयकार कर रहा हूँ। राजा के द्वारा विदूषक माधव्य से यह पूछे जाने पर कि तुम्हारी ऐसी अवस्था कैसे हो गयी है। वह कहता है कि मेरे अंग-भंग के कारण और कोई नहीं, आप ही हैं। जैसे नदी के वेग के कारण बेंत की लता कुबड़ी बन जाती है वैसे ही आपके साथ जंगली जन्तुओं का आखेट करते हुए मेरी भी यह दुर्दशा हो गयी है। मेरे अंगों के जोड़ टूट गए हैं, जिससे अब हिला भी नहीं जाता। कृपा करके मुझे एक दिन का विश्राम दे दीजिए।

विदूषकः- भो वयस्य! यद्वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति तत्किमात्मनः प्रभावेण उत नदी वेगस्य।

राजा- नदी वेगस्तत्र कारणम्।

विदूषकः- ममापि भवान्।

राजा- कथमिव।

विदूषकः- एवं राजकार्याणि उज्झित्वा तादृश आकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया भवतिव्यम्। यत्सत्यं प्रत्यहं श्वापद समुत्सारणैः सङ्क्षोभितसन्धिबन्धानां मम गात्राणायमीशोऽस्मि संवृत्तः। तत्प्रसादयिष्यामि विसर्जितुं मामेकहमपि तावाद्विश्रमितुम्।[13]

विदूषक माधव्य भोजन के लिए वह सर्वदा तत्पर रहता है। विदूषक की इच्छा के अनुसार जब एक दिन के विश्राम के बदले में राजा दुष्यन्त के एक कार्य में उसकी सहायता की इच्छा दुष्यन्त के द्वारा प्रकट की जाती है तो वह तत्क्षण कहता है- **किं मोहकरकण्डिकायाम्? तेन हि अयं सुगृहीतंः क्षणः।**[14] अर्थात् क्या लड्डू खाने हैं तब तो यह मेरे लिए सर्वथा उपयुक्त अवसर है।

नाटक के षष्ठ अंक में जब राजा को शकुन्तला की खोई हुई अंगूठी प्राप्त हो जाती है तब उनके शकुन्तला के साथ बिताए समस्त मधुर क्षणों की स्मृति जागृत हो जाती है। ऐसी स्थिति में राजा दुष्यन्त शकुन्तला को याद करते हुए अत्यन्त विक्षिप्त हो जाता है स्वयं को धिक्कारते एवं स्वयं को कोसते हुए अत्यन्त दुःखी हो जाता है। परन्तु विदूषक माधव्य इन सभी परिस्थितियों से बेपरवाह बना रहता है।उसके ऊपर इस घटना का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है वह अपने भोजन के लिए परेशान रहता है और अपने मन में सोचता है-

विदूषक - (आत्मगत) अहं खलु बुभुक्षया खादितव्य इति।[15]

(राजा तो मुझे भूख से सचमुच ही मार डालेंगे) इससे माधव्य के अत्यधिक भोजन प्रेमी होने का पता चलता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् का विदूषक माधव्य अत्यन्त भीरु स्वभाव वाला है। राजा दुष्यन्त जब स्वरसाधना कर रही महारानी हंसपदिका को अपना संदेश पहुंचाने के लिए माधव्य से कहता है तब वह डरकर कहता है कि- **''भो वयस्य! गृहीतस्य तया परकीयहस्तैः शिखण्डके ताड्य मानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः''**[16]

अर्थात् जैसे अप्सराओं के मध्य बड़े-बड़े महर्षियों का अप्सराओं से मुक्त होना कठिन हो जाता है वैसे ही जब महारानी हंसपदिका की दासियाँ मेरी चोटी पकड़कर पीटने लगेंगी तो मेरा उनसे छूट पाना सर्वथा असम्भव हो जाता है।

माधव्य अत्यन्त वाक्यपटु भी है। वह अपने मन्तव्य को अत्यन्त रोचक एवं प्रभावशाली ढंग से कहने में समर्थ है। अनिन्द्य सुन्दरी शकुन्तला के प्रेम में पगा हुआ राजा दुष्यन्त जब शकुन्तला के सुन्दर स्वरूप की पवित्रता का बखान करने लगता है, तब विदूषक अपनी हास्यपूर्ण वाक्यटुता का परिचय देते हुए कहता है कि हे राजन्! आप तुरन्त उस सुन्दरी शकुन्तला को अपना लीजिए अन्यथा वह इंगुदी का तेल अपने सिर पर चुपड़ने वाले किसी चिकने सिर वाले तपस्वी के हाथ लग जाएगी। आप हाथ मलते रह जाएंगे।

''विदूषक- तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्। मा कस्यापि तपास्विन इङ्गुदी तैलेमिश्रचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति।''[17]

अभिज्ञानशकुन्तलम् का विदूषक माधव्य एक सरल हृदय व्यक्ति है। उसका मित्र राजा दुष्यन्त जैसा कहता है वह उसे वैसा ही सत्य मान लेता है। उसमें किसी प्रकार की शंका अथवा तर्क वितर्क नहीं करता है। द्वितीय अंक में राजा विदूषक से अपनी प्रेमिका शकुन्तला के प्रति अपने गाढ़ अनुराग को अभिव्यक्ति तो कर देता है परन्तु जब विदूषक को राजमाता के पास जाने की योजना बनती है तो राजा सोचता है कि यह विदूषक अत्यन्त चंचल है कहीं यह शकुन्तला के विषय में कहे गए मेरे अनुराग को हस्तिनापुर में पहुँचकर रनिवास में प्रकट कर दिया तो अनर्थ हो जाएगा। यह विचारकर राजा दुष्यन्त माधव्य से कहता है- **क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधिनो जनः। परिहास विजल्पितं सखे। परमार्थेन न गृह्यतां वचः।**[18]

अर्थात् हे मित्र! मृगछौनों के साथ पली बढ़ी हुई उस कोमल शकुन्तला का हमारे साथ प्रेम कहाँ सम्भव हो पाएगा। मैंने तुमसे शकुन्तला के सम्बन्ध में जो चर्चा की है वह मात्र हंसी के लिए कहा गया है, वह सत्य नहीं है, तुम इसे सत्य न मान लेना। यह सुनकर वह भोला भाला सरल हृदय विदूषक, दुष्यन्त की कही गई बात को सहर्ष सहमत हो जाता है और कहता है- **अथ किम्?** (बहुत अच्छा)।

माधव्य का व्यक्तित्व राजा के लिए विश्वसनीय भी है यही कारण है कि राजा दुष्यन्त की माता के समक्ष उसे परिवार के सदस्य के रूप में हस्तिनापुर भेजते हुए दुष्यन्त कहता है-

सखे! त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीतः। अहो भवानितः प्रति निवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मामावेद तत्र भवहीनां पुत्रकृत्यम् अनुष्ठातुम् अर्हति।[19]

अर्थात् हे विदूषक मैं ऋषि रक्षा में संलग्न हूँ। माताजी तुम्हें पुत्र के समान ही मानती हैं अतः मेरे स्थान पर तुम्हीं हस्तिनापुर चले जाओ, वहाँ जो कार्य मुझे सम्पादित करना है उसे तुम ही सम्पन्न कर देना।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् का विदूषक अपने कार्य व्यवहार से हास्य रस का वातावरण निर्मित करता रहता है- शकुन्तला के विरह से आक्रान्त राजा दुष्यन्त जब प्रमदवन पहुँचता है तो वहाँ वसन्त का आगमन हो गया होता है जिसके कारण आम्र की बौरे ऐसी लगती हैं जैसे कामदेव ने उन्हें अपने बाणों के अग्रभाग के उपस्थापित कर प्रमदवन में उपस्थित कर दिया है।

मुनिसुता प्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः।
मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः।।[20]

इसे सुनकर विदूषक कहता है- **तिष्ठ तावत्! अनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्वबाणं नाशयिव्यााभि।**[21]

अर्थात् रूकिए, रूकिए मैं अपनी वाणी से ही इस काम बाण का नाश कर देता हूँ। यह कहकर वह आम के बौर को तोड़ने के लिए उस पर अपने डण्डे से प्रहार करने लगता है। इसी तरह सेअन्य अनेक अवसरों पर भी विदूषक हास्य का सृजन करने में सफल होता हूँ।

अभिज्ञानशाकुन्तलम का विदूषक माधव्य केवल हँसी के लिए ही नाटक में नहीं महत्त्वपूर्ण है अपितु नाटक की कथा के विकास में भी उसकी भूमिका विशेष महत्त्व की है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में कुल सात अंकों में से द्वितीय एवं तृतीय अंक की कथा में विदूषक की बहुतायत उपस्थिति है। द्वितीय अंग में नाटक के नायक दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति उत्कृष्ट प्रेम के उपस्थापन में दुष्यन्त-विदूषक संवाद विशेष महत्व रखता है। पुनः षष्ठ अंक में राजा दुष्यन्त की शकुन्तला के विरह वियोग की स्थिति के वर्णन में भी दुष्यन्त और विदूषक के संवाद के माध्यम से ही दुष्यन्त के मन में विद्यमान शकुन्तला के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का दर्शन होता है। षष्ठ अंक में ही जब विरह से व्याकुल राजा दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला के सुंदर चित्र के अंक से युक्त फलक को रानी वसुमती के वहाँ आगमन के पूर्व राजा के रहस्य को छिपाए रखने के लिए जब चित्रफलक को वहाँ से हटाना बहुत आवश्यक हो जाता है। तब विदूषक ही उस पात्र के रूप में सामने आता है जो बड़ी सावधानी से रानी वसुमती के आने के पूर्व ही मेघप्रतिच्छन्द भवन में मिलने का सन्देश देकर वहाँ से निकल जाता है और राजा के प्रतिष्ठा हनन होने से बचाता है।

राजा - वयस्य! उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च। भवान् इमां प्रतिकृतिं रक्षतु।
विदूषक - आत्मानमिति भण। यदि भवानन्तः पुरकाल कूटानमोक्षयते तदा मां मेघप्रतिछन्दे प्रासादे शब्दापय।।[22]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के षष्ठ अंक में ही शकुन्तला के विरहाग्नि से सन्तप्त सन्तानहीन दुष्यन्त व्याकुल चित्त होकर यह विचार करने लगता है कि उसके बाद उसके पूर्वजों के तर्पण को कौन सम्पन्न करेगा। यह चिन्ता करते हुए वह जब मूर्छित हो जाता है। नाटक की कथा में रूकावट ही आ जाती है परन्तु उसी समय नेपथ्य में उपस्थित विदूषक ही वह पात्र है जो नाटक की कथा को आगे बढ़ाने में मदद करता है। नेपथ्य में ही इन्द्र का सारथी मातलि विदूषक माधव्य को पीटने लगता है तो राजा को मूर्छा से वीरोचित उत्साह की अवस्था में ले आने के लिए और विदूषक के बारम्बार चिल्लाने पर कि अब्रह्मण्यम्[23] अर्थात् मुझ ब्राह्मण को किसी ने मार डाला। माधव्य के इस करुण कुन्दन को पहचानकर राजा दुष्यन्त क्रोधित हो जाता है और धनुष पर बाण चढ़ाने लगता है। तभी इन्द्र का सारथी आता है और राजा दुष्यन्त को इन्द्र के शत्रु कालनमि वंशी दुर्जय नामक दानव के विनाश के लिए इन्द्र का सन्देश सुनाता है तत्पश्चात राजा दुष्यन्त का इन्द्रलोक के लिए प्रस्थान होता है और नाटक की कथा आगे बहती है। यहाँ पर भी कथा के विकास में विदूषक की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दिखलाई पड़ती है।

विक्रमोर्वशीर्यम् का विदूषक-माणवक

विक्रमोर्वशीयम् महाकवि कालिदास द्वारा विरचित एक त्रोटक है। कुल अंकों के सुगठित कथानक में विरचित विक्रमोर्वशीयम् में प्रतिष्ठान् पुर के चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा तथा अप्सरा नायिका उर्वशी के प्रेम की मर्मस्पर्शी कथा वर्णित हैं। नायक के सहायक पात्र के रूप में माणवक नामक विदूषक की कल्पना कवि कालिदास की प्रतिभा का अत्यन्त मनोग्राही निदर्शन है। माणवक एक ब्राह्मण पात्र है। वह अत्यन्त वाचाल, पेटू,

कुरूप, भीरू, विनोदी, लालची, हास्यरस का आनन्द करने वाला एक अद्भुत पात्र है। माणवक अपने मित्र और नाटक के नायक पुरुरवा को समय समय पर आश्वासन देने वाला कुशल परामर्शक तथा निष्ठावान् सहायक है। वह विदूषक माणवक का मुखर प्रखर व्यक्तित्व ही विक्रमोर्वशीयम् की कथा के सातत्य में अत्यन्त सहायक होता है।

नाटक के द्वितीय अंक में जब नाटक की नारीका उर्वशी नायक पुरूरवा को नमस्कार करती है तो विदूषक माणवक कहता है- **''भवति! राज्ञः प्रियवयस्यो ब्राह्मणः किं न वन्द्यते।**[24] अर्थात् हे देवी राजा के प्रिय मित्र मुझ ब्राह्मण को क्या आप नमस्कार नहीं करोगी? यहाँ माणवक स्वयं ही अपने आपको ब्राह्मण कहता है। राजा पुरूरवा के प्रति अप्सरा उर्वशी के प्रगाढ़ अनुराग का आश्वासन देता हुआ अपना ब्राह्मण होना उद्घोषित करता है- **न खल्वन्यथा ब्राह्मणस्य वचनम्**[25] अर्थात् ब्राह्मण का वचन कभी झूठा नहीं होता है।

विक्रमोवर्शीयम् का विदूषक अत्यन्त वाचाल एवं पेटू प्रकृति का पात्र है। राजा पुरूरवा के प्रति अप्सरा उर्वशी के प्रेम के प्रसङ्ग को प्रचारित-प्रसारित करने के लिए वह व्यग्र हो उठता है बोलने के लिए उसकी जिह्वा लपलपाने लगती है- **ही ही भोः। निमन्त्रणिकः परमान्नेनेव राजरहस्येन स्फुटत्न शक्नोमि जनाकीर्णेऽकीर्हनानेनात्मतो जिह्वा धारायितुम्।**[26]

अर्थात् जैसे अत्यधिक भोजन करने वाले ब्राह्मण का पेट अधिक भोजन के कारण फटने की स्थिति में हो जाता है वैसे ही पुरूरवा उर्वशी के प्रेम सम्बन्धी वार्ता को गोपनीय रख पाना माणवक को कठिन हो रहा है। इससे उसकी वाचालता पुष्ट होती है वह राजा के हित को चिन्तन करने वाला मित्र है। महाराज पुरूरवा के प्रति उर्वशी के प्रेम को प्रकट करने वाला पद्य जिस भोजपत्र पर लिखा था वह विदूषक की असावधानी से रानी की परिचारिका निपुणिका के हाथ लग जाता है और रानी, राजा पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम से अवगत हो जाती है। विदूषक ऐसे अवसर पर राजा की मदद के लिए रानी का ध्यान इधर से हटाने के लिए विदूषक कहता है- **भवति! त्वरयास्य भोजनं यत्पित्तोपशमनसमर्थं भवति। भवति! ननु पश्य आश्वासितः पिशाचोऽपि भोजनेन।**[27]

अर्थात् महाराज के भोजन की व्यवस्था शीघ्रातिशीघ्र कीजिए जिससे राजा के जठराग्नि को शान्ति मिल सके। क्योंकि भोजन से तो भूतपिशाच भी शांत हो जाते हैं।

विक्रमोर्वशीयम् का विदूषक एक कुरुप पात्र प्रतीत होता है क्योंकि विदूषक राजा पुरूरवा के द्वारा उर्वशी के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर अत्यन्त प्रभवित हो जाता है और पूछ पड़ता है कि क्या सुन्दरता में उर्वशी उतनी ही अप्रतिम है जैसे कुरूपता में मैं स्वयं- **किं तत्रभवत्युर्वश्यद्वितीया रूपेण, अहमिव विरूपतया।**[28] वह विदूषक अत्यन्त डरपोक प्रकृति का व्यक्ति है। जब उर्वशी राजा पुरूरवा के प्रति अपने प्रेम भाव से अभिवर्णित भोजपत्र राजा के सामने गिराती है तो माणवक घबराकर भयभीत हो जाता है और कहने लगता है कि यह सांप की केंचुली मुझे खा डालने के लिए कहाँ से आ गयी है? **''अविधा अविधा। भोः किन्मु खलु एतत् भुजङ्गनिर्मोकः किं मां खादितुं निपतितः।।''**[29] वह अत्यन्त मनोविनोदी स्वभाव वाला हंसमुख पात्र है। उदित होते हुए चन्द्रमा की स्थिति का वर्णन करने के लिए विदूषक जिस उपमा का सहारा लेता है उससे माणवक के विनोदी स्वभाव का परिचय मिलता है, वह कहता है- **ही ही भोः। एष खलु खण्डमोदकसश्रीक उदितोराजा द्विजाहीनाम्।**[30]

अर्थात् उदित होता हुआ चन्द्रमा ऐसा सुन्दर प्रतीत हो रहा है जैसे खांड़ का लड्डू हो। विदूषक की बात पर राजा पुरूरवा हंसने लगता है और कहता है पेटू व्यक्ति को सर्वत्र भोजन की सामग्री ही दिखलाई पड़ती है। लालच भी विदूषक के आचरण का रोचक पक्ष है जिसके कारण हास्य की स्थिति निर्मित होती है। उर्वशी के साथ विहार करके जब राजा पुरूरवा नगर लौटते हैं तो उनका प्रजा द्वारा हार्दिक स्वागत किया जाता है। तभी विदूषक के मन में भी स्वयं को स्वागत का लालच जग जाता है। वह कहता है मुझे भी तत्काल राजा

के पास पहुँचकर चन्दन, माला आदि का सम्मान प्राप्ति का लाभ उठा लेना चाहिए। **तद्‌यावत तत्रभवतोऽलङ्क्रियमाणस्यानुलेपमाल्येऽग्रभाजी भवामि।**[31]

विदूषक माणवक राजा का प्रिय ब्राह्मण मित्र होने के कारण सम्मान का भी पात्र होता है। यही कारण है कि जब राजा पुरूरवा का अपने पुत्र आयु कुमार से मिलन होता है तथा आयुकुमार अपने पिता का चरण स्पर्श कर प्रणाम करता है। राजा अपने पुत्र आयुकुमार को आशीर्वाद देते हैं और अपने प्रिय मित्र माणवक को भी प्रणाम करने के लिए अपने पुत्र को प्रेरित करते हैं।

राजा - (कुमारमालिङ्ग्य पादपीठे चोपवेश्य) वत्स इतस्तव पितुः प्रियासखं ब्राह्मणमशङ्कितो वन्दस्व[32]

अर्थात् हे पुत्र! अपने पिता के प्रियमित्र के रूप में इन ब्राह्मण को भी नमस्कार करो। इस प्रकार विदूषक राजा का प्रिय मित्र होते हुए नाटक में अपने विशिष्ट व्यवहारों से हास्य रस के आनन्ददायक वातावरण के निर्माण के सतत उद्योगशील रहता है।

मालविकाग्निमित्रम् का विदूषक-गौतम

विदिशा नरेश अग्निमित्र और माधव सेन की बहन मालविका के प्रेम की सुरूचिपूर्ण नाट्य प्रस्तुति का चूडान्त निदर्शन है कालिदास का अप्रतिम नाटक - मालविकाग्निमित्रम्। इस नाटक में कवि और कालिदास ने नाटक के नायक राजा अग्निमित्र के प्रिय ब्राह्मण मित्र के रूप में बिदूषक की कल्पना की है, जिसका नाम है गौतम। गौतम, राजा अग्निमित्र का अभिन्न सहायक और कुशल सचिव के रूप में नाटक में उपस्थित होता है।

राजा- (विदूषकं दृष्टवा) अयमपरः कार्यान्तरसचिवोऽस्माकमुपस्थितः[33]

नाटक की नायिका अप्रतिम सुन्दरी मालविका से नाटक के नायक राजा अग्निमित्र से मिलन कराने में विदूषक गौतम की चतुराई की प्रशंसा करते हुए राजा अग्निमित्र स्वयं कहते हैं-

राजा- साधु वयस्य! निपुणमुपक्रान्तम्। इदानीं दुरधिगम सिद्धावप्यास्मिन्नारम्भे वयमाशंसामहे। कुतः -
अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव। दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि ।।[34]

अर्थात् तुम्हारी चतुराई से मालविका मिलन रूपी अत्यन्त कठिन कार्य भी अब संभव लगने लगा है क्योंकि जैसे अंधेरे के किसी वस्तु को देखने के लिए दीपक की आवश्यक होती है वैसे ही कठिन कार्यो में जब कोई चतुर सहायक मिल जाता है तो कार्य में सफलता अवश्यंभावी हो जाती है।

विदूषक गौतम भी भोजन के प्रति आसक्त रहने वाला पात्र है। मध्यान्ह में भोजन का समय हो जाने पर भोजनप्रेमी विदूषक कहता है- **''अविधा। अविधा। अस्माकं पुनर्भोजन्वेलोपस्थिता। अत्रभवत उचित वेलाक्तिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति।''**[35] अर्थात् यह हमारे भोजन का समय है। वैद्यों के अनुसार भोजन समय से करना चाहिए। भोजन समय से न करने पर बड़ी हानि होने की सम्भावना रहती है।

राजा अग्निमित्र जब गौतम से मालविका मिलन के उपाय के बारे में निवेदन करता है तब वह कहता है कि आप मेरी भी चिन्ता कीजिए। मुझे भूख सता रही है। मेरे पेट की स्थिति ऐसी हो गई है जैसे हलवाई का सन्तप्त तवा-

विदूषक - भवाताप्यहम्। दृढं विपणि कन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं दह्यते।[36]

विदूषक गौतम लोभी प्रकृति का व्यक्ति भी है। यही कारण है कि अग्निमित्र की दूसरी रानी इरावती की दासी निपुणिका गौतम को लोभी कहकर संकेतित करती है।

''वसन्तोत्सवोपायनलोलुपेनार्थगौतमेन कथितं त्वरतां भट्टिनीति।''[37]

विदूषक गौतम ढोंगी रूप में भी नाटक में चित्रित किया गया है। गौतम प्रतिहारी जयसेना के साथ मिलकर राजा अग्निमित्र की प्रेयसी मालविका से मिलने के लिए एक ढोंग पूर्ण योजना की रचना करता है। विदूषक गौतम स्वर्णाभूषण पात्र रखे जाने वाले भूमिगृह की गुफा में बन्द मालविका को मुक्त कराकर राजा अग्निमित्र से मिलने के लिए रानी धारिणी से नाग मुद्रांकित अंगूठी प्राप्त करने के लिए प्रतिहारिणी जयसेना से मिलकर एक झूठे ढोंग की रचना विदूषक गौतम को ढोंगी व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करती है। वह अपने हाथ के अंगूठे को जनेऊ से बांधकर शोर मचाते हुए चिल्लाता है- **परित्रायतां परित्रायतां भवान्। सर्पेणास्मि दष्टः**[38] (बचाइये महाराज, बचाइये)। मुझे सांप ने काट लिया है। तय योजना के अनुसार रानी धारिणी से नागमुद्रांकित अंगूठी प्राप्त करने में गौतम सफल हो जाता है और उसी अंगूठी के आधार पर मालविका को गुफा गृह से मुक्त कराकर राजा अग्निमित्र से मिला भी देता है। गौतम के इस सफल योजना पर प्रसन्न होकर राजा अग्निमित्र मित्र गौतम का आलिंगन करते हुए कहते हैं कि हे गौतम निश्चय ही मैं तुम्हें अत्यधिक प्रिय हूँ। क्योंकि प्रेमनिष्ठ मित्र ही अपने मित्रों का कठिन से कठिन कार्य पूर्ण कर सकता है, केवल बुद्धि बल पर सफलता नहीं मिल पाती।

राजा - (विदूषकं परिष्वज्य) सखे प्रियोऽहं खलु तव।

नहि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम्। कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते।।[39]

विदूषक गौतम के लिए नाटक में अनेक स्थानों पर महाब्राह्मण कहकर संबोधित किया गया है। महाब्राह्मण शब्द ब्राह्मणों में अधमकोटि के लिए ब्राह्मणों के लिए किया जाता है। इसका अर्थ है कि मालविकाग्निमित्रम् नाटक का विदूषक अधम ब्राह्मण है। संगीत के आचार्य गणदास गौतम को महाब्राह्मण शब्द से संबोधित करते हुए कहते हैं- **गणदासः महाब्राह्मण! न खलु प्रथमं नेपथ्यदर्शनम्।**[40]

अस्तु महाकवि कालिदास विरचित संस्कृत साहित्य की अप्रतिम त्रिविध नाट्यकृतियां स्वयं अपने आप में विदूषक के व्यक्तित्व के सुन्दर समुन्मेष के कारण जो हास्य रस मिश्रित शृंङ्गार रस की प्रतीति कराती हैं वह अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होती। कालिदास के नाटकों में जहाँ कहीं भी कथावस्तु के प्रवाह में गतिरोध की स्थिति संभावित होती है वहाँ विदूषक की भूमिका से वह अनायास ही हृदयग्राही सातत्य को प्राप्त कर लेती हैं। कालिदास का विदूषक गम्भीर से गम्भीर अवस्था में भी अपनी तरलता सम्पन्न वैहासिक माधुर्य से अपने नायक मित्र के लिए अनुकूल स्थिति के निर्माण में सर्वथा सफल होता है। विदूषक कालिदास के नाटक की अनिवार्य नाट्य सामग्री है जिसके बिना कालिदास के नाटकों में रमणीयता की कल्पना सम्भव ही नहीं है।

सन्दर्भ -

1. *दशरूपकम्, पृष्ठ 09*
2. *अग्निपुराण, 335/40*
3. *एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा। अङ्गमन्वे रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः।।*
   साहित्यदर्पण 6/10
4. *साहित्यदर्पणम्, 3/214-215*
5. *भावप्रकाश, पृष्ठ-94*
6. *नाट्यदर्पण, पृष्ठ-377*
7. *साहित्यदर्पण- 3/46*
8. *साहित्यदर्पण-3/40*
9. *भावप्रकाश, पृष्ठ-92*
10. *नाट्यशास्त्र- 35/50*

11. साहित्यदर्पण- 3/42
12. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 366
13. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 367
14. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 368
15. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 439
16. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 410
17. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 372
18. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2/18
19. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 377
20. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6/8
21. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 435
22. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 444
23. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 448
24. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 501
25. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 503
26. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 486
27. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 506
28. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 490
29. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 497
30. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 512
31. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 550
32. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 557
33. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 576
34. मालविकाग्निमित्रम्, 1/9
35. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 592
36. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 593
37. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 602
38. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 620
39. मालविकाग्निमित्रम्, 4/6
40. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ 520

39

रंगमंच का आधुनिक स्वरूप और कालिदास के नाटक

अजय यादव

नाटक सर्वदा वर्तमान में घटित होने वाली घटना है। यह कला की एक जीवित क्रिया है। भूतकाल की क्रियायें प्रेक्षकों को रंगमंच पर निरंतर वर्तमान में घटित होती हुई दिखायी पड़ती है। इसलिए नाट्यनिर्देशक को, नाट्य प्रस्तुतीकरण के माध्यम से रंगमंच की वर्तमान सुविधाओं को स्वीकार करना पड़ता है। अन्यथा प्रेक्षक एवं अभिनेता दोनों अपने कार्यों में स्वाभाविक रूचि न लेकर उबन महसूस करने लगेंगे। प्रत्येक नाटक के लिए तत्काल नवीन रंगमंच निर्मित नहीं किया जा सकता। अतः नाटक और उसके मंचन के पारस्परिक सामंजस्य को बनाये रखने के लिए नाटककार को रंगमंच सम्बन्धी नियमों का पालन करना पड़ता है। नाटक दृश्य-काव्य है। दृश्य-काव्य होने के कारण अभिनेयता उसका प्रधान गुण है। अतः नाटककार को नाटक के प्रत्येक दृश्य को प्रस्तुत करते समय रंगमंच का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि नाटक की सफलता रंगमंच पर ही निर्भर रहती है। रंगमंच के अंग, प्रकार सभी नाट्यसृष्टि को प्रभावित करते हैं। अतः रंगमंच नाट्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। प्राचीन काल से लेकर अब तक के रंगमंच पर विचार कर देखा जा सकता है कि रंगमंच सदैव एक सा नहीं रहा है और सम्भव भी नहीं है। मनुष्य के भाव, विचार व आकांक्षायें सामयिक साधनों का उपयोग कर नित्य ही नवीन उपकरणों की सृष्टि करती हैं। प्राचीन काल में मनुष्य पूर्णतया प्रकृति पर आश्रित था। वह पर्वतीय गुफाओं को मंत्र का रूप देकर वहां संगीत या नाटक का आयोजन कर मनोरंजन कर लेता था। स्थायी रंगमंच के अभाव में जवनिका का प्रयोग कर, नेपथ्य, रंगशीर्ष और रंगपीठ आदि अंगों को पृथक् कर नाटकों का मंचन होता रहा है। आज मानव मस्तिष्क ने विज्ञान के प्रभाव से ऐसे उपकरणों का आविष्कार कर लिया जिसकी कल्पना भी पहले लोगों ने नहीं की थी। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की उन्नति से विभिन्न संभावनायें पैदा हुई हैं। सर्वप्रथम खुले आकार तले ले जाने वाले नाटक अब बंद हाल में आयोजित और मञ्चित होने लगे हैं।

यूरोप में बहुत पहले से थियेटरों की व्यवस्था रही है। ऑपेरा, बैठे आदि नृत्य नाटिका ये थियेटरों में ही मञ्चित होती रही हैं। यूरोप के बहुत से प्राचीन थियेटर मात्र थियेटर ही नहीं कलाकृतियों के नमूने हैं। थियेटरों का निर्माण अपने में एक अलग विज्ञान है जिसे 'एकास्टिक्स आफ विल्डिंग' के नाम से जानते हैं। थियेटर में प्रतिध्वनि कम करने के लिए खिड़कियों, दरवाजों और दीवारों पर विशेष प्रकार के पर्व लगाये जाते हैं। हाल का निर्माण भी इन चीजों को ध्यान में रख कर किया जाता है। दर्शकों के बैठने का स्थान, वाद्ययन्त्रों का स्थान, गलियारों के बीच से आने जाने का रास्ता, आदि बहुत सी चीजें ध्यान में रखी जाती हैं।

पुराने थियेटरों में विभिन्न प्रकार के पृष्ठ दृश्यों हेतु अलग-अलग पर्दे थिर्रियों पर चलाकर लगाये जाते रहे हैं। यह प्रथा हमारे भारतीय रंगमंच में भी थी। अब विभिन्न दृश्यों की स्लाइड्स को एक सफेद पर्दे पर दिखाया जा सकता है। सभी मंच की पूरी व्यवस्था को बहुत शीघ्र बदलने की आवश्यकता हो सकती है। ऐसी स्थिति में चल मंचों की व्यवस्था की जा सकती है। यह मंच एक विद्युत् मोटर द्वारा आपस में बदले जा सकते हैं, जिससे कि दर्शकों के सामने सर्वथा नया दृश्य उपस्थित किया जा सके। इसे आधुनिक यांत्रिक मंचन (माडर्न मेकेनिक्ल स्टेजिंग) का नाम दिया जा सकता है। यह यंत्र रंगमंच पर दृश्य के अनुरूप वातावरण उपस्थित करने में विशेष सहायक सिद्ध हुआ है। प्रायः मंचन को सजीव बनाने के लिए विभिन्न प्रकार की ध्वनियों की आवश्यकता होती है। उदाहरण के तौर पर कोयल की कूक, गायों का रंधाना, पत्तों की तड़तड़ाहट, नदियों की कलकल ध्वनि, आकाशयान का हरहराना, भ्रमरों का गुंजन आदि। ये ध्वनियां टेपरिकार्डर में रिकार्ड करके पुनः पेश की जा सकती हैं तथा ध्वनि विस्तारक यंत्र से प्रसारित की जा सकती हैं। आजकल कुछ नये यंत्रों की खोज हुई है, जिनके उपयोग से ध्वनियां बनायी भी जा सकती हैं। इनको ध्वनि उत्पादक यन्त्र (साउण्ड सिन्थेजाइजर) कहते हैं। यह सब साउण्ड प्रोडक्शन सिस्टम के अन्तर्गत आता है। कम्प्यूटरों(संगणकों) के उपयोग से भी नई ध्वनियां और गीत बनाये जा सकते हैं। इसके लिए एक प्रोग्रामिंग भाषा का विकास किया गया है जिसका नाम है- "SNOBOL"।

नये तरीकों के रसायनों और सुर्खियों से विभिन्न आवश्यक दृश्य बनाकर उनकी स्लाइड्स बनायी जाती है और उन्हें श्वेत पट पर प्रक्षेपित कर पृष्ठ दृश्य प्राप्त किया जाता है। रंगमंच पर आधुनिक वैज्ञानिक यंत्रों का प्रयोग कर महाकवि कालिदास के नाटको के मंचन में सजीवता एवं स्वाभाविकता लाई जा सकती है। विक्रमोर्वशीयम् नाटक में चतुर्थ अंक के प्रवेशक में सहजन्या प्राची दिशा की ओर देखकर चित्रलेखा से कहती है- (प्राचीदिशं विलोक्य) - **तदेहि उदयोन्मुखस्य भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कुर्वः।**[1]

इस दृश्य को पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत करने के लिए उदय होते हुए सूर्य का दृश्य चित्रित कर 'स्लाइड्स' तैयार किया जा सकता है और इसे विद्युत् प्रकाश की सहायता से सफेद पर्दे पर प्रक्षेपित किया जा सकता है। पृष्ठभूमि के लिए लगाये गये श्वेत पर्दे पर प्रक्षेपित उदयोन्मुख सूर्य के दृश्य को देखकर सहजन्या चित्रलेखा से उपर्युक्त संवाद बोलेगी। चतुर्थ अंक में राजा पुरूरवा उर्वशी को खोजता हुआ विलाप करता है। इस दृश्य में कालिदास ने पूरे वन के दृश्य का वर्णन किया है। पुरूरवा वन में घूम-घूम कर उन्मत्त- सा कोयल, हंस, बादल, हाथी, मधुकर, नीलकण्ठ चक्रवाक सबसे अपनी प्रियतमा उर्वशी को पूछता है।[2] इस दृश्य के प्रस्तुति के लिए रंगमंच पर वन का वातावरण उपस्थित करना होगा। इसके लिए पूर्व निर्मित चलमंत्र का उपयोग किया जा सकता है। इस मंच में पूर्व निर्मित वन का दृश्य होगा। उसमें स्थान-स्थान पर कृत्रिम कोयल, हंस, नीलकण्ठ, मधुकर, हाथी, चक्रवाक स्थापित होगे। टेप रिकार्डर से इनकी आवाजें टेपकर मंचन के समय ध्वनि विस्तारक यंत्रों से प्रसारित की जा सकती है। संभव है नाट्य निर्देशक इन आवाजों को टेप करने के लिए जंगल में जायें उस समय वे न मिल सकें। ऐसी स्थिति में साउण्ड सिन्चेजाइजर नामक यंत्र से इन पशु- पक्षियों की आवाजें उत्पन्न की जा सकती है और मंचन के समय पुनः पैदाकर ध्वनि विस्तारक यंत्रों से प्रसारित की जा सकती हैं।

विक्रमोर्वशीयम् नाटक के तृतीय अंक में महारानी मणिहर्म्य पृष्ठ पर राजा के साथ सुदर्शन चन्द्र का दर्शन करना चाहती है। इस दृश्य में भी पृष्ठभूमि के रूप में सफेद पर्दा लगाकर, उस पर चन्द्रमा के दृश्य का स्लाइड तैयार कर विद्युत् प्रकाश से प्रक्षेपित किया जा सकता है। श्वेत पर्दे पर प्रक्षेपित चन्द्रमा को बेतकर रानी अपनी सखी निपुणिका से कहेगी- **हञ्जे निपुणिके ! एष रोहिणीसंयोगेनाधिकं भगवान् शोभते मृगलाञ्छनः।**[3]

अर्थात् सखि निपुणिके। भगवान् चन्द्रमा रोहिणी से संयुक्त होकर अधिक शोभायमान हो रहे हैं। विक्रमोर्वशीयम् द्वितीय अंक में रंगपीठ पर विदूषक और राजा वार्तालाप कर रहे हैं। उसी समय चित्रलेखा और उर्वशी आकाशयान से उतरती हैं - **ततः प्रविशत्याकाशयानेनोर्वशी चित्रलेखा।**[4] तृतीय अंक में भी राजा और विदूषक महारानी का आमन्त्रण स्वीकार कर मणि हर्म्यपृष्ठ पर स्थित है। इसी समय उर्वशी और चित्रलेखा आकाशयान से रंगमंच पर प्रवेश करती है- **ततः प्रविशति आकाशयानेनाभिसारिका वेषा उर्वशी चित्रलेखा च।**[5]

इस दृश्य के प्रस्तुति के समय पृष्ठभूमि पर आकाश में उड़ते हुए आकाशयान का चित्र दिखाना आवश्यक होगा। इसके लिए इस प्रकार के चित्र का स्लाइड तैयार कर पृष्ठभूमि हेतु लगे सफेद पर्दे पर प्रक्षेपित किया जा सकता है और चित्रलेखा और उर्वशी शरीर को झुकाकर आकाशयान से उतरने का नाटक करेंगी। उसी समय आकाशयान के घरघराने की आवाज की जा सकती है। यह आवाज साउण्ड सिन्थेजाइजर नामक यंत्र से उत्पन्न कर ध्वनि विस्तारक यंत्र से प्रसारित की जा सकती है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में राजा रथ पर बैठा हुआ मृग का अनुसरण कर रहा है। सारथि रथ के वेग को सूचित करते हुए अधोलिखित श्लोक पढ़ता है -

सूतः-- यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (रथवेगं निरूप्य) आयुष्मन्, पश्य पश्य-- मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया निष्कम्पचामरशिखा निभतोर्ध्वकर्णाः। आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः।।[6]

इस दृश्य में सारथि विशेषण मुद्रा और पथाभाव के द्वारा रथ चलाने का नाटक करेगा। रथ के चलने की आवाज टेपरिकार्डर से टेप कर ली जायेगी। उपर्युक्त दृश्य के मंचन के समय टेप चलाकर आवाज पुनः उत्पन्न कर ध्वनि विस्तारक यन्त्र से प्रसारित की जायगी। राजा एवं सारथि के हाव भाव, रथ चलाने के अभिनय एवं टेप रिकार्डर से उत्पन्न तथा ध्वनि विस्तारक यन्त्र से प्रसारित आवाज, तीनों के समन्वय से दर्शकों को ऐसा प्रतीत होगा कि मंच पर रथ चल रहा है। प्रथम अंक में वैखानस राजा दुष्यन्त को अनुमालिनी नदी के किनारे स्थित आश्रम को दिखाता है-

वैखानसः- राजन्, समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः तत्प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः ।[7]

इस दृश्य में भी पृष्ठभूमि प्रदर्शित करने हेतु सफेद पर्दा लगा दिया जायेगा और अनुमालिनी के तट पर स्थित आश्रम एवं तपोवन भूमि के दृश्य का स्लाइड तैयार कर प्रोजेक्टर से पृष्ठभूमि के रूप में लगे सफेद पर्दे पर प्रक्षेपित किया जायेगा। इस दृश्य की प्रस्तुति के लिए चलमंच पर भी तपोवन का वातावरण उपस्थित किया जा सकता है। उसमें बहती हुई नदी एवं आश्रम भी दिखाया जा सकता है। मंचन के समय विद्युत् मोटर की सहायता से इस मंच को सम्मुख लाया जा सकता है। टेपरिकार्डर से नदी की कलकल ध्वनि टेप की जा सकती है। मंचन के समय इस ध्वनि को ध्वनि विस्तारक यन्त्र से प्रसारित किया जा सकता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में भ्रमर शकुन्तला का पीछा कर रहा है। वह रंगमंच पर भ्रमर से बचने के लिए इधर-उधर भाग रही है और उसे हाथ से हटाने का प्रयत्न कर रही है। शकुन्तला कह रही है -

शकुन्तला - (ससंभ्रमम्) अम्मो, सलिलसेकसंभ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते। (इति भ्रमरबाधां रूपयति।) शकुन्तला नैष धृष्टो विरमति। अन्यतो गमिष्यामि।(पदान्तरे स्थित्वा स दृष्टिक्षेपम्) कथमितोऽप्यागच्छति। हला, परित्रायेथां मामनेन दुविनीतेन मधुकरेणाभिभूयमानाम् ।---------------

शकुन्तला -- **(पदान्तरे स्थित्वा स–दृष्टिक्षेपम्) कथमितोऽपि मामनुसरति ।**[8]

इस दृश्य में शकुन्तला हाथों से भ्रमर को हटाने का नाटक करेगी और उपर्युक्त वाक्यों को कहती हुई रंगमंच पर इधर-उधर भागने का नाटक करेगी। इसी समय टेपरिकार्डर में टेप की हुई भ्रमर की गुनगुनाहट उत्पन्न की जा सकती है एवं ध्वनि विस्तारक यन्त्र से इस ध्वनि को प्रसारित की जा सकती है।

इस प्रकार वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से कालिदास के नाटकों के मंचन में सजीवता एवं नैसर्गिकता लायी जा सकती है। कालिदास के नाटकों में भी यह संकेत मिलता है कि कालिदास के नाटक दिन में ही खेले जाते रहे होंगे, क्योंकि कालिदास ने रंगमंच पर प्रकाश की व्यवस्था के विषय में उल्लेख नहीं किया है, न कोई संकेत ही किया है। आधुनिक काल में प्रकाश की सुविधा उपलब्ध होने से नाटकों का मंचन रात में भी हो सकता है। ध्वनिविस्तारक यंत्र एवं विद्युत् प्रकाश की सुविधा उपलब्ध होने से एक लाभ यह भी है कि दूर बैठे प्रेक्षक भी मंच पर अभिनीत दृश्य को अच्छी प्रकार देख सकते हैं एवं सवादों को सुन सकते हैं। अभिनेताओं के ऊपर विद्युत् प्रकाश प्रक्षेपित कर उन्हें प्रकाशित किया जाता है, जिससे दूर बैठे पात्र उन्हें देख सकें। इस सुविधा के कारण प्रेक्षकोपवेशन पहले से अधिक लम्बा बनाया जा सकता है।

रंगमंच पर आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों का उपयोग करते समय इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि नाटक में कृत्रिमता का आधिक्य न हो। नाटक का अभिनय करने वाले अभिनेताओं को प्रेक्षक प्रत्यक्ष रूप से देखता है। इसलिए आवश्यक है कि अभिनेता स्वयं संवाद को बोले। जिस पात्र को जो भूमिका दी गई है स्वयं उसे प्रस्तुत करे। ऐसा न हो कि आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्र का उपयोग कर अभिनेता के द्वारा बोले गये संवाद टेप करके प्रेक्षकों को सुना दिये जाए और अभिनेता केवल मुंह को हिलाता रहे। अभिनेता जब स्वंय संवाद बोलता है, अभिनय करता है। उस समय वह दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है और दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट देखकर प्रसन्न होता है। उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। दर्शक भी अपने समक्ष अभिनेता एवं कला-प्रदर्शन को देखकर संतोष का अनुभव करते हैं। इस प्रकार अभिनेता और दर्शकों को एक दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से देखने एवं समझने का अवसर मिलता है और दोनों में मैत्री एवं प्रेम के सम्बन्ध बनते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि नाट्यप्रस्तुति में वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग एक निश्चित सीमा में ही हो। आधुनिक सुविधाओं का उपयोग मंचन को प्रभावशाली, स्वाभाविक एवं जीवन्त बनाने के लिए ही होना चाहिए।

सन्दर्भ -

1. *विक्रमोर्वशीय- अंक 4, पृ.- 195-296*
2. *वही - अंक 4, पृ.-196-214*
3. *वही - अंक 3, पृ.-183*
4. *वही - अंक 2, पृ.-159*
5. *वही - अंक 3, पृ.-180*
6. *अभिज्ञानशाकुन्तल - 1/8*
7. *वही - अंक 1, पृ.-29*
8. *वही - अंक 1, 20-62*

40

कालिदास और शेक्सपियर के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन

हेमन्त कुमार चतुर्वेदी

कालिदास साहित्य जगत के श्रेष्ठ कवि थे। इनका समय प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। इन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से समाज को प्रभावित और शिक्षित करने का प्रयास किया है। इनकी साहित्यिक भाषा संस्कृत है। इन्होंने बीच-बीच में पात्रों के अनुसार प्राकृत का उपयोग भी किया है। भाषा शैली सरल प्रसादगुणयुक्त एवं प्रवाहमयी है। इनके नाटकों में नाटकीय तत्त्वों के साथ-साथ दार्शनिक, भौगोलिक ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक जानकारी भी मिलती है। इनके द्वारा रचित नाटक सुखांतक है तथा इन्होंने तपोनिष्ठ प्रेम को ही वास्तविक प्रेम के रूप में स्वीकारा है। शेक्सपिअर भी साहित्य जगत के श्रेष्ठ कवि है। इनका जन्म सोलहवीं शताब्दी में हुआ था। इन्होंने लगभग 37 नाटकों की रचना की है। इनके नाटकों में छल-कपट, धोखा इत्यादि देखने को मिलता है। इन्होंने तत्कालीन साहित्यिक अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया है जो आधुनिक अंग्रेजी भाषा से कुछ भिन्न है। नाटक दुखांतक है। कालिदास और शेक्सपिअर दोनों की गणना साहित्य जगत के श्रेष्ठ कवियों में होती है। दोनों के समय, सांस्कृतिक-सामाजिक परिवेश, देशकाल परिस्थिति में अन्तर होने पर भी अपनी साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से दोनों ने तत्कालीन समाज को प्रभावित करने का सार्थक प्रयास किया है। दोनों के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर दोनों में अनेक समानताएं तथा विषमताएं देखने को मिलती है।

दोनों ने पौराणिक गाथा तथा लोककथाओं को आधार बनाकर अपने नाटकों की रचना की तथा तत्कालीन सामाजिक पारिस्थितिकी का चित्रण कर लोकानुरंजन करते हुए सामाजिकों को शिक्षित करने का प्रयास किया है। कालिदास के जन्म के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता लेकिन अनेक आंतरिक तथा बाह्य प्रमाणों के आधार पर इनका जन्म प्रथम शताब्दी ईसापूर्व तथा एक अन्य मत के अनुसार पांचवी शताब्दी में माना जाता है। ये उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की सभा में सभापंडित थे, ऐसा माना जाता है। शेक्सपिअर का जन्म इंग्लैंड में 16वीं शताब्दी में हुआ था। इनके पिता ने इनको बचपन में ही व्यवसाय में लगा दिया था। कुछ समय तक ये बुरी संगत में भी रहे। विवाह के उपरांत आजीविका हेतु इन्हें दरदर भटकना पड़ा। एक बार ये चोरी के मामले में फंस गए और जेल भी जाना पड़ा लेकिन बाद में थियेटर में नाटक देखने वाले लोगों के घोड़ों की थियेटर के बाहर रखवाली करते थे। फिर थियेटर में कुछ नाटकों में इनको अभिनय का काम मिला लेकिन उसमें भी सफल नहीं होने पर इन्होंने नाटकों का लेखन शुरू किया और इस कार्य में इनको प्रसिद्धि मिली।

कालिदास और शेक्सपीयर दोनों के नाटकों का अध्ययन करने पर दोनों के कथानक, शैली, विषय-वस्तु, भाव-सौन्दर्य, चिन्तन-दर्शन में अनके समानताएं तथा विषमताएं स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। दोनों ने अपने कथानक पौराणिक-कथाओं तथा लोक-कथाओं से लिए हैं जिन पर सामान्यतः विदग्धजनों की दृष्टि नहीं पड़ती लेकिन इन्होंने इन साधारण कथानकों को अपनी रचना शैली से असाधारण बना दिया। दोनों ने मानव हृदय तथा प्रकृति को गंभीरतापूर्वक समझकर अपने पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। कालिदास द्वारा रचित रचनाओं में वर्तमान में कुल 07 रचनाएं प्राप्त होती हैं जिनमें अभिज्ञानशाकुन्तलम् सर्वश्रेष्ठ रचना है। शेक्सपीयर ने लगभग 37 रचनाएं लिखी है जिनमें मैकबैथ उत्कृष्ट है।

कालिदास के नाटक संयोगात्मक अर्थात् सुखांतक हैं। इनमें सौन्दर्यात्मक वातावरण में नाटक का आरम्भ होता है फिर नायक और नायिका का किसी विशिष्ट उद्देश्य से वियोग फिर अंत में पुनः संयोग। जैसे- अभिज्ञानशाकुन्तलम् और विक्रमोर्वशीयम्। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यंत और शकुन्तला का मिलन और फिर वियोग और अंत में पुनः मिलन। इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् में पुरुरवा तथा उर्वशी का मिलन फिर वियोग और अंत में संयोग के साथ सुखद अनुभूतिपूर्वक नाटक समाप्त होता है। शेक्सपीयर के नाटक दुखान्तक है। इनमें शुरुआत से अंत तक कूकृत्यों के कारण उत्पन्न वेदनाओं को प्रदर्शित किया गया है।

कालिदास के नाटकों में नाट्याचार्यों द्वारा निर्धारित नियमों, पंचसंधियों, कथानक का विकास तथा प्रवाह स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। आध्यात्मिकता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अभिज्ञानशाकुन्तम् के आरम्भ में ही शिव के व्यावहारिक स्वरूप और जगत् के साथ उनकी एकात्मकता को दर्शाया गया है। इसके विपरीत शैक्सपीयर के नाटकों में ऐसा कोई आध्यात्मिक तत्व दिखाई नहीं देता।

कालिदास के नाटकों में परिष्कृत प्रेम को जीवन का आदर्श माना गया है जो भोग विलास से अलग है और तपस्या में तप्त होकर निखर जाता है। जैसे दुष्यंत और शकुन्तला का प्रेम। इसके विपरीत शेक्सपिअर के नाटकों में सर्वत्र भोग विलास को ही महत्व देकर मनुष्य को अपने ही कूकृत्यों की आग में जलता हुआ दिखाया गया है। जैसे मैकबैथ में लेडी बेकबैथ अपने कुकर्मों से स्वयं व्याकुल होकर अंत तक परेशान रहती है। इसके साथ ही शेक्सपिअर के नाटकों में छल कपट धोखा स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

कालिदास के नाटकों के मानव और प्रकृति में अद्भुत तादात्म्य दिखाई देता है। उन्होंने प्रकृति का सौन्दर्यात्मक चित्रण किया है। विरह में भी प्रकृति का सौन्दर्य स्पष्ट रूप से खिल उठता है जैसे- अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सूर्योदय के समय ऋषि कण्व के आश्रम का दृश्य इतने प्रभावपूर्ण तरीके से प्राकृतिक सौन्दर्य से ओत-प्रोत है कि बलात् ही किसी के भी मन को सहज ही आकृष्ट कर लेता है। शकुन्तला और प्रकृति एक-दूसरे के पर्याय हैं। शकुन्तला की मृगी के साथ, मयूरों के साथ जिस प्रकार की क्रीड़ा दिखाई गई है वह अनुपम है। शकुन्तला की विदाई के समय मयूरियों ने नृत्य करना छोड़ दिया है। मृगों ने घास खाना छोड़ दिया है तथा पीछे से उसके वस्त्र को पकड़कर एक छोटा मृग उसे जाने से रोक रहा है। ऐसा सुन्दर दृश्य अन्यत्र दुर्लभ है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नायक धीरोदात्त है जो पत्नी से अत्यधिक प्रेम करता है परंतु किसी शाप की घटना से विस्मृति के कारण उसे स्वीकार नहीं करता। इसके विपरीत शेक्सपिअर के नाटकों में नायक भोग विलास में आकंठ डूबा रहता है। कालिदास के नाटकों की नायिका मुग्धा है। जो छल कपट से दूर तथा निश्चल प्रेम से ओतप्रोत है। इसके विपरीत शेक्सपिअर के नाटकों में नायिका को छल कपट प्रपंच इत्यादि दुर्गुणों से युक्त प्रदर्शित किया गया है जो अपने पति का दुष्कर्मों में साथ ही नहीं देती बल्कि इससे भी आगे बढ़कर उसको इन

कृत्यों के लिए प्रेरित करती है। कालिदास की रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ-साथ भौगोलिक तथा ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी भी मिलती है। मेघदूत में मेघ के मार्ग का वर्णन करते समय अनेक ऐतिहासिक महत्व के स्थलों, नदियों एवं पर्वतों का उल्लेख मिलता है जैसे अवंतिका (उज्जैन) चंबल नदी, तथा हिमालय के अनेक प्राकृतिक स्थल, मालविकाग्निमित्रम् में अग्निमित्र का वर्णन ऐतिहासिक महत्व को प्रकट करता है। इसके विपरीत शेक्सपिअर ने केवल मेकबैथ, जूलियट इत्यादि काल्पनिक पात्रों की रचना की है। कालिदास के नाटक सांस्कृतिक और सामाजिक महत्व को प्रदर्शित करते हैं। भारत की प्राचीन संस्कृति को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं। वैदिक परम्पराएं, अध्ययन-अध्यापन की कला आश्रम परम्परा और उसका जीवन, राजाओं के कर्तव्य, राष्ट्रधर्म, सामाजिकों के लिए संस्कार और आदर्श, नारी के कर्तव्य और मर्यादा, पथ-पथ पर स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होते हैं। इसके विपरीत शेक्सपिअर के नाटक कल्पनाओं पर आधारित होकर केवल मनोरंजनार्थ है।

कालिदास के नाटकों में नैतिक संदेश स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है। सभी को अपनी मर्यादा का पालन करते हुए कर्तव्यों का निर्वहन करना चाहिए तथा किसी भी लक्ष्य प्राप्ति के लिए कठोर तप अत्यंत आवश्यक है। कालिदास की भाषा सरल, सहज और प्रवाहमयी है। पात्रों के अनुसार संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग किया गया है। यहां पर यह आक्षेप निराधार है कि कालिदास ने अपने नाटकों में तत्कालीन समाज में प्रचलित भाषा के स्थान पर संस्कृत का प्रयोग किया है जिससे कालिदास के नाटकों का उतना प्रसार नहीं हो पाया जितना शेक्सपिअर के नाटकों का। वस्तुतः कालिदास के समय समाज में लोग अपने स्तरानुसार संस्कृत और प्राकृत दोनों का प्रयोग करते थे। तदनुसार ही कालिदास के नाटकों में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग देखने को मिलता है। पूरे भारत वर्ष और इसके बाहर भी कालिदास के नाटकों का प्रसार और मंचन के प्रमाण मिलते हैं। यहां तक कि परवर्ती कवियों ने कालिदास के काव्यों को आधार बनाकर अनेक ग्रन्थों की रचना की। शेक्सपिअर ने तत्कालीन साहित्यिक अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जो वर्तमान आधुनिक अंग्रेजी भाषा से पूर्ण रूप से मेल नहीं खाती। औपनिवेशिक काल में विभिन्न देशों में अंग्रेजी भाषा के प्रचार-प्रसार के कारण शेक्सपिअर के नाटकों की लोकप्रियता एकाएक बढ़ गई।

कालिदास और शेक्सपिअर दोनों की गणना श्रेष्ठ कवियों में होती है। दोनों ने ही अपने साहित्यिक रचनाओं विशेषकर नाटकों के माध्यम से समाज को शिक्षित करने का सार्थक प्रयास किया है। लेकिन दोनों के समय तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश में अंतर होने के कारण साहित्य में भी उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

सन्दर्भ -

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम्

2. मालविकाग्निमित्रम्।

3. मेघदूतम्।

4. विक्रमोर्वशीयम्।

5. कुमारसंभवम्।

6. रघुवंशम्।

7. किरातार्जुनीयम्।

8. हेमलेट।

9. रोमियो एण्ड जूलियेट।

10. ए मिड नाइट समर ड्रीम।

11. ओथेलौ।

12. मेकबैथ।

13. जूलियस सीजर।

14. ट्वेलथ नाईट।

15. कालिदास और शेक्सपिअर (पं. छन्नूलाल द्विवेदी)

41

हिन्दी नाटककारों पर कालिदास के नाटकों का प्रभाव

आदित्य राज

हिंदी नाटककारों की रुचि आदिकालीन नाटकों में रही है। लगभग सभी बड़े नाटककारों ने प्राचीन नाटकों को आधार बनाकर नाट्य सृजन अथवा उन नाटकों का अनुवाद या रूपांतरण किया। नेवाज द्वारा ब्रजभाषा में 'शकुंतला' लिखा गया। भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद, राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम् का अनुवाद, लाला सीताराम द्वारा 'मालविकाग्निमित्रम्' का अनुवाद किया गया। द्विवेदी युग में भारी संख्या में पौराणिक नाटकों का सृजन हुआ, जिसमें माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध', शिवनंदन मिश्र का 'शकुंतला', राधाचरण गोस्वामी का 'श्रीदामा', बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' प्रसिद्ध हुआ।

भारतीय कालजयी साहित्य की अवधारणा का मूलाधार संस्कृत साहित्य है। संस्कृत भाषा स्वयं ही क्लासिक श्रेणी में आती है और उनमें रचित महत्वपूर्ण कृतियां विश्व साहित्य की अमूल्य नीति हैं। रामायण और महाभारत के अलावा भास, कालिदास, अश्वघोष, माघ, दंडी, बाणभट्ट जैसे अनेक रचनाकारों की रचनाएं विश्व साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों के समतुल्य हैं। श्रेष्ठ रचनाओं का प्रभाव परवर्ती रचनाकारों पर अवश्य पड़ता है। ''वैयक्तिक प्रज्ञा (Individual Talent) परंपरा से असंबद्ध निरपेक्ष या अविच्छिन्न वस्तु नहीं है। परंपरा से जुड़ा रहकर भी या यूं कहें कि जुड़ा रहकर ही कवि अपनी वैयक्तिक क्षमता को अधिक सफलता तथा रमणीयता से उजागर कर सकता है।''[1] वाल्मीकि कृत रामायण अनुकूलन एवं अनुसृजन के माध्यम से कई रूपों में सामने आए हैं। अवधी में तुलसीकृत रामचरितमानस से लेकर बांगला में कृतवास रामायण, तमिल में कम्ब रामायण सहित अनेक रूप मौजूद हैं। राम कथा को केंद्र में रखकर हिंदी में ही अनेक रचनाएं लिखी गई जिनमें सूर्यकांत त्रिपाठी निराला कृत 'राम की शक्ति पूजा', मैथिलीशरण गुप्त कृत 'साकेत', नरेश मेहता कृत 'संशय की एक रात' प्रमुख हैं। रामायण की भांति ही महाभारत भी कालजयी साहित्य है। इसकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण समकालीन जीवन से तादात्म्य भी है। रामायण जहां आदर्श जीवन प्रतिष्ठित करता है, वहीं महाभारत व्यावहारिक यथार्थ पर रचित है। इसकी व्याख्या एवं पुनर्व्याख्या के कारण महाभारत का कई संस्करण मौजूद है। विलियम कैरी द्वारा रामायण एवं महाभारत का अंग्रेजी अनुवाद किया गया। प्रोफेसर जया स्टेटस ने वाल्मिकी रामायण का, थाई भाषा में किया एवं एन.आर. नियोग ने महाभारत का। आधुनिक काल में महाभारत की कथा का पुनर्गठन अंधा युग (धर्मवीर भारती), रश्मिरथी, कुरुक्षेत्र (दिनकर), द्रौपदी (प्रतिभा राय), कुंती (महाश्वेता देवी) में देख सकते हैं।

1789 ईस्वी में विलियम जोन्स द्वारा कालिदास की प्रसिद्ध रचना 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' का अंग्रेजी अनुवाद 'Sacontala or the Fatal Ring % An Indian Drama' शीर्षक से किया। जिसकी भूमिका में उन्होंने लिखा -"Vicramaditya, who reigned in the first century before Christ, gave encouragement to poets, philogers, and mathematicians, at a time when the Britons unlettered and unpolished as army of Hanumant nine men of genius, commonly called the nine gems, attended his court, and were splendidly supported by his bounty; and Cálidás is animously allowed to have been brightest of them."[2]

एक तरफ उन्होंने पहली शताब्दी ई. पू. में विक्रमादित्य के नवरत्नों में कालिदास को सर्वश्रेष्ठ घोषित करते है। दूसरी तरफ 17वीं शताब्दी के अंग्रेजी कवि एवं नाटककार से तुलना करते हुए कहते हैं- "All the other works of out illustriouspoet, the Shakespeare of India ----"[3] यहाँ उपमान-उपमेय का हेर-फेर हो रहा। स्वीकारोक्ति एवं श्रेष्ठता की भ्रम स्पष्ट देखा जा सकता है। होरेस हायमन विल्सन (Horace Hayman Wilson) द्वारा भी कालिदास के नाटकों का अनुवाद किया गया। अपनी पुस्तक Drámás; or: A complete Account of the Dramatic Literature of the Hindus की भूमिका में उन्होंने लिखा है "The dramatic literature of Hindus are already attracted attention of the English reading public all over the world. There is hardly any scholar who does not know the name of Kalidasa's Sakuntala."[4] अभिज्ञान-शाकुंतलम् का, अंग्रेजी, फ्रेंच, थाई समेत कई भाषाओं में, अनुवाद हुआ, जिसके कारण कालिदास की पहुँच विश्व के लगभग सभी हिस्सों में है। हिन्दी साहित्य कालिदास एवं कालिदास के रचनाओं (नाटकों एवं काव्य कृतियों) से प्रभावित रहा है। महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 'कालिदास की निरंकुशता', जयशंकर प्रसाद द्वारा 'स्कंदगुप्त', हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा 'कालिदास की लालित्य योजना', नागर्जुन द्वारा 'कालिदास' कविता, सुरेन्द्र वर्मा द्वारा 'आठवां सर्ग' एवं 'शकुंतला की अगूंठी' नाटक लिखा गयाः जहाँ कालिदास अथवा उनकी रचना प्रत्यक्ष रूप में मौजूद है।

'कालिदास की निरंकुशता' पुस्तक में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शीर्षक को स्पष्ट किया है- ''जिस समय कविता करने की इच्छा या कामना उच्छृंखल हो उठती है उस समय मन में उत्पन्न हुए विकार प्रकट किए बिना नहीं रह जाता। ऐसे समय में विचारों या विकारों को शब्दरूपी सांचे में ढालने से एक प्रकार का विलक्षण आनंद होता है। उसका अनुभव इतर जन नहीं कर सकते; - कवि ही कर सकते हैं। उस प्रमोद मद में मस्त होकर कवि जन लोकरीति, शास्त्ररीति और शब्दशास्त्र आदि के नियमों का भी उल्लंघन कर जाते हैं।... आदराधिक्य के कारण टीकाकार और समालोचक लोग कवियों की कविता के अंतर्गत ऐसे ऐसे स्थलों को भूल या प्रमाद में नहीं गिनते। उन्हें वह कवि की निरंकुशता कहते हैं। महाकवि कालिदास भी इस निरंकुशता से नहीं बचे।''[5] हालांकि इस पुस्तक में मुख्यतः रघुवंश और कुमारसंभव की ही आलोचना की गई है। कुमारसंभव के जिस प्रसंग से उन्हें घोर आपत्ति है उसी को आधार बनाकर सुरेंद्र वर्मा ने 'आठवां सर्ग' लिखा। ''कालिदास ने रघुवंश के आरंभ में ही लिखा जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ,...इन्हीं जगत के पितर और अपने इष्ट-देव की श्रृंगार रस संबंधी चेष्ठाओं का वर्णन कालिदास ने एक साधारण कामुक की तरह कुमार संभव में किया है। अपने माता-पिता के विषय में कोई मनुष्य ऐसी बात मुंह से नहीं निकलता; फिर संसार के माता-पिता के विषय में क्या यह कालिदास की निरंकुशता नहीं है?''[6]

द्विवेदी युग आदर्शवादी युग था; वहाँ इस तरह की आपत्ति जायज है। आठवां सर्ग का प्रथम मंचन, नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा रेपर्टरी कंपनी द्वारा अप्रैल 1976 में किया गया, के निदेशकीय वक्तव्य में (सुरेन्द्र वर्मा और राजेन्द्र गुप्त) कहते हैं- '''कुमार संभव' के ब्याज से लिया गया अश्लालता का पक्ष तो समकालीन कला के लिए प्रासंगिक है ही---''[7] सुरेंद्र वर्मा के नाटकों में काम संबंध, दांपत्य जीवन एवं स्त्री-पुरुष संबंधों की झलकियां लगातार बनी रहती है। 'आठवां सर्ग' में भी इसका चित्रण किया गया है। कालिदास आठवां सर्ग की रचना के लिए विवाहोपरांत मास भर के लिए अपनी पत्नी से दूर हो जाते हैं, सर्ग के पूर्ण होने के उपरांत जब वापस आते हैं तो अपने ही क्रियाकलाप के माध्यम से 'आठवां सर्ग' की कथावस्तु को व्यंजित करते हैं। उनकी परिचारिका प्रियंवदा एवं अनसूया इस तरह वार्तालाप कर रही है -

अनसूयाः प्रियंवदे! ऐसी बेसुध नींद भला कैसे आ जाती है?

प्रियंवदाः आ जाती है सखि।...नये-नये ब्याह के बाद एक मास का लम्बा वियोग था। पतिदेव से वह रचनाखण्ड सुना होगा। जी भर बातें की होगी।...आँखों में ही कट गयी होगी सारी रात!

प्रियंवदा : गवाक्ष बंद, हल्का अंधेरा।... पलंग के पास कुछ खाली चषक होंगे। उन पर दो युगल अधरों के स्पर्श अभी तक कसमसा रहे होंगे।

अनसूया : ऐसा ?

प्रियंवदाः कुछ देर चुपचाप उस शैया को परखना। उस पर अधखिली कलियां बिखरी होंगी- म्लान...दोहरी हो चुकी पंखुड़ियों को हल्के-से छूना, तो दो शरीरों के तप्त दबाव का आभास होगा।

अनुसूयाः सचमुच ?

प्रियंवदाः शुभ्र श्वेत चादर पर यहाँ-वहाँ सिकुड़ने होंगी। एक और कुरंटक पुष्पों की माला पड़ी होगी- प्रगाढ़ आलिंगन में मसली हुई। सिरहोने पर कर्णफुल होगा, पतले टूटी मेखला।

प्रियंवदाः वस्त्रों की सरसराहट...आभूषणों की अलंकार...सांसों की तीव्रता...बाहों का कसाव।[8]

प्रच्छन्न रूप में यहां तीन युगल हैं। प्रियंवदा-कीर्तिभट्ट, कालिदास-प्रियंगमंजरी एवं शिव-पार्वती।

कालिदास कुमारसंभव के आठवें सर्ग में शिव पार्वती के शयन कक्ष का चित्र खींचते हैं तो प्रियंवदा कालिदास-प्रियंगमंजरी के शयनकक्षकीय जिस कल्पना में उसका अपना अनुभव भी शामिल है। इस तरह सुरेंद्र वर्मा आठवें स्वर्ग की शीलता एवं अश्लीलता के प्रश्न को ध्वस्त कर देते हैं। धार्मिक एवं राजनीतिक सत्ता दोनों ही कलाकार की सृजनशीलता को नियंत्रित करते रहे है। जिसे मोहन राकेश ने 'आषाढ़ का एक दिन' में चित्रित किया है, परंतु सुरेंद्र वर्मा ने 'आठवां सर्ग' में भी इस ओर इशारा किया है। कामोत्सव के आह्लादकारी त्योहार के दिन कालिदास राजसभा में आठवां सर्ग का पाठ कर रहे हैं। सभा में सब लोग मंत्र मुग्ध हैं। यहां तक कि समय भी एक कोने में सम्मोहन से बंध खड़ा है। लेकिन ज्यों ही 'वह' स्थल आया माया जाल टूट गया।

''अनसूया : ज्यों ही वह स्थल आया कि शयनागार में उमा और महादेव एक दूसरे को पराजित करने पर तुले हुए थे। दोनों के केश छितरा गए, चंदन पूछ गया, उमा की मेखला टूट गई लेकिन उनके साथ (अटक जाती है खाँसकर) क्रीड़ा-केलि से महादेव का मन नहीं भरा...त्यों ही क्रोध से तमतमाया चेहरा लिए धर्मगुरु खड़े हो गए और गरजकर बोले यह सर्ग अत्यंत अश्लील है ।...''[9]

राजसत्ता पर हमेशा ही धर्मसत्ता का दबाव रहा है। कालिदास के आठवें सर्ग की जांच के लिए न्याय समिति बनाई गई। उसमें एक भी साहित्य विशेषज्ञ नहीं रखे गए। सदस्यों में व्यवसायी दिवाकरदत्त,

आयुर्वेदाचार्य पुंडरीक, प्रधान आधिकारिक, धर्माध्यक्ष आदि शामिल हैं। न्यायसमिति कुमारसंभव को अवैध करार दी होगी, तो 1908 में 'सोजे वतन' की तरह उस पर भी प्रतिबंध लग गया होगा। इसीलिए अब तक कुमारसंभव के अपूर्णता पर प्रश्न चिह्न लगा हुआ है। साहित्यकारों की रीढ़ थोड़ी अधिक मजबूत होती है। धर्माध्यक्ष कालिदास को नहीं झुका पाए तो स्वयं सम्राट चंद्रगुप्त पधारे और धर्मतंत्र के विरुद्ध अपनी विवशता के गीत गाने लगे।

कालिदासः रास्ते कालिदास के लिए बंद हो सकते हैं लेकिन क्या सम्राट पर भी यही बात लागू होती है?

चंद्रगुप्तः (चोट खाए स्वर में) हां होती है...अगर वह सत्ता अपने हाथ में बनाए रखना चाहता है तो अगर वह अपने विरुद्ध असंतोष के विषैले बीज नहीं बोना चाहता है तो...अगर वह महत्वाकांक्षियों को अवसर नहीं देना चाहता है तो जानते हो इस देश के लोगों को सबसे अधिक चोट कब पहुंचती है (कालिदास प्रश्नात्मक दृष्टि से देखाता है) जब उनके धार्मिक क्रियाकलापों में हस्तक्षेप होता है जब उनकी धार्मिक मान्यताओं को आघात लगता है ।[10] महादेव देवाधिदेव ही नहीं रसाधिराज भी हैं और श्रृंगार रस रसराज है, इसीलिए धर्म तंत्र द्वारा आठवें सर्ग पर आपत्ति करना तर्कपूर्ण नहीं लगता। शासक अपनी सत्ता बचाने के लिए धर्म तंत्र से बिगाड़ नहीं कर सकता लेकिन एक कवि तो सत्य कह ही सकता है। शासक स्वयं मान रहे हैं-''आठवां सर्ग में एक पति-पत्नी की प्रणय-लीला का चित्रण है और पति-पत्नी के बीच कुछ भी अश्लील नहीं होता क्योंकि वह पूरी तरह देने और पाने का संबंध है।''[11] यह आरोप लगाने वाले अपने शरीरों पर धर्म का अभेद कवच पहने हुए हैं इसलिए शासन मजबूर है। जिसका प्रभाव सत्ता पर भी दिख रहा है। सत्ता प्रायः वार्तालाप की शुरुआत प्रेम से करती है परंतु अंत तक हिंसक हो जाती है। ''चंद्रगुप्त :(तीव्र स्वर में) कालिदास, जिस क्षण तुमने राजप्रसाद में पांव रखा था, समझौता हो चुका था और उसका परिणाम भी देख लो।...कान खोलकर सुन लो कि धर्मगुरु केवल अश्लीलता की घोषणा से ही संतुष्ट नहीं होंगे। वे चाहते हैं कि तुम्हें कोई दंड भी मिले....अगर कोई सोचे कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर शांति और व्यवस्था को भंग कर सकता है, शासन के स्थायित्व के लिए संकट बन सकता है, तो यह उसकी बड़ी भूल होगी- इस भूल का मूल्य चुकाना होगा।''[12] आठवें सर्ग पर आपत्ति करना कुमारसंभव को मुख्य लक्ष्य से दूर करना ही है। यदि कुमार का जन्म संभव नहीं हुआ तो तारक जीवित ही बचा रह जाएगा तब यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धर्म और सत्ता का गठजोड़ आसुरी शक्तियों को पनाह देती है। ''आठवें सर्ग में शिव और पार्वती की विलास लीला का वर्णन है। बहुत-सी प्रतियों में सातवें सर्ग के बाद ही काव्य समाप्त हो जाता है। जगत् के माता-पिता शिव और पार्वती की विलास लीला भक्त जनों को रुचिकर नहीं प्रतीत होती। मल्लिनाथ ने भी उसे पर कोई टीका नहीं लिखी। परंतु यह यदि यह सर्ग न लिखा जाता तो कालिदास का वह मूल्य उद्देश्य जिसकी ओर शुरू में ही इंगित किया गया है, सिद्ध नहीं होता, और व्यथित मानव के चित्त में उत्पन्न होने वाली प्रेम तरंगों को विश्वव्यापी प्रेम-लीला का ही विस्फुर्जन बताने का उनका संकल्प अधूरा रह जाता।''[13]

'कुमारसंभव' का जीवन दर्शन विराट है। ''त्याग के साथ ऐश्वर्य का और तपस्या के साथ प्रेम का मिलन होने पर ही स्त्री और पुरुष का प्रेम धन्य होता है। कालिदास ने इस महाकाव्य में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि त्याग और भोग के सामंजस्य से ही जीवन चरितार्थ होता है।''[14]

सुरेंद्र वर्मा ने अपना दूसरा नाटक 'शकुंतला की अंगूठी' में 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' के कथानक को समकालीन चश्मे से देखा है। जिसमें उन्होंने 'मशीनी विध्वंशक तनाव' को पौराणिक चरित्र के समकक्ष नए

पात्रों के माध्यम से चित्रित किया है। दुष्यंत और शकुंतला की कथा टुकड़ों में कुमार और कनक समेत अन्य पात्र 'टाइगर, मंदाकिनी, रेखा, चमन, सुदर्शन' इत्यादि समकालीन जीवन के विविध आयामों के प्रतीक रूप में हाजिर होते हैं। कुछ ऐसी भी परिस्थितियाँ हैं जो कालिदास के समय की तरह वर्तमान में भी उसी रूप में मौजूद है । संस्कृत नाटकों में विलेन की अवधारणा बहुत मुखर रूप में मौजूद नहीं है।

टाइगरः (बीच में ही) इसमें कोई विलन नहीं।

कुमार : जिंदगी में कई बार हालात है विलेन का काम करते हैं।

रेखाः दुर्वासा ने शकुंतला को क्यों अभिशाप दिया?

कुमारः यही तो किस्मत है - यानी कोई ऐसी ताकत है जो आदमी को हंसाती और रुलाती है जो हर तरह की लॉजिक से परे है। जो एक तरफ वन्य कन्या को ठगती है और दूसरी तरफ हिंदुस्तान के राजा को भी।''[15]

एक नाटक को मंचन से पूर्व कई प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। इस नाटक की कथावस्तु को अभिज्ञान शाकुंतल के पूर्वाभ्यास से जोड़ा जा सकता है। इसके माध्यम से लेखक ने समकालीन मंचीय दुनिया एवं साहित्यिक संसार की परतें उखाड़ी है। समकाल में विमर्शों के दौर में स्त्री विमर्श का स्वर सबसे ऊंचा है ।

कनकः शकुंतला के मुकाबले दुष्यंत दुःख क्या है?

कुमारः दुःख का दुःख से नापने की कसौटी क्या है?

कनकः और बेइज्जती शकुंतला ने सही उसका हिसाब कौन रखेगा?

कनकः दुष्यंत को दर-दर की ठोकरें तो नहीं खानी पड़ी, लोगों की दया तो नहीं झेलनी पड़ी, अपने बड़े होते बच्चे से बाप के बारे में पूछे सवालों से तो नहीं जूझना पड़ा?''[16]

दुर्वासा का शाप बिल्कुल बेसिर-पैर का था। शकुंतला जैसी नेक दिल स्त्री जिसने बेजुबान जानवर एवं फूल-पत्तियों तक से प्यार किया फिर उसे इतना दुख क्यों मिला? भौतिकवादी समाज की कृत्रिमता पूंजीवाद के प्रभाव में खूब फल-फूल रहा है, जिसका प्रभाव प्रायः ही घातक रहा है।" कृत्रिम सभ्यता का प्रवेश सोने के अलंकार (अंगुठी) के रूप में प्राकृतिक वातावरण के जीवन में होता है। यह अंगुठी ही अभिज्ञान का काम करती है और प्रत्याखान का भी कारण बनती है। दुष्यंत के हृदय में पश्चाताप का भी हेतु बनती है।''[17]

मोहन राकेश के नाटकों पर यत्र-तत्र कालिदास के नाटकों का प्रभाव दिखाई देता है। प्रेम की उलझी हुई जिन परिस्थितियों को कालिदास ने दिखाया है, वैसी ही अनेक परिस्थितियां राकेश के नाटकों में विद्यमान हैं। उनके नाटकों का बिम्ब यथार्थ के धरातल से परे नहीं जाता। 'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास समेत अन्य पात्र हैं, पर नायक अथवा नायिका खोज पाना बहुत मुश्किल है। जैसे सुरेंद्र वर्मा ने हालात को 'विलेन' बताया था वैसे ही यहाँ भी परिस्थिति नायक एवं खलनायक दोनों ही भूमिका अदा करती है। समसामयिकता के विविध आयाम जैसे सृजन और सत्ता, भावना और कर्म, कला और प्रेम जैसे द्वंद्वनाटक का केंद्र बिंदु है। मोहन राकेश कालिदास के संबंध में लिखते हैं- ''कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं, हमारे सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक उस अंतर्द्वंद्व को संकेतित करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आंदोलित करता है।''[18] सृजनशील शक्तियाँ आदिकाल से अब तक मानव जीवन के दुःख सुख दर्ज करती रही है। इस क्रम में उन्हें जिन परिस्थितियों से जूझना पड़ता है, इसकी ही कथा है- 'आषाढ़ का एक दिन'। केवल कालिदास की उपस्थिति के कारण इसे ऐतिहासिक नाटक नहीं समझना चाहिए।

इस नाटक का सबसे बड़ा द्वन्द्वसृजन के लिए सत्ता से जुड़ना है। यदि यह आवश्यक है तो कालिदास के अलावा

अन्य कई रचनाकार हुए जो कभी सत्ता से नहीं जुड़े वाल्मीकि हो या तुलसीदास रामायण एवं रामचरितमानस की ख्याति किसी से छुपी नहीं है फिर-

''निक्षेपः कालिदास अपनी भावुकता में भूल रहे हैं कि इस अवसर का तिरस्कार करके वे बहुत कुछ खो बैठेंगे। योग्यता एक चौथाई व्यक्तित्व का निर्माण करती है। शेष पूर्ति प्रतिष्ठा द्वारा होती है। कालिदास को राजधानी अवश्य जाना चाहिए।''[19]

कालिदास ने भी स्वीकार किया कि, श्रेष्ठ काव्य की रचना उनके सत्ता से जुड़ने से पूर्व के अनुभव के कारण ही हुई। ''कालिदासः...मैं नहीं जानता था कि अभाव और भर्त्सना का जीवन व्यतीत करने के बाद प्रतिष्ठा और सम्मान के वातावरण में जाकर मैं कैसा अनुभव करूँगा। मन में कहीं यह आशंका थी कि वह वातावरण मुझे छा लेगा और मेरे जीवन की दिशा बदल देगा...और यह आशंका निराधार नहीं थी...अभावपूर्ण जीवन की वह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। सम्भवतः उसमें कहीं उन सबसे प्रतिशोध लेने की भावना भी थी जिन्होंने जब-तब मेरी भर्त्सना की थी, मेरा उपहास उड़ाया था।...और मैं यह आशा लिए हुए चला गया कि एक पल ऐसा आएगा जब मैं तुमसे यह सब कह सकूँगा और तुम्हें अपने मन के द्वन्द्व का विश्वास दिला सकूँगा।...यह नहीं सोचा कि द्वन्द्व एक ही व्यक्ति तक सीमित नहीं होता, परिवर्तन एक ही दिशा को व्याप्त नहीं करता। इसलिए आज यहाँ आकर बहुत व्यर्थता का बोध हो रहा है।...लोग सोचते हैं मैंने उस जीवन और वातावरण में रहकर बहुत कुछ लिखा है। परन्तु मैं जानता हूँ कि मैंने वहाँ रहकर कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह यहाँ के जीवन का ही संचय था। 'कुमारसम्भव' की पृष्ठभूमि यह हिमालय है और तपस्विनी उमा तुम हो। 'मेघदूत' के यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरह-विमर्दिता एका यक्षिणी तुम हो-यद्यपि मैंने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें नगर में देखने की कल्पना की। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में शकुन्तला के रूप में तुम्हीं मेरे सामने थीं। मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दोहराया। और जब उससे हटकर लिखना चाहा, तो रचना प्राणवान् नहीं हुई।''[20] परिस्थितियों के दास मल्लिका और कालिदास दोनों है। दोनों को क्रमशः विलोम और प्रियंगुमंजरी स्वीकार्य है। पहले अंक में विलोम स्वयं को 'असफल कालिदास' मानता है लेकिन तीसरे अंक में मल्लिका के पति के रूप में विलोम कालिदास के आतिथ्य के लिए हाजिर है। कालिदास जिस सामाजिक उपहास का प्रतिशोध लेने के लिए सत्ता सुख स्वीकार करता है उसी कालिदास से विलोम अपने उपहास का प्रतिशोध व्यंग बाणों द्वारा लेता है।

कालिदास : मैं कह रहा हूँ इस समय यहाँ से चले जाओ।

विलोम : क्योंकि तुम यहाँ लौट आये हो?...क्योंकि वर्षों से छोड़ी हुई भूमि आज फिर तुम्हें अपनी प्रतीत होने लगी है?...क्योंकि तुम्हारे अधिकार शाश्वत हैं? जैसे तुमसे बाहर जीवन की गति ही नहीं है। तुम्हीं तुम हो और कोई नहीं है। परन्तु समय निर्दय नहीं है। उसने औरों को भी सत्ता दी है। अधिकार दिये हैं। उसने औरों को अवसर दिया है। निर्माण किया है।...तुम्हें उसके निर्माण से वितृष्णा होती है?क्योंकि तुम जहाँ अपने को देखना चाहते हो, नहीं देख पा रहे हो?[21]

मोहन राकेश के अन्य नाटक 'लहरों का राजहंस' एवं 'आधे-अधूरे' पर भी कालिदास के नाटकों का प्रभाव है। आधे-अधूरे का कथानक 'विक्रमोर्वशीय' नाटक से मेल खाता है। पुरुरवा की पत्नी 'औशनरी' है लेकिन उसका प्रेम उर्वशी है। ''अपने ही पति की विरह-विदुर से कातर होकर ही उसमें (औशीनरी में) त्याग भावना और औदार्य संचालित होता है।''[22] जो कि समकालीन समाज में स्वाभाविक नहीं लगता। आधे-अधूरे

की सावित्री समझौतावादी नहीं है, अपने पति महेंद्रनाथ को खरी-खोटी सुना देती है। स्त्री का बॉस सिंघानिया बार-बार उसके घर आता है तो विवाद होना स्वाभाविक है।

''पुरुष एक (महेन्द्रनाथ) : मैं इस घर में एक रबर स्टैंप भी नहीं सिर्फ एक रबर का टुकड़ा हूँ, बार-बार घिसा जाने वाला रबड़ का टुकड़ा।''[23]

जयशंकर प्रसाद ने स्कंदगुप्त नाटक के पात्र-परिचय में 'मातृगुप्त' का परिचय 'काव्यकर्त्ता कालिदास' के रूप में दिया है। जयदेव तनेजा लिखते हैं-''आधुनिक जीवन में व्यक्तित्व के दोहरेपन और द्विधाविदार्प मानसिकता को व्यक्त करने के लिए राकेश ने अनेक युक्तियां और बिम्बों का आश्रय लिया है। आषाढ़ का एक दिन में कालिदास के भीतर का यह 'दूसरा व्यक्ति' मातृगुप्त बनकर उभरता है तो लहरों के राजहंस में श्यामांग नन्द बनकर मंच पर आता है।''[24]

मानव सभ्यता के विकास के साथ - साथ उनके चरित्र का दोहरापन बढ़ता ही जाएगा। इस कारण कालिदास की प्रासंगिकता निरंतर बढ़ेगी। हिंदी साहित्य में केवल नाटकों पर ही नहीं कविताओं, उपन्यासों इत्यादि पर भी कालिदास के कृतियों का प्रभाव पड़ा है। रामधारी सिंह दिनकर ने विक्रमोवर्शीय की कथा पर 'उर्वशी' नामक काव्य की रचना की। ऐसे ही 'कालिदास' कविता की रचना नागार्जुन द्वारा की गई, जिसमें कालिदास की भावनात्मक स्थिति का सारांश देख सकते हैं। कालिदास के लिए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक कवि की टिप्पणी का प्रयोग किया है जो कालिदास की महानता दर्शाती है- ''किसी पुराने कवि ने कालिदास का परिचय देते हुए कहा था कि मैं जब सच्चे कवियों की गिनती करने लगता हूँ तो कनीनिका (सबसे छोटी उँगली) पर पहला नाम कालिदास आता है पर दूसरे नम्बर पर अनामिका नामक उँगली है जिस पर कोई और नाम सूझता ही नहीं क्योंकि आज तक उस टक्कर का कोई दूसरा कवि हुआ ही नहीं, यह देखकर लगता है कि इस उँगली का नाम जो 'अनामिका' अर्थात् बिना नाम की उँगली दिया गया है सो बिल्कुल ठीक ही है।''[25]

संदर्भ -

1. *शर्मा, देवेंद्र नाथ, सं (1984),पश्चात्य काव्यशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग कंपनी, पृ.- 207*
2. *Jones, William. E(1876). Sacontala: Or, the Fatal Ring: An Indian Drama. J ghose and co. i`.iii*
3. *वही पृ.iii*
4. *Wilson, Horace Hayman. E(1900). Dramas: Or, (A Complete Account of the Dramatic Literature of the Hindus). THE SOCIETY FOR THE RESUSCITATION OF INDIAN LITERATURE. पृ.i*
5. *द्विवेदी, महावीर प्रसाद. सं (1916). कालिदास की निरंकुशता. इंडियन प्रेस प्रयाग . पृ. 02*
6. *वही. पृ. 05*
7. *वर्मा ,सुरेंद्र. सं. (2015). आठवां सर्ग. भारतीय ज्ञानपीठ. पृ.10*
8. *वही. पृ. 20, 21, 22*
9. *वही. पृ. 37*
10. *वही. पृ. 53*

11. वही. पृ. 54

12. वही. पृ. 55, 56

13. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद. सं(1965). कालिदास की लालित्य योजना. नैवेद्य निकेतन. पृ. 28

14. वही पृ. 28

15. वर्मा, सुरेंद्र, सं(2021), शकुंतला की अंगूठी, भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 18

16. वही. पृ. 39, 40

17. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, सं(1965), कालिदास की लालित्य योजना, नैवेद्य निकेतन. पृ. 39

18. राकेश, मोहन, सं(2023), लहरों का राजहंस. राजकमल प्रकाशन. पृ. XIV

19. राकेश, मोहन .सं(2019). आषाढ़ का एक दिन. राजपाल एंड संज. पृ. 33

20. वही पृ. 99, 100, 101

21. वही. पृ 107, 108

22. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद. सं(1965). कालिदास की लालित्य योजना. नैवेद्य निकेतन. पृ. 26

23. राकेश, मोहन .सं(2016). आधे-अधूरे. राधाकृष्ण प्रकाशन. पृ. 44

24. तनेजा, जयदेव. सं(1994). नई रंग-चेतना और हिंदी नाटककार. तक्षशिला प्रकाशन. पृ. 53

25. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद. सं(1965). कालिदास की लालित्य योजना. नैवेद्य निकेतन. पृ. 1

42

कालिदास और नागेश का संवाद (एक कल्पना)

किरण आर्या

भारतीय ज्ञान परम्परा ने भारतीय मनीषा को स्वतन्त्र चिन्तन का सर्वदा अधिकार दिया है कभी भी पूर्णविराम लगाकर उस चिन्तन को वहीं पर रोकने का प्रयास नहीं किया अपितु 'मनस्वी तत्तद् विषय में अपार सम्भावनाओं का अन्वेषक है' ऐसा विचार देकर अर्धविराम को दर्शित किया है। यही कारण है कि आदि ग्रन्थ - वेदों पर चिन्तन का जो क्रम चला वह अद्यावधि निरन्तर अपने क्रमिक विकास में है। इसी का परिणाम है कि आज एक लम्बी श्रृंखला भारतीय ज्ञान परम्परा की हमारे समक्ष विद्यमान है। उसी स्वतन्त्र चिन्तन परम्परा के पोषक महर्षि पतंजलि अपने ग्रन्थ महाभाष्य में- **'इदमिह सम्प्रधार्यम्'**[1] कहकर यदि निश्चित सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं तो कहीं कहीं अध्येता से -**किं वक्तव्यमेतत्**?[2] कहकर उसकी सहमति लेते दिखाई देते हैं तो कतिधा - **यथेच्छसि तथा कुरु अथवा कर्तव्योऽत्र यत्नः**[3] कहकर अध्येता को स्वतन्त्र चिन्तन के लिये प्रेरित करते हैं। महर्षि पतंजलि के इस वाक्य को अंगीकार कर मैंने यथामति कालिदास और नागेश के कथनों का एक काल्पनिक संवाद के रूप में अध्ययन करने का यत्न किया है। वैसे तो भारतीय ज्ञान परम्परा के संवाहक 'संगच्छध्वं' के समुन्नायक सभी शास्त्र कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में अन्योऽन्याश्रित होते हैं, पारस्परिक विचारों के पोषक होते हैं, ऐकलक्ष्यिक दृष्टि वाले होते हैं, एक दूसरे का हाथ थाम कर चलने वाले होते हैं। यदि वे इन विचारों से इतर हैं, विरोधी हैं, तो भारतीय ज्ञान परम्परा से बहिष्कृत्य हैं।

भारतीय जीवन और दर्शन के मूलतत्त्व निरूपक, राष्ट्र की समग्र राष्ट्रिय चेतना को स्वर देने वाले कवि कुलगुरु कालिदास, संस्कृत के नव्य वैयाकरणों में अग्रगण्य, वैयाकरणधुरीण श्री नागेश भट्ट के पूर्वकालीन थे अतः कालिदास के कथनों का नागेश के पारिभाषिक वचनों द्वारा विस्तार देने का अथवा नागेश द्वारा उसे और स्पष्ट करने का तथा उसमें सहमत होने का एक स्वरूप दिखाई देता है क्योंकि व्याकरण सर्वशास्त्रोपकारक- सभी शास्त्रों का निर्बाध जीवक है, यह ऐसी अजिह्मा राजपद्धति है जिसमें शास्त्र की सभी विधाओं का आलोडन भलीभांति किया जा सकता है अतः मदनुभूत एक नवीन अध्ययन जो कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की प्रसिद्ध सूक्तियों और नागेश के परिभाषेन्दुशेखर की प्रमुख परिभाषाओं पर आधारित है, ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कालिदास कुछ कह रहे हैं तो नागेश भी अपनी बात रख रहे हैं मानों दोनों का शास्त्रीय संवाद हो रहा हो -

1. बलवदपि शिक्षितानामात्मन्य प्रत्ययं चेतः[4] **-** यह अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक की प्रथम अत्युत्तम सूक्ति है। जब सूत्रधार नटी से कहता है कि आज हमें विद्वत् सभा के मध्य अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक सावधानी से

खेलना है तब नटी कहती है कि आप चिन्ता न करें आपके द्वारा प्रशिक्षित हमारे द्वारा कोई कमी न रहेगी तब सूत्रधार इस मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन करते हुये कहता है कि-

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।।

अर्थात् मैं तुमसे सत्य कहता हूं कि जब तक विद्वानों को सन्तोष न हो तब तक मैं अपने अभिनय कला के ज्ञान को पूर्ण नहीं समझता, क्योंकि अत्यधिक शिक्षा पाये हुये लोगों का चित्त भी अपने विषय में विश्वास नहीं करता है, जैसे कोई विद्यार्थी परीक्षा की अच्छी तैयारी करने के बाद भी अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिये सशंकित बना रहता है। कालिदास के इस कथन पर अपनी सहमति जताते हुये नागेश कहते हैं- **'कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते'**[5] 'कार्य करते हुये भी कार्यी उस कार्य के प्रति निमित्त रूप में स्वयं को उपस्थित नहीं पाता, अर्थात् जिस कार्य को उसने किया है उस कार्य का, वह स्वयं को कर्ता घोषित नहीं कर पाता। कालिदास और नागेश दोनों अपने इन कथनों में निरभिमानता एवं विनीतता प्रकट करते दिखाई देते हैं कि यद्यपि वे उस कार्य के प्रति सिद्धहस्त हैं पुनरपि विद्वानों के परीक्षण तक उसकी पूर्णता के सम्बन्ध में आश्वस्त नहीं है और अपने वचनों को विद्वानों द्वारा परीक्षणीय मानते हैं।

2- विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम[6] **-** दुष्यन्त आखेट करता हुआ महर्षि कण्व के तपोवन के निकट पहुंच जाता है। तपोवन के प्रति उसके हृदय में महान् आदर व सम्मान का भाव है अतः वहां पहुँचकर उसने मृगया का भाव छोड़ दिया है और आदर व सम्मान के साथ तपोवन में प्रवेश करने के लिये वह विचार करता है कि तपोवनों में विनीत वेष से प्रवेश करना चाहिये अर्थात् जैसी तपोवन की गरिमा है, रहन सहन है तदनुरूप ही व्यक्ति को होना चाहिये ऐसा विचारकर वह सूत को अपने आभूषण और धनुष आदि उतार कर देता है और राजसी रूप त्यागकर एक सामान्य नागरिक के रूप में प्रवेश करता है जिसका उद्देश्य (अस्तु, तामेव द्रक्ष्यामि) शकुन्तला को देखना है। यहां कालिदास दुष्यन्त के माध्यम से तपस्वियों के प्रति आदर भाव रखने की बात करते हैं। इस बात को अपनी सौत्रिक उक्ति से नागेश कालिदास से कहते हैं कि -

'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते'[7] **-** अर्थात् जिसको उद्देश्य करके जो आगम किया जाता है वह आगम उस आगमी का (स्थानविशेष का) अवयव हो जाता है। यहां स्पष्ट है कि शकुन्तला को उद्दिष्ट करके राजा दुष्यन्त तपोवन में प्रवेश कर रहा है तो वह उस तपोवन में प्रवेश करने के बाद उसी तपोवन का अवयव सदृश ही माना जायेगा अतः उसे उसी वेशभूषा में प्रवेश करना होगा, वैसे ही नागरिकीय गुण सदृश दिखाई देना होगा (ऐसा न होने पर सम्भव है उसे प्रवेश न दिया जाये)। यहाँ कालिदास और नागेश के सम्पुष्ट वचन से दो बाते सामने आती हैं प्रथम महर्षियों के स्थानविशेष के प्रति सभी में आदरणीय भाव होना चाहिये और जहां हम जाते हैं वहीं के अनुरूप स्वयं को ढालने का प्रयास करना चाहिये, तत्रस्थ सुसंस्कृति को अपनाने में संकोच नहीं करना चाहिये। इसीलिये अन्यान्य देश वहां की नागरिकता लिये बिना उस देश में निवास का अधिकार नहीं देते। यह हमारे शास्त्रों के कथनानुरूप ही है।

3. परिहासविजल्पितं सखे ! न परमार्थेन गृह्यतां वचः[8] **-** दुष्यन्त शकुन्तला से मिलने के लिये तपोवन जाना चाहता है तभी दुष्यन्त को माता का बुलावा आ जाता है किन्तु दुष्यन्त विना शकुन्तला से मिले, जाना नहीं चाहता अतः वह विदूषक से यह कहकर अपने बदले जाने को कहता है कि मित्र! तुम्हें माता ने अपने पुत्र के समान माना है इसलिये तुम माता के पास चले जाओ और मुझे तपस्वियों के यज्ञकार्यरक्षा में व्यस्त बता देना।

फिर राजा मन में विचार करता है कि यह विदूषक चंचल है कहीं यह मेरा राज न खोल दे अतः दुष्यन्त विदूषक से कहता है कि -

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे न परमार्थेन गृह्यतां वचः।।

अर्थात् हे मित्र! कहां हम सांसारिक विषयों में आसक्त व्यक्ति और कहां हरिणों के बच्चों के साथ वृद्धि को प्राप्त, कामभाव से सर्वथा अपरिचित व्यक्ति। हास परिहास में कही हुई बात को यथार्थ रूप से अर्थात् सत्य न ग्रहण कर लेना। यहां नागेश कालिदास से कहते हैं कि - **'योगविभागादिष्टसिद्धिः'**[9] अर्थात् जहां इष्ट सिद्धि न हो रही हो वहां योगविभाग कर लेना चाहिये, अनिष्ट की आशंका नहीं करनी चाहिये। यदि दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला मिलन रूपी इष्ट सिद्धि माता के बुलाने के कारण नहीं हो रही है तो विदूषक को अपने स्थान पर भेजकर जो अनिष्ट होने की आशंका है उसे योगविभाग से दूर कर लेना चाहिये। **'योगः कर्मसु कौशलम्'**[10] और **विशेषेण भजनं स्वत्वज्ञापनं विभागः**[11] इति योगविभागः अर्थात् अपने कर्मकौशल के स्वत्व का ज्ञापन कराकर कर लेना चाहिये । इसका तात्पर्य है कि दुष्यन्त विदूषक को अपनी जगह न भेजकर स्वयं चला जाता और जिस प्रकार नल दमयन्ती एक दूसरे से मिले विना केवल एक दूसरे के स्वत्व को जानकर ही एक दूसरे से प्रेम करने लगे थे, एक दूसरे से संयुक्त हो गये थे उसी प्रकार विदूषक को दूत बनाकर शकुन्तला विषयक सारी जानकारी लेकर और शकुन्तला को दुष्यन्त विषयक सारी जानकारी देकर एक दूसरे के प्रति प्रेमभावना उत्पन्न कर वे संयुक्त हो सकते थे। इस प्रकार माता से अलीक भी नही कहलाना पड़ता और विदूषक द्वारा राज खोलने का भय भी नहीं होता।

4. स्नेहः पापशंकी[12]**-** यह अत्यन्त भावगम्भीर सूक्ति उस समय की है जब शकुन्तला पिता कण्व के कहने पर पतिगृह जाने की लिये तैयार होती है तो सखियां कहती हैं कि यदि वे राजा दुष्यन्त तुम्हें पहचान न सकें तो उसके नाम से अंकित यह अंगूठी उसे दिखा देना, क्योंकि जिसके हृदय में किसी के प्रति प्रेम प्रगाढ़ होता है उसके प्रति उतनी अधिक आशंकायें उठा ही करती हैं। ऐसा सुनकर शकुन्तला भयभीत हो जाती है और कहती है सखियों से कि तुम्हारे इस सन्देह से मैं कांप उठी हूं क्योंकि कहीं ऐसा भी होता है कि पति अपनी पत्नी को न पहचाने?नागेश के शब्दों में **सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्**[13] जिसके साथ सहचरण किया हो उसे नकारा नहीं जा सकता, तथा **एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भविष्यति**[14] जिस शकुन्तला ने एक ही आकृति को रात दिन अपने स्मृति में लिया हो वह दूसरे या तीसरे की कैसे हो सकती है अतः उसे तो मुझे स्वीकार करना ही होगा (मानो ऐसा कालिदास नागेश के शब्दों में शकुन्तला से कहलवा रहे हैं।) इस बात पर नागेश की यह परिभाषा भी सहसा मन में आती है जैसे वे कालिदास से कह रहे हों कि - **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्**[15]**-** जिस भी विषय में सन्देह हो वहां व्याख्यान से अर्थात् उस विषय में शिष्टों के द्वारा सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करके विशेष बात का निश्चय कर लेना चाहिये, उसका समाधान खोजना चाहिये केवल सन्देहमात्र के होने से उसे अन्यथा नहीं समझना चाहिये। यह सत्य है कि बालक प्रतिदिन स्कूल से ठीक चार बजे घर आ जाता है तो किसी दिन न आने पर कई शंकायें मन में उठने लगती हैं किन्तु केवल सन्देह से स्वयं को कष्ट में नहीं डालना चाहिये अपितु उसके अन्वेषणार्थ जो भी उपाय हो सकते हैं, वे करने चाहिये। उसी प्रकार यह सत्य है कि दुष्यन्त शकुन्तला ने एक दूसरे से प्रेम किया है और गान्धर्व विवाह भी किया है। कई दिनों से पहचान है किन्तु आज दुष्यन्त शकुन्तला को पहचानने में अस्वीकार

कर रहा है तो वहां उसका कारण (दुर्वासा के शाप) और निवारण (दुष्यन्तप्रद अंगूठी) पर विचार होना चाहिये। अनिष्ट की आशंका नहीं करनी चाहिये।

5. सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति[16] **-** दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला के बढ़ते स्नेह को देखकर प्रियंवदा अनुसूया से कहती है कि अब यह शकुन्तला समय के विलम्ब को सहने में असमर्थ है, और जिसमें यह अनुरक्त है वह पुरुषवंशियों के आभूषण स्वरूप है अतः इसकी इच्छा अभिनन्दनीय है। प्रियंवदा शकुन्तला से कहती है कि - हे सखि! सौभाग्य से तुम्हारी आसक्ति योग्य है क्योंकि समुद्र को छोड़कर महानदी और कहां गिरती हैं? नागेश यहां कहते हैं कि कालिदास का यह कथन सत्य है क्योंकि **प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः**[17], अथवा **प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्**[18] सर्वदा प्रधान में कार्य की संविष्टि होती है, जिसकी ओर जिसका आकर्षण होता है, जिसकी ओर सहसा गमन प्रतिक्रिया होती है उसी ओर ही उसकी प्रवृत्ति भी देखी जाती है।

6. बहुवल्लभाः राजानः श्रूयन्ते[19]**-** राजा बहुतों के प्रिय हुआ करते हैं क्योंकि, नागेश कहते हैं - **पदगौरवाद्योगविभागो गरीयान्**[20]**-** प्रतिष्ठित पद जिसके पास होता है उसके प्रति लोगों का योग-जुड़ाव और भक्ति स्वभावतः (स्वार्थहित ही सही) होती ही है। ऐसा प्रायः वर्तमान में भी देखा ही जाता है।

7. ग्लपयति यथा शशांकं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः[21] **-** राजा दुष्यन्त शकुन्तला के निकट जाकर कहता है कि हे कृशाङ्गि! कामदेव तुमको दिनरात संतप्त कर रहा है किन्तु मुझको तो जला ही रहा है क्योंकि दिन जिस प्रकार चन्द्रमा को क्षीणकान्ति करता है उस प्रकार कुमुदिनी को नहीं करता। नागेश कहते हैं सत्य ही है - **विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान्**[22] ब्रह्मा के नियमों के अन्तर्गत जो कार्य नियम में है वही होना सम्भव है अन्य नहीं। सूर्य के तेज के समक्ष चन्द्र का तेज क्षीण हो जाना यह कविनियम न हो पर विधिनियम है, तो वही क्षीण होगा। कौ पृथिव्यां मोदते जिसे पृथिवी पर मुदित होना है खिलना है प्रसन्न रहना है वह क्यों दिन द्वारा क्षीणता को प्राप्त होगा?

8. न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम[23]**-** जब महर्षि काश्यप पतिगृह को जाती हुई शकुन्तला से कहते हैं कि तुम उपदेश दिये जाने योग्य हो। वनवासी होते हुये भी हम लौकिक व्यवहार जानते हैं तभी शार्ङ्गव से कालिदास कहलवाते हैं कि - बुद्धिमानों के लिये कुछ भी अज्ञात नहीं होता। इस प्रसंग में कालिदास से नागेश कहते हैं - **पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते**[24] जो ऋषि महर्षि, साधु, सन्त, तपस्वी, विद्वान् मानवता के, दैवीय गुणों के पर्याय बन चुके हैं उनके प्रति लघुता गुरुता की चर्चा का, छोटी-छोटी बातों का कोई महत्त्व नहीं। न उन्हें कोई अपेक्षा है और न उपेक्षा की चिन्ता, न कोई महत्त्वाकांक्षा। वे लौकिक पारलौकिक प्रत्येक विषय के ज्ञाता हैं, सर्वोपरि हैं, पूज्य हैं, श्रोतव्य हैं और सर्वदा हितोपदेशी हैं।

9. सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति[25]**-** अभिज्ञानशाकुन्तल के पंचम अंक में कालिदास लिखते हैं कि सभी सजातीयों में विश्वास करते हैं, नागेश इससे सहमत होते हुये लिखते हैं कि - **प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः** अथवा **समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः**[26] अर्थात् सजातीय -पारिवारिक लोगों को परस्पर प्रत्येक व्यक्ति को महत्त्व देना चाहिये। सबमें समदृष्टि रखनी चाहिये। प्रत्येक वचन का परिपालन प्रत्येक में स्थित होना चाहिये, और सामुदायिक रूप से एकमत होकर सब एक आदर्श पर चलने वाले होने चाहियें। तभी सबका सबमें सबसे यथावत् विश्वास बना रहता है। सब सबमें विश्वास करते हैं तभी सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति वचन सार्थक होता दीखता है।

10. अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः[27]**-** जब दुष्यन्त शकुन्तला को कथमपि स्वीकार नहीं करता और शकुन्तला दुःखी होकर रोदन करने लगती है तब कण्वशिष्य शार्ङ्गव शकुन्तला से कहता है कि जो काम बिना

समझे बूझे किया जाता है वह भविष्य में इसी प्रकार दुःखदायी होता है। महाकवि भारवि भी कहते हैं - **सहसा विदधीत न क्रियाम्**[28] अकस्मात् कोई काम बिना विचारे नहीं करना चाहिये। यहां नागेश की दृष्टि देखिये वे कहते हैं - **श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्**[29] अथवा **लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्**[30] अर्थात् जिसके सम्बन्ध में जो चर्चायें सुनी गयी हैं, प्रतिपदोक्त है- प्रत्येक व्यक्ति द्वारा कही गयी बात है उसको ही महत्त्व देना चाहिये उसी पर विश्वास करना चाहिये, अनुमानित बातों पर नहीं, लाक्षणिक बातों पर नहीं। शार्ङ्गव का शकुन्तला से कहने का अभिप्राय यही है कि प्रेम में अन्धे होकर तुमने यह कैसे अनुमान कर लिया कि यह मेरा परिपालक पति हो सकता है। राजा के विषय में पहले सबसे सुन लेना चाहिये , उसके कुल शील आदि का भलीभांति ज्ञान कर लेना चाहिये उसके बाद ही उससे प्रेम करना चाहिये था। अतः अनुमान की अपेक्षा श्रुतसम्बन्धी ज्ञान अथवा प्रतिपदोक्त ज्ञान बलीयान् होता है, यह आचार्य नागेश का अभिप्राय है।

11. उत्सवप्रियाः हि खलु मनुष्याः[31] कालिदास कहते हैं कि मनुष्य उत्सवप्रिय होते हैं और मनुष्यों को उत्सवप्रिय होना चाहिये तब नागेश कहते हैं कि जब शब्दशास्त्री वैयाकरण - **अर्धमात्रालाघवेन पुत्रेत्सवं मन्यन्ते**[32] व्याकरण सूत्रों में आधी मात्रा भी कम हो जाने पर पुत्र होने के समान उत्सव मनाते हैं, अत्यधिक प्रसन्न होते हैं तब सामान्य मनुष्यों को लघु कार्य के सम्पन्न होने पर क्यों नहीं उत्सव जैसा प्रिय कार्य करना चाहिये अर्थात् अवश्य करना चाहिये।

12. प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः[33] **-** कालिदास अभिज्ञानशाकुन्तलम् के षष्ठ अंक में कहते हैं कि प्रायः मनुष्य उत्तेजना से अपनी महिमा को प्राप्त कर लेता है अर्थात् मनुष्य जिस कार्य के प्रति कृतसंकल्पित होता है, उत्साही बना रहता है, उस कार्य को वह निश्चित ही पूर्ण करता है और यशस्वी होता है महिमामण्डित होता है। आचार्य नागेश कहते हैं, सत्य ही है कि-**धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति**[34] धातु को कहा गया कार्य अर्थात् किसी लक्ष्य को निर्धारित करके किया गया जो कार्य वह उसकी प्राप्ति में ही पूर्ण होता है। धाता का अर्थ धारण करने वाला होता है। जब व्यक्ति लक्ष्य के प्रति नितान्त समर्पित हो जाता है तब व्यक्ति लक्ष्य को नहीं अपितु लक्ष्य ही व्यक्ति को धारण कर लेता है। अतः धाता 'लक्ष्य' हुआ। और वही लक्ष्य, लक्ष्यधार्यमाण को उसके लक्ष्य तक पहुंचाकर उसे महिमान्वित करता है। लक्ष्य के प्रति उसकी उत्तेजना उसकी सहायक होती है।

13. भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र[35] **अथवा भवितव्यता बलवती**[36]**-** जब राजा दुष्यन्त तपोवन में प्रवेश करता है तो कहता है - **शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य। अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।।** अर्थात् यह सामने जो आश्रम दिखाई दे रहा है वह शान्त है और मेरी दाहिनी भुजा भी फड़क रही है। इस भुजा के फड़कने का फल (नारी रत्न की प्राप्ति) इस आश्रम में कहां से? अथवा अवश्य होने वाली वस्तु के द्वार सर्वत्र होते हैं। जो भवितव्यता होती है वह बलवती होती है, जो होना होता है वह होकर ही रहता है उसे कोई नहीं रोक सकता। नागेश कहते हैं कालिदास से, कि यह सही है भवितव्यता निश्चित है किन्तु वह भवितव्यता भी जिसके साथ होनी होती है उसी के साथ संयुक्त होती है। **भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति**[37] भाव्यमान जो उकार है वह सवर्णों का ग्रहण कराता है। कल्पद्रुम में 'उ' का पर्यायवाची उग्र कहा गया है। अतः भाव्यमान उकार से तात्पर्य हुआ बलवती भवितव्यता। वह बलवती भवितव्यता अपने समान वर्ण का, समानशीलव्यसन वाले का ही ग्रहण कराती है। अर्थात् जिसके योग्यता में जो होता है वही उसे प्राप्त होता है। अतः क्षत्रिय कन्या को क्षत्रिय राजा मिला अथवा क्षत्रिय राजा को क्षत्रिय कन्या प्राप्त हुई।।

14. अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्[38] **अनार्यः परदारव्यवहारः**[39]- कालिदास कहते हैं कि दूसरे की स्त्री देखने योग्य नहीं होती, न वर्णन करने योग्य। अर्थात् 'मातृवत् परदारेषु' पराई नारी को मातृतुल्य समझकर उसके साथ अनार्य व्यवहार नहीं करना चाहिये। न किसी अपरा नारी के विषय में ध्यान देना चाहिये। इस पर नागेश कहते हैं कि - **असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे**[40] अर्थात् जो अपनी अन्तरंगा पत्नी है उसके होते हुये बहिरंगा अन्या अपरा स्त्री असिद्ध है, साधनीय नहीं है, व्यवहारणीय नहीं है। पर आज - **उभयगतिरिह भवति**[41] अपनी गृहिणी के होते हुये भी अपवित्र दृष्टि वाले, परदार व्यवहार वाले अवैदिक तत्त्व समाज में विद्यमान हैं जो इस प्रकार के कृत्य करते हैं। आज उभयगति - पत्नी भी है और बाह्य प्रेमिका भी। पर **परान्नित्यं बलवत्**[42] जो हमेशा साथ देती है वह पत्नी ही होती है अतः वही बलवती होती है। नागेश कहते हैं उस नित्य की ओर ही दृष्टि होनी चाहिये न कि अनित्य की ओर।

15. अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेत्[43] **-** जब दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को दी गयी अंगूठी दुष्यन्त के पास पहुँचती है तो दुष्यन्त अंगूठी को उपालम्भ देते हुये कहता है- **कथं नु तं बन्धुरकोमलाङगुलिं करं विहायासि निमग्नमम्भसि। अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया।।**

हे मुद्रिके! सुन्दर और कोमल अंगुलियों वाले उस हाथ को छोड़कर जल में किस प्रकार से गिर पड़ी? अथवा अचेतन वस्तु गुण को जानने में समर्थ नहीं हो सकती। दुष्यन्त के इस आशय को स्पष्ट करते हुये नागेश कहते हैं कि - **सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः**[44] सामान्य वस्तु के द्वारा विशेष वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता किन्तु विशेष के द्वारा विशेष का ज्ञान होना चाहिये। अर्थात् अँगूठी अचेतन (सामान्य) है उसके द्वारा शकुन्तला (विशेष, नायिका, चेतन) को न जान पाना सम्भव है परन्तु दुष्यन्त (विशेष, नायक, जो कि सचेतन है) द्वारा शकुन्तला (विशेष, नायिका, चेतन) को तो जानना ही चाहिये। सचेतन होते हुये भी दुष्यन्त ने अत्यन्त अनुचित काम किया है। अतः दुष्यन्त कहता है कि हे मुद्रिके! मैं तुमको क्यों उलाहना दूं? मैं दोषी हूं क्योंकि मैंने सामान्य स्त्रीमात्र को नहीं अपितु प्रियाविशेष को तिरस्कृत किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों को देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कालिदास के वचनों का आचार्य नागेश समर्थन कर रहे हैं उनकी बातों का अनुकरण कर रहे हैं। दोनों का चिन्तन एक ही दिशा की ओर गतिमान है। दोनों एक दूसरे के समक्ष स्थित होकर शास्त्र विनोद में, शास्त्रीय चर्चा में लगे हैं। नागेश कालिदास के अनुज हैं अतः वे - **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते।।**[45]

इस गीता प्रोक्त वचन का परिपालन करते हुये कालिदास के प्रति अपनी भक्ति तथा अपनी विनयशीलता का परिचय दे रहे हैं।

सन्दर्भ -

1. *महाभाष्य 1,1,4*
2. *महाभाष्य 1,2,1*
3. *महाभाष्य 1,2,4/6,3,34*
4. *अभि.शा.1,2*
5. *परिभाषेन्दुशेखर 10*
6. *अभि.शा. 1,15*
7. *परिभाषेन्दुशेखर 11*
8. *अभि.शा. 2,18*
9. *परिभाषेन्दुशेखर 123*
10. *गीता 2,50*
11. *शब्दकलपद्रुम*
12. *अभि.शा. 4.19*
13. *परिभाषेन्दुशेखर 112*

14. परिभाषेन्दुशेखर 127
15. परिभाषेन्दुशेखर 1
16. अभि.शा. पृ. 179
17. परिभाषेन्दुशेखर 106
18. परिभाषेन्दुशेखर 116
19. अभि.शा. 3.16
20. परिभाषेन्दुशेखर 132
21. अभि.शा. 3,14
22. परिभाषेन्दुशेखर 109
23. अभि.शा.4,17
24. परिभाषेन्दुशेखर 124
25. अभि.शा. 5,21
26. परिभाषेन्दुशेखर 116
27. अभि.शा. 5,24
28. किरातार्जुनीयम् 1,30
29. परिभाषेन्दुशेखर 113
30. परिभाषेन्दुशेखर 114
31. अभि.शा.पृ. 373
32. परिभाषेन्दुशेखर 133
33. अभि.शा. 6,31
34. परिभाषेन्दुशेखर 89
35. अभि.शा. 1,16
36. अभि.शा. 6,8
37. परिभाषेन्दुशेखर 20
38. अभि.शा. 5,13
39. अभि.शा. 7,20
40. परिभाषेन्दुशेखर 50
41. परिभाषेन्दुशेखर 9
42. परिभाषेन्दुशेखर 42
43. अभि.शा. 6,13
44. परिभाषेन्दुशेखर 110
45. गीता 3,21

43

कालिदास के रूपकों का सूक्तिसौन्दर्य

नौनिहाल गौतम

भारतीय ज्ञान परम्परा के महत्त्व की स्थापना में भारतीय साहित्य की महती भूमिका रही है। विश्व का प्रथम साहित्य ऋग्वेद के रूप में भारतीयों की थाती है। आदि काव्य रामायण और विश्व का सबसे बड़ा महाकाव्य महाभारत भी भारतीय साहित्य में ही विद्यमान हैं। काव्यों की विशाल परम्परा ने विश्व में भारतीय प्रतिष्ठा को बढ़ाया है। कालिदास की काव्यकला पर तो विश्व भर के साहित्यप्रेमी रीझ जाते हैं। कालिदास के नाटकों की अनेक विद्वान् और कवियों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है। संस्कृत जगत् में एक श्लोक प्रसिद्ध है-

'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला। तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्।।'

यह श्लोक कालिदास की नाट्यरचना की श्रेष्ठता भी प्रदर्शित करता है। कालिदास के रूपकों की प्रसिद्धि में अनेक हेतु हैं। उनमें से सूक्ति सौन्दर्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कालिदास के तीन रूपक हैं- मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञानशाकुन्तलम्। इन तीनों रूपकों में शृंगार रस प्रधान है। इनमें राजतन्त्र का वर्णन प्रमुखता से है, किन्तु विभिन्न सामाजिक झाँकियों की भी झलक मिलती है। कालिदास की सूक्तियाँ विद्वानों द्वारा प्रायः व्यवहार में प्रयोग में लायी जाती हैं।

राजव्यवस्था सम्बन्धी सूक्तियाँ - कालिदास के रूपकों में राजव्यवस्था का सूक्ष्म चित्रण मिलता है। तत्सम्बन्धी सूक्तियाँ नाटकों में यत्र तत्र पिरोयी गयी हैं। राजा निरंतर प्रजा का हित साधने में संलग्न रहता है। प्रजा के हित में राज्य संचालित करना राजा का धर्म होता है। राज-काज के संचालन के लिए राजा प्रजा से छठवाँ भाग कर (टैक्स) के रूप में ग्रहण करता है। इसी कारण वह षष्ठांशवृत्ति भी कहा जाता है-

भानुः सकृद्युक्ततरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति। शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः।।[1]

प्रजापालन के कार्य की प्राथमिकता एवं अधिकता के कारण राजा को विश्राम नहीं मिलता है- 'अविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः।'(अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5.4 पूर्व) राज्य हाथ में पकड़े हुए छतरी के दण्ड के समान कष्ट दायक ही है- 'राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्'(अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5.6) राज्य कार्य संचालन दुःख कारक ही होता है- 'राज्ञां तु चरितार्थता दुःखोत्तरैव' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5.6 पूर्व) राजा का कर्तव्य है कि वह अपने राज्य में रहने वाले विपत्ति में पड़े जनों की विपत्तियों को दूर करे। द्रष्टव्य- 'आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यमित्येष वो धर्मः' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 3.16 पूर्व)। राजाओं को तपोवनों की रक्षा करनी चाहिए। इसका आशय है कि राष्ट्र में निवासरत आध्यात्मिक साधकों की रक्षा

शासक का कर्तव्य होता है- 'राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.25 पूर्व) राजाओं से अवसर देखकर ही मिला जाना चाहिए- 'नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः'(अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6.1 पश्चात्) राजाओं की बहुत सी प्रियाएँ होती हैं- 'बहुवल्लभा राजानः'(अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 3.17 पूर्व)।

चारित्रिक नैतिकता - कवि मुख्य रूप से नायक के माध्यम से ही समाज को उपदेश देते हैं। इसलिए चारित्रिक शुचिता नायक के लिए आवश्यक है। जितेन्द्रिय जनों की प्रवृत्ति परायी स्त्रियों के स्पर्श से भी विमुख रहने की हुआ करती है- 'वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5.8)। सत्पुरुष परायी स्त्रियों को निहारने को अनुचित मानते हैं- 'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्'(अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। परायी स्त्रियों के बारे में बातचीत करना शिष्ट जनों के लिए उचित नहीं है- 'अनार्यः परदारव्यवहारः' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्) वस्तुतः इसके पीछे स्त्रियों के प्रति आदर और उनकी शुचिता का अत्यन्त महत्त्व प्रकट होता है।

स्त्री विषयक सूक्तियाँ- स्त्रियों के विषय में समाज में प्रचलित धारणाएँ कालिदास के रूपकों में देखी जा सकती हैं। स्त्रियाँ स्वभाव से ही निपुण हुआ करती हैं- 'निसर्गनिपुणाः स्त्रियः'(मालविकाग्निमित्रम्, 3.3 पूर्व)। वे प्रत्युत्पन्नमति वाली अर्थात् हाजिर जवाब होती हैं- 'इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5.22 पूर्व)। मानवेतर प्राणियों में भी स्त्रियों (मादाओं) में चतुरता स्वाभाविक रूप से दृष्टिगोचर होती है। कोयल अपने बच्चे अन्य पक्षियों से पोषित करवा लेती है, यह धारणा इसे पुष्ट करती है-

'स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति।।'[2]

प्रियतम से मिलने की चाह रखने वाली स्त्रियाँ भी स्वभावतः लज्जाशील होती हैं- 'कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः' (मालविकाग्निमित्रम्, 4.8 पूर्व)। लोक में 'कन्या पराया धन होती हैं' यह धारणा वर्तमान में भी देखी जा सकती है। कालिदास यही तो कह रहे हैं- 'अर्थो हि कन्या परकीय एव'। कन्या पर विवाहोपरान्त पति का पूर्ण रूप से अधिकार होता है- 'उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5.26) स्त्री चाहे कितनी भी पवित्र आचरण वाली हो किन्तु विवाह के पश्चात् उसका मातृपक्ष में रहना समाज में अच्छा नहीं माना जाता है। इसलिए मायके वालों को वह स्त्री उसके पति के पास भेज देनी चाहिए- **सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते। अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः।।'**[3] साध्वी स्त्रियाँ प्रत्येक परिस्थिति में पति की सेवा करने वाली होती हैं। पति के सुख के लिए वे सौत भी स्वीकार कर लेती हैं-

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः। अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम्।।[4]

अत्यन्त प्रेम और हृदय की कोमलता के कारण स्त्रियों को अपने प्रिय के प्रवास से होने वाला दुःख अत्यन्त दुःसह होता है - 'इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि।' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। स्त्रियाँ अन्य स्त्री में अनुरक्त पति की पहचान कर लेती हैं। ऐसे पति की बातें पत्नी को लुभा नहीं पाती हैं जैसे रंग से पुते हुए मणि को जौहरी की नजर पहचान लेती है और वह नकली मणि जौहरी को लुभा नहीं पाता है-

प्रियवचनकृतोऽपि योषितां दयितजनानुनयो रसादृते। प्रविशति हृदयं न तद्विदां मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः।।[5]

शिक्षक- महाकवि कालिदास ने शिक्षकों की तीन श्रेणियाँ बतायी हैं। किसी का ज्ञान उसके स्वयं के लिए बोधगम्य रहता है अर्थात् वह व्यक्त नहीं कर पाता है। कोई केवल व्यक्त कर पाता है। जो शिक्षक स्वयं विषय का सम्यक् अवबोध रखता है और अभिव्यक्ति में भी कुशल होता है, सही मायनों में वही शिक्षक है-

'श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था सङ्क्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।।'[6]

महाकवि का यह उपदेश सार्वभौमिक है। इससे शिक्षकों को प्रेरणा लेनी चाहिए। यह शिक्षकों को निरन्तर सीखते रहने की भी प्रेरणा देता है। शिक्षक की वृत्ति केवल आजीविका मात्र के लिए नहीं है। जो केवल वेतन के लिए शिक्षक की नौकरी करते हैं, वे तो ज्ञान बेचने वाले वणिज (व्यापारी) हैं। शिक्षक को शास्त्रार्थ (विषय पर गहन विमर्श) से डरना नहीं चाहिए। विषय का गंभीर ज्ञान ही शिक्षक को शास्त्र संबंधी चर्चाओं में निर्भय बना सकता है। द्रष्टव्य-

'लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।।'[7]

सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त सूक्तियाँ- महाकवि कालिदास के साहित्य में ऐसी सूक्तियाँ प्राप्त होती हैं जिन्हें विद्वान् अपने व्यवहार में प्रयोग करते हैं। सामान्य जन भी उनके भावों को अपनी शैली में अभिव्यक्त करते हैं। हर पुरानी वस्तु अच्छी नहीं होती और हर नई वस्तु बेकार नहीं होती। वस्तु के गुणों के आधार पर उसकी श्रेष्ठता तय होनी चाहिए। विद्वान् वस्तु के गुणों को परख कर उसकी श्रेष्ठता का निर्णय करते हैं जबकि मूर्ख अन्यों के कहने के अनुसार ही अपनी राय बना लेते हैं-

'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।।'[8]

लोक में प्रचलित कहावत 'हर पीली धातु सोना नहीं होती' के भाव का स्रोत कालिदास के उपर्युक्त पद्य को माना जा सकता है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' उक्ति का रहस्य महाकवि की सूक्ति में प्रकट होता है। नाटक की लोकप्रियता के कारण को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि भाँति भाँति की रुचि रखने वाले जनों को प्रसन्न कर देने में नाट्य अकेले ही समर्थ है- **'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधकम्।'**[9]

तपोवन- वनों में आश्रम बनाकर रहने वाले, गहन तपस्या में रत रहने वाले तपस्वियों के जीवन और तपोवन के संबंध में भी विचार दृष्टिगोचर होते हैं। तपस्वी जन शान्तिप्रधान होते हैं। उनमें विरोधियों को जला देने की क्षमता वाला गुप्त तेज रहता है-

'शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद् वमन्ति।।'[10]

अलौकिक सिद्धियों से सम्पन्न महात्माओं की कुशलता उनके अपने अधीन होती है-'स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। विद्वान् तपस्वियों के लिए कुछ भी अज्ञात नहीं होता है- 'न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। तपस्वियों से निःसंकोच कुछ भी पूछा जा सकता है- 'अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। तपोवन में रहने वाले तपस्वियों का धन तप मात्र होता है इसलिए वे राजाओं को कर (टैक्स) के रूप में अपने तप का छठवाँ भाग प्रदान करते हैं- 'तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। तपोवनों की रक्षा का दायित्व राजाओं का होता है- 'राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। कभी राजा तपोवन में जाएँ तो उन्हें तपोवन की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए विनीत भाव से ही वहाँ जाना चाहिए- 'विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)।

भाग्य- महाकवि कालिदास 'भाग्य' या 'होनी' पर भी विश्वास करते हैं। 'होनी' को कौन टाल सकता है?, ऐसे वाक्य लोक में सुने जाते हैं। कालिदास के रूपकों में भी 'होनी' की प्रबलता को स्वीकार किया गया है- 'भवितव्यता खलु बलवती' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्) अर्थात् 'होनी' बहुत बलवती होती है। अन्यत्र भी 'भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद् वाच्यं वधूबन्धुभिः' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्) जैसे वाक्य भाग्य में विश्वास को पुष्ट करते हैं। अन्य कई सूक्तियाँ कालिदास के रूपकों में प्राप्त होती हैं। सुन्दर आकृति वाले लोगों पर हर तरह का परिधान सुसंगत लगता है। हर वस्तु उनके लिए शोभा बढ़ाने वाले अलंकार की भाँति हो जाती है- 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.20)। लोक में प्रचलित 'दाद में खाज होना' कहावत का स्रोत कालिदास का 'गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्) वचन माना जा सकता है।

महाकवि कालिदास के रूपकों में विद्यमान सूक्तियाँ प्रसंग के निरूपण में अत्यधिक प्रभाव छोड़ने के साथ ही सामान्य वचन के रूप में भी प्रभावी होती हैं। इनमें से कुछ सूक्तियाँ मूल रूप में विद्वानों द्वारा उद्धृत और प्रयुक्त की जाती हैं, वहीं कुछ सूक्तियाँ भावार्थ के रूप में हिन्दी आदि भाषाओं में प्रयोग में लायी जाती हैं। सूक्तियाँ कवि के विवक्षित मनोभावों की अभिव्यक्ति का साधन बन जाती हैं। सूक्तियाँ नैतिकता और मूल्यबोध के परिप्रेक्ष्य में भी देखी जानी चाहिए।

सन्दर्भ -

1. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5.4*
2. *वही, 5.22*
3. *वही, 5.17*
4. *मालविकाग्निमित्रम्, 5.19*
5. *विक्रमोर्वशीयम्, 2.21*
6. *मालविकाग्निमित्रम्, 1.16*
7. *वही, 1.17*
8. *मालविकाग्निमित्रम्, 1.2*
9. *वही, 1.4*
10. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2.7*

44

कालिदास के रूपकों में रसाभिव्यक्ति

सुधीर कुमार एवं मौहरसिंह मीणा

नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रणेता आचार्य भरत आदि आचार्यों ने त्रिविध नाट्य तत्त्वों-वस्तु, नेता तथा रस में से रस को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। नाट्य में वस्तु और नेता का संयोजन इस प्रकार करना चाहिए कि वे विशिष्ट रस की अभिव्यक्ति में सहायक हों। क्योंकि आङ्गिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्त्विक अभिनयों के द्वारा सहृदय-सामाजिक के चित्त में रसास्वादन कराना ही नाट्य का प्रमुख प्रयोजन होता है। महाकवि कालिदास ने भी कहा है कि रंगमंच पर अभिनयकर्त्ताओं द्वारा अनुकार्य दुष्यन्त-शकुन्तलादि के अभिनय से सहृदय सामाजिकों में तादात्म्य प्रतीति तभी सम्भव है, जब रसोद्रेक हो। सहृदय-सामाजिक को जब तक रसास्वादन नहीं हो जाता तब तक अभिनय की सार्थकता एवं सफलता सम्भव नहीं हो सकती। नाट्य का प्रमुख गुण ही दृश्यात्मकता है। महाकवि कालिदास ने भी इसे चाक्षुष-यज्ञ[3] की संज्ञा प्रदान करते हुए, इसमें रस की प्रधानता को स्वीकार किया है। नाट्य में रस की प्रधानता के विषय में कहा गया है कि रस के बिना कोई नाट्याङ्ग रूप अर्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता- न हिरसा–ते कश्चिदर्थः प्रवर्तृतते।[4] नाट्य ही रसोन्मेष का सर्वाधिक रम्य साधन है। अतः रस के कारण ही सहृदय सामाजिक अपने अन्तःस्थल में नाटक अथवा काव्य के सौन्दर्य का सहज साक्षात्कार करके आनन्दानुभूति को प्राप्त करता है।

रसाभिव्यञ्जना के विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव प्रमुख हेतु हैं। अतः यहाँ विभावादि की संक्षेप में विवेचना अपेक्षित है- विभाव आचार्य भरतमुनि ने विभाव का अर्थ विज्ञान बतलाया है-'विभावो विज्ञानार्थः'। यह विभावय स्थायीभावों एवं व्यभिचारीभावों का हेतु है, जिसके द्वारा स्थायी एवं व्यभिचारीभाव वाचिकादि अभिनयों के द्वारा विभावित होते हैं- विभाव्यते अनेन वागङ्गसत्त्वाभिनय इति विभावः।[5] आचार्य धनञ्जय विभावित करके सहृदय को रसास्वादन कराने वाले तत्त्व को विभाव कहते हैं। यही स्थायीभाव को पुष्ट करके, उसे रसरूप में परिणत करते हैं।[6] आचार्य विश्वनाथ के मत में जो-जो पदार्थ रसादिभावों के उद्‌बोधक होते हैं, वे ही नाट्य में निविष्ट होने पर विभाव कहलाते हैं।[7] ये विभावन अर्थात् आस्वाद के योग्य बनाने वाली रस-सामग्री हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं- आलम्बन तथा उद्दीपन।[8]

आलम्बन विभाव - जिसको आलम्बन करके या आश्रय प्राप्त कर रस की उत्पत्ति या निष्पत्ति होती है, उसे आलम्बन विभाव[9] कहते हैं। नाट्य में नायक एवं नायिका आलम्बन विभाव होते हैं। नाट्यकला में निपुणनट एवं नटी (दुष्यन्त- शकुन्तलादि) आलम्बन विभाव के रूप में सामाजिकों के समक्ष उपस्थित होते हैं।

उद्दीपन विभाव - जिसके द्वारा रति आदि स्थायीभावों को उद्दीप्त किया जाता है, वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।[10]

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत देश, काल, प्रकृति, वातावरण आदि का सन्निवेश होता है। किसी भी आलम्बन विभाव के कारण उदबुद्ध स्थायीभाव को और अधिक उद्दीप्त कर रसत्व को प्राप्त कराते हैं।

अनुभाव - नाट्य या काव्य में विभावों के द्वारा उदबुद्ध और उद्दीप्त वासनाओं के प्रभाव से सहृदय की चेष्टाएँ भिन्न प्रकार की हो जाती हैं। इन्हीं भाव-भङ्गिमाओं को अनुभाव कहा जाता है।[11] अर्थात् विभावों के द्वारा जो भाव नायक-नायिका के हृदय में उत्पन्न होकर अनुभूत होते हैं, उन्हें अनुभाव कहा जाता है। आचार्य भरत ने अनुभावों के सम्बन्ध में कहा है कि वाचिक तथा आङ्गिक अभिनय के द्वारा रसादि स्थायीभाव की आभ्यान्तर-अनुभूति को जो बाह्य रूप में अनुभव कराते हैं, उन्हें अनुभाव कहा जाता है।[12] शरीर के विभिन्न अङ्गों तथा उपाङ्गों की चेष्टाओं के द्वारा किये जाने वाले अभिनय से अनुभावों का सम्बन्ध स्थापित करते हुये, भरतमुनि ने उन्हें आन्तरिक भावों का सूचक कहा है।[13] अनुकार्य आदि की अन्तःस्थ रसानुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति अनुभावों के रूप में होती हैं। बाह्य अभिव्यञ्जना के साधन होने के कारण अनुभावों में शारीरिक व्यापार की प्रधानता होती है। रसों के अनुसार अनुभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। ये अनन्त हैं; इनकी संख्या निश्चित नहीं की जा सकती।

सञ्चारीभाव - विभिन्न रसों में अनुकूलता के साथ उन्मुख या सञ्चरित होने वाले भावों को सञ्चारीभाव कहा जाता है। आचार्य भरतमुनि कहते हैं कि जो रसों में विविध रूप से विचरण करते हैं तथा रसों को पुष्ट कर आस्वादन-योग्य बनाते हैं, उन्हें व्यभिचारीभाव कहा जाता है।[14] जैसे सूर्य नक्षत्र या दिन को धारण करता है; उसी प्रकार व्यभिचारीभाव; स्थायीभावों को धारण करते हैं अर्थात् रस तक ले जाते हैं। वे स्थायीभावों को रसरूप में भावित करते हैं, अतः उन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाता है।[15] इस सम्बन्ध में आचार्य धनञ्जय का मत भी अवलोकनीय है, जो भाव विशेषरूप से स्थायीभाव की पुष्टि के लिए तत्पर या अभिमुख रहते हैं और स्थायीभाव के अन्तर्गत आविर्भूत तथा तिरोहित होते दिखाई पड़ते हैं, वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। आचार्य मम्मट, भरतादि आचार्यों ने सञ्चारीभाव भावों की निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्यादि तैंतीस संख्या स्वीकार की है।[16]

स्थायी भाव - लौकिक जगत् में मानव देखकर अथवा सुनकर जो कुछ अनुभव करते हैं, उनका संस्कार मानव मन पर पड़ता है। ये अनुभव क्षणिक होने के कारण नष्ट हो जाते हैं, किन्तु उसका एक भाव संस्कार वासना के रूप में रह जाता है, जिसे स्थायीभाव कहा जाता है। साहित्यदर्पणकार का अभिमत है कि स्थायीभाव उस भाव को कहते हैं, जो न किसी अनुकूल भाव से तिरोहित होता है और न किसी प्रतिकूल भाव से दबा रहता है। वह अन्त तक अवस्थित रहता है, तथा इसी में रस के अङ्कुरण की मूल शक्ति निहित रहती है।[17] आचार्य भरत कहते हैं कि जिस प्रकार भोजन के भोक्ता अनेक पदार्थो से सम्पृक्त व्यञ्जनों का रसास्वादन करते हैं, उसी प्रकार अनेक भाव तथा अभिनय से युक्त स्थायीभावों का सहृदय सामाजिक आस्वादन करते हैं। अतः ये स्थायीभाव ही नाट्यरचनाओं में रस कहलाते हैं।[18] कविराज विश्वनाथ ने सत्त्वोद्रेक को रस का हेतु तथा रस को अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मानन्द सहोदर तथा लोकोत्तर चमत्कार प्राण कहा है।[19] नाट्य में लोक व्यवहार से उत्पन्न शोक, भयादि की अनुभूति से भिन्न एक विलक्षण आनन्द सभी प्रकार के दृश्यों से प्राप्त होता है। आचार्य धनञ्जय ने स्थायीभाव की विवृत्ति के लिए समुद्र से उपमा देते हुए कहा है कि समुद्र के अन्तर्गत कोई भी मीठा या खारा जल मिलकर तदरूप हो जाता है, समुद्र सभी पदार्थों को आत्मसात् करके आत्मरूप बना लेता है।[20] महाकवि कालिदास ने स्थायीभाव के विषय में कहा है कि रम्य दृश्यों को देखकर

अथवा मधुर शब्दों को सुनकर यदि कोई भी सुखी व्यक्ति पर्युत्सुक हो उठता है तो इसका कारण यही समझना चाहिए कि उसे अपने पूर्व के जन्मों के स्नेह-सम्बन्धों की; जो उसके अचेतन मन में स्थित भावों के रूप में स्थित है, अनायास ही स्मरण कर रहा है।[21] अतः स्पष्ट होता है कि कालिदास की दृष्टि में स्थायीभाव ही उद्‌बुद्ध होकर रस के रूप में आस्वादित होता है। उक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि रस निष्पत्ति में स्थायीभाव आभ्यान्तर कारण हैं तथा विभाव उसके बाह्य कारण हैं। जबकि अनुभाव और सञ्चारीभाव उस आभ्यान्तर रसानुभूति से उत्पन्न कायिक एवं मानसिक व्यापार हैं।

अङ्गीरस - महाकवि कालिदास के तीनों नाटकों का अङ्गीरस शृङ्गार है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने शृङ्गाररस को त्रिवर्ग से सम्बद्ध माना है। शायद इसी हेतु से नाटककार ने अपने सभी रूपकों में शृङ्गारको अङ्गीरस के रूप में ग्रहण किया होगा तथा शेष को अङ्ग के रूप में।[22] इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह भी रहा है, उन्होंने राजसंस्कृति के वैभव, विलासादि से युक्त परिवेश में अपने तीनों रूपकों की रचना की थी। अतः प्रकृत शोध-पत्र में विवेच्य विषयानुरूप महाकवि कालिदास के रूपकों के अङ्गी रस शृङ्गार का विश्लेषणात्मक अध्ययन निम्नवत् किया जा रहा है-

शृङ्गाररस - शृङ्गारपद शृङ्ग एवं आर शब्दों के मेल से निष्पन्न है। शृङ्गं कामोद्रेक मृच्छतीति से 'शृङ्ग' शब्दका अर्थ है- 'कामोद्रेक' तथा ऋ = गतौ कर्मण्यण् के अनुसार 'गत्यर्थक ऋ' धातु से व्यवस्थित 'आर' शब्द का अर्थ है 'प्राप्ति'। इस तरह शृङ्गार शब्द का अर्थ हुआ- काम वृद्धि अथवा कामोद्रेक की प्राप्ति। अतः काम का अर्थ हुआ- सहज इच्छा या कर्त्तव्य-कर्म। आचार्य भरतमुनि रस की उत्पत्ति रत्यादि स्थायी-भावों से मानते हैं। जैसाकि उन्होंने कहा है कि नाना भावों के उपागम से रस की निष्पत्ति होती है तथा अनेक भावों से युक्त स्थायी भाव ही रसावस्था को प्राप्त होते हैं।[23] इस सिद्धान्त के अनुसार रति स्थायी भाव से शृङ्गाररस का उद्‌भव हुआ है। इसका स्वरूप उज्ज्वल है तथा इस जगत् में जो कुछ पवित्र, शुभ्र एवं दर्शनीय है, वह शृङ्गार से उपमित होता है। इसके उत्तम प्रकृत्ति वाले स्त्री-पुरुष हेतु होते हैं तथा उत्तम यौवन की प्रकृति के अनुकूल है-तत्र शृङ्गारो नामरतिस्थायिभावप्रभवः। उज्ज्वलवेषात्मकः। यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते। यस्तावदुज्ज्वलवेषः सदृशृङ्गारवानित्युच्यते। यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेश सिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवेषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्योप्तोपदेश सिद्धानि नामानि। एवमेष आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वल वेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रसः। स च स्त्री पुरुष हेतुक उत्तम युव प्रकृतिः।[24]

शृङ्गार रस के अभिनय के सम्बन्ध में भी आचार्य भरत का मत है- नयन विकास, मुख प्रसाद, स्मित, मधुर वचन, धैर्य, आनन्द की सामग्रियों एवं मधुर अङ्ग विहारों से उसका अभिनय।[25] शृङ्गार रस के सम्बन्ध में आचार्य धनञ्जय का अभिमत है कि परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका के हृदय में रम्य देश, काल, कला, वेश, भोगादि के सेवन द्वारा आत्मा का प्रसन्न होना ही रति स्थायी भाव कहलाता है। यही रति स्थायी भाव नायक अथवा नायिका के अङ्गों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा एक दूसरे के हृदय में परिपुष्ट होकर शृङ्गारस रस की स्थिति को प्राप्त करता है।[26] इस रस के आलम्बन प्रायः उत्तम प्रकृति के ही प्रेमीजन हुआ करते हैं। अर्थात् परकीया अथवा अनुराग शून्य वेश्या नायिका को छोड़कर अन्य प्रकार की नायिकाएँ तथा दक्षिणादि प्रकार के नायक ही इसके उपयुक्त आलम्बन विभाव हैं। चन्द्र-चन्द्रिका, चन्दनानुलेपन, भ्रमर-झंकार इत्यादि इसके उद्दीपन विभाव हैं। अनुराग पूर्ण परस्पर एक दूसरे को देखना, कटाक्ष करना, भृकुटिभङ्ग आदि इसके अनुभाव हैं। उग्रता, मरण, आलस्य तथा जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके व्यभिचारी भाव हैं। 'रति'

इसका स्थायीभाव है। महाकवि कालिदास ने अपने रूपकों में शृङ्गार के दोनों भेदोंका बहुत ही कलात्मक ढंग से सन्निवेश किया है। सम्भोग तथा विप्रलम्भ दोनों दशाओं में रति का ही आस्वादन होता है और आस्वाद्यमान रूप शृङ्गार रस होता है। यही कारण है कि सम्भोगावस्था में विप्रलम्भ की सम्भावना से भय रहता है और विप्रलम्भ में सम्भोग की कामना बनी रहती है। सम्भोग एवं विप्रलम्भ ही शृङ्गार रस का स्वरूप है। अभिलाषा, ईर्ष्या, प्रवासादि विप्रलम्भ के पाँचों प्रकारों की रति की स्थिरता के कारण भोग के अभाव में भी इन्हीं शृङ्गार के भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः प्रेम होने पर तथा भोग के न होने पर भी सम्भोग शृङ्गार आदि का व्यवहार उपचार के द्वारा किया जाता है। इन दोनों दशाओं के मिश्रण से अत्यधिक चमत्कार उत्पन्न होता है।

सम्भोग-शृङ्गार - यह परस्पर आसक्त हृदयों के रागात्मक मिलन पर आधृत होने के कारण शृङ्गार का भावात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है। इसमें रमण, उपभोग तथा तृप्ति के भाव स्वभावतः अन्तर्भावित हैं। आचार्य धनञ्जय का कहना है कि जहाँ नायक- नायिका एक दूसरे के अनुकूल होकर विलासपूर्ण दर्शन, स्पर्शन आदि का परस्पर उपभोग करते हैं, वहाँ प्रसन्नता और उल्लास से युक्त सम्भोग होता है।[27] इस शृङ्गार में नायिकाओं में अपने प्रिय के प्रति लीलादि दश चेष्टाएँ पायी जाती हैं। ये चेष्टाएँ दाक्षिण्य, मृदुतादि तथा प्रेम के उपयुक्त होती हैं।[28]

आचार्य भरतमुनि ने इसके विभावों एवं अनुभावों के सम्बन्ध में कहा है कि इसमें ऋतुरमणीयता, पुष्पमालाओं, अलङ्कारों का धारण, अर्थरम्य भवन का उपभोग, उद्यानगमन, प्रियजन के वचनों का श्रवण, उसका दर्शन, उसके साथ क्रीड़ा-लीला आदि विभावों के संयोग से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय नयन-चातुर्य, भ्रू-विक्षेप एवं मधुर अङ्गचेष्टा, आकर्षक वचनादि के द्वारा किया जाता है। इसमें त्रास, आलस्य, उग्रता तथा जुगुप्सा नामक सं्चारीभावों को छोड़कर शेष सभी प्रयुक्त होते हैं।[29] सम्भोग शृङ्गार के अनन्त भेद हो सकते हैं। परन्तु इसके चार प्रकार ही प्रतिपादित किये गये हैं :- पूर्वरागान्तरसम्भोग,मानान्तर-सम्भोग, प्रवासान्तर सम्भोग तथा करुणविप्रलम्भान्तर सम्भोग।[30]

महाकवि कालिदास के सभी रूपकों में सम्भोग-शृङ्गार का सुन्दर समन्वय देखते बनता है। रस-परिपाक की दृष्टि से सम्पूर्ण नाट्य-जगत् में अभिज्ञानशाकुन्तल विलक्षण नाटक माना जाता है। इसमें नाटककार ने नाटक की नायिकाशकुन्तला और नायक दुष्यन्त के प्रणय-व्यापार के विभिन्न पक्षों के उद्घाटन में अपनी अपूर्व नाट्यकुशलता का परिचय दिया है। इस नाटक के अङ्गीरस के रूप में शृङ्गार की अभिव्यक्ति हुई है। संयोग शृङ्गार का अत्यधिक आकर्षक विश्लेषण नाटक के प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं सप्तम अङ्क में हुआ है। प्रथम अङ्क में अनुकार्य की चेष्टाएँ विभाव, अनुभावादि की भूमिका का निर्वाह करती हैं।

राजा दुष्यन्त प्रथम बार में ही शकुन्तला के आभूषण रहित नैसर्गिक सौन्दर्य को देखकर आकृष्ट और आसक्त हो जाते हैं।[31] उसके अव्याज- मनोहर सौष्ठव की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि इसका शरीर वल्कल वस्त्रों में भी अत्यन्त शोभायमान हो रहा है।[32] कण्वाश्रम के सुरम्य कुञ्जादि उद्दीपनविभाव हैं। दुष्यन्त और शकुन्तला एक दूसरे के आह्लादक-सौन्दर्य को देखकर विस्मित हो जाते हैं तथा उत्सुक आँखों से एक दूसरे की ओर देखते हैं। भ्रमर-बाधा से उत्पन्न शकुन्तला की शारीरिक चेष्टाएँ, उसकी रतिभावना को और अधिक उद्दीप्त कर देती हैं। शकुन्तला की यह उक्ति-'(ससंभ्रमम्) अम्मो! सलिलसेकसम्भ्रमोद्गतो------वदनं' इति मे मधुकरोऽभिवर्तते'[33] सहृदय को सामाजिक मद, व्रीड़ा, चपलता, आवेग आदि का प्रत्यक्ष रूप से दर्शन करती है। सस्पृहभावना से भ्रमर को हटाने की उसकी चेष्टा को देखकर राजा कहता है कि भयवश, काम-भावना से रहित

होने पर भी मानो वह आज कटाक्षपात को सीख- सी रही है। ईर्ष्याभाव के समान उसे देखकर राजा कहता है कि हे भ्रमर! तू चञ्चल नेत्रों वाली का अधर-पान कर कृत्तार्थ हो गया।[34] राजा दुष्यन्त के इस वर्णन में जहाँ एक ओर विभाव की मनोहर योजना है, वहीं दूसरी ओर उसकी ग्लानि, असूया, आवेग आदि की व्यञ्जना भी हो रही है। इस प्रकार के चित्रण से नाटक में एक अभूतपूर्व प्रभाव की सृष्टि होती है। दुष्यन्त के सुन्दर शरीर, मधुर-भाषणादि से आकृष्ट होकर शकुन्तला के हृदय में भी प्रेम के बीज अङ्कुरित होने लगते हैं।[35]

रस की बाह्य अभिव्यञ्जना के साधनरूप अनुभावों में शारीरिक व्यापार की प्रधानता होती है। काव्य-नायक दुष्यन्त, काव्य-नायिका शकुन्तला के अनुपम सौन्दर्य को देखकर मन में कहता है कि उसका सौन्दर्य न सूँघे गये पुष्प के समान, नखों से न काटे गये नवीन पल्लव के सदृश, न बीधें गये रत्न के तुल्य, न चखे गये हुए नवीन मधु और बिना भोगे गये पुण्यों के फल के समान है। अनुरागचेष्टाओं का स्मरण करते हुये कहता है कि मेरे द्वारा सामने देखे जाने पर वह अपनी दृष्टि हटा लेती थी तथा अन्य कारणों से हँस पड़ती थी। इसीलिए उसने शील के द्वारा नियन्त्रित व्यापार वाले कामभाव को न तो प्रकट ही किया और न छिपाया ही। पुनः दुष्यन्त कहता है कि परस्पर विवाद के समय सखियों के साथ प्रस्थान करते समय उसने लज्जाशीलता के साथ अपने प्रेमभाव को मेरे प्रति उचित रूप में व्यक्त किया। क्योंकि 'कुश' के अंकुर से मेरा पैर घायल हो गया है, यह कहते हुए तथा वृक्षों की शाखाओं में न उलझे हुए भी बल्कल-वस्त्र को छुड़ाती हुई मेरी ओर मुख करके खड़ी हो गयी।[36] इस प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त के अन्तःस्थ रतिभाव की अभिव्यक्ति अनुभावों के द्वारा हुई है।

सञ्चारी भाव का रसानुकूल प्रयोग यहाँ पर नाटककार ने बहुत ही कुशलता पूर्वक किया है- वियोगकाल में दुष्यन्त एवं शकुन्तला कभी उत्कण्ठा और कभी निराशा से व्याकुल होकर वे आपस में एक-दूसरे से मिलने के लिए आकुल-व्याकुल हो जाते हैं। इसके बाद सौभाग्य से अनुसूया एवं प्रियंवदा नामक सखियों की सहायता से शकुन्तला कमलपत्र पर नाखून से दुष्यन्त के लिए अपने उत्कट प्रेम को गीत में व्यक्त करती है।[37] इसी अनुकूल समय में राजा दुष्यन्त सहसा उपस्थित हो जाते हैं। उसके मदनलेख के भाव को समझकर राजा अचानक समीप में जाकर उसके प्रति अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहते हैं कि हे शाङ्गी! कामदेव तुझे निरन्तर सता रहा है, किन्तु मुझे भी जला रहा है।[38] नाटक के अन्तिम अङ्क में वियोगिनी शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त खेद प्रकट करता है[39] तथा अपने द्वारा किए गये परित्याग का पश्चात्ताप करता हुआ, उसके पैरों में गिरकर क्षमा माँगता है।[40] जिस प्रकार ग्रहण के पश्चात् रोहिणी और चन्द्रमा कामिलन होता है, उसी प्रकार उन दोनों का मधुर मिलन होता है।[41] इस प्रकार नाटक में प्रेमी और प्रेमिका का सुखद मिलन होता है। यहाँ सम्भोग अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त करता है।

मालविकाग्निमित्र नाटक का अङ्गीरस भी शृङ्गार है, तथा विदूषक की उक्तियाँ इसमें हास्यरस का समावेश कर देती हैं। यह नाटक महाकवि कालिदास की प्रथम कृति है, जिसमें सम्भोग शृङ्गार रस का अत्यन्त मनोरम चित्रण किया है। राजा अग्निमित्र मालविका के सौन्दर्य को चित्र में देखकर आकृष्ट हो जाता है। पुनः प्रत्यक्ष देखने पर वह सोचता है कि इस चित्र में उसके सौन्दर्य का सम्यक् रूप से चित्रांकन नहीं हुआ है।[42] राजा उसके रूप को देखकर आकृष्ट हो जाता है।[43] मालविका के अंकित चित्र के द्वारा शृङ्गार रस के आलम्बन-विभाव की बहुत ही सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। मालविका नृत्य करती हुई, गीत के माध्यम से राजा अग्निमित्र के प्रति अपने हार्दिक अनुराग की अभिव्यक्ति करती है।[44] नाटक का नायक अग्निमित्र उसकी नृत्यकला से आकृष्ट

और मुग्ध होकर कहता है कि स्वाभाविक सुन्दरी मालविका के ललितकला के ज्ञान को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे विधाता ने उसे कामदेव के बाणों को विष में बुझाया गया है।[45] इसी तरह नाचती हुई मालविका की मुद्रा तथा उसके स्पष्ट दिखाई पड़ते यौवन के वर्णन में विभावों की योजना बहुत ही कुशलता से की गयी है।[46]

राजा अग्निमित्र मालविका के प्रति अपने प्रणय-व्यापार को व्यक्त करता हुआ कहता है कि मेरा हृदय अन्तःपुर की सभी स्त्रियों को छोड़कर उस सुन्दर नेत्रों वाली को ही प्रेम का एकमात्र आधार बनाये बैठा हुआ है।[47] इसके बाद राजा की चिन्ता[48] आदि कामदशाओं का हृदयावर्जक दृश्य उपस्थित किया गया है। मालविका भी कामपीड़ा का अनुभव कर रही है।[49] जब राजा अग्निमित्र मालविका को देखकर कहता है कि कुन्दलता के समान इसके गाल पीले पड़ गये हैं।[50] तब विदूषक कहता है कि आपकी तरह इन्हें भी प्रेम-रोग लग गया होगा।[51] राजा अग्निमित्र मालविका के साथ सम्भोग की कामना से मन ही मन सोचता है कि जिस प्रेमवृक्ष की जड़ें तब पड़ी थीं, जब मैं उसका नाम सुनकर उसकी आशा करने लगा। राग-प्रीति के रूप में पल्लव तब फूट पड़ी थी, जब मैंने उसे अपनी आँखों से देखा और कलियाँ-सी तब खिल गई थीं, जब उसे हाथों से उठाते हुए मुझे रोमाञ्च हुआ, वह वृक्ष अब मुझे फल चखने दे, जिसके लिए मैं आकुल हुआ बैठा हूँ। राजा अग्निमित्र मालविका को भयभीत- सी खड़ी देखकर कहता है कि सुन्दरी! तुम मिलन के भय को छोड़ दो, तुम्हारे प्रेम के लिए व्याकुल मुझसे उसी प्रकार आलिङ्गनबद्ध हो जाओ जैसे माधवीलता आम के वृक्ष पर लिपट जाया करती है।[52] पुनः राजा उससे कहता है कि है बिम्बफल के सदृश ओष्ठों वाली! प्रेम दिखाने की शिष्टता तो प्रेमी लोगों में कुल का नियम है, लेकिन हे विशाल नयनों वाली! मेरे प्राण तो तुम्हारी आशा पर टिके हुए हैं।[53] मैं कभी से तुम पर आसक्त हुआ पड़ा हूँ, अतः मुझ पर कृपा करो। यह कहकर गले लगने का अभिनय करता है। मालविका बचकर निकलने का अभिनय करती है। राजा मन ही मन सोचता है कि नवेलियों के प्रेम भरे नखरे कितने सुन्दर लगते हैं। क्योंकि जब मैं मुख को चूमने के लिए ऊपर उठाता हूँ तो यह उसे फेर लेती है। इस तरह का बहाना करने से यह मेरी इच्छापूर्ति को ही आनन्द दे रही है।[54] महाकवि कालिदास ने इस नाटक में शृङ्गार के बीजभूत कारण मालविका की नृत्यकला से अग्निमित्र के हृदय में स्फुरित रति स्थायी-भाव शृङ्गाररस के रूप में परिपुष्ट हुआ है। विक्रमोर्वशीयम् नाटक में भी महाकवि कालिदास ने प्रणय-व्यापार का सजीव-चित्रण किया है। नाटक का नायक पुरूरवा उर्वशी को देखकर और मुग्ध होकर आलम्बन रूप उर्वशी का वर्णन करता है कि इसकी सृष्टि में कान्ति प्रदान करने वाले चन्द्रमा या शृङ्गार के अवतार कामदेव ही स्रष्टा रहे होंगे। अथवा इसकी रचना पुष्पों से पुष्पित वसन्तमास ने की होगी।[55] राजा पुरूरवा की इन बातों को सुनकर उर्वशी कहती है कि इनके वचन बहुत ही अच्छे हैं। अथवा चन्द्रमा से अमृत की वृष्टि हो, इसमें क्या आश्चर्य? पुनः प्रकट होकर वह कहती है कि इसी कारण से इन्हें देखने के लिए मेरा हृदय छटपटा रहा है।[56] आकाशगमन करते समय उर्वशी झाडियों में एकावली फँस जाने के बहाने मुड़कर पुरूरवा को देखती है।[57] यहाँ पर उद्दीपन विभाव रूप चित्रण किया गया है। अनुभाव के माध्यम से उर्वशी अपने आभ्यान्तर भावों को प्रकट करते हुए अपने प्रति राजा पुरूरवा के अनुराग को जान कर भूर्जपत्र पर अपनी हार्दिक मनोव्यथा एवं कामपीड़ा को गीतबद्ध लिखकर वहाँ पर गिरा देती है।[58] उर्वशी की सखी चित्रलेखा राजा पुरूरवा से उर्वशी की ओर से प्रणय निवेदन करती है।

इन्द्र सभा में खेले जा रहे लक्ष्मी स्वयंवर नाटक में लक्ष्मी का अभिनय करने के लिए उर्वशी मञ्च पर आती है, किन्तु अपने प्रेमी के ध्यान में डूबी रहने के कारण पुरुषोत्तम के स्थान पर पुरूरवा कह देती है। फलतः वह भरतमुनि से अभिशप्त होकर स्वर्गच्युत होती है। वहाँ से वह पुरूरवा के निवास स्थान पर आकर मनोविनोद

के लिए राजा की आँखे बन्द कर देती है। राजा पुरूरवा उर्वशी को प्राप्त कर अपना अभ्युदय मानता है।[59] राजा उसका हाथ पकड़कर कहता है कि इष्ट वस्तु का लाभ स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला देता है। क्योंकि वे ही चद्र किरणें हमारे शरीर को आनन्दित कर रही है। वे ही कामबाण मेरे अनुकूल हो रहे हैं।[60] इसके बाद सांयकालिक चन्द्रमा का उपभोग कर राजा उर्वशी के साथ परिभोग योग्य महल में जाता है। पुनः वे दोनों सम्भोग योग्य स्थान गन्धमादन पर्वत-उद्यान में जाते हैं। वहाँ पर भी अपनी उद्दामप्रवृत्ति के कारण स्वामी कार्तिकेय के शापवश उर्वशी लता बन जाती है। पुनः संगमनीय मणि के द्वारा राजा के स्पर्श से उर्वशी के रूप में प्रकट हो जाती है, उर्वशी के शरीर के स्पर्श से राजा पुरूरवा को परमशान्ति मिलती है।[61] इस प्रकार प्रेमी और प्रेमिका के सुन्दर मिलन से नाटक में सम्भोग शृङ्गार की सृष्टि अत्यन्त मनोरम एवं चित्ताकर्षक है।

विप्रलम्भ शृङ्गार - इस रस में नायक तथा नायिका का समागम नहीं होता। यह समागम-अभाव एक बार मिलन हो जाने के बाद की दशा का है। यह वियोग अत्यधिक रूढ़ अथवा केवल प्रेम का ही एक बहाना हो सकता है। आचार्य धनञ्जय के अनुसार यह दो प्रकार का होता है- प्रवासरूप-वियोग तथा मानरूप-वियोग। यह मानरूप-वियोग प्रेम अथवा ईर्ष्या के कारण होता है।[62] नायक है नायक-नायिका में से एक अथवा दोनों के क्रोध होने पर प्रणयमान विप्रयोग होता है। प्रिय के किसी अन्य नायिका के प्रति आसक्ति होने पर स्त्रियों में जो क्रोध उत्पन्न होता है, वह ईर्ष्याकृत मान होता है। ईर्ष्यामान केवल स्त्रियों में ही पाया जाता है। नायिका के इस ईर्ष्यामान को छः प्रकार से दूर किया जा सकता है- साम, भेद, दान, नति (पादपतन), उपेक्षा तथा अन्य रस के द्वारा।[63]

किसी कार्यवश, सम्भ्रम या फिर शाप के कारण नायक-नायिका का अलग-अलग वेश में रहना प्रवास विप्रयोग कहलाता है। इसमें नायक एवं नायिका दोनों में अश्रु, निःश्वास, दुर्बलता, केश विन्यास न करने के कारण उनका लम्बा होना आदि अनुभाव पाये जाते हैं। यह प्रवास तीन प्रकार का होता है- भविष्यत्, वर्तमान तथा भूत। इनमें सम्भ्रम-जनित प्रवास वह होता है, जहाँ देवी अथवा मानुषी विप्लब के कारण नायक-नायिका पूर्णतः एक दूसरे से अलग कर दिये गये हों। नायक एवं नायिका के समीप होने पर भी, उनका स्वभाव या रूप शाप के कारण बदल दिया जाये, वह शापज प्रवास कहलाता है।[64] आचार्य विश्वनाथ के मत में विप्रलम्भ शृङ्गार वहाँ पर होता है, जहाँ रति तो प्रकृष्ट है, किन्तु अभीष्ट पास नहीं होता।

विप्रलम्भ शृङ्गार के चार भेद - पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुण किये हैं। विप्रलम्भ उत्तम नायक-नायिकादि में पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुण इन चार विधियों में प्रकाशित होता है। बिना किसी पूर्व संकेत के ही स्त्री-पुरुष में जो अन्योन्यानुराग उत्पन्न होता है, वह वासना विशेष से रमणीय होने के कारण पूर्वराग कहा जाता है। प्रेम की गति सर्प-गति के समान कुटिला होती है, इस कारण 'नहीं', 'नहीं' इन कथनों के द्वारा नैराश्य, असहमति अथवा खण्डन व्यक्त करने के कारण दम्पति के दीर्घ कालीन विच्छेद को प्रवास कहते हैं। प्रिय के मृत हो जाने पर दुःखिनी प्रिया को जो दुःखानुभूति होती है, उसे करुण विप्रलम्भ कहते हैं।[65] यहाँ पर मृत्यु का तात्पर्य मरने के समान होकर पुनः प्राप्य होने से है। विप्रलम्भ शृङ्गार का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, बिब्बोक, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य, मरण आदि सञ्चारी भावों द्वारा किया जाता है।[66]

महाकवि कालिदास के तीनों रूपकों में विप्रलम्भ शृङ्गार का सुन्दर परिपाक हुआ है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कालिदास ने विप्रलम्भ शृङ्गार के मनोरम पक्ष का हृदयावर्जक दृश्य उपस्थित किया है।

इसके माध्यम से उन्होंने सिर्फ सम्भोग को परिपुष्ट नहीं किया है, अपितु अपने माता-पिता आदि गुरुजनों की अनुमति के बिना किये गये वासनाजन्य प्रेम को को वियोगाग्नि में भस्मसात् करके दाम्पत्यस्नेह की पवित्रता से विभूषित किया है। शकुन्तला के प्रत्याख्यापन एवं दुष्यन्त के पश्चाताप से दोनों की कलुषता समाप्त हो जाती है। अन्त में दोनों भरत के रूप में अपने प्रेम रूप फल को प्राप्त कर धन्य हो जाते हैं। द्वितीय, तृतीय तथा षष्ठ अङ्क में विप्रलम्भ शृङ्गार का विशेष वर्णन किया है। विप्रलम्भ के सभी प्रकारों का वर्णन इसमें किया गया है। राजा दुष्यन्त शकुन्तला को विधाता की स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा कहकर चित्रो निवेश्य..., अनाघ्रातां पुष्पम्...., अभिमुखे.... , दर्भाङ्कुरेण आदि विभिन्न उपमानों से तुलना करते हुए उसके रूपलावण्य को स्मरण कर उसकी प्राप्ति के लिए चिन्तित होता है।[67] वह उसकी विगत अनुराग चेष्टाओं को याद कर व्यथित हो जाता है। उसके वियोग में दुष्यन्त के लिए चन्द्रमा की शीतल किरणें अग्नि की वर्षा करती हैं तथा कामदेव के कोमल कुसुमबाण भी बज्र के समान तीक्ष्ण हो जाते हैं।[68] शकुन्तला के वियोग में दुष्यन्त के नेत्रों से निरन्तर बहती हुई गर्म अश्रुधारा के कारणउनका स्वर्ण-भुजबन्ध मलिन तथा शरीर दृश हो गया है।[69]

शकुन्तला भी दुष्यन्त के वियोग के कारण अत्यन्त दुःखी है और कामसन्तप्त है। चन्दन आदि का लेप किए हुए भी पुष्पों की शय्या पर लेटे रहने पर भी उसे शान्ति नहीं मिल रही है। उसकी दशा बहुत ही दयनीय हो गयी है।[70] अपने प्रियतम के विरह में शकुन्तला इतनी दुःखी एवं चिन्तित है कि उसे दुर्वासा के आगमन एवं शाप देकर चले जाने का कोई पता ही नहीं चल पाता।[71] इस शाप के प्रभाववश पञ्चम अङ्क में अपने समक्ष उपस्थित शकुन्तला का राजा दुष्यन्त प्रत्याख्यापन कर देता है। उस समय शकुन्तला की दशा बड़ी दारुण हो जाती है। वह तपस्वियों के साथ प्रस्थान करती है तथा पृथ्वी से अपने अन्दर स्थान माँगती है।[72] षष्ठ अङ्क में अङ्गुलीयक मिलने पर राजा को शकुन्तला की याद आती है और वह पाश्चात्ताप की ज्वाला में दग्ध होने लगता है। वह उसके विरह में निरन्तर दुःखी रहते हुए सभी वस्तुओं से घृणा करता है।[73] उस अँगूठी को देखकर विगत सभी घटनाओं को याद कर चिन्तित होता हुआ अकारण छोड़ देने की जलन से दुष्यन्त का हृदय अत्यन्त जल रहा है।[74] उसके नेत्रों से निरन्तर अश्रुधारा बहते रहने के कारण चित्राङ्कित शकुन्तला को भी वह नहीं देख पाता है।[75]

मालविकाग्निमित्रम् नाटक में इरावती जब मालविका के साथ राजा अग्निमित्र को आसक्त देख लेती है, तब प्रकुपित हो जाती है। ऐसी स्थिति में राजा उसे मनाने का प्रयास करता हुआ, अपनी सफाई देता है कि उत्सव के दिन कैदियों को छोड़ देना चाहिए। बन्धनमुक्ति की खुशी में मालविका तथा बकुलावलिका धन्यवाद देने के लिए यहाँ आयीं हैं।[76] तृतीय अङ्क में इरावती क्रोधावेश में राजा अग्निमित्र को पीटने के लिए उद्यत होती है, तब राजा मनौती करते हुए उसके पैरों पर गिर जाता है।[77]

विक्रमोर्वशीयम् में इन्द्र के पास उर्वशी के जाने पर पुरूरवा की विकल दशा का वर्णन कालिदास ने किया है। इसमें काम की सारी अवस्थाओं का सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। अभिनय के लिए स्वर्ग जाते समय उर्वशी, राजा से अनुमति लेकर वियोग-दुःख प्रकट करती हुई जाती है।[78] पुरूरवा उसके जाने पर कहता है कि अब आँखें व्यर्थ हैं।[79] तृतीय अङ्क में राजा पुरूरवा कामपीड़ित हो उर्वशी की पूर्व चेष्टाओं को स्मरण करते हुए कहता है कि रथ के हिलने डुलने से हमारे कन्धे से उसका कन्धा सट गया। अतः हमारे अङ्गों में सिर्फ कन्धा ही कृती है, शेष अङ्ग तो पृथ्वी के भारभूत हैं।[80] चतुर्थ अङ्क में शापज विप्रलम्भ का उदाहरण है, राजा पुरूरवा जब उदयवती को बहुत देर तक निहारते रहे तब उसे देखकर उर्वशी क्रुद्ध हो उठी। बहुत मनाने पर पर भी वह

नहीं मानी और कुमारवन में प्रवेश कर गयीं। वहाँ प्रवेश करते ही भरतमुनि के शापवश तथा देवता के नियम को भूल जाने के कारण वह लता के रूप में परिणत हो गयी। राजा उसके विरह में में पागल की तरह प्रलाप करता हुआ, उसे उसी वन में खोजता रहा। इस प्रकार कालिदास ने पुरूरवा की कामदशा का हृदयावर्जक चित्र उपस्थित किया है। महाकवि कालिदास ने अपने रूपकों में विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारीभाव का परिवर्धन मर्यादा के अन्दर ही किया है। इन्होंने शृङ्गार के दोनों पक्षों का परिपाक संयम के साथ किया है।

महाकवि कालिदास के रूपकों में अन्य रस :- नाटककार ने अपनी कृत्तियों में हास्य, वीर, रौद्र, भयानक आदि रसों का भी अङ्ग रूप में यथावसर सम्यक् चित्रण किया है, जो निम्नवत् हैं-

हास्यरस :- आचार्य भरतमुनि ने हास्यरस को शृङ्गार की अनुकृत्ति माना है।[81] इसका अभिनय आकार, वाक्य, वेष और चेष्टाविकृतियों तथा अन्यान्य विकृतियों से करना चाहिए। इसका आलम्बन वह व्यक्ति होता है, जिसमें आकार, वाणी तथा चेष्टाविकृति के कारण लोग हँसते हों। ऐसे हास्यापद व्यक्ति की चेष्टाऐं ही उद्दीपन विभाव होते हैं। आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न आदि सञ्चारीभाव माने जाते हैं। प्रकृति की दृष्टि से इसके तीन भेद माने गये हैं- उत्तम (स्मित, हसित) मध्यम (विहसति, उपहसति) तथा अधम (अपहसति, अतिहसति,)[82] महाकवि कालिदास के तीनों रूपकों में हास्यरस की योजना करने वाला पात्र विदूषक है, जो अपने व्यङ्ग तथा हास्यपूर्ण उक्तियों से राजा को प्रसन्न करता है। सहृदय सामाजिकों का विदूषक अपनी चटपटी उक्तियों से मनोरंजन करता है। मालविकाग्निमित्रम् नाटक के द्वितीय अङ्क में मालविका के नृत्य-प्रदर्शन के उपरान्त विदूषक की यह उक्ति हास्यरस को उत्पन्न करती है कि प्रथम बार नाट्य-प्रदर्शन पर आपको ब्राह्मण-पूजा करनी चाहिए थी,जिसे आप लोग भूल गये। इस पर परिव्राजिका कहती है कि क्या यह भी नाट्य के अन्तर्गत प्रश्न है, इस पर सभी लोग हँसने लगते हैं। मालविका भी मन्दस्मित हास्य करती है।[83] गणदास और हरदास की लड़ाई को बहुत रोचक तरह से कहता है कि इन दोनों पेटुओं के कार्य को देख ही लिया जाये, नहीं तो इनको वेतन देने से क्या लाभ।[84] इस तरह इस नाटक में अन्य भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञानशाकुन्तलम् का विदूषक भी व्यङ्ग और हास्यप्रधान उक्तियों का प्रयोग करने में दक्ष है। औशीनरी के द्वारा उर्वशी के भूर्जपत्रलेख के पकड़े जाने पर राजा विदूषक से धीमे से बचने का कुछ बहाना पूछता है, तब विदूषक की इस समय की उक्ति बहुत ही सुन्दर है- चुराई हुई वस्तु के साथ पकड़ा गया चोर क्या जवाब दे सकता है।[85] अभिज्ञानशाकुन्तम् में सर्वत्र शिष्ट एवं परिस्कृत हास्य मिलते हैं। शकुन्तला अनुसूया से कहती है कि प्रियंवदा ने बल्कल निर्मित चोली को बहुत कसकर बाँध दिया है, अतः ढीला तो कर दो। इस प्रकार प्रियंवदा हँसती हुई कहती है।[86] राजा दुष्यन्त शकुन्तला की विगत चेष्टाओं को याद कर उसकी प्राप्ति के लिए अत्यधिक आशावान् हो उठता है। यह सुनकर विदूषक उसी प्रकार खड़े रहते हुए कहता है कि हे मित्र! मेरे हाथ-पैर नहीं नहीं चल रहे हैं, अतः मैं वाणीमात्र से आपकी जय कहता हूँ।[87] विदूषक के अङ्ग-भङ्ग स्वरूप को देखकर राजा मुस्कारते हुए कहते हैं- सस्मितम् कुतोऽमं गात्रोपघातः।[88] महाकवि कालिदास के नाटकों में विदूषक की उक्तियाँ लोकोक्ति, व्यङ्ग्य, हास्यपूर्ण अनूठी उपमाएँ तथा संवाद की स्वाभाविक शैली से ओतप्रोत है।

रौद्ररस :- इसका स्थायीभाव क्रोध है। आचार्य भरतमुनि के अनुसार रौद्ररस राक्षस, दैत्य तथा उद्धत प्रकृति के मनुष्यों में सङ्ग्राम आदि द्वारा उद्भूत है। इसमें आलम्बन रूप में शत्रु का वर्णन किया जाता है तथा शत्रु की चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव का कार्य करती हैं। इसका अभिनय रक्त-नयन, स्वेद,-प्रसार, भृकुटी, चढ़ाना,

दाँत एवं ओठों का चबाना, गालों का फुलाना, हाथों का मसलना आदि अनुभाव के द्वारा किया जाता है। इसमें मोह, उत्साह, आवेग आदि सञ्चारीभाव होते हैं।[89] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के छठवें अङ्क के अन्त में जब मातलि विदूषक को पकड़ कर परेशान करने लगता है तब रक्षा के लिए पुकारने पर राजा दुष्यन्त क्रोधाभिभूत होकर उसकी हत्या के लिए वाण उठाता है।[90] इसमें रौद्ररस का परिपाक हुआ है।

वीररस :- यह उत्तम प्रकृत्ति वाला, उत्साह स्थायी भावात्मक होता है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृत्ति के व्यक्ति होते हैं। इसके आलम्बन विभाव विजेतव्य शत्रु आदि हैं तथा इन विजेता शत्रु आदि की चेष्टाएँ इसके उद्दीपन विभाव हैं। यह प्रत्यत्पन्न-मतित्व, असम्मोह, अध्यवसाय, नीति, बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग, चातुर्य आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इसमें धृति, मति, गर्व, रोमाञ्च आदि सञ्चारी भाव होते हैं।[91]

मालविकाग्निमित्रम् के प्रथम अङ्क में अग्निमित्र के इस कथन में वीररस की अभिव्यक्ति हुई है- (सरोषम्) **कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः। वाहतक! प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलचारी च मे वैदर्भः।----- दण्डचक्रमाज्ञापय।**[92] विक्रर्मोवर्शीयम् के प्रथम अङ्क के केशी नामक दैत्य से उर्वशी को मुक्त कराकर राजा पुरूरवा ने अपनी वीरता का परिचय दिया है। चित्ररथ उनकी वीरता और पराक्रम की प्रशंसा करता है।[93] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अङ्क के आरम्भ में मृग का आखेट करते हुए दुष्यन्त के उत्साह नामक स्थायीभाव का परिचय मिलता है, अतः वहाँ वीररस है। द्वितीय अङ्क में ऋषिकुमार राजा की युद्धवीरता की प्रशंसा करते हैं।[94] तृतीय अङ्क के आरम्भ में राजा दुष्यन्त की वीरता के परिणाम का वर्णन किया गया है।[95]

भयानक रस :- इस रस का स्थायी भाव भय होता है। स्त्री तथा नीच प्रकृति के लोग इसके आश्रय होते हैं। भयोत्पादक पदार्थ इसके आलम्बन होते हैं तथा उनकी भीषण चेष्टाएँ उद्दीपन का काम करती है। अट्टाहासादि विकृत शब्द, हिसंक जन्तुओं के दर्शन, सियार, उल्लू अथवा भूत प्रेतादि के द्वारा त्रास, उद्वेग, शून्य, अरण्य आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय घुमाते हुए हाथ, पैर तथा फड़कते हुए नेत्रों, रोमाञ्च, वेपथु, स्वरभेद, वैवर्ण्य शंका, मोहादि सञ्चारीभाव होते हैं।[96]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अङ्क के आरम्भ में भयभीत भागते हुए मृग के वर्णन में भयानक रस है।[97] इसी अङ्क के अन्त में भयभीत मृगों के झुण्डों को त्रत करते हुए हाथी का तपोवन में प्रवेश करने का दृश्य भयानक रस को उपस्थित कर रहा है।[98] तृतीय अङ्क के अन्त में भयानक स्वरूप को धारण कर राक्षसों का यज्ञशाला के पास विचरण करना।[99]

वीभत्सरस :- जुगुप्सा स्थायीभाव से अभिव्यञ्जित होता है। दुर्गन्धमय माँस, रक्त, मेद आदि इसके आलम्बन विभाव हैं। इन्हीं पदार्थों में कीड़े पड़ने आदि को उद्दीपन विभाव माना गया है। यह असुन्दर तथा अप्रिय पदार्थों को देखने अनिष्ट वस्तु के दर्शन एवं कथन आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सभी अङ्गों के संकोच, मुख को सिकुडने, घुमाने, ऊपर की ओर ले जाने तथा थूकने और अङ्गों के घुमाने आदि अनुभावों के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए। इसमें अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, व्याधि तथा मरण आदि व्यभिचारीभाव होते हैं।[100] अभिज्ञानशाकुन्तम् के षष्ठ अङ्क[101] के अन्त में नेपथ्योक्ति में वीभत्स रस की अभिव्यक्ति हुई है।

अद्भुतरस :- भरतमुनि ने वीररस से इसकी उत्पति बतलायी है।[102] इसका स्थायीभाव विस्मय तथा आलम्बन अलौकिक वस्तु होती है। उसका गुण-कीर्तन उद्दीपन विभाव है।[103] यह दिव्यजन के दर्शन, इष्ट

मनोरथों की प्राप्ति, उद्यान तथा सभाभवन, विमान, माया, इन्द्रजाल आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है।[104] स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्‌गद् स्वर, सम्भ्रम आदि अनुभाव हैं। वितर्क, आवेग,, सम्भ्रम, हर्ष आदि व्यभिचारीभाव होते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पञ्चम अङ्क के अन्त में प्रत्याख्यापन के बाद तेजोमयीज्योति द्वारा शकुन्तला को उठा ले जाने के वर्णन में अद्‌भुत रस है।[105] शास्त्रीय नियमानुसार कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अन्त में निर्वहण सन्धि में अद्‌भुतरस की अभिव्यक्ति की गयी है। राजा दुष्यन्त द्वारा इन्द्रलोक से पृथ्वी की ओर आते समय मार्ग में ही किए गये पृथ्वी के वर्णन----- ।[106] इसी प्रकार मातलि द्वारा मारीच के आश्रम में तपस्या करते हुए ऋषियों के वर्णन में भी अद्‌भुत् रस है।

शान्तरस :- आचार्य भरत का मानना है कि शान्तरस ही रति आदि आठ स्थायीभावों की उत्पत्ति होती है और पुनः उसमें ही उनका विलय हो जाता है।[107] इस तरह वे रति को वैकरिक भाव तथा शान्त को प्रकृत्ति मानते हैं। विकार प्रकृत्ति से उत्पन्न होते हैं तथा फिर उसी में लीन हो जाते हैं। इस कथन से शान्तरस का महत्त्व अन्य रसों की तुलना में सर्वोपरि सिद्ध होता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तम अङ्क में मारीच के आश्रम और ऋषि के वर्णन में शान्तरस की अनुभूति होती है। आश्रम में पहुँचने पर राजा को स्वर्ग से भी अधिक शान्ति एवं सुख की प्राप्ति होती है।[108]

यहाँ इस प्रकार कहा जा सकता है कि महाकवि कालिदास ने अपने नाटकों में यद्यपि प्रायः सभी रसों की योजना की है, परन्तु मुख्य रूप से शृङ्गार के सभी पक्षों की अभिव्यञ्जना करना ही उनका अभीष्ट है। रति और विलासपूर्ण चित्रों की योजना में कोमलभावों का संयोजन सहृदय के चित्त को आनन्दित करती हैं। महाकवि कालिदास प्रेम और सौन्दर्य के कवि माने जाते हैं। यही कारण है कि प्रेम के संयोग और वियोग के दृश्य उनके कोमल स्वभाव के अनुकूल पड़ते हैं। कालिदास के काव्यो में शृङ्गार के दोनों प्रकारों की अत्युत्तम व्यञ्जना हुई है। इनके सभी नाटकों में रस-व्यञ्जना की दृष्टि से अभिज्ञानशाकुन्तलम् का महत्त्व सर्वोपरि है। विक्रमोर्वशीयम् रचनाक्रम की दृष्टि से कालिदास की दूसरी नाट्यकृति है तथा कलात्मक दृष्टि से यह मालविकाग्निमित्रम् एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् की मध्यवर्ती भूमिका में है। विक्रमोर्वशीयम् के प्रणयलोक में यदि एक ओर सौन्दर्य की मादकता तथा हृदय की द्रवणशीलता का चित्रांकन हुआ है तो दूसरी ओर प्रेम को गृहस्थी की मर्यादा में बाँधकर तथा उसे पौरुष का प्रसाद बनाकर सद्वस्तु में रूपान्तरित कर दिया गया है। मालविकाग्निमित्रम् कालिदास की प्रथम रचना होने के कारण इसमें वह लालित्य, माधुर्य और अर्थगाम्भीर्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

सन्दर्भ -

1.

2.

3. *देवानाममिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं,---------बहुधाप्येकं समाराधकम्।। मालविकाग्निमित्रम्,1.4*

4. *नाट्यशास्त्र, 6.31 गद्यभाग*

5. *वही, 6.10*

6. *ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोष कृता। दशरूपक, 4.2*

7. *रत्याद्युद्‌बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः। साहित्यदर्पण, 3.29*

8. आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ। वही, 3.29
9. आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्‌गमात्। वही,3.29
10. उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। वही, 3.31
11. अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः। दशरूपक,4.3
12. वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते। शाखाङ्गोपाङ्ग संयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः।। नाट्यशास्त्र, 7.5
13. वही, 7.5 गद्यभाग
14. विविधभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः । वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयागे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः।। वही, 7.27
15. यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति। एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्याः। वही,7.27 गद्यभाग
16. काव्यप्रकाश, 4.31-34
17. साहित्यदर्पण, 3.174
18. नानाद्रव्यैबहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा। एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह।
    न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः। परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्।। नाट्यशास्त्र, 6.34-35
19. साहित्यदर्पण, 3.2,3
20. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः। आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।। दशरूपक, 4.34
21. रम्याणि वीक्ष्य मधुराँश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
    तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वंभावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।। अभिज्ञानशाकुन्तलम्. 5.2
22. एको रसोऽङ्गी कर्तृतव्यो वीरः शृङ्गार एव वा॥ दशरूपक, 3.33
    अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्‌भुतम्। वही, 3.34
23. नाना भावोपगमाद्रसनिष्पतिः। नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। नाट्यशास्त्र,6.31 गद्यभाग
24. वही, 6. 45 गद्यभाग
25. सुखप्रायेषु सम्पन्नः ऋतुमाल्यादिसेवकः। पुरुषः प्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः॥ ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः। उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्‌भवति॥
    नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च। मधुरैश्चाङ्गविहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः, वही,6. 46-48
26. रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः। प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः। प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः।। दशरूपक, 4.48
27. अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योऽन्यं विलासिनौ। दर्शनस्पर्शनादीनि स सम्भोगो मुदान्वितः।।दशरूपक, 4.69
28. वही,4.71
29. नाट्यशास्त्र, 6.46-48
30. कथितश्तुर्विधोऽसावानन्तर्यात्तु पूर्वरागादेः। साहित्यदर्पण, 3.213
31. अहो मधुरमासां दर्शनम्। अभिज्ञानशाकुन्तलम्,1.16 गद्यभाग
32. वही, 1.19,20
33. वही,1.21 गद्यभाग
34. वही, 1.22

35. शकुन्तला- (आत्मगतम्) किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृता। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.23 गद्यभाग
36. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2.10-12
37. तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रिमपि। निर्घृण! तपसि बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि। वही, 3.14
38. तपति तनुगात्रि! मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव। ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः।।वही, 3.15
39. अपरिक्षितकोमलस्य यावत्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन। अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि! गृह्यते रसोऽस्य।। वही, 3.22
40. वही, 7.24
41. स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थिताऽसि मे सुमुखि!, उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणीयोगाम्। वही, 7.22
42. चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि में हृदयम्। सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता।। मालविकाग्निमित्रम् 2.2
43. दीर्घाक्षं शरीदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः, सङ्क्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव। मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली, छन्दो नर्तयितुर्यथैवव मनसि शिलष्टं तथास्या वपुः।। वही, 2.3
44. दुर्लभः प्रियो मे तस्मिन् भव हृदय निराश-महो अपाङ्गों मे परिस्फुरति किमपि वामः। एष स चिरदृष्टः कथं पुनरुपनेतव्यो, नाथ! मां पराधीनां त्वयि परिगणय सतृष्णाम्।। वही, 2.4
45. अव्याजसुन्दरीं तां विधानेन ललितेन योजयता। परिकल्पितो विधात्र बाणः कामस्य विषदिग्धः।। मालविकाग्निमित्रम्, 2.13
46. दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः, संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव। मध्यः पाणिमितो मितं च जघनं पादावरालाङ्गुली, छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्था वपुः।। वही, 2.3
47. सर्वान्तः पुरवनिताव्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य। सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता।। वही, 2.14
48. क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम्। मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते।। वही,3.1
49. न जानेऽप्रतिकारगुरुकां वेदनां कियन्तं कालं मदनो मां नेष्यतीति। वही, 3.5 गद्यभाग
50. शरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलेयमाभाति परिमिताभरण। माधवपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता।। वही,3.8
51. विदूषक :–एषापि भवानिव मदनव्याधिना परामृष्टा भविष्यति। वही,3.8 गद्यभाग
52. सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे। परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि।। वही,4.13
53. दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि! नायकानां कुलव्रतम्। तन्मे दीर्घाक्षि! ये प्राणास्ते त्वादाशानिबन्धानाः।। वही 4.14
54. हस्तं कम्पयते रुणद्धिरशनाव्यापारलोलाङ्गुलि, स्वौ हस्तौ स्तनावरणतामालिङ्ग्यमाना बलात्। पातुं पक्ष्मलनेत्रन्नमयतः साची करोत्याननं, व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखं निर्वतयत्येव मे।। वही,4.15
55. अस्या सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः, शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः। वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो, निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।। विक्रमोर्वशीयम्, 1.10
56. उर्वशी- अमृतं खलु ते वचनम्। अथवा चन्द्रादमृतमिति किमाश्चर्यम् अतएव मे प्रेक्षितुं त्वरते हृदयम्। वही,1.11 गद्यभाग
57. अहो! लताविटप एषैकावली वैजयन्तिका मे लग्ना। सखि चित्रलेखे! मोचय तावदेनाम्। वही, 1.17 गद्यभाग

58. तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थबन्धं पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः। उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेक्षणायास्तस्याः समागतमिवाननमानेन। ।वही,2.13
59. विदूषक :- दिष्ट्या मनोरथसम्पत्त्या वर्धते भवान्। विक्रमोर्वशीयम्, 3.18 गद्यभाग
60. पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं बाणास्त एव मदनस्य मनोनुकूलाः। संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि! यद्यदासीत् त्वतङ्गमेन मम तत्तदिवानुनीतम्। ।वही, 3.20
61. समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति क्षणेन तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा। अतो विनिद्रे सहसाविलोचने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः।। वही, 4.70
62. विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढ़विस्रम्भयोर्द्वधा। मानप्रवासभेदेनमानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः। तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयो।। दशरूपक, 4.57, 58
63. साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षा रसान्तरैः। वही, 4. 61
64. द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात्। स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि।। वही, 4. 66
65. पूर्वानुरागो मानश्च प्रवासः करुणश्चसः। पुरुषः स्त्रीप्रकाण्डेषु चतुकाण्डः प्रकाशते।।
प्रागसंकेतयोर्यूनोरभिलाषः प्रवर्तत्ते। सङ्कल्परमणीयोऽनुरागः स प्राच्य उच्यते।।
अहेरिवगतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिलेति सः। अहेतोर्नेतिनेत्युक्तेर्हेतोर्वा मान उच्यते ।।
देशान्तरादिभिर्यूनोव्यवधानं चिराय यत्। नवेऽनुरागे प्रौढ़े वा प्रवासः सोऽभिधीयते।।
लोकान्तरगते यूनि वल्लभे-वल्लभा यदा। भृशं दुःखायते दीना करुणः स तदोच्यते॥ शृङ्गारप्रकाश, 50.46-50
66. विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नर्विबोधज्याध्युन्मादापस्मारजाड्य मरणादिभि- रनुभावैरभिनेतव्यः। नाट्यशास्त्र, 6. 45 गद्यभाग
67. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2.9-12
68. तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोर्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैर्ग्निमिन्दुर्मयूखैस्त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारीकरोषि ।वही, 3.3
69. इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणी— तं, निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गङ्कसारिभिरश्रुभिः।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात्, कनकवलयं स्रतं स्रतं मया ङ्कतिसार्यते।।, वही, 3.11
70. स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं, प्रियायाः साबान्धं किमपि कमनीयं वपुरिदम्।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रयो-र्न तु ग्रीष्मस्यैव सुभगमपराद्धं युवतिषु।।
तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव। ग्लपयति यथा शाशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः। ।वही,3.7, 15
71. विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्। स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कतामिव।। वही, 4.1
72. शकुन्तला-भगवति वसुधे! देहि मे विवरम्। वही, 5.29 गद्यभाग
73. रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते, शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तः पुरेभ्यो यदा, गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम्। ।वही,6.5
74. अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन ।वही, 6.13 गद्यभाग
75. प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः। बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रातामपि। ।वही, 6.22
76. मालविकाग्निमित्रम्, 4.17

77. अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि । वर्द्धयसि विलसितं त्वं दासजनायाद्य कुप्यसि ।। वही, 3.22
78. उर्वशी-(सस्पृहं राजानामवलोकयन्ती) अपि नाम पुनरप्युपकारिणमेनं प्रेक्षिष्यसे । विक्रमोर्वशीयम्,1.19 गद्यभाग
79. राजा- (निःश्वस्य) सखे! वैयर्थ्यमिव मे चक्षुषोः सम्प्रति । वही, 2.17 गद्यभाग
80. अयं तस्या रथक्षोभादंसेनांसो निपीडितः । एकः कृती शरीरेऽस्मिन् शेषमङ्गं भुवोभारः ।। वही, 3.11
81. शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः । नाट्यशास्त्र, 6.40
82. वही, 6.49-61
83. मालविकाग्निमित्रम्, 2.9 गद्यभाग
84. भवति! पश्याम उदरम्भरिसम्वादम् । किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम् । वही,1.15 गद्यभाग
85. विदूषक- लोत्रेण गृहीतस्य कुम्भीरकस्यास्ति वा प्रतिवचनम् । विक्रमोर्वशीयम्, 2.19 गद्यभाग
86. अत्र पयोधरविस्तारयितु आत्मनोयौवनमुपालभस्व । मां किमुपालभसे । अभिज्ञानशाकुन्तलम्,1.18, गद्यभाग
87. भो वयस्य! न में हस्तपादाः प्रसरन्ति । तद् वाचा मात्रेण जयीक्रियते । वही, 2.2 गद्यभाग
88. वही, 2.2 गद्यभाग
89. अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मकोरक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृतिःसङ्ग्रामहेतुकः । नाट्यशास्त्र,6.63 गद्यभाग
90. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6.28
91. साहित्यदर्पण, 3.232-234
92. मालविकाग्निमित्रम्,1.7 गद्यभाग
93. विक्रमोर्वशीयम्, 1.14
94. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2.14
95. वही, 3.1
96. साहित्यदर्पण,3.235-238, नाट्यशास्त्र, 6. 70-72
97. अभिज्ञानशाकुन्तलम्,1.7
98. वही, 1.31
99. वही, 3.25
100. साहित्यदर्पण,6.240-241
101. अभिज्ञानशान्कुतलम्, 6.28
102. वीराच्चौवाद्भुतोत्पत्तिः, नाट्यशास्त्र, 6.40
103. साहित्यदर्पण, 3.242-243
104. नाट्यशास्त्र,6.75-76
105. स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारादुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ।अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5.30
106. अभि.शाकु.,7.8
107. नाट्यशास्त्र, 6.82 गद्यभाग
108. स्वर्गादधिकरं निर्वृतिस्थानम् । अमृतह्लदमिवावगाढोऽस्मि । अभिज्ञानशाकुन्तलम्,7.11 गद्यभाग

45

कालिदास के रूपकों में हास्य रस

रिया दत्त

'दृश्य' और 'श्रव्य' रूप से काव्य के दो भेद हैं। इनमें से दृश्यकाव्य को रूपक कहा जाता है, क्योंकि दृश्यकाव्य के नट या अभिनेता इसमें चित्रित रूप का आरोप करते हुये दिखायी देते है। इस प्रसङ्ग में साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में कहा गया है- **''तद्रूपारोपात्तु रूपकम्।''**[1] इति। पुनः रूपक के भी दश प्रकार होते हैं, जिनमें से पहला प्रकार है नाटक। रूपक के दश प्रकार कौन कौन से हैं, इस प्रसङ्ग में साहित्यदर्पण में कहा गया है- **''नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः। ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश''**[2] इति। कालिदास विरचित पूर्वोक्त तीनों रूपकों में हास्य रस का प्रतिपादन किस प्रकार से किया गया है, उसका वर्णन ही उद्दिष्ट शोधपत्र का मूल विवेच्य विषय है। अतः सबसे पहले जो जिज्ञासा उठता है, वो है 'हास्य' क्या है। यह सुप्रसिद्ध है कि मानव मन में भावना अनन्त हैं। भावरूप अनेक चित्तवृत्तियों में जो भाव मन में बहुलरूप से प्रतीयमान होते हैं, उसे आलङ्कारिकवर्ग 'स्थायीभाव' कहते हैं। संस्कृत अलङ्कारशास्त्र में रति, शोक, क्रोध, उत्साह इत्यादि नौ स्थायिभावों का उल्लेख हैं। जिन में से 'हास' अन्यतम है। स्थायिभाव 'हास' के प्रसङ्ग में साहित्यदर्पण में कहा गया है- **''वागादिवै—तैश्चेतो विकासो हास ईष्यते।''**[3] इति। अर्थात्, विकृत आकार, विचित्र क्रिया, अस्वाभाविक वेशभूषा देखकर और वाग्वैदग्ध्य सुनकर मनुष्य के मन में जो प्रसन्नता समन्वित स्थिति की उत्पत्ति होती है, उसे 'हास' कहते है। 'हास्य' रस का स्थायी भाव है 'हास'। 'हस्' धातु के उत्तर 'ण्यत्' प्रत्यय जोड़ने से नपुंसकलिङ्गान्त 'हास्यम्' पद का निष्पादन होता है। 'हास्य' एक रस विशेष है। 'हास' नामक स्थायीभाव ही हास्य रस में परिणत होता है। हास्य रस के उद्‌भवकाल में अङ्गवैकल्य, अद्‌भुतवाक्य श्रवण इत्यादि विभाव हैं। अक्षिसंकोचन, वदनस्मेरता इत्यादि अनुभाव हैं। और निद्रा, आलस्य इत्यादि व्यभिचारिभाव हैं। हास्य रस के स्वरूप उद्‌घाटनकालीन नाट्यशास्त्रकार भरत ने नाट्यशास्त्र में कहा-

''विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च। विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः।।
विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषश्च। हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः''।।[4] इति।

अंग्रेजी साहित्य में हास्य का वर्णन करने के लिए humour, fun, wit इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता हैं। लेकिन इन सभी शब्दों में अलग-अलग हास्य रस परिदृष्ट होते हैं। संस्कृत रूपकों में जो प्रधानतः परिलक्षित होता है, वो 'Wit' है। वाग्वैदग्ध्य के द्वारा जिस हास्य रस की उत्पत्ति होती है, उसे 'Wit' कहा जाता है। हास्य रस परिवेशन के समय वाग्वैदग्ध्यवान् व्यक्ति खुद नही हँसता, लेकिन दूसरों को हँसाता है।

साधारणतः संस्कृत नाटकों में विदूषक के द्वारा ही हास्य रस परिवेशन किया गया है। अङ्गवैकल्य, विचित्र क्रिया, विचित्र वेशभूषा के सहयता से हास्य की रचना करना ही विदूषक का मुख्य कार्य है।

महाकवि कालिदास ने तीनों नाटकों में विदूषक पात्रों के माध्यम से ही हास्य रस का प्रदर्शन किया है। महाकवि ने अपने नाटकों में न केवल जीवन की मुख्य समस्याओं को उचित प्रसङ्गों के माध्यम से आकार दिया है, बल्कि वे जीवन के लघुहास्यपरिहास चञ्चल दिशायों को भी उपेक्षा नहीं कर पाये है।

'मालविकाग्निमित्रम्' एक पञ्चाङ्कविशिष्ट संस्कृत नाटक है। इसमें मालवराजकुमारी मालविका और विदिशाराज अग्निमित्र के प्रेम कहानी को शृङ्गार रस के माध्यम से दिखाया गया है। उक्त नाटक में विदूषक के द्वारा परिवेशित हास्य रस पाठकवर्गों को उतना आकर्षित नहीं करता, जितना की विदूषक की बुद्धिमत्ता और विचक्षणता आकर्षित करता है। तद्यथा मालविकाग्निमित्र नाटक के प्रथम अङ्क में विदूषक के द्वारा कहा गया है- **''आत्मनः पक्षो रक्षितव्यः।''**[5] इति। अर्थात्, खुद के पक्ष को हमेशा रक्षा करना चाहिए। अपितु उक्त नाटक के द्वितीय अङ्क में विदूषक ने प्रसङ्गक्रम में कहा-**''प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या। सा ननु वो विस्मृता।''**[6] इति।

उद्धृत उक्ति के माध्यम से विदूषक का कर्तव्यपरायणता परिलक्षित होता है। विदूषक को लगभग हर अङ्क में अप्रत्याशित प्रमुख्यता के साथ चित्रित किया गया है। यद्यपि सार्थक नाटकीय परिणति के लिए विदूषक की सृष्टि आवश्यक है, तथापि विदूषक के माध्यम से हास्य रस का प्रतिपादन उक्त नाटक में गौण रूप से प्रतीत होता है। कालिदास प्रणीत द्वितीय नाटक है 'विक्रमोर्वशीयम्'। यद्यपि लोक में इसे नाटक कहा जाता है, लेकिन असल में विक्रमोर्वशीय एक पञ्चाङ्कविशिष्ट त्रोटक है। त्रोटक साहित्यदर्पणोक्त अठारह उपरूपकों में से एक है। राजा पुरूरवा और अप्सरा ऊर्वशी की प्रणय कहानी ही इस उक्त त्रोटक का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। उक्त त्रोटक में बहुलरूप से विदूषक के प्रधानता को खर्व किया गया है। जटिल परिवेश में भी खाद्यद्रव्यों के उल्लेखन के द्वारा विदूषक ने हास्य रस का परिवेशन किया है। उदाहरण के रूप में विक्रमोर्वशीय के द्वितीयाङ्क के आदि में ही विदूषक ने कहा है- **''निमन्त्रणिकः परमान्नेनेव राजरहस्येन स्फुटन्न शक्नोमि जनाकीर्णेऽकीर्तनेन आत्मनो जिह्वां धारयितुम्।"**[7] इति। अर्थात्, जिस प्रकार आमन्त्रित ब्राह्मण परमान्न को देखकर अपने जिह्वा को नियन्त्रण नहीं कर पाता, उसी प्रकार विदूषक भी राजरहस्य के कारण अपने जिह्वा को नियन्त्रण नहीं कर पा रहा है। एक जटिल अवस्था को भोजनावस्था के साथ तुलना करना विदूषक व्यतीत और किसके द्वारा ही सम्भव है। उत्कण्ठा विनोदन प्रसङ्ग में पुनः विदूषक ने द्वितीयाङ्क में ही एक जटिल स्थिति को भोजनावस्था के साथ तुलना किया है। प्रसङ्गतः उल्लिखित है-

तत्रः पञ्चविधस्याभ्यवहारस्य उपनतसम्भारस्य योजनां प्रेक्षमाणाभ्यां शक्यमुत्कण्ठां विनोदयितुत्।''[8] इति।

अपितु राजा के साथ कथोपकथन काल में विदूषक ने दैहिक सौन्दर्य के विषय में स्वयं को ऊर्वशी के साथ तुलना किया। द्वितीयाङ्क में विदूषक ने कहा- **''एवं मन्त्रयता मे वर्धितं कौतूहलम्। किं तत्रभवती ऊर्वशी अद्वितीया रूपेण अहमिव विरूपतया।''**[9] इति। विदूषक ने कहा जिस प्रकार दैहिक सौन्दर्य में विदूषक अद्वितीय है, उसी प्रकार ऊर्वशी भी अद्वितीय है। परन्तु द्वितीय अङ्क के ही शुरुआत में चेटी ने विदूषक को वानररूपी कहा। प्रसङ्गत उल्लिखित है-**''आलेख्यवानर इव किमपि मन्त्रयन्निभृत आर्यमाणवकः तिष्ठति।''**[10] इति।

विक्रमोर्वशीय में विदूषक ने ये भी कहा के स्वर्ग उनका काम्य नहीं है, क्योंकि वहा पे सुरापान करने का अवसर नहीं दिया जाता है। मालविकाग्निमित्र नाटक में यद्यपि विदूषक चरित्र के द्वारा हास्य रस का

परिवेशन सम्यक् रूप से नहीं हो पाया, लेकिन विक्रमोर्वशीय त्रोटक में बहुल रूप से विदूषक चरित्र के माध्यम से हास्य रस का उपस्थापन किया गया है।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' एक सप्ताङ्कविशिष्ट संस्कृत नाटक है, जिस में कण्वमुनि के पालितकन्या शकुन्तला और हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त के प्रणयकहानी का वर्णन प्राप्त होता है। इस नाटक में सार्थकरूप से तथा सङ्गतिपूर्णरूप से विदूषक का वर्णन किया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के द्वितीय अङ्क में दुष्यन्तसहचर 'माधव्य' नामक विदूषक के साथ सहृदय पाठकवर्गों का प्रथम साक्षात्कार हुआ। मृगयाशील राजा के साथ अश्वपृष्ठे परिभ्रमण काल में विदूषक जिस जिस समस्या के सम्मुखीन हुये थे, उन्होंने उसे हास्यप्रद रूप से सहृदय पाठकवर्गों के सामने प्रस्तुत किया। न केवल भोजन और शयन में समस्या, उपरन्तु अश्वारोहण के कारण से प्रत्येक अङ्गों में भी शैथिल्यभाव परिदृष्ट हो रहा है। अपितु राजा दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति अत्यन्तरूप से आकर्षित होने के कारण से राजधानी में प्रत्यावर्तन नहीं करना चाह रहे है। इस अवस्था को हास्य रस के द्वारा मण्डित करके विदूषक ने कहा - **''ततो गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः।''**[11] इति।

अंग्रेजी में इसे कहते है 'Add to the misery' इति। अर्थात्, कुछ ऐसा जो नकारात्मक स्थिति को और नकारात्मक बना देता है। अपितु विदूषक को दण्डकाष्ठावलम्बन के द्वारा दण्डायमान देखकर राजा दुष्यन्त ने विदूषक से इसका कारण पूछने पर विदूषक ने उत्तर में कहा- **''स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि?''**[12] इति। माधव्य ने राजा दुष्यन्त के जिज्ञासा को सम्यक् रूप से निवारण करने के लिए पुनः एक दूसरे दृष्टान्त का प्रयोग किया। जिज्ञासा निवारण करने के लिए विदूषक ने कहा-

''भो वयस्य, यद् वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति तत्किमात्मनः प्रभावेण ननु नदीवेगस्य''[13] इति।

अर्थात्, वेतसलता जो वक्रता का अनुकरण करती है, वो किस के प्रभाव से करती है खुद के प्रभाव से या नदीवेग के प्रभाव से। इस प्रश्न के उत्तर में राजा ने कहा-**''नदीवेगस्तत्र कारणम्।''**[14] इति। इसके प्रत्युत्तर में विदूषक ने पुनश्च कहा- **''ममापि भवान्।''**[15] इति। अर्थात्, जिस प्रकार वेतसलता की वक्रता का कारण नदीवेग है, उसी प्रकार विदूषक के अङ्गवैकल्य का कारण राजा है। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में विदूषक के द्वारा सम्यक् रूप से हास्य रस का उपस्थापन किया गया है।

महाकवि कालिदास के द्वारा परिवेशित हास्य रस सर्वत्र ही शुचिशुभ्र और उपभोग्य है। इस में कहीं भीं व्यङ्ग का प्रकाश नहीं प्राप्त होता है। सर्वत्र ही कालिदास प्रतिपादित हास्य रस स्निग्धता के द्वारा विमण्डित है। कहीं पे भी हास्य रस अश्लीलता की सीमा को अतिक्रम करके अश्लीलता में परिणत नहीं हुआ है। एक निर्दिष्ट सीमा के अंदर रहकर भी कैसे उपभोग्य तरीके से हास्यरस का प्रतिपादन किया जाता है, वो कालिदास प्रणीतों रूपकों से पता चलता है। भाव समावेश के दौरान रस की प्रधानता होती है। जिस प्रकार रस के प्रतिपादन किए विना किसी भी भाव को दर्शाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार भाव के विना भी रस को प्रतिपादन किया नहीं जा सकता। भाव और रस इन दोनों के बीच गुरुत्वपूर्ण सम्बन्ध है। प्रसङ्गतः नाट्यशास्त्र में कहा गया है-

''न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः। परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्''[16] इति।

यद्यपि तीनों रूपकों में शृङ्गार मुख्य रस है, और उसके संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का ही परिपक्वता परिलक्षित होती है तथापि सभी रूपकों में इसके अतिरिक्त वीर, करुण आदि रसों के साथ साथ हास्य रस भी अभिव्यक्त होता है। यद्यपि कालिदास ने गतानुगतिक पद्धति से ही रूपकों के विषयवृत्त का चयन किया

हैं, तथापि नाट्यवृत्त के अभिप्रेत परिणति के लिए कालिदास ने स्थान विशेष में अभिनव घटनाओं और चरित्रों का समावेशन भी किया हैं। इनमें से ही अन्यतम तात्पर्यपूर्ण चरित्र है विदूषक का,रूपकों में विदूषक चरित्र के द्वारा हास्य रस प्रतिपादन पूर्वक महाकवि कालिदास ने नाट्यप्रतिभा का ही परिचय दिया है।

सन्दर्भ -

1. *सत्यव्रतसिंह द्वारा व्याख्यात साहित्य दर्पण, 6/1, पृ. 359*
2. *वही, 6/3, पृ. 361*
3. *वही, 3/176, पृ. 227*
4. *पारसनाथ द्विवेदी सम्पादित नाट्यशास्त्र, 6/50-51, पृ. 164*
5. *काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब द्वारा संशोधित मालविकाग्निमित्र (षष्ठ संस्करण) पृ. 20*
6. *वही, पृ. 30*
7. *श्रीकाटयवेमभूप विरचित कुमारगिरिराजीय व्याख्या समन्वितविक्रमोर्वशीय (प्रथम संस्करण), पृ. 39*
8. *वही, पृ. 49*
9. *वही, पृ. 50*
10. *वही, पृ.41*
11. *वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित अभिज्ञानशाकुन्तल (तृतीय संस्करण), पृ. 85*
12. *वही, पृ. 102*
13. *वही, पृ. 102*
14. *वही,*
15. *वही,*
16. *पारसनाथ द्विवेदी सम्पादित नाट्यशास्त्र, 6/37, पृ. 105*

46

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अलंकार सौंदर्य

घनश्याम यादव

षट् विध संप्रदाय में अलंकार संप्रदाय का प्रमुख स्थान है काव्य तत्व की शोभा को बढ़ाने वाले तत्वों के रूप में अलंकार का विवेचन प्रयास सभी अलंकरीकों ने किया है अलंकारों का शास्त्रीय रूप में सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भारत द्वारा उनके ग्रंथ नाट्य शास्त्र में चार अलंकारों के रूप में हुआ है -

उपमारूपकं चौवदीपकं यमकं तथा। अलङ्कारस्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः।।[1]

अलंकार शब्द का अर्थ एवं महत्त्व - शब्द से ही ज्ञात होता है कि अलंकार में दो शब्द हैं अलम् तथा कारः । घत्रि च भावकरणयोः पाणिनी सूत्र से भाव एवं कारण अर्थ में 'घत्र' होने से दो प्रकार की व्युत्पत्ति हमारे दृष्टिपथ में आती है अलङ्करोतीति भाव अर्थ में तथा अलंक्रियते अनेन इति करण अर्थ में। अलङ्करोति इति अलंकारः अर्थात जिसके देखने सुनने मात्रा से हृदय में हालात उत्पन्न हो जाए या जो काव्य की शोभा बढ़ाने वाले हो वे अलंकर होते हैं। अलंकरणं इति अलंकारः के द्वारा आभूषण आदि को भी अलंकार माना गया है, तथा बतलाया गया है कि जिस प्रकार की किसी नायिका का मुख सुंदर होते हुए भी यदि उसने आभूषणों को धारण कर लिया है तो उसे सुंदरता में वृद्धि हो जाती है वैसे ही काव्य में भी अलंकारों से काव्य के सौंदर्य की वृद्धि हो जाती है।[2] शब्द और अर्थ काव्य के शरीरभूत धर्म है, अतः अलंकार शरीरभूत धर्म शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं। आचार्य वामन ने भी अलंकृत करने वाले तत्वों को ही अलंकार माना तथा उसके अनुप्रास उपमा आदि नामकरण किए हैं।[3] आचार्य राजशेखर ने अलंकार को वेदों का सातवां अंग स्वीकार किया है।[4] आचार्य मम्मट ने सभी मतों का समन्वय करते हुए अनलंकृतीः पुनः क्वापि के द्वारा काव्य में अलंकार का होना अनिवार्य नहीं अपितु वैकल्पिक माना है, उन्होंने काव्य में अलंकारों को अनित्य धर्म और शोभाधायक तत्त्व माना है।[5]

काव्य जगत शब्द एवं उसके अर्थ पर आश्रित है आचार्य दांडी ने शब्द की महत्ता को निरूपित करते हुए लिखा है कि यदि शब्द रूपी ज्योति संसार में प्रदीप्त न होती तो संपूर्ण जगत अज्ञान के घनघोर अंधकार में लीन हो जाता है।[6]

शब्दालंकार के भेदक तत्व शब्दपरिवृत्तिसहत्व और शब्दपरिवृत्ति असहत्व पर आधारित है अर्थात् जिसमें शब्द परिवर्तन करने पर काव्यत्त्व प्रभावित होता है वहां शब्दालंकार तथा जिसमें शब्द परिवर्तन करने पर काव्यत्त्व प्रभावित न हो तो वहां पर अर्थालंकार होता है। अनुप्रास को परिभाषित करते हुए मम्मट ने लिखा है कि वर्ण-साम्य ही अनुप्रास है।[7] अनुप्रास का प्रयोग तो कालिदास के काव्य में सहसा ही प्राप्त हो जाता है। यमक को परिभाषित करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं कि अर्थ भिन्न होने पर वर्णों की उसीक्रम में आवृत्ति यमक

होती है,[8] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार भिन्नार्थक स्वर व्यंजन समूह की पूर्वक्रमानुसार आवृत्ति यमक है, परंतु यह आवृत्ति सार्थक हो।[9] कालिदास ने अभिज्ञानशाकुंतलम के पंचम अध्याय में यमक का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है- **प्रजाः प्रजाः स्व इव तन्त्रयित्वा। नषेवते श्रान्तः ना विविक्तं।।**[10] यहां प्रजाः प्रजाः की आवृत्ति उसी क्रम में हुई है परंतु उसका अर्थ भिन्न है, अर्थात् एक प्रजा का अर्थ प्रजाजन और दूसरी प्रजा का अर्थ खुद की संतान है। अतः दो भिन्न अर्थ होने से यमक अलंकार है।

आचार्य भारत श्लेष अलंकार को अलंकार ना मानते हुए इसकी गणना गुण में करते हैं, श्लेषः अलंकार की सर्वप्रथम अलंकार के रूप में गणना आचार्य भामह करते हैं उनके अनुसार यदि गुण, क्रिया, संज्ञा के द्वारा उपमान का उपमेय के साथ अभेद तादात्म्य वर्णित किया जाए तो उसे श्लिष्ट कहते हैं।[11] आचार्य मम्मट के अनुसार अर्थ भेद होने पर भिन्न-भिन्न शब्द जब एक साथ उच्चारण के कारण जातुकाष्ठंन्याय से परस्पर मिलकर एक हो जाए तब श्लेष अलंकार होता है।[12] कालिदास ने अभिज्ञान शाकुंतलम में श्लेष अलंकार का प्रयोग कुछ इस प्रकार किया है-

अनधरत धनुर्ज्यास्फालनक्रुरपूर्वं, रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं, गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति।।[13]

यहां पर धनुष शब्द के दो अर्थ हैं- धनुष और प्रियाल या वृक्ष तथा ज्या शब्द के भी दो अर्थ हैं- धनुष की रस्सी या डोरी तथा भूमि। अतः इस पद्य के दो अर्थ हैं एक राजा के पक्ष में और दूसरा हाथी के पक्षी। इस प्रकार धनुष और ज्या दोनों पदों में श्लेष अलंकार है। **राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपात्रम्**[14] रहा परं 'स्वहस्तधृतदण्ड' पद के दो अर्थ होंगे पहला राजा के पक्ष में और दूसरा अर्थ छाता के अर्थ में होगा अर्थात राजकीय दंड व्यवस्था जिसने अपने हाथ में ली है यह पहला अर्थ है और दूसरा अर्थ छत का दंड जिसने अपने हाथों में लिया है इस प्रकार एक शब्द के दो सदस्य अर्थ निकालने के कारण यहां पर श्लेष अलंकार है।

उपमा तो कालिदास का प्रिया अलंकार है और इसी के आधार पर उपमा कालिदास नमक उपाधि भी प्राप्त होती है उपमा का प्रयोग अभिज्ञानशाकुंतलम में पर्याप्त मात्रा में मिलता है-

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणै बाहू। कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सम्बद्धम्।।[15]

प्रस्तुत पद्य में शकुन्तला की तुलना लता से की गई है अतः शकुन्तला उपमेय है तथा लता उपमान है, 'कुसुममिव' मैं वर्णित इव शब्द उपमा वाचक है तथा अंगों में पुष्पवत यौवन साधारण धर्म है, इस प्रकार यहां पूर्ण उपमा अलंकार स्पष्ट प्रतीत होती है, इसी प्रकार द्वितीय अंक में भी उपमा का द्वितीय उदाहरण मिलता है।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमत्यूनं कररूहै, रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वदितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं, न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।।[16]

प्रस्तुति श्लोक में सौंदर्य की तुलना पुष्प से किसलयमनूं कररूहै, ना विधा हुआ रत्न, अनास्वादित मधु, अखंड पुण्य का फल इत्यादि अनेकों उपमाओं के माध्यम से शकुन्तला के सौंदर्य की तुलना की गई है।

आचार्य भामह ने रूपक को गुणों के साम्य के आधार पर उपमेय में तादात्म्य माना है[17] जबकि आचार्य मम्मट ने उपमान और उपमेय में अभेदारोप को ही रूपक माना है।[18] कालिदास के अभियान शाकुंतलम में रूपक के उदाहरण इस प्रकार हैं- **यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वानराः कुलस्याधयः**[19] यहां पर वामा स्त्रियों में आधित्त्व का अभेदारोप होने से रूपक अलंकार है। **परातिसन्धानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः**[20] उक्त पद्य में परातिसन्धान पर विद्या का अभेदारोप होने से रूपक अलंकार है।

उत्प्रेक्षा शब्द उत्+प्र+ईक्षा के योग से बना है, जिसका तात्पर्यार्थ है कि जिसमें अपमान को उत्कटरूप से देखने की इच्छा हो, उत्कटा प्रकृष्टस्य उपमानस्य ईक्षा ज्ञानमुत्प्रेक्षा। आचार्य मम्मट ने प्रकृति की अप्रकृति के रूप में संभावना को उत्प्रेक्षा माना है।[21] आचार्य रुय्यक अध्यवसाय में व्यापार की प्रधानता होने से उत्प्रेक्षा स्वीकार करते हैं।[22] **दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन**[23] इस पद्य में प्रयुक्त 'साक्षादिव' के कारण यहां पर संभावना व्यक्त होने से उत्प्रेक्षा है। **ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया, शमीलतां छेत्तुमृषिर्णूयवस्यति।**[24] ध्रुव पद के द्वारा संभावना का बोध होने से उत्प्रेक्षा है। **नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यमसीमां धरित्री मेकः कृत्स्नां नगरपरिधप्रांशुवाहुर्भुनक्ति। आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यै रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च व्रजे।।**[25]

यहां पर दीपक अलंकार है दीपक को परिभाषित करते हुए मम्मट कहते हैं कि प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के धर्म या क्रिया गन के एक ही बार कथन करने को दीपक कहते हैं। उक्त पद्य में प्रस्तुत राजा के धनुष और अप्रस्तुत इंद्र के वज्र के देवविजय के एक धर्म रुपी आशा में संबंध होने से दीपक अलंकार है- **रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च........जननान्तरसौद्धदानि।**[26] अभिज्ञानशाकुंतलम् का यह पद्य विभावना अलंकार का उत्कृष्ट प्रदर्शन करता है, आचार्य मम्मट ने विभावना के संदर्भ में कहा है कि करण के बिना कार्य का होना ही विभावना है।[27] अतः यहां पर बोधरूपी कारण के बिना ही स्मरण रूप कार्य के होने से विभावना अलंकार है। **तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता..........शून्यादपि।**[28] उक्त पद्य में विशेषोक्ति अलंकार प्रदर्शित है, मम्मट के शब्दों में संपूर्ण कारणों के होने पर भी फल का ना होना विशेषोक्ति अलंकार है।[29] इस पद में 'शुन्यादपि' जाने का कारण होने पर भी 'निर्गन्तुं न शक्नोमि' रूप कार्य का न होने से विशेषोक्ति अलंकार है। आचार्य मम्मट हेतु का वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में जहां वर्णन होता है, वहां पर काव्यलिंङ्ग अलंकार मानते हैं।[30] **छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः सन्ध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्।**[31]

यहाँ पर 'भयमादधाना' अर्थात भय के होने का हेतु के रूप में 'पिशिताशनम्' का होने से काव्यलिंग अलंकार है। **गोत्रेषुस्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम्।**[32] उक्त पद्य में व्रीडाविलक्ष का हेतु गोत्रेषुस्खन होने से का काव्यलिंग अलंकार है। आचार्य मम्मट उपमान से उपमेय का आधिक्य वर्णन को व्यतिरेक मानते हैं।[33] **यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्। तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।।**[34]

इस पद्य में लोगों द्वारा प्राप्त धान रुपी अपमान से तपस्वीय द्वारा तपस्या के षष्ठांश रूप उपमेय की श्रेष्ठता बताने के कारण यहां पर व्यतिरेक अलंकार है। इस प्रकार के अन्य भी अलंकारों का प्रयोग महाकवि कालिदास ने अपने प्राय सभी ग्रन्थों में किया है। इस अध्ययन के बाद हम यह कह सकते हैं कि महाकवि कालिदास केवल काव्य के मर्म को ही नहीं समझते हैं अपितु काव्य शास्त्रीय तत्वों का भी बखूबी प्रयोग अपने काव्य में किया है।

सन्दर्भ -

1. *नाट्यशास्त्रम् - 7/43*
2. *न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।*
3. *अलंकृतिः अलंकारः करणव्युत्पत्याः पुनः।*
   अलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते।। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति- 1/1/12
4. *उपकारत्वात् अलंकारः सप्तममङ्गमितिः यायावरीयः। कव्यमीमांसा*

5. काव्यप्रकाशः - 8/67
6. काव्यादर्श 1/4
7. काव्यप्रकाशः- 9
8. अर्थ सत्यर्थोभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः। काव्यप्रकाश- 9/81
9. साहित्यदर्पण -10/8
10. अभिज्ञानशाकुन्तलम् -5/5
11. काव्यालंकार- 3/42
12. काव्यप्रकाशः -9/89
13. अभिज्ञानशाकुन्तलम् -2/4
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम् -5/6
15. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-1/21
16. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-2/10
17. काव्यालंकार-2/21
18. काव्यप्रकाशः-10/94
19. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-4/8
20. वही, 5/25
21. काव्यप्रकाशः-10/12
22. अध्यवसाये व्यापारप्रधान्ये उत्प्रेक्षा, अलंकार सर्वस्वं पृ.सं. 71
23. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 6/21
24. वही, 1/18
25. वही, 2/15
26. वही, 5/2
27. काव्यप्रकाश -10/107
28. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-3/23
29. काव्यप्रकाश-10/108
30. काव्यप्रकाश-10/114
31. अभिज्ञानशाकुन्तलम् -3/24
32. वही, 6/5
33. काव्यप्रकाश-10/105
34. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-2/13

47

कालिदास की दृष्टि में अलंकार ध्वनि

प्रभात कुमार

यदि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो हम पाते हैं कि यूनान और भारत में उच्च स्तरीय काव्य-शास्त्रीय विचार-विमर्श सम्भवतः विश्व में सबसे पहले शुरू हुआ था, जिस प्रकार एक साधारण वाक्य को सुनने पर चमत्कार पैदा नहीं होता, किन्तु कविता की एक पंक्ति सुनते ही हृदय आनन्दित हो जाता है। इसका कारण क्या है? इस पर भारतीय काव्यशास्त्रियों ने गहन मंथन किया है। प्रारम्भ में यह माना गया कि भाषा के अलंकृत होने से कविता में चमत्कार पैदा होता है इसलिए अलंकार उसके मूल में है। किन्तु ईसा की नवीं शताब्दी के आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्यात्मा बतलाया। वस्तुतः ध्वनि शब्द साहित्य शास्त्र में तकनीकी अर्थों में प्रयुक्त संज्ञा है। विज्ञान के क्षेत्र में ध्वनि का अर्थ आवाज होता है किन्तु वैयाकरणों ने शब्द से अर्थ समझने की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए बताया था कि शब्द सुनते ही जो अर्थ प्रतीत होता है उसका कारण ध्वनि है। दूसरे शब्दों में अर्थ की गूंज को उन्होंने ध्वनि माना है। इन्हीं बिन्दुओं पर मनन कर काव्यशास्त्रियों ने यह पाया कि शब्दों से जो अर्थ निकलता है वह जितना गहरा, विपुल और दूरगामी होता है उतना ही चमत्कारजनक होता हैं इसलिए उन्होंने यह सिद्धान्त बनाया कि शब्द से निकला हुआ इस प्रकार दूरगामी अर्थ 'ध्वनि' है। समर्थ कवियों की उक्तियों में जो गहरा अर्थ प्रतीत होता है वह शब्द का सीधा अर्थ नहीं है उसकी गूंज है। इसे व्यंग्यार्थ कहा गया है, इसे आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ, अनुकरण यानि गूंज आदि अनेक शब्दों से समझाने की चेष्टा की। यह प्रतीयमान अर्थ शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना से ही आ सकता है, आनन्दवर्धन के इस विवेचन के बाद ध्वनि सिद्धान्त इतना समादृत हुआ कि उसके बाद के सभी आचार्य उसी विचार पद्धति पर चलने लगे। आनन्दवर्धन को ध्वनिकार कहा जाने लगा। यह ध्वनि कभी वस्तुतुल्य होती है अर्थात् व्यंजना से कोई एक अर्थ, स्थिति ध्वनित होता है कभी अलंकार की ध्वनि होती है और कभी किसी रस की। इस प्रकार ध्वनि के तीन भेद माने गये।

ध्वनि के भेद और उपभेदों का विवेचन करते हुए इन्होंने इसके पहले दो भेद बताये अभिधामूलक ध्वनि और लक्षणा मूलकध्वनि। अभिधामूलक ध्वनि जिसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि भी कहा जाता है इसे दो प्रकार का बताया गया असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य, जिस ध्वनि में गहरा अर्थ इतना मिलाजुला हो कि उसका क्रम मालुम न पड़े उसे असलक्ष्यक्रम कहा गया। जिसमें शब्द का अभिधार्थ और उसकी गूंज यानि व्यंग्यार्थ अलग-अलग दिखलाई दे, उसे संलक्ष्यक्रम कहा गया जिसमें शब्द का अभिधेयार्थ और उसकी गूँज

यानि व्यंग्यार्थ अलग-अलग दिखलाई दे उसे संलक्ष्यक्रम कहा गया। चूंकि रस का काव्य आरम्भ से अन्त भावना से सराबोर रहता है, इसलिए उसका क्रम अलग से मालुम नहीं पड़ता। इसीलिए रस ध्वनि असंलक्ष्यक्रम मानी गयी है। नौ रस, 33 भाव, रसाभास, भावाभास, उनका उदय, उनकी शांति, उनकी सबलता ये सब इतने भेद हो जाते हैं कि उनकी गिनती मुश्किल है। इसीलिए मम्मट ने लिखा 'रसादीनां मनन्तत्वात् भेदएकोहि गण्यते' अर्थात् रस ध्वनि के अनन्त भेद हैं इसलिए उन्हें एक ही मान लिया जाय। फिर संलक्ष्यक्रम ध्वनि के भी अनेक भेद बने। शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और उभयशक्तिमूलक अर्थात् जहां किसी शब्द से व्यंग्य निकलता हो, जहां अर्थ से व्यंग्य निकलता हो और जहां दोनों से निकलता हों उनमें भी कुछ ऐसे शब्द और अर्थ बताये गये हैं, जो कवि स्वयं बोलता है। कुछ ऐसे बताये गये हैं जो कवि किसी पात्र के मुख से कहलाता है। इन्हें क्रमशः कवि प्रौढोक्ति सिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध कहा गया। इस प्रकार बारीकियों में जाकर मम्मट ने ध्वनि के 51 भेद बताये हैं। फिर उनके आपस में मिलाने से परस्पर गुणन द्वारा 10404 भेद बताये गये हैं यानि कुल 10455 भेद बन गये। ध्वनि का इतना बारीक विवेचन ही यह प्रमाणित करता है कि इस सिद्धान्त का कितना महत्व रहा होगा इस प्रकार कहा जा सकता है कि ध्वनि सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र के विचारकों के लगभग 500 वर्ष के विचार मंथन की चरम परिणिति है।

''अलंकार ध्वनि में शाब्दी व्यंजना के द्वारा अलंकाररूप व्यंग्यार्थ होता है। वही सहृदयों के लिए विशेष चमत्कार जनक हुआ करता है।''[1] यद्यपि अलंकार भी वस्तु के अन्तर्गत आ जाते हैं तथापि अलंकाररूप व्यंग्य और अलंकार भिन्न व्यंग्य को ''गोवलीवर्दन्याय'' से पृथक-पृथक दिखलाया गया है। अर्थात् जिस ध्वनि में ''उपमादि'' अलंकार की प्रधानता होती है, वहां अलंकारध्वनि होती है।

शब्दशक्त्युद्भव से अलंकार ध्वनि

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रारंभ में सूत्रधार शीघ्र ही प्रवृत हुए उपभोग योग्य ग्रीष्म समय का उद्देश्य करके कुछ गाने को प्रेरणा देता है- **''सुभगसलिलावगाहाः पाटल संसर्ग सुरभिनवाताः। प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः।।**[2] यहां ''पाटलसंसलगसुरभिवन्वाताः'' इस वाक्य में संसर्ग पद से सामीप्य अर्थ को बतलाकर ''संसर्गवजादोषगुणाभवन्ति'' इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार वन की वायु के भी पाटल पुष्प की खुशबू के गुण को अपेक्षित किया गया है इसलिए यहाँ शब्दशक्त्युदभव ध्वनि में अर्थान्तरन्यास अलंकार व्यंजित हो रहा है। आगे महाकवि कालिदास ने प्रस्थान काल में भी शकुन्तला के पांव दर्भ के अंकुर से क्षत हो जाने के बहाने से विलम्ब करके मेरे प्रति अपना भाव अत्यधिक शालीनता के साथ प्रदर्शित कर दिया है। दुष्यन्त के इस कथन को सुनकर विदूषक कहता है- **विदूषक तेन हि गृहीतपाथेयो भव। कोतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि**[3]

यहाँ ''पाथेय'' पद से राजा दुष्यन्त प्रेममार्ग का पथिक है यह वस्तु व्यंजित होती है। यहां शब्दशक्त्युद्भव रूपक अलंकार की ध्वनि है क्योंकि प्रेममार्ग में चलते हुए दुष्यन्त ने शकुन्तला रूपी पाथेय ग्रहण कर लिया है। यहां शकुन्तला में पाथेय का आरोप होने से रूपक अलंकार की ध्वनि है।

अर्थशक्त्युद्भव से अलंकारध्वनि

1. अप्सरा से उत्पन्न हुई उर्वशी के लोकोत्तर सौन्दर्य से अभिभूत हुआ पुरूरवा का मन नन्दन वन में भी नहीं लगता है, इसलिए वह विदूषक को कहता है-

''विविक्षोर्यदिद मुनमुद्यानं तापशान्तये। स्त्रोत सेवोयमानस्य प्रतीपतरणं महत्।।''[4]

इस श्लोक में पुष्पित हुई उपवन लताओं में अन्तःपुर की सुन्दरियों की प्रतीति होती है। वे सब उर्वशी

के लावण्य का अतिक्रमण कर रही है। इस उपमान भृत अन्तःपुर सुन्दरियों की अपेक्षा उपमेय भृत उर्वशी के वैशिष्ट्य वर्णन से यहां व्यतिरेक अलंकार स्वतः संभवी वस्तु से ध्वनित होता है।

2. ग्रीष्म के समय में पाटल पुष्प के संसर्ग से सुरभित वन्वायु अत्यन्त मनोरम प्रतीत होते हैं। वृक्षों की छाया में अपने आप ही नींद आ जाती है और कामिनियां पुष्पों से अपना मण्डन भी करती है-**ईषदीशच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारतरकेसरशिखानि। अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।।**[5] यहाँ दया करती हुई प्रमदाएं सुकुमारतर केशरशिखा वाले श्रीश पुष्पों को गहना बनाती है। इस कथन से इन दोनों का संगम अनुरूप ही है अर्थात् पुष्प से भी अधिक सुकुमार और प्रकृति से कोमल प्रमदायें श्रीश के पुष्पों से ही अपने को अलंकृत करती है यह सर्वथा अनुरूप ही है। इस अर्थशक्तयुद्भव स्वतः संभवी वस्तु से समअलंकार ध्वनि व्यंजित होती है।

3. अभिज्ञानशाकुन्तल के पंचम अंक में अन्तःपुर में नियुक्त कंचुकी यौवनावस्था में आचार रूप में स्वीकृत की गई लकड़ी बुढ़ापे का सहारा बन गई है। ऐसा वर्णन करता है - **आचार इत्यवहितेनमया गृहीता या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राजः। कालि गते बहुतिये मम सेव जाता प्रस्थानविकलवगतेरवलम्बनार्था।।**[6] यहाँ राजा दुष्यन्त के अन्तःपुर में नियुक्त कंचुकी की उक्ति आचार विशेष अथवा दण्ड धारण के नियम को प्रतिपादित करती है। कंचुकी के लिए दण्ड धारण परमावश्यक धर्म है जो वेत्रयष्टि पहले कंचुकी ने नियमपालन के लिए धारण की थी वही यष्टि समय बीत जाने पर बुढ़ापा आने पर उनका सहारा बन गई है। इस स्वतः सम्भवीवस्तु से ''धर्मो रक्षति रक्षितः'' यह अर्थान्तरन्यास अलंकार ध्वनित होता है इसलिए कहा भी है- ''धर्मान्नप्रमदितव्यम्''।

स्वतःसम्भवी अलंकार से अलंकारध्वनि

अलंकार जैसे शब्द शक्ति से व अर्थशक्ति से प्रतिपादित होते हैं वैसे ही अर्थशक्ति से वाच्यालंकार के अलावा अन्य अलंकार ध्वनित होते हैं। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का यह एक दूसरा प्रकार कहलाता है क्योंकि कहीं पर वाच्यारूप में प्रसिद्ध जो रूपकादि अलंकार है वहीं दूसरे स्थान पर प्रतीयमान के रूप में मम्मटादि आचार्यो ने प्रदर्शित किया है। सन्देह आदि में रूपक उपमादि अतिशयोक्ति प्रदर्शित की गई है, इस प्रकार अलंकार से अलंकारान्तर व्यंग्यत्व सबलतया प्रतिपादित किया जाता है। ध्वनिकार ने भी इस बात को प्रतिपादित किया है। फिर भी यह ध्यान देने योग्य है कि अलंकारान्तर में रूपकादि में अनुरणनरूप अलंकार की प्रतीति होने पर जहाँ वाच्य का व्यंग्य के प्रतिपादनोन्मुख रूप से चारूता प्रकाशित न होती हो वह तो ध्वनि का विषय नहीं होता। दीपकादि अलंकारों में उपमा के गम्यमान होते हुए भी वह व्यंग्यपरक न होने से ध्वनि का विषय नहीं कहा गया है। जहाँ व्यंग्य रूप से ही वाच्यालंकार का वर्णन किया गया हो वही अलंकार से अलंकारध्वनि का विषय बनता है।

1. महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में ''अप्सरा सम्भवः मेनकापुत्री'' इस तरह अनसुया के मुख से सुनकर राजा दुष्यन्त यदाकंचित् अपने आपको आश्वस्थ्य करके उसकी रूप माधुरी का वर्णन करता है-

''मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः। न प्रभातरलं ज्योतिरूदेति वसुधातलात्।।''[7]

इस श्लोक में एक ही उत्पत्ति क्रिया के संभव और उदय पदों के द्वारा पृथक-पृथक निर्दश करने से प्रतिवस्तुपमालंकार है। इस अलंकार से जैसे विद्युत् भूमितल से उदित नहीं होती है उसी तरह यह शकुन्तला भी मानुष स्त्री से उत्पन्न नहीं हैं यहाँ उपमा अलंकार ध्वनित् होता है। विद्युत की उपमा से शकुन्तला के मुख पर कठोर तपस्या से उत्पन्न कान्ति समूह की दुलवक्षता आदि गुण भी व्यंजित होते हैं।

2. अपने प्रिय को प्रश्न करने के लिए व्रत का आचरण करती काशीराज पुत्री के सन्देश को सुनकर पुरूरवा भवन में विदूषक के साथ आता है चन्द्रमा के उदय की प्रतीक्षा करता है-

''उदयगूढशशाङ्क मरीचिभिस्तमसि दूरमितः प्रतिसारिते।
अलकसंयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम्।''[8]

यहाँ ''अलकसंयमनादिव इस उत्प्रेक्षा अलंकार से बालों के संवारने से स्त्री का मुख चित्त को हर लेता है वैसे ही यह विलामुख भी मेरे चित्त का हरण कर रहा है यह उपमा अलंकारध्वनित होता है।

3. शकुन्तला के साथ अपने द्वारा एकान्त में किये गये प्रेम वृत्तान्त को अस्वीकार करके दुष्यन्त उसको मिथ्याभाषणी बतलाता है ऐसे आक्षेपों से क्रुद्ध हुई शकुन्तला दुष्यन्त को तिनकों से ढका कूप बतलाती है और उसका स्वाभाविक क्रोध राजा दुष्यन्त को सन्देह में डाल देता है-

''मध्येव विस्मरणदारूणचित्तवृत्तौ वृत्तं रहः प्रणयमक्षुप्रतिपमाने
भेदादभुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्यामन्त्रं शरासनमिवातिरूपा स्मरस्य।''[9]

यहाँ भूलने से दारूण चित्तवृत्ति वाले एकान्तिक प्रणय वृत्तान्त को अस्वीकार करने पर मुख पर इसने क्रोध से लाल-लाल आंखों के द्वारा कुटिल भृकुटि भोंहो के भंग से अत्यधिक क्रोध से मानो कामदेव का धनुष ही तोड़ दिया है। इस उत्प्रेक्षा अलंकार से शुद्धशीला पतिव्रता शकुन्तला के नेत्र वाणयुक्त धनुष के समान है इसलिए यहाँ उपमा अलंकार भी ध्वनित होता है।

4. बार-बार हटाने पर भी भौंरा जब शकुन्तला के मुख से दूर नहीं जाता है तब कुपित हुआ दुष्यन्त कहता है-

''अक्लिष्टबालतरूपल्लवलोभनींय पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेदभ्रमर प्रियायास्त्वंकारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्।।''[10]

यहाँ छोटे वृक्ष के पत्ते के समान लोभनीय शकुन्तला का विम्बतुल्य अधर है। इस उपमा अलंकार से रतोत्सवों में दुष्यन्त के द्वारा अत्यन्त दया के साथ ही पान किये गये अधरोष्ठ को अगर भौंरा स्पर्श करता है तो निःसन्देह ही राजा उसे कमल के उदर से अन्दर बंद कर देगा। इस कथन से भ्रमर के स्पर्श में भी अधर की वालतरू पल्लवता ही हेतु है। ऐसा ज्ञान होने से भ्रांति का होना अनिवार्य है। अतः भ्रांतिमान् अलंकार ध्वनि व्यंजित होती है।

इस प्रकार महाकवि कालिदास के नाटकों में शब्दार्थशक्त्युद्भव अलंकार से अलंकार ध्वनि सौन्दर्य का विवेचन सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाला सिद्ध होता है।

सन्दर्भ -

1. *काव्यप्रकाश, 4/38*
2. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/3*
3. *वही, पृ. 35*
4. *विक्रमो. 2/5*
5. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/4*
6. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6 / 18*
7. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/24 2*
8. *विक्रमो. 3/8*
9. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्*
10. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 6/20*

48

कालिदास के नाटकों में रीति तत्त्व

सन्दीप कुमार यादव

कविताकामिनी के वाग्विलास महाकवि कालिदास न केवल भारतवर्ष के अपितु विश्व के गणमान्य महाकवियों में अग्रणी हैं। महाकवि कालिदास ने तीन नाटकों का प्रणयन किया है- अभिज्ञानशकुन्तलम् विक्रमोर्वशीयम् और मालविकाग्निमित्रम्। यहाँ पर महाकवि के नाटकों को रीतितत्त्व की दृष्टि से देखा जाएगा। नवीं शताब्दी के आचार्य वामन ने रीति संप्रदाय की स्थापना की थी और उन्होंने रीति को काव्य का सर्वस्व मानते हुए काव्य की आत्मा तक स्वीकृत किया है। परंतु यदि विचार किया जाए तो रीति का प्रयोग आचार्य वामन से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी किया है। आचार्य भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में प्रायः काव्य के सभी प्रमुख अंगों का संकेत किया है। उसमें रीति तत्त्व के विषय में भी बतलाया है परंतु आचार्य भरत मुनि ने रीति का प्रत्यक्षतः नाम नहीं दिया है। वह भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं- **आवन्ती दाक्षिणात्य, पाञ्चाली और उड्रमागधी। चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः। आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रामागधी।।**[1] भरत मुनि के अनुसार जो पृथ्वी के नाना देश के वेश भाषा तथा आचार की वार्ता को व्यक्त करें, उसका नाम प्रवृत्ति है- पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। इससे स्पष्ट है कि भरत मुनि की प्रवृत्ति का संबंध न केवल भाषा से है अपितु देश तथा आचार आदि से भी है। अतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य भरत मुनि की दृष्टि में रीति की परिधि अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में भी इन प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। वह कहते हैं कि उदीच्य अर्थात् उत्तर भारत के लोग प्रायः श्लेष का प्रयोग करते हैं। प्रतीच्य अर्थात् पश्चिम भारत के कवि वाणी के विलास की उपेक्षा कर केवल अर्थ - गौरव को ही महत्त्व देते हैं। दक्षिणात्य जन उत्प्रेक्षा के प्रेमी हैं और गौड़ अर्थात् पूर्वी भारत के लोग अक्षरों के खेल में ही मुग्ध रहते हैं-

श्लेषः प्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्। उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षरडम्बरः।।[2]

इस विषय में पं. बलदेव उपाध्याय कहते हैं - 'बाण के समय में (सातवीं शताब्दी में) भारतवर्ष की चार दिशाओं में चार प्रकार की शैलियां वर्तमान थीं। परन्तु बाणभट्ट की अपनी सम्मति यह है कि इन चारों शैलियों का एकत्र उपयोग ही किसी काव्य को श्रेष्ठ बनाने में समर्थ होता है।'- **नवोऽर्थो, जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः विकटाक्षरबन्धश्च, कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।।**[2] अर्थात् नवीन भाव-सौन्दर्य, अग्राम्या जाति (स्वभाव-वर्णन), अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस और विकट (जिसमें पद नृत्य सा करते हों) अक्षर-बन्ध इन सबका एकत्र मिलना दुर्लभ है। - परन्तु काव्य की कसौटी भी यही है।

आचार्य भामह ने अपने काव्यालंकार में स्पष्ट रूप से रीतियों की चर्चा की है। वे वैदर्भ और गौड़ के लिए रीति के अर्थ में काव्य शब्द का प्रयोग करते हैं। आचार्य भामह ने इन रीतियों में गुणों के संबंध को बतलाया है। परंतु वह कहते हैं कि इन रीतियों से उन गुणों का कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य दंडी ही पहले आचार्य रहे हैं, जिन्होंने रीतियों को गौरव प्रदान किया तथा उसका विशद विवेचन किया है। इस आधार पर कुछ विद्वान् उन्हें रीतिवादी ही मानते हैं। दण्डी ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य दंडी कहते हैं कि वाणी के अनेक मार्ग हैं, जिनमें परस्पर अत्यंत सूक्ष्म भेद होते हैं। इनमें से वैदर्भ और गौड़ीय मार्गों के परस्पर भेद स्पष्ट हैं। श्लेष, प्रसाद, समता माधुर्य, ओज, कांति और समाधि आदि गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं। गौडीय मार्ग में इनका विपर्यय होता है।[3] आचार्य आनंदवर्धन ने रीति के लिए संघटना पद का प्रयोग किया है। वे रीति को रस रूप सौंदर्य का साधन मानते हैं- व्यनक्ति सा रसादीन्। आचार्य आनंदवर्धन ने संघटना के तीन भेद बताएं हैं- असमासा, मध्यसमासा और दीर्घ समासा। वह माधुर्यादि गुणों के आश्रय से स्थित रसों को अभिव्यक्त करती है- **असमासा, समासेन मध्यमेन च भूषिता। तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा। रसान्..... ।**[4]

आचार्य राजशेखर ने रीति को वचन विन्यास का क्रम बतलाया है- वचनविन्यसक्रमो रीतिः। आचार्य राजशेखर द्वारा प्रतिपादित रीति का लक्षण आचार्य वामन के लक्षण से अभिन्न प्रतीत होता है। आचार्य कुंतक ने रीति को मार्ग पद से अभिहित किया है। उन्होंने काव्य में कवि स्वभाव को मुख्य मानते हुए उसी के अनुसार मार्ग का निरूपण किया और रीतियों के प्रादेशिक वर्ग विभाजन का उपहासपूर्वक तिरस्कार किया है। कुन्तक ने तदनुसार रीति को कवि प्रस्थान हेतु कहा है। अलंकार को हटाकर प्रस्थान हेतु का सीधा अर्थ है विधि अथवा शैली। कवि शब्द का प्रयोग कर कुन्तक ने इस बात पर बल दिया है कि कई प्रस्थान हेतु रीति का निर्णायक आधार कवि स्वभाव ही है। आचार्य भोजराज ने रीति की व्युत्पत्ति मूलक परिभाषा की है-

वैदर्भादि कृताः पन्थाः काव्ये मार्गा इति स्मृताः। रांङ्गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते।।

अर्थात् वैदर्भादि पथ काव्य में मार्ग कहलाते हैं। गत्यर्थक रीङ् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है। इस प्रकार भोज ने मार्ग, पान्थ और रीति को व्युत्पत्ति अर्थ में पर्याय सिद्ध करते हुए तीनों की अभिन्नता बतलायी है। उनके अनुसार रीति का अर्थ है कवि-गमन-मार्ग, जो कुन्तक के कवि प्रस्थान हेतु पर्याय है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में उपनागरिका, परुषा और कोमल वृत्तियों का विवेचन किया है किंतु अंत में स्पष्ट किया है कि इन्हीं वृत्तियों को पूर्ववर्ती आचार्य ने क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीति कहा है। मम्मट ने नियत वर्णों के रसानुकूल व्यापार को ही वृत्ति कहा है - **एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चलाख्या रीतय उच्यन्ते। वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।**[5] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार पदों की संघटना का नाम रीति है-

पदसंगठना रीति रंग संस्था विशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा।।[6]

वह अंग संस्थान अर्थात् शरीर गठन की भांति है और काव्य की आत्मा रूप रस आदि का उत्कर्षाधान करती है। जिस प्रकार शरीर की गठन बाह्य होती हुई भी मनुष्य के आंतरिक व्यक्तित्व अर्थात् आत्मा का उत्कर्षाधान करती है, इसी प्रकार सम्यक् पद संगठन बाह्य अवयव होते हुये भी काव्य के आत्मभूत तत्त्व रस का उपकार करते हैं।

आचार्य वामन ने अपने ग्रंथ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में रीति का विशद विवेचन किया है। वह रीति को

न केवल काव्य का अंग मानते हैं अपितु रीति को काव्य की आत्मा तत्त्व तक पहुँचा दिया हैं- **रीतिरात्मा काव्यस्य।**[7] आचार्य वामन रीति की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि विशिष्ट पद रचना रीति कहलाती है- **विशिष्टा पदरचना रीतिः।**[8] आगे उसे विशेष की व्याख्या करते हुए विशेषो गुणात्मक अर्थात् रचना में माधुर्यादि गुण का समावेश ही उसकी विशेषता है और यह विशेषता ही रीति है। इस प्रकार गुण और रीति का अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। आचार्य वामन गुण को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण होते हैं अर्थात् शब्द तथा अर्थ के जो धर्म काव्य की शोभा को उत्पन्न करते हैं वे गुण कहलाते हैं वे ओज, प्रसादादि गुण हैं - **काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते चौजः प्रसादादयः। न यमकोपमादयः। कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजःप्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति।**[9] आचार्य वामन ने रीति के तीन भेद बतलाए हैं- वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली - **सा त्रिधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति।**[10]

1. वैदर्भी रीति - आचार्य वामन वैदर्भी रीति की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि समग्र गुणों से युक्त जो रचना होती है, उसे वैदर्भी कहते हैं। यहां समग्र से तात्पर्य है माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि दश शब्द और दश अर्थ गुण से अर्थात् ओज प्रसादादि गुणों से युक्त रीति का नाम वैदर्भी रीति है। दोषों की मात्रा से भी रहित और समस्त गुणों से युक्त वीणा के स्वर के समान मधुर लगने वाली वैदर्भी रीति मानी जाती है। आगे आचार्य कहते हैं कि सुकवि रूप योग्य वक्ता, सुंदर वर्ण विषय रूप अर्थ और शब्दों पर अधिकार शब्दकोश रहते हुए भी जिस विशिष्ट रचना शैली के बिना वाणी का मधु रस स्रावित नहीं होता, वह ही वैदर्भी रीति है - **समग्रगुणा वैदर्भी। समर्थरोजः प्रसादप्रमुखैर्गुणैरुपेता वैदर्भी नाम रीतिः। अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता। विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते। सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने। अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु।**[11] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ वैदर्भी रीति का लक्षण करते हुए बताते हैं कि जिसमें माधुर्य के अभिव्यंजक वर्णों से पूर्ण असमस्त अथवा स्वल्प समास युक्त ललित रचना हो, वह वैदर्भी रीति कहलाती है- **माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।।**

आचार्य रुद्रट वैदर्भी रीति के विषय में कहते हैं कि जो स्वल्प समास वाला, दशों गुणों से युक्त, वर्गों के द्वितीय अक्षरों से युक्त बंध होता है, वही वैदर्भी रीति कहलाती है- **असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी। वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया।।**[12]

महाकवि विल्हण की यह वैदर्भी गुणगाथा भी ध्यान देने योग्य है-

'अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य तस्य सरस्वतीविश्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्।।'[13]

महाकवि श्री हर्ष ने भी वैदर्भी रीति के विषय में बहुत ही सुंदर बात कही है-

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।।[14]

अभिज्ञानशाकुंतलम् नाटक के द्वितीय अंक में मृगया के प्रसंग में राजा दुष्यंत कहते हैं कि आज हम वन में मृगया के लिए नहीं जाएंगे, इसलिए वन में सब प्राणी निश्चिंत होकर आनंद मनाएं -

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं, छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धं क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले, विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः।।[15]

इस श्लोक में माधुर्य, ओज, प्रसादादि दश प्रकार के शब्द गुणों तथा अर्थ गुणों से युक्त वैदर्भी रीति है। छायाबद्धकदम्बकं और शिथिलज्याबन्धम् पदों में बंध के गाढ़ होने से (1) ओज गुण विद्यमान है। छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं इसमें बन्ध के गाढ़त्व तथा शैथिल्य के कारण (2) प्रसाद गुण है। 'महिषा निपानसलिलम्' में कोमल रचना के कारण (3) श्लेष गुण है। 'गाहन्तां महिषाः' इस पद्य में जिस क्रम से पद्य का प्रारम्भ हुआ है, उसी शैली से पद्य की समाप्ति भी हुई है, इसलिए 'मार्गाभेद' रूप (4) 'समता' गुण भी उपस्थित है। 'गाहन्तां' में आरोह और 'महिषाः' में एक प्रकार का अवरोह होने से 'आरोहावरोहक्रम' रूप (5) 'समाधि' गुण पाया जाता है। 'शृङ्गैर्मुहुस्तादडितम' इसमें 'पृथक्पदत्व' से (6) माधुर्य गुण, 'रोमन्थमभ्यस्यतु' इसमें कोमल बन्ध के कारण (7) सौकुमार्य, 'शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः' में बन्ध के विकटत्व के कारण (8) उदारता, पदों के उज्ज्वल होने से (9) कान्ति, और पदों के स्पष्टार्थक होने से (10) अर्थव्यक्ति गुण पाया जाता है। इस प्रकार इस पद्य में प्रायः समस्त गुणों के उपस्थित होने से 'समग्रगुणा वैदर्भी' रीति है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में ही शकुन्तला को देखकर राजा कहता है कि सौन्दर्यशालिनी शकुन्तला को ऋषि मुनिव्रत कराना चाहता है -

इदं किलाव्याजमनोहरं वपु-स्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया, शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।।[16]

इस श्लोक में यथासंभव सभी गुण विद्यमान हैं। नीलोत्पलपत्रधारया और छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति इन पदों में बन्ध के गाढ़ होने से ओज गुण है। नीलोत्पलपत्रधारया और शमीलतां में गाढत्व और शैथिल्य के कारण प्रसाद गुण विद्यमान है। इदं किलाव्याजमनोहरं इस पद्य में जिस क्रम से पद्य का प्रारम्भ हुआ है, उसी शैली से पद्य की समाप्ति भी हुई है, इसलिए समता नामक गुण है। तपःक्षमं में अवरोह और साधयितुं में आरोह होने से आरोहावरोहक्रम रूप समाधि गुण विद्यमान है। छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति में पृथक्पदत्व होने से माधुर्यादि गुण विद्यमान होने से वैदर्भी रीति है।

विक्रमोर्वशीय नाटक के तृतीय अंक में राजा पुरूरवा उर्वशी को जब प्राप्त कर लेता है, तब वह कहता है कि मनोभिलषित वस्तु की प्राप्ति होने पर विरोधी वस्तुएं भी अनुकूल लगने लगती है। इस प्रसंग में वैदर्भी रीति का प्रयोग दर्शनीय है -

पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं, वाणास्त एव मदनस्य ममानुकूलाः।
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि यद्यदासी- त्वत्संगमेन सम तत्तदिवानुनीतम्।।[17]

इस श्लोक के संरम्भरूक्षमिव और यद्यदासीत्त्वत्संगमेन यह पद गाढ़ बन्ध होने से ओज गुण है। संरम्भरूक्षमिव और सुन्दरि में गाढत्व और शैथिल्य के कारण प्रसाद गुण है। मदनस्य ममानुकूलाः में कोमल रचना के कारण श्लेष गुण विद्यमान है। पद्य का प्रारंभ जिस क्रम में हुआ है, अन्त भी उसी रूप में होने से समता नामक गुण है। वाणास्ते में आरोह और मदनस्य में अवरोह होने से समाधि नामक गुण है। तत्तदिवानुनीतम् में पृथक्पदत्व होने से माधुर्य गुण है। ममानुकूलाः में कोमल बन्ध के कारण उदारता गुण और पदों के उज्ज्वल होने से कान्ति गुण तथा पदों के स्पष्टार्थक होने से अर्थव्यक्ति नामक गुण है। इस प्रकार इस पद्य में प्रायः समस्त गुणों के उपस्थित होने के कारण समग्रगुणा वैदर्भी रीति है।

आचार्य वामन वैदर्भी रीति के विषय में कहते हैं कि जिस रचना में समास युक्त पद का अभाव-सा हो, वह वैदर्भी शुद्ध वैदर्भी कही जाती है। उसमें अर्थ गुणों का वैभव अर्थात् संपत्ति, समग्रतापूर्ण सौंदर्य आस्वाद्य

अर्थात् अनुभव करने योग्य होता है- **सापि समासाभावे शुद्धवैदर्भी। सापि वैदर्भी शुद्धवैदर्भी भण्यते, यदि समासवत् पदं न भवति।। तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या। तस्यां वैदर्भ्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या भवति।**[18]

मालविकाग्निमित्रम् नाटक के पंचम अंक में कुमार की वीरता के प्रसंग में कञ्चुकी के वक्तव्य में शुद्ध वैदर्भी रीति का उदाहरण दर्शनीय है-

नैतावता वीरविजृम्भितेम, चित्तस्य नो विस्मयमादधाति।
यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चै-रग्नेरपां दग्धुरिवोरुजन्मा।।[19]

इस श्लोक में पदों की स्पष्टार्थकता होने एवं समासावली का अभाव- सा होने के कारण शुद्ध वैदर्भी रीति का उदाहरण है। अभिज्ञानशाकुंतलम् नाटक के चतुर्थ अंक में जब शकुंतला की विदाई होती है, उसे अवसर पर उनके पिता महर्षि कश्यप का यह वचन भी शुद्ध वैदर्भी रीति का सुंदरतम उदाहरण है -

अर्थो हि कन्या परकीय एव, तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।[20]

आचार्य वामन वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि यह रीति कुछ और ही प्रकार की लोकोत्तर पद रचना है। जिसमें निबंध होने पर कुछ ना कुछ तुच्छ या असत्- सी वस्तु भी कुछ अलौकिक चमत्कारमय- सी प्रतीत होती है और सहृदयों के कर्णगोचर होकर उनके चित्त को इस प्रकार आह्लादित करती है कि मानों कहीं से अमृत की वर्षा हो रही है। जिस वैदर्भी रीति को काव्य रूप वाक्य में प्राप्त करके शब्द सौंदर्य नाचने लगते है। जहां वैदर्भी रीति में पहुंचकर नीरस वस्तु भी सरस हो जाती है। सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला कुछ ऐसा अनिर्वचनीय शब्दपाक वैदर्भी रीति में ही कहीं उदय हो जाता है अर्थात् जिसके कारण शब्द शोभा मानों नाचने-सी लगती है और नीरस वस्तु भी सरस हो जाती है -

किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी, यस्यां न किञ्चिदपि दवावभाति।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता, चेतः सताममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा।
वचसि यमधिगम्य स्वन्दते वाचकश्रीः, वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति हि स ता-क् क्वापि वैदर्भरीतौ, सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः।।[21]

गौड़ी रीति- आचार्य वामन गौडी रीति का लक्षण करते हुए कहते हैं कि जिसमें ओज और कांति नामक गुण हो, वह गौडी रीति है अर्थात् दश गुणों में से केवल दो गुण ओज और कान्ति जिस बन्ध में पायी जाती ,वह गौडी रीति कहलाती है। माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों के अभाव होने के कारण यह रीति समास बहुल और अत्यंत उग्र पदों वाली होती है- **ओजः कान्तिमती गौड़ीया। ओजः कान्तिश्च विद्येते यस्यां सा ओजःकान्तिमती, गौड़ीया नाम रीतिः। माधुर्यसौकुमार्ययोरभावात् समासबहुला अत्युल्वणपदा च।**[22] समास बहुला, उत्कट पदों से युक्त ओज और कांति गुणों से युक्त रीति को रीति शास्त्र के ज्ञानी जन गौड़ीय रीति कहते हैं-

समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्तिगुणान्विताम्। गौड़ीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः।।[23]

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ गौड़ी रीति का लक्षण करते हुए कहते हैं कि जिस रचना में रोज गुण के अभिव्यंजक वर्णों से पूर्ण समास प्रचुर उद्भट रचना होती है, वह गौड़ी रीति कहलाती है-

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः। समासबहुला गौडी.........।।[24]

इसी प्रसंग में साहित्यदर्पणकार पुरुषोत्तम नामक प्राचीन आचार्य द्वारा प्रतिपादित गौडी के लक्षण को बतलाते हैं कि जिसमें समास बाहुल्य रहता है, जिसमें ऐसे वर्णों का प्राचुर्य हुआ करता है जिससे महाप्राण अर्थात्

वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण और जिसमें अनुप्रास वैशिष्ट्य आवश्यक हो तथा समास बाहुल्य के कारण वाक्य का प्रयोग कम हुआ करता है, ऐसी रचना या बंध गौडी रीति कहलाती है-

'बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडीया। रीतिरनुप्रासमहिमपरतन्त्रा स्तोकवाक्या च'[24]

अभिज्ञानशाकुंतलम् नाटक के प्रथम अंक में जब मतवाला हाथी आश्रम में प्रवेश करता है, तब नेपथ्य से हाथी के लिए कहा जाता है कि यह हमारी तपस्या के लिए मानव शरीरधारी विघ्न की भांति इस आश्रम में प्रवेश कर रहा है। इसमें महाकवि कालिदास ने गौडी रीति का प्रयोग किया है, जो प्रसंग के सर्वथा अनुकूल है-

तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः, पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो, धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः।।[25]

इस श्लोक में आरंभ के दो चरणों में बन्ध की गढ़ता होने से ओज नामक गुण तथा पदों की उज्ज्वलता के कारण कान्ति नामक गुण भी है, अतः ओज और कांति से युक्त होने के कारण इसमें गौड़ी रीति है। अभिज्ञानशाकुंतलम् के छठे अंक में भी जब राजा अपनी प्रियतमा शकुंतला के वियोग में रहता है। उस समय कञ्चुकी राजा के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि प्रिया वियोग के कारण खिन्न होने पर भी महाराज अत्यंत सुंदर दिखलाई पड़ रहे हैं-

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते।।[26]

इस श्लोक में राजा दुष्यंत अपनी प्रियतमा शकुंतला के वियोग में वियोगी भले ही हैं किन्तु राज्य में अन्यों के सम्मुख उसकी प्रतीति आवश्यक नहीं है, इसलिए महाकवि कालिदास ने समास बहुल पदों का प्रयोग किया है। वह सर्वथा उपयुक्त जान पड़ता है और पदों की उज्ज्वलता के कारण कान्ति नामक गुण भी स्पष्टतः प्रतीत होने से गौड़ी रीति है।

विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में हाथियों का राजा ऐरावत अपनी प्यारी हथिनी के बिछोह में जब नंदनवन में इधर-उधर घूम रहा था इस प्रसंग में गौडीय रीति का सुन्दर उदाहरण दर्शनीय है-

अभिनवकुसुमस्तबकिततरुवरस्य परिसरे। मदकलकोकिलकूजितरवझङ्कारमनोहरे।
नन्दनविपिने निजकरिणीविरहानलेन संतप्तो, विचरति गजाधिपतिरैरावतनामा।।[27]

इस श्लोक में समास बाहुल्य पदों के प्रयोग होने से ओज गुण और पदों की उज्ज्वलता के कारण कान्ति गुणों की स्पष्ट प्रतीति के कारण गौडीय रीति है।

मालविकाग्निमित्रम् नाटक के पंचम अंक में जब परिव्राजिका जंगल की कहानी राजा को बताती है। उस प्रसंग में महाकवि कालिदास ने गौडीय रीति के माध्यम से जंगली डाकुओं का वर्णन करते हैं -

तूणीरपट्टपरिणद्धभुजान्तरालमापाष्णिलम्बिशिखिबर्हकलापधारि।
कोदण्डपाणि विनदत्प्रतिरोधकानामापातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम्।।[28]

इस श्लोक में दीर्घ समासावली का प्रयोग किया गया है और पदों के उज्ज्वलता के कारण ओज और कांति नामक गुण होने से गौडीय रीति है। जो प्रसंग के सर्वथा अनुकूल है।

पाञ्चाली रीति - आचार्य वामन के अनुसार माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से युक्त पांचाली रीति होती है अर्थात् उसमें ओज और कान्ति गुणों का अभाव होने से उसके पद गाढ़त्व रूप से ओज विहीन सुकुमार और कान्ति का अभाव होने से विच्छाय अर्थात् कान्तिविहीन होते हैं। गाढ़ बन्ध से रहित और शिथिल पद वाली माधुर्य और सौकुमार्य से युक्त संपूर्ण सौंदर्य से सुशोभित होने वाली रीति को विद्वान् लोग पांचाली रीति कहते हैं-

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। माधुर्येण सौकुमार्येण च गुणेनोपपन्ना पाञ्चाली नाम रीतिः। ओजः कान्त्यभावादनुल्वणपदा विच्छाया च। अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्। मधुरां सुकुमाराञ्च पाञ्चालीं कवयो विदुः।।[29]

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ पांचाली रीति का लक्षण करते हुए कहते हैं कि जिसमें माधुर्य और ओज के अभिव्यंजक वर्णों को छोड़कर अन्य अवशिष्ट वर्णों अर्थात् प्रसाद के अभिव्यंजक वर्णों की प्रवृत्ति हो और जिसमें पांच या छह पदों के समास से बड़े समासों का प्रयोग न होता हो, वह रीति पांचाली कहलाती है-

--- वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः । समस्तपञ्चषट्पदो बन्धः पाञ्चालिका मता।।[30]

आचार्य भोजराज पांचाली रीति का लक्षण करते हुए कहते हैं कि जिसमें पांच या छह पदों से अधिक पद वाले समास ना हों, ओज और कांति के गुण विद्यमान हो, जो कि माधुर्य के अभिव्यंजक अथवा कोमल वर्णों से पूर्ण पद रचना पांचाली रीति है -

'समस्तपञ्चषट्पदामोजःकान्तिसमन्विताम्। मधुरां सुकुमारां च पांचाली कवयो विदुः ।।'[30]

अभिज्ञानशाकुंतल नाटक के द्वितीय अंक में जब शकुंतला दुष्यंत के प्रति अपने प्रेम भाव की अभिव्यक्ति करती है। शकुंतला प्रेमाभिव्यक्ति के विषय में राजा दुष्यंत अपने मित्र विदूषक से कहता है। जहां माधुर्य और सौकुमार्य गुणों के कारण पांचाली रीति है-

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे, तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती, शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्।।[31]

अभिज्ञानशाकुंतल के चतुर्थ अंक में जब शकुंतला विदा होती है, उस समय वन के सभी वृक्ष उसको विदा होने की आज्ञा प्रदान करते हैं -

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या, नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः, सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।[32]

इस श्लोक के युष्मास्वपीतेषु एवं सर्वैरनुज्ञायताम् आदि पदों में पृथक्पदत्व होने से माधुर्य गुण और कुसुमप्रसूतिसमये इस पद में कोमल बन्ध होने के कारण सौकुमार्य गुण है इन दोनों गुणों के कारण इस श्लोक में पांचाली रीति है। विक्रमोर्वशीय नाटक के द्वितीय अंक में परहस्तगत हुए प्रेम पत्र के विषय में राजा विदूषक से कहता है कि मन बहलाने वाली वस्तुओं को देखकर ही तो प्रेमी लोग जीवित रहते हैं -

वासार्थ हर संभृतं सुरभिणा पौष्पं रजो वीरुधां, किं कार्य भवतो हृतेन दयितास्नेहस्वहस्तेन मे।
जानीते हि मनोविनोदनशतैरेव विधैर्धारितं, कामार्त जनमज्जनां प्रति भवानालक्षितप्रार्थनः ।।[33]

इस श्लोक के भवानालक्षितप्रार्थनः में पृथक्पदत्व होने से माधुर्य और दयितास्नेहस्वहस्तेन में कोमल बन्ध के कारण सौकुमार्य गुण विद्यमान हैं, अतः यहां पांचाली रीति है। विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में पुरूरवा उर्वशी के वियोग में पागल हो गया है। उसके विरह में बिलखते हुए कहता है कि अरे! यह तो अभी-अभी बरसाने वाला बादल है राक्षस नहीं। इसमें खींचा हुआ यह इंद्रधनुष है राक्षस का धनुष नहीं। और यह जो टप- टप बरसे जा रहे हैं यह बाण नहीं है बूंदें हैं और यह जो कसौटी पर बनी हुई सोने की रेखा के समान चमक रही है यह मेरी प्रिय उर्वशी नहीं है, बिजली है -

नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः, सुरधनुरिदं दुरा कृष्टं न नाम शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरंपरा, कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी।।[34]

उक्त श्लोक में माधुर्य और सौकुमार्य गुण की स्पष्ट रूप से प्रतीति होने के कारण यह पांचाली रीति का सुंदर उदाहरण है। मालविकाग्निमित्रम् नाटक के तृतीय अंक में राजा अपने मित्र विदूषक के साथ काम-पीड़ित अवस्था में वर्णित है -

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे, भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति ।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं, प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम् ।।[35]

इस श्लोक के दयितालिङ्गनसुखे में पृथक्पदत्व के कारण माधुर्य गुण और कदाचिद्विरहित पद में कोमल बन्ध के कारण सौकुमार्य गुण विद्यमान होने के कारण पांचाली रीति है। अनामिका नाम की सार्थकता को सिद्ध करने वाले कवियों के कुलगुरु महाकवि कालिदास न केवल संस्कृतसाहित्य के अपितु विश्व-साहित्य के कवियों में अग्रगण्य हैं। कालिदास केवल एक कवि के रूप में दृष्टिगत नहीं होते अपितु यदि सूक्ष्म निरीक्षण किया जाए तो वह एक पथ प्रदर्शक के रूप में भी दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में अनेक ऐसे नवीन तथ्यों को स्थान दिया है, जिसे आधार बनाकर बाद के शास्त्रकारों ने उसे अपने शास्त्र में स्थान दिया और वह एक नियमावली बन गई। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य ने पूरी काव्यशास्त्रीय परंपरा को षट्सम्प्रदायों में विभक्त किया है। कालिदास ही एक ऐसे महाकवि हैं जिनके काव्य में काव्यशास्त्र का ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो विद्यमान न हो। सभी काव्यशास्त्रीय आचार्य अपने- अपने सिद्धांत को कालिदास के काव्यों में घटित करते हैं। इसी परंपरा में आचार्य वामन भी आते हैं। जिन्होंने रीति को अपना सिद्धांत बनाया और समस्त काव्यों को तीन रीतियों में ही अन्तर्भूत कर दिया। महाकवि कालिदास के तीनों नाटकों में आचार्य वामन द्वारा प्रतिपादित वैदर्भी,गौड़ी और पांचाली यह तीनों रीतियां यथोचित रूप से दृष्टिगत होती हैं।

सन्दर्भ -

1. *नाट्यशास्त्र- 14/36*
2. *हर्षचरित 1/7*
3. *काव्यादर्श 1/40-43*
4. *ध्वन्यालोक 3/5-6*
5. *काव्यप्रकाश, पृ. 404-406*
6. *साहित्यदर्पण- 9/1*
7. *कायालंकारसूत्रवृत्ति - 1/2/6*
8. *वही 1/2/7*
9. *वही. 3/1/1*
10. *वही, 1/2/9*
11. *वही - 1/2/11 पृ.20-21*
12. *साहित्यदर्पण - 9/2, पृ.-659-660*
13. *विक्रमांकदेवचरित - 1/9*
14. *नैषधीयचरित - 3/116*
15. *अभिज्ञानशाकुन्ततल - 2/6*

16. वही, 2/18

17. विक्रमोर्वशीय, 3/20

18. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति - 1/2/19,21

19. मालविकाग्निमित्र - 5/17

20. अभिज्ञानशाकुन्तल - 4/22

21. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति - पृ., 32-33

22. वही, 1/2/12

23. वहीं पृ., 24

24. साहित्यदर्पण - 9/3, पृ. 661

25. अभिज्ञानशातुन्तल - 1/33

26. वही- 6/6

27. विक्रमोर्वशीय- 4/56

28. मालविकाग्निमित्र- 5/10

29. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति- 1/2/13

30. साहित्यदर्पण - 9/4 पृ. 661

31. अभिज्ञानशाकुन्तल - 2/12

32. वही, 4/9

33. विक्रमोर्वशीय, 2/19

34. वही 4/7

35. मालविकाग्निमित्र, 3/1

49

कालिदास के रूपकों में छन्द विधान

सञ्जय कुमार एवं सुकदेव भोई

काव्य के निबन्धन की पद्धति में पद्य काव्य छन्द की विविधता से ही संस्कारित होता है। पद्य शब्द पाद के ही एक रूप पद से निष्पन्न हुआ है।[1] अक्षरों और मात्राओं की नियत संख्या वाले शब्दों को छन्द कहा जाता है[2] और उस छन्द से ग्रथित शब्द पाद कहलाता है।[3] छन्द के प्रयोग से वाणी में प्रियता, लोकोत्तरता और सामर्थ्य आती है। जैसा कि 'शतपथब्राह्मण' में 'छन्दांसि वा अस्य सप्तधाम प्रियाणि'[4] 'जैमिनीय ब्राह्मण' में 'छन्दांसि वाव देवानां गृहाः और ताण्ड्यब्राह्मण[5] में छन्द के लिए इन्द्रियं वीर्यं छन्दांसि' कहा गया है।[6] वेद पुरुष का छन्द पैर बतालाया गया है- छन्दः पादौ तु वेदस्य।[7] ऐतरेय आरण्यक में छन्द के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो पाप कर्म से दोष मन्त्र को बचाता है वह छन्द है- छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात् कर्मणः।[8] निरुक्तकार यास्क कहते हैं- छन्दांसि छादनात[9] अर्थात् छादन करने से छन्द कहलाता है आचार्य भरत के द्वारा भी छन्द पर प्रकाश डाला गया है वे बताते हैं कि पादों की संख्या के अनुसार छन्द 26 प्रकार का होता है।[10] वहाँ छन्दों का शब्द के साथ सम्बन्ध बतलाते हुए इस प्रकार कहा गया है-

छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति नच्छन्दश्शब्दवर्जितम्। तस्मात्तूभयसंयोगो नाट्यस्योद्योतकः स्मृतः।।[11]

अर्थात् छन्दों से रहित कोई शब्द नहीं होता है और न शब्दों से रहित कोई छन्द होता है। इसलिए दोनों का संयोग नाट्य का उद्योतक माना गया है। इसलिए काव्य के गहरे अर्थों को समझने के लिए आचार्य दण्डी छन्दों का अध्ययन आवश्यक मानते है -

छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः।
सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्य सागरम्।।[12]

अर्थात् उन वृत्त और जाति नामक पद्यभेदों का समग्र विस्तार छन्दः शास्त्र में किया गया है। वह शास्त्र गंभीर काव्य रूपी समुद्र को पार करने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए नाव के समान है। अतः काव्य अध्ययन और रचना दोनों की दृष्टि से छन्द का अध्ययन आवश्यक माना जाता है। पद्य को चतुष्पदी कहा जाता है[13] यानि प्रत्येक श्लोक में चार चरण होते हैं। यह पद्यात्मक छन्द दो प्रकार का होता है- वर्णवृत्त और मात्रिक वृत्त। वर्ण वृत्तों में प्रत्येक पाद के वर्णों की गणना की जाती है और मात्रिक वृत्त में मात्राओं के संख्या की गणना की जाती है। वर्णिक छन्द के तीन प्रकार हो जाते हैं- समवृत्त, अर्धसमवृत्त और विषमवृत्त। उपर्युक्त दोनों प्रकार के छन्दों में स्वरों का ध्यान रखा जाता है। इनके ह्रस्व और दीर्घ दो रूप होते हैं। ह्रस्व के लिए '।' और गुरु 'ऽ' का प्रयोग किया जाता है। इसके बाद गण बनाया जाता है। जिसके विषय में नाट्यशास्त्र में इस प्रकार कहा गया है -

सर्वेषां छन्दसामेवं त्रिकैर्वृत्तं प्रयोजयेत। ज्ञेयाश्चाष्टौ त्रिकास्तत्र संज्ञाभिः स्थानमक्षरम्।।[14]

अर्थात् सभी छन्दों का त्रिकों के द्वारा गठन किया जाता है ये त्रिक आठ हैं जिनको अपने स्वरूपानुसार संज्ञा, स्थान और अक्षरों को समझना चाहिए। इनके स्वरूप का निर्धारण लघु और गुरु से होता है। नाट्यशास्त्र के आठ त्रिक इस प्रकार बतलाये गये हैं-

गुरुपूर्वो भकारः स्यान्मकारे तु गुरुत्रयम्। जकारो गुरुमध्यस्थः सकारोऽन्त्यगुरुस्तथा।।

लघुमध्यस्थितौ रेफस्तकारोऽन्त्यलघुः परः। लघुपूर्वो यकारस्तु नकारे तु लघुत्रयम्।।

एते स्यष्टौ त्रिकाः प्राज्ञैर्विज्ञेया ब्रह्मसम्भवाः। लाघवार्थं पुनरमी छन्दोज्ञानमवेक्ष्य च।।[15]

अर्थात् पूर्व गुरु यानि जिसमें आदि वर्ण गुरु हो और शेष लघु हो तो उसे भगण (ऽ।।) कहते हैं। इसी प्रकार तीन गुरु वाला मगण (ऽऽऽ) मध्य में गुरु हो तो जगण (।ऽ।) अन्त्य गुरु वाला सगण (।।ऽ) मध्य लघु वाला रगण (ऽ।ऽ) अन्त्य लघु तगण (ऽऽ।) आदि लघु यगण (।ऽऽ) और तीनों वर्ण लघु होने से नगण (।।।) कहलाता है। यही आठ त्रिक हैं। ब्रह्मा से उत्पन्न हुए लाघव के लिए ये गण छन्द के प्रमाण को देखकर बताये गये हैं। इन आठ गण का वर्णन छन्दोमंजरी में भी प्राप्त होता है।[16] इस प्रकार छन्दशास्त्र का अनुशासन बहुत विशाल और महत्त्वपूर्ण है। छन्दों के प्रयोग से काव्य या नाट्य में गान की लय प्राप्त हो जाती है। जो रुचिकर के साथ मनमोहक भी होता है। कालिदास ने अपने रूपकों में अनेक छन्दों का प्रयोग किया है जिसका वर्णन यहाँ किया जा रहा है। लौकिक संस्कृत का प्रथम श्लोक या छन्द जिसे कहा जाता है वह अनुष्टुप् है इसलिए सर्वप्रथम कालिदास के रूपकों में अनुष्टुप् छन्द के प्रयोग का अध्ययन समिचीन होगा-

अनुष्टुप् छन्द- इसके विषय में सर्व प्रचलित परिभाषा शास्त्रों में इस प्रकार दी गयी है-

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्। द्विचतुः पादयोहस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।[17]

अनुष्टुप् छन्द के प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं। प्रत्येक चरण का षष्ठ अक्षर गुरु और पंचम अक्षर सदा लघु होता है। द्वितीय और चतुर्थ चरण में सप्तम अक्षर लघु होता है तथा प्रथम तथा तृतीय चरण में सप्तम अक्षर गुरु होता है। यथा-

।ऽऽ ।ऽ।

तवस्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।

। ऽ।ऽ ।ऽ।

एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा।।[18]

यहाँ श्लोक में चार चरण हैं। प्रत्येक चरण में आठ अक्षर हैं। चरणों का षष्ठ अक्षर गुरु और पंचम अक्षर लघु है। द्वितीय और चतुर्थ चरण का सप्तम अक्षर लघु तथा प्रथम और तृतीय चरण का सप्तम अक्षर गुरु है। इस प्रकार अनुष्टुप् छन्द का लक्षण यहाँ पूर्णरूपेण घटित हुआ है। इसी प्रकार कालिदास के रूपकों में अधोलिखित अनुष्टुप प्रयोग हैं-

मालविकाग्निमित्र- 1/10, 1/14, 1/15, 1/19, 2/9, 4/4, 5/11

विक्रमोर्वशीयम् - 1/14, 1/15, 1/16, 2/4, 2/5, 2/5, 2/14, 2/16, 2/18, 3/9, 3/11, 3/18, 3/21, 4/9, 4/14, 4/18, 4/19, 4/21, 4/27, 4/31, 4/40, 5/1, 5/3, 5/7, 5/12, 5/14, 5/20, 5/23, 5/24, 5/25

अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 1/6, 1/11, 1/12, 1/26, 2/13, 2/16, 2/17, 3/1, 3/17, 3/20, 4/4, 4/7, 5/14, 5/24, 5/26, 5/29, 6/23, 6/28, 6/32, 7/9, 7/13, 7/14, 7/15, 7/23, 7/28, 7/29

अपरवक्त्र छन्द- कालिदास के रूपकों अपरवक्त्र छन्द का प्रयोग किया गया है। इस छन्द का लक्षण इस प्रकार मिलता है- **अयुजि ननरला गुरुः समे तदपवक्त्रमिदं नजौ जरौ।**[19] अर्थात् जिसके विषमचरणों में दो नगण, रगण, लघु तथा गुरु वर्ण हों और समचरणों में नगण दो जगण, रगण हों तो उसके अपरवक्त्र छन्द कहा जाता है। प्रथम और तृतीय चरण में ग्यारह वर्ण होते हैं तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में बारह वर्ण अपरवक्त्र छन्द में प्राप्त होते हैं-

उदाहरण-

ा ा ाा ाा ऽाऽा ऽ ाााा ऽ ा ाऽ ा ऽ ाऽ

शठ इति मयि तावदस्तु ते परिचयवत्यवधीरणा प्रिये।
चरण पतितया न चण्डि तां विसृजसि मेखलयापि याचिता।।[20]

यहाँ पर प्रथम चरण में दो नगण, रगण तथा लघु और गुरु वर्ण है तथा द्वितीय चरण में नगण दो जगण और रगण हैं। यही स्थिति तृतीय और चतुर्थ चरण में भी है। इसी प्रकार कालिदास के रूपकों में अधोलिखित अपरवक्त्र छन्द का प्रयोग किया गया है-

मालविकाग्निमित्रम्- 3/20 **विक्रमोर्वशीयम्-** 2/21 **अभिज्ञानशाकुन्तलम्-** 4/10, 5/1

आर्याछन्द- नाट्य जगत् के प्रसिद्ध कवि कालिदास के रूपकों में आर्याछन्द का अधिकाधिक प्रयोग किया गया है। इसके विषय में छन्दोमंजरी में इस प्रकार कहा गया है-

लक्ष्मै तत् सप्तगणा गोपेता भवति नेह विषये जः। षष्ठौ जश्च नलघु वा प्रथमेऽर्धे नियतमार्यायाः।।
षष्ठे द्वितीयलात् परकेन्ले मुखलाश्च सयतिपदनियमः। चरमेऽर्धे पञ्चमके तस्मादिह भवति षष्ठो लः।।[21]

अर्थात् आर्या छन्द अन्त में गुरु वर्णों से युक्त सात गणों वाला होता है। इस सात गणों में भी विषम गणों में (प्रथम, तृतीय, पंचम, सप्तम्) जगण नहीं होता है। छठा गण या तो जगण होता है या नगण के साथ एक लघु होता है। इसके पूर्वार्ध में 38 मात्रएं और उत्तरार्ध में 27 मात्राएं होती है।

उदाहरण-

ऽ। । । ऽ ऽऽ ऽ ।।ऽ ऽ ऽ । ।।। ।।ऽऽ

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवासद् वस्तु पुरुषवहुमानात्।
शृणतु मनोभिरवहितैः क्रियामिमां कालिदासस्य।।[22]

यहाँ पर सात गण का लक्षण यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्र तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीय चतुर्थके पंचदश साऽऽर्या का लक्षण पूर्णतः घटित होता है। कालिदास के रूपकों में इसी प्रकार आर्या छन्द का प्रयोग अधोलिखित है-

मालविकाग्निमित्रम्- 1/3, 1/5, 1/6, 1/7, 1/8, 1/9, 1/13, 1/18, 1/20, 1/22, 2/1, 2/2, 2/11, 2/13, 2/14, 3/8, 3/9, 3/13, 3/16, 3/18, 3/19, 3/23, 4/2, 4/3, 4/5, 4/7, 4/10, 4/17, 5/4, 5/5, 5/6, 5/19

विक्रमोर्वशीयम्- 1/2, 1/7, 1/8, 1/13, 1/17, 1/18, 2/2, 2/3, 2/8, 2/17, 2/20, 3/4, 3/5, 3/8, 3/14, 3/16, 3/17, 4/5, 4/8, 4/23, 4/24, 4/30, 4/32, 4/36, 4/41, 4/42, 5/4, 5/5, 5/10, 5/11, 5/13

अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 1/2, 1/3, 1/13, 1/16, 1/17, 1/21, 1/25, 1/28, 1/29, 1/34, 2/1, 2/8, 3/2,

3/4, 3/5, 3/9, 3/12, 3/14, 3/15, 3/19, 4/12, 4/16, 4/21, 5/11, 5/13, 5/16, 5/18, 5/21, 5/28, 5/31, 6/2, 6/3, 6/7, 6/15, 6/19, 6/21, 6/31, 7/22

उपजाति छन्द- कालिदास ने अपने नाट्य साहित्य में उपजाति छन्द का प्रयोग किया है। इस छन्द का लक्षण इस प्रकार दिया गया है- **अनन्तरोदीरितलक्ष्यभाजौ पादौ यदीयावुयजातयस्ता।इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्वदमेव नाम।।**[23] उपजाति छन्द के प्रत्येक चरण में 11 वर्ण होते हैं। यह इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा दोनों छन्दों के मिश्रण से बनता है। किसी चरण में इन्द्रवज्रा होता है और किसी चरण में उपेन्द्रवज्रा। अभिज्ञानशातुन्तलम् का यह उदाहरण दृष्टव्य है-

।ऽ । ऽ।। ऽ ।ऽऽ । ऽ।ऽ ऽ।।ऽ ।ऽऽ

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्त्वा, निषेवते श्रान्तमना विविक्तम्।

ऽऽ। ऽऽ। ।ऽ।ऽऽ ऽऽ ।ऽ ऽ।।ऽ ।ऽऽ

यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः।।[24]

यहाँ पर प्रथम और द्वितीय चरण में उपेन्द्रवज्रा तथा तृतीय और चतुर्थ चरण में इन्द्रवज्रा छन्द का प्रयोग किया गया है इसलिए यहाँ पर उपजाति छन्द है। इसी प्रकार कालिदास के रूपकों में अन्य स्थलों पर उपजाति छन्द का प्रयोग किया गया है-

मालविकाग्निमित्रम्- 1/2, 1/16, 1/17, 3/10, 4/8, 5/14, 5/17

विक्रमोर्वशीयम्- 1/19, 1/20, 5/2, 5/6

अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 5/20, 5/25, 6/10, 6/24, 6/26, 7/2, 7/5, 7/19, 7/31

द्रुतविलम्बित- नाट्य साहित्य में कालिदास ने द्रुतविलम्बित छन्द का प्रयोग किया है। इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है-**द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।**[25] अर्थात् जिसके चारों चरणों में क्रमशः नगण, भगण, भगण और रगण हो उसको द्रुतविलम्बित छन्द कहते हैं। उदाहरण-

।।।ऽ।। ऽ। ।ऽ ।ऽ ।।। ऽ।।ऽ।।ऽ ।ऽ

असुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम्।

अभिमुखीष्विव वाञ्छितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतियेकपदे मनः।।[26]

यहाँ पर पूर्णतः लक्षण घटित होता है इसलिए उक्त श्लोक में द्रुतविलम्बित छन्द का प्रयोग सिद्ध होता है। अन्य रूपकों में इसका प्रयोग इस प्रकार है-

मालविकाग्निमित्रम्- 3/6, 4/13, 5/7 **विक्रमोर्वशीयम्-** 3/6, 4/24, 4/29

अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 2/11, 3/16, 5/27, 6/8, 7/3

पथ्यावक्त्र छन्द - महाकवि कालिदास ने अपने महनीय रूपकों में पथ्यावक्त्र छन्द का प्रयोग किया है। इसके विषय में इस प्रकार कहा गया है- **यजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्।**[27] अर्थात् दूसरे और चौथे चरण में चौथे वर्ण के बाद सगण होने पर पथ्यावक्त्र छन्द होता है। ऐसी स्थिति में पांचवा, सातवां वर्ण लघु और छठा वर्ण गुरु होता है। प्रथम और तृतीय पाद में मगण होता है। उदाहरण-

।ऽऽ ।ऽ।

नहि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम्।

।ऽ ऽ

कार्यसिद्धिपेथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते।।[28]

अन्य स्थलों पर उदाहरण द्रष्टव्य है-

मालविकाग्निमित्रम्- 4/12, 4/14, 5/9, 5/11, 5/12, 5/13, 5/15, 5/16, 5/18

अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 6/14, 6/22

पुष्पिताग्रा छन्द- कालिदास के द्वारा पुष्पिताग्रा छन्द का प्रयोग किया गया है। छन्दोमंजरी में पुष्पिताग्रा छन्द का लक्षण इस प्रकार दिया गया है- **अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।**[29] अर्थात् जिसके विषम चरणों में दो नगण, रगण, मगण तथा समचरणों में नगण दो, जगण, रगण और गुरु वर्ण हो तो उसे पुष्पिताग्रा छन्द कहा जाता है। उदाहरण-

।। ।।।।ऽ ।ऽ। ऽऽ ।।। ।ऽ।।ऽ।। ऽऽ

तव सुचरितमङ्गुलीय नूनं प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन।

अरुणनखमनोहरासु तस्याश्च्युतमसि लब्धपदं यदङ्गुलीषु।।[30]

उक्त श्लोक के प्रथम व तृतीय चरण में दो नगण, रगण और यगण है तथा द्वितीय व चतुर्थ चरण में नगण दो जगण, रगण और गुरु वर्ण है।

मालविकाग्निमित्रम्- 1/11 **विक्रमोर्वशीयम्-** 3/3, 3/22 **अभिज्ञानशाकुन्तलम्-** 1/32, 2/3

प्रहर्षिणी- कालिदास प्रहर्षिणी छन्द का प्रयोग अपने नाटकों में करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। प्रहर्षिणी छन्द का लक्षण इस प्रकार है- **त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्।**[31] अर्थात् जिसके चारों चरणों में क्रमशः मगण, नगण, जगण, रगण और एक गुरु वर्ण हो तथा तीन एवं दस अक्षरों में यति हो उसको प्रहर्षिणी छन्द कहते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में छन्द का उदाहरण इस रूप में मिलता है-

ऽऽऽ ।।।। ऽ। ऽ।ऽऽ

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मिचेष्टमानम्।

आर्त्तानां भयमपनेनुमात्तधन्वा दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानाम्।।[32]

यहाँ पर क्रमशः मगण, नगण, जगण एवं रगण और एक गुरु वर्ण का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार कालिदास के अन्य रूपकों में प्रहर्षिणीछन्द का प्रयोग किया गया है-

मालविकाग्निमित्रम्- 1/21 **विक्रमोर्वशीयम्-** 3/1 **अभिज्ञानशाकुन्तलम्-** 6/30

मन्दाक्रान्ता- कालिदास का मन्दाक्रान्ता छन्द बहुत प्रिय छन्द है। उन्होंने पूरे मेघदूत में मन्दाक्रान्ता का ही प्रयोग किया है। उनके रूपकों में भी इस छन्द का प्रयोग किया गया है। इस छन्द का लक्षण छन्दोमंजरी में इस प्रकार दिया गया है- **मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्।**[33] अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में मगण, भगण, नगण, तगण, तगण दो गुरु हो तो वहाँ मन्दाक्रान्ता छन्द होता है। इसमें चार, छः, और सात वर्णों में यति होती है। उदाहरण-

ऽ ऽऽऽ।।। ।।ऽ ऽ।ऽऽ। ऽऽ

आविर्भूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रिः नैशस्यार्चिर्हतभुज इवच्छिन्नभूयिष्ठ-धूमा।

मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना गङ्गा रोधः पतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्।।[34]

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में मगण, भगण, नगण, दो तगण और अन्त में दो गुरु है। अतः यह मन्दाक्रान्ता छन्द से युक्त श्लोक है। कालिदास के रूपकों में मन्दाक्रान्ता छन्द का अधोलिखित प्रयोग है-

मालविकाग्निमित्रम्- 2/6, 2/8, 3/4, 4/1 **विक्रमोर्वशीयम्-** 2/1, 3/1, 4/4 **अभिज्ञानशाकुन्तलम्-** 1/15, 1/33, 2/14, 2/15

मालभारिणी- कालिदास मालभारिणी छन्द का प्रयोग अपने रूपकों के अनेक स्थलों पर किये हैं। इस छन्द का लक्षण इस प्रकार है- **त्रतौवान्तेऽधिके गुरौ स्यान्दौपच्छन्दसिकं कविन्द्रहृदयम्।**[35] अर्थात् इसे मालभारिणी छन्द भी कहा जाता है। इसमें अन्तिम एक वर्ण गुरु अधिक होता है इसलिए इसे औपछन्दिसक वृत कहा जाता है। प्रथम और तृतीय चरण में 11 वर्ण होते हैं। दो सगण, एक नगण, दो गुरु होता है। द्वितीय और चतुर्थ चरण में 12 वर्ण होते हैं। इसमें एक सगण, एक भगण, एक रगण और एक भगण होता है। यह वैतालीयछन्द है। उदाहरण-

।।ऽ।। ऽ।।ऽ ऽऽ ।।ऽ ऽ। ।ऽ। ऽ।ऽ।

अपरिक्षतकोमलस्य यावत् कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य।।[36]

यहाँ पर उक्त लक्षण घटित होता है इसलिए यह मालभारिणी छन्द है। कालिदास के रूपकों में इसका प्रयोग अधोलिखित है-

मालविकाग्निमित्रम्- 3/11, 3/12 **विक्रमोर्वशीयम्-** 3/7, 4/3, 4/17 **अभिज्ञानशाकुन्तलम्-** 3/22, 7/20, 7/21

मालिनी छन्द- कालिदास को मालिनी छन्द भी प्रिय है। मालिनी छन्द के विषय में इस प्रकार कहा गया है- **ननमयययुतेयं मालिनी भोगलोकैः**[37] अर्थात् जिसके चारों चरणों में क्रमशः नगण, नगण, मगण, यगण, यगण हो तथा आठ और सात अक्षरों पर यति हो तो उसे मालिनी छन्द कहा जाता है। यथा-

।।। ।।। ऽऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽऽ

इदमसुलभ वस्तुप्रार्थनादुर्निवारं प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति।
किमुतमलयवातोन्मूलितापाण्डुपत्रैरुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु।।[38]

यहाँ पर क्रमश दो नगण, मगण और दो यगण और प्रयोग किया गया है, यह मालिनी छन्द है। अन्य रूपकों में प्रयोग इस प्रकार है-

मालविकाग्निमित्रम्- 2/5, 3/12 **विक्रमोर्वशीयम्-** 4/10, 4/13, 4/22, 5/17, 5/21, 5/22 **अभिज्ञानशाकुन्तलम्-** 1/10, 1/19, 1/20, 2/4, 3/3, 5/7, 5/8, 5/19, 7/7, 7/34

रथोद्धता छन्द - कालिदास अपने रूपकों में रथोद्धता छन्द का भी प्रयोग किये हैं। इसके विषय में छन्दोमंजरी में इस प्रकार कहा गया है- **रात् परैर्नरलगै रथोद्धता**[39] अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण, नगण, रगण, लघु और गुरु वर्ण हो तो उसे रथोद्धता छन्द कहते हैं। यथा-

ऽ।ऽ। ।।ऽ।ऽ।ऽ ऽ।ऽ। ।।ऽ।ऽ। ।ऽ

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमः किमितिजन्मतस्त्वया।
सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते कृष्णसर्वशिशुनेव चन्दनः।।[40]

यहाँ पर क्रमशः रगण, नगण, रगण लघु और गुरुवर्ण का प्रयोग हुआ है अतः रथोद्धता छन्द है।

रुचिरा छन्द- कालिदास ने यद्यपि रुचिरा छन्द का बहुत अल्प प्रयोग किया है फिर भी अध्ययन की दृष्टि से उसका उल्लेख करना आवश्यक है। रुचिरा छन्द के विषय में इस प्रकार बतलाया गया है - **जभौ सजौ गितिरुचिरा चतुर्ग्रहैः**[41] अर्थात् जिसके चारों चरणों में जगण, भगण, सगण, जगण और एक गुरु वर्ण हो, चार तथा नौ वर्णों में यति हो उसको रुचिरा छन्द कहा जाता है। इसका प्रयोग अभिज्ञानशाकुन्तलम् में इस प्रकार किया गया है -

।ऽ। ऽ । । । ।ऽ । ऽ ।ऽ

प्रवर्तता प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतमहतां महीयताम् ।

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ।।[42]

इस प्रकार यहाँ जगण, भगण, सगण, जगण तथा अन्त में गुरु वर्ण है जिसके कारण से यह रुचिरा छन्द है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम् में भी रुचिरा छन्द का प्रयोग किया है।[43]

वंशस्थ छन्द- कालिदास के रूपकों में वंशस्थ छन्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है। लक्षण इस प्रकार दिया गया है- **वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ।**[44] अर्थात जिसके चारों पादों में क्रमशः जगण, तगण, जगण और रगण हो तो वह वंशस्थ छन्द या वंशस्थविल छन्द कहलाता है। उसी को वंशस्तविल छन्द भी कहते हैं। उदाहरण-

।ऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽ।ऽ ।ऽ ।ऽऽ ।।ऽ । ।।ऽ

गतं भयं भीरु! सुरारिसम्भवं त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणः ।

तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं निशावसाने नलिनीव पङ्कजम् ।।[45]

वंशस्थ छन्द का कालिदास के रूपकों में इस प्रकार प्रयोग मिलता है-

मालविकाग्निमित्रम्- 3/15 **विक्रमोर्वशीयम्-** 1/11, 3/12, 3/13, 4/7, 4/37, 4/39 **अभिज्ञानशाकुन्तलम्-** 1/18, 1/22, 1/23, 3/11, 4/1, 5/12, 5/15, 5/17, 6/13, 6/18, 6/29, 7/10, 7/16, 7/30

वसन्ततिलक छन्द- कालिदास का वसन्ततिलक छन्द प्रिय छन्द है, जिसका प्रयोग वे अपनी कृतियों में किये हैं। छन्दोमंजरी में वसन्ततिलका छन्द का लक्षण इस प्रकार दिया गया है- **ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौगः।**[46] अर्थात् जिसके चारों चरणों में क्रमशः तगण, भगण, जगण, जगण और अन्त में दो गुरु हों तो वसन्ततिलक छन्द कहलाता है। यथा-

ऽऽ। ऽ । ।ऽ। ।ऽ।ऽऽ

द्वारे नियुक्तपुरुषाभिमतप्रवेशः सिंहासनान्तिकचरेणसहोपसर्पन् ।

तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टिपातैर्वाक्यादृतेपुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि ।।[47]

यहाँ पर क्रमशः तगण, भगण और दो जगण तथा अन्त में दो गुरु वर्ण का प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ पर वसन्ततिलक छन्द का प्रयोग हुआ है। इसका प्रयोग कालिदास के रूपकों में इस प्रकार मिलता है।

मालविकाग्निमित्रम्- 3/15, 4/9, 5/3, 5/10 **विक्रमोर्वशीयम्-** 1/4, 2/13, 2/15, 3/19, 3/20, 4/6, 4/11, 4/15, 5/9, 5/15, 5/16, 5/19 **अभिज्ञानशाकुन्तलम्-** 1/8, 1/27, 1/31,/ 2/9, 2/12, 3/8, 3/18, 3/24, 4/2, 4/3, 4/11, 4/13, 4/14, 4/15, 4/20, 5/2, 5/3, 5/6, 5/22, 5/23, 6/12, 6/16, 6/20, 6/25, 7/4, 7/6, 7/17, 7/25, 7/26, 7/32

वियोगिनी- कालिदास वियोगिनी छन्द का भी प्रयोग अपने रूपकों में किये हैं। इस छन्द का लक्षण इस प्रकार दिया गया है-**विषमे ससजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी।**[48]

उदाहरण-

।।ऽ । ।ऽऽऽ ।ऽ ।।ऽऽ ।।ऽ ।ऽ ।ऽ

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः समयोधितो जनः ।

परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन य गृह्यतां वचः ।[49]

विक्रमोर्वशीयम्- 4/12 अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 4/1, 7/1

शार्दूलविक्रीडितम्- कालिदास के मान्य छन्दों में मान्य छन्द शार्दूलविक्रीडित छन्द है। लक्षण शास्त्रों में इस छन्द का प्रकार दिया गया है- **सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।**[50] अर्थात् जिसके चारों चरणों में क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण, तगण तगण और गुरु वर्ण हो तो वहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द होता है। यथा-

ऽऽऽ ।।ऽ ।ऽ। ।।ऽ ऽऽ। ऽऽ।ऽ

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यंभिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्।।[51]

यहाँ पर क्रमशः शार्दूलविक्रीडित छन्द का लक्षण घटित हो रहा है। अन्य रूपकों में यह छन्द द्रष्टव्य है-

मालविकाग्निमित्रम्- 2/3, 3/5, 4/15 **विक्रमोर्वशीयम्-** 1/1, 1/5, 1/10, 2/7, 2/19, 2/22, 3/2, 3/15, 4/2, 2/25, 2/38 **अभिज्ञानशाकुन्तलम्-** 1/14, 1/30, 2/2, 2/3, 2/7, 2/6, 3/7, 3/23, 4/5, 4/6, 4/9, 4/17, 4/18, 5/9, 6/4, 6/5, 6/17, 7/8, 7/11, 7/12, 7/27

शालिनी- कालिदास शालिनी छन्द के प्रयोगकर्ता हैं। इस छन्द का लक्षण छन्दोमंजरी में इस प्रकार दिया गया है- **मात्तै गौ चेच्छालिनी वेदलोकेः।**[52] अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में मगण, तगण, तगण, दो गुरु हो एवं जिसके चार तथा सात अक्षरों में यति हो उसको शालिनी वृत्त कहते है। कालिदास के रूपकों में इसका उदाहरण इस प्रकार दिया गया है-

ऽ ऽ ऽ ऽऽ। ऽऽ। ऽऽ

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यनि बाला बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।
स्वी संस्थानं चाप्यसरस्तीर्थमारा दुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम।।[53]

मालविकाग्नित्रिम् में भी इसका प्रयोग मिलता है-

नायं देव्या भाजनत्वं न नेयः सत्काराणामीदृशायामशोकः।
यः सावज्ञो माधवश्रीनियोगे पुष्पैः शंसत्यादरं त्वरप्रयत्नो।।[54]

शिखरिणी छन्द- छन्दों में शिखरणी छन्द का विशेष महत्त्व है। जिसके विषय में गंगादास ने इस प्रकार कहा है- **रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी।**[55] अर्थात् जिसके चारों चरणों में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण लघु और गुरु वर्ण हो उसको शिखरिणी नामक छन्द कहते हैं। इस छन्द में छः और ग्यारह वर्णों पर यति होती है। मालविकाग्निमित्रम् में इसका प्रयोग इस प्रकार किया गया है-

।ऽऽ ऽऽऽ।।। ।।ऽ ऽ।। ।ऽ

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गन सुखे
भवेत्सास्रं चक्षु क्षणमपि न सा दृश्यत इति।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्तं निर्वाणे हृदय व्रजसि किम्।।[56]

शिखरणी छन्द के अनुसार यहाँ गुणों का प्रयोग किया जाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम में इस छन्द का प्रयोग अधोलिखित है- 1/9, 1/24, 2/10, 3/6, 5/10, 6/9, 7/33

स्रग्धराछन्द- कालिदास अपने रूपकों में स्रग्धरा छन्द प्रयोग किये हैं। छन्दोमंजरी में इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है- **म्रभ्नैर्याणां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।**[57] अर्थात् जिसके चारों चरणों में क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण हों उसको स्रग्धरा नामक छन्द कहते हैं। इसमें सात, सात, सात वर्णों पर यति होती है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रयोग इस प्रकार है-

ऽऽऽ ऽ।ऽऽ।। ।।।।ऽ ऽ।ऽऽ । ऽऽ

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहिति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिताव्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीज प्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।[58]

मालविकाग्निमित्रम् 2/12 और अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/7 में स्रग्धरा छन्द का प्रयोग किया गया है।

हरिणी छन्द- कालिदास के रूपकों में हरिणी छन्द भी मिलता है। लक्षण इस प्रकार है- **नसमरसला गः षदुर्वेदैहयैर्हरिणी मता।**[59] अर्थात् जिसके चारों चरणों में क्रमशः नगण, सगण, मगण, रगण, सगण, लघु, और गुरुवर्ण हो तो उसको हरिणी छन्द कहते हैं। इसमें छः और सात वर्णों पर यति होती है हरिणीछन्द का। विक्रमोर्वशीयम् में उदाहरण इस प्रकार है-

।।। ।।ऽ ऽऽऽ ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ

हृदयमिषुभिः कामस्यान्त सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभेनिद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्।
न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां
मम नयनयोरुद्वास्पत्वं सखे न भविष्यति।।[60]

यहाँ पर क्रमशः नगण, सगण, मगण, रगण, सगण और लघु का प्रत्येक चरण में प्रयोग हुआ है। कालिदास के रूपकों में इस छन्द का प्रयोग इस प्रकार है-

मालविकाग्निमित्रम्- 4/11, 5/1, 5/2 **विक्रमोर्वशीयम्-** 3/10, 4/1, 4/20, 5/18

अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 3/10, 4/19, 7/24

कालिदास के रूपकों में अन्य छन्द भी मिलते हैं। यथा इन्द्रवज्रा[61], पृथ्वी[62], औपच्छन्दासिक[63] और मंञ्जुभाषिणी[64] छन्द का प्रयोग भी मिलता है। इस प्रकार कालिदास के रूपकों में कुल उन्तीस छन्दों का प्रयोग किया गया है। इन छन्दों के कारण ही रूपक की गेयता प्रकट होती है। रूपक के सम्बन्ध में देखने और सुनने की जो बात कही जाती है, उसमें छन्दों का श्रवण ही महत्त्वपूर्ण है। जिनके श्रवण मात्र से अन्तस् चमत्कृत हो जाता है।

सन्दर्भ -

1. *वृत्तरत्नाकर 1/13, पदैः पादख्यैर्घटितं पद्यम्*
2. *छन्दः परिमल, मात्राऽक्षरसंख्यया नियता वाक्छन्दः*
3. *मन्दार-मरन्द चम्पू, 1/9, छन्दसाग्रथितः शब्दः पाद इत्याभिधीयते*

4. शतपथ ब्राह्मण, 9/2/3/44

5. जैमिनीय ब्राह्मण, 1/280

6. ताण्ड्य ब्राह्मण, 6/9/26

7. पाणिनीय शिक्षा, 41

8. ऐतरेय आरण्यक, 2/5

9. निरुक्त,1/3/7

10. नाट्यशास्त्र, 14/15

11. वही, 14/47

12. काव्यादर्श 1/12

13. वही, 1/11, पद्यं चतुष्पदी। नाट्यशास्त्र 14/44

14. नाट्यशास्त्र, 14/84

15. वही, 14/84-88

16. छन्दोमंजरी, 1/8

17. छन्दोमन्दाकिनी, श्रीगुरुप्रसादशास्त्री, 14

18. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/5

19. छन्दोमंजरी, 3/4

20. मालविकाग्निमित्रम्, 3/20

21. छन्दोमंजरी, 5/12

22. विक्रमोर्वशीयम्, 1/2

23. छन्दोमंजरी, द्वितीयस्तबक

24. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5/5

25. छन्दोमंजरी, द्वितीयस्तबक, पृ.51

26. विक्रमोर्वशीयम्, 2/9

27. छन्दोमंजरी, चतुर्थस्तबक, पृ.135

28. मालविकाग्निमित्रम्, 4/6

29. छन्दोमंजरी, तृतीयस्तबक, पृ.129

30. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6/11

31. छन्दोमंजरी, 2/13, पृ.57

32. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6/27

33. छन्दोमंजरी, द्वितीयस्तबक, पृ.87

34. विक्रमोर्वशीयम्, 1/9

35. छन्दोमंजरी, 5, पृ.145

36. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 3/21

37. छन्दोमंजरी, 5, पृ.72

38. विक्रमोर्वशीयम्, 2/6
39. छन्दोमंजरी, 2, पृ.41
40. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 7/18
41. छन्दोमंजरी, द्वितीयस्तबक, पृ.57
42. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 7/35
43. मालविकाग्निमित्रम्, 4/16
44. छन्दोमंजरी, द्वितीयस्तबक, पृ.46
45. विक्रमोर्वशीयम्, 1/6
46. छन्दोमंजरी, द्वितीयस्तबक, पृ.65
47. मालविकाग्निमित्रम्, 1/12
48. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चौखम्बा ओरयन्टालिया, वारणसी, पृ.509
49. वही
50. छन्दोमंजरी, 2, पृ.100
51. मालविकाग्निमित्रम्, 1/4
52. छन्दोमंजरी, द्वितीयस्तबक, पृ.38
53. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5/30
54. मालविकाग्निमित्रम्, 5/8
55. छन्दोमंजरी, द्वितीयस्तबक, पृ.84
56. मालविकाग्निमित्रम्, 3/1
57. छन्दोमंजरी, द्वितीयस्तबक, पृ.108
58. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/1
59. छन्दोमंजरी, द्वितीयस्तबक, पृ.88
60. विक्रमोर्वशीयम्, 2/10
61. वही, 4/35
62. मालविकाग्निमित्रम्, 3/17, विक्रमोर्वशीयम्, 2/11
63. विक्रमोर्वशीयम्, 3/7, 4/3, 4/17, मालविकाग्निमित्रम्, 3/12
64. वही, 4/33, 4/43

लेखक परिचय

आनन्दप्रकाश त्रिपाठी	-	अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
संगीता दास	-	शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तरप्रदेश, 221005.
शिल्पा सिंह	-	असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
कपिल देव **हरेकृष्ण शास्त्री**	-	सहायक आचार्य, संस्कृत पालि- प्राकृत विभाग, कला संकाय, महाराजा सयाजीराव वि.वि. बरौदा गुजरात, 390002
रञ्जनलता	-	(सहायक आचार्य) संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
राजकिशोर आर्य	-	सहायक आचार्य, संहिता एवं संस्कृत विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
चन्दन लाल गुप्ता	-	असिस्टेंट प्रोफेसर-संस्कृत पोस्ट ग्रेजुएट गवर्नमेंट कॉलेज फॉर गर्ल्स, सेक्टर-11, चण्डीगढ़
श्रीलेखा चौबे	-	एसोसिएट प्रोफेसर (संस्कृत) बी.पी.एस.इंस्टीट्यूट ऑफ हायर लर्निंग (भक्त फूल सिंह महिला विश्वविद्यालय) खानपुरकलां, सोनीपत।
ऋचा मुक्ता	-	एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत विभाग ए.पी. सेन मेमोरियल गर्ल्स पी.जी. कॉलेज, लखनऊ (उ.प्र.)
शालिनी	-	शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
स्मिता दुबे	-	शोध-छात्रा, संस्कृत विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी
मिन्टु मण्डल	-	शोधच्छात्र, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
सर्वेन्द्र कुमार	-	सहायकाचार्य, संस्कृत-विभाग, देशबन्धु महाविद्यालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
शुभ्रजित् सेन	-	सहायक अध्यापक, संस्कृत संकाय, गौडवङ्ग विश्वविद्यालय, मालदा, प.व.
प्रवीन कुमारी	-	सहायकाचार्या, श्यामा प्रसाद मुखर्जी महिला महाविद्यालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

निकिता यादव	-	सहायक प्राध्यापक - संस्कृत अध्ययन शाला एवं शोध केंद्र महाराजा छत्रसाल बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, छतरपुर मध्यप्रदेश
बाबूलाल मीना	-	अध्यक्ष स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग एवं शोध केन्द्र महारानी श्री जया राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भरतपुर (राजस्थान)
रामहेत गौतम	-	सहायक प्राध्यापक, संस्कृत विभाग डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर म.प्र.
रश्मि यादव	-	सहायक आचार्या, संस्कृत. पालि. प्राकृत एवं प्राच्य भाषा विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
उस्मा यादव एवं विष्णुकान्त त्रिपाठी	-	असिस्टेंट प्रोफेसर, काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही -221304 (उ.प्र.)
सुशान्त कुमार पाण्डेय	-	शोधार्थी हिन्दी विभाग, कला संकायकाशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
गटुलाल पाटीदार	-	एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला- (हि.प्र.) एसोसिएट फेलो, भारतीय उच्य अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला- (हि.प्र.)
रिपन कुमार	-	सहायक आचार्य, संस्कृत, स्वामी विवेकानंद राजकीय महाविद्यालय घुमारवीं, बिलासपुर- (हि.प्र.)
अनिन्द्य चौधुरी	-	सहायक अध्यापक, संस्कृत विभाग गौडवङ्ग विश्वविद्यालय, मालदा, पश्चिम बंगाल
हेमराज पलसानिया	-	सहायक आचार्य, संस्कृत बाबा गंगादास राजकीय महिला महाविद्यालय शाहपुरा, जयपुर (राजस्थान)
अफरोज बेगम	-	असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर म.प्र.
विकास शर्मा	-	सहायक प्राध्यापक, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्य भाषा विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
सुकदेव वाजपेयी	-	एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, स्वामी विवेकानंद वि.वि., सागर म.प्र.
हाईतोरंग्बे जेलिअंग	-	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, उ.प्र.

आशा सिंह रावत	-	अध्यक्ष स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग एवं शोध केन्द्र शासकीय के.आर.जी.पी.जी. ऑटोनोमस महाविद्यालय ग्वालियर (म.प्र)
ऋचा	-	असिस्टेन्ट प्रोफेसर-संस्कृत काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय ज्ञानपुर, भदोही
पूनम सिंह	-	डी.ए.वी. पी.जी. कालेज, वाराणसी।
सचिन देव द्विवेदी	-	सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (म.प्र.)
शिवानी कुमारी एवं शांतिलाल सालवी	-	शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तरप्रदेश-221005
राघवेन्द्र शर्मा	-	अध्यक्ष साहित्य विभाग शास. दू.श्री.वै. स्नातकोत्तर संस्कृत महाविद्यालय रायपुर (छत्तीसगढ़)
हेमन्त शर्मा	-	सहायक प्राध्यापक संस्कृत साहित्य शासकीय दू.श्री.वै. संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)
शैलेन्द्र कुमार साहू	-	असिस्टेंट प्रोफेसर साहित्य विभाग संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
सूर्य प्रकाश शुक्ल	-	असिस्टेण्ट प्रोफेसर (संस्कृत) राजकीय महाविद्यालय पलिया कलां लखीमपुर खीरी (उ.प्र.)
शशिकुमार सिंह	-	सहायक आचार्य- संस्कृत विभाग डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर (म.प्र.)
अजय यादव	-	सहायक आचार्य संस्कृत विभाग राजकीय महाविद्यालय, सैदाबाद, प्रयागराज
हेमन्त कुमार चतुर्वेदी	-	सहायक आचार्य, संस्कृत साहित्य बी.जी.डी. राजकीय महिला महाविद्यालय, शाहपुरा (जयपुर) राजस्थान
आदित्य राज	-	शोधार्थी, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
किरण आर्या	-	सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर वि.वि. सागर (म.प्र.)
नौनिहाल गौतम	-	सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003

सुधीर कुमार	-	प्रोफेसर एवं पूर्व संकायाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
मौहर सिंह मीणा	-	एशोसियेट प्रोफेसर, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
रिया दत्ता	-	शोधच्छात्रा- संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
घनश्याम यादव	-	सहायक आचार्य, संस्कृत श्यामा प्रसाद मुखर्जी महिला महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
सन्दीप कुमार यादव	-	सहायक आचार्य संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रभात कुमार	-	सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, नेहरू ग्राम भारती मानित् विश्वविद्यालय, प्रयागराज
सञ्जय कुमार	-	सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003
प्रो. सुकदेव भोई	-	आचार्य, साहित्य विभाग श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, दिल्ली

संस्कृत विभाग

दशदिवसीय संस्कृत संभाषण
प्रशिक्षण शिविर
26 सितम्बर से 5 अक्टूबर 2024

ISSN : 2229-5550. UGC Care List Journal, S.N.17

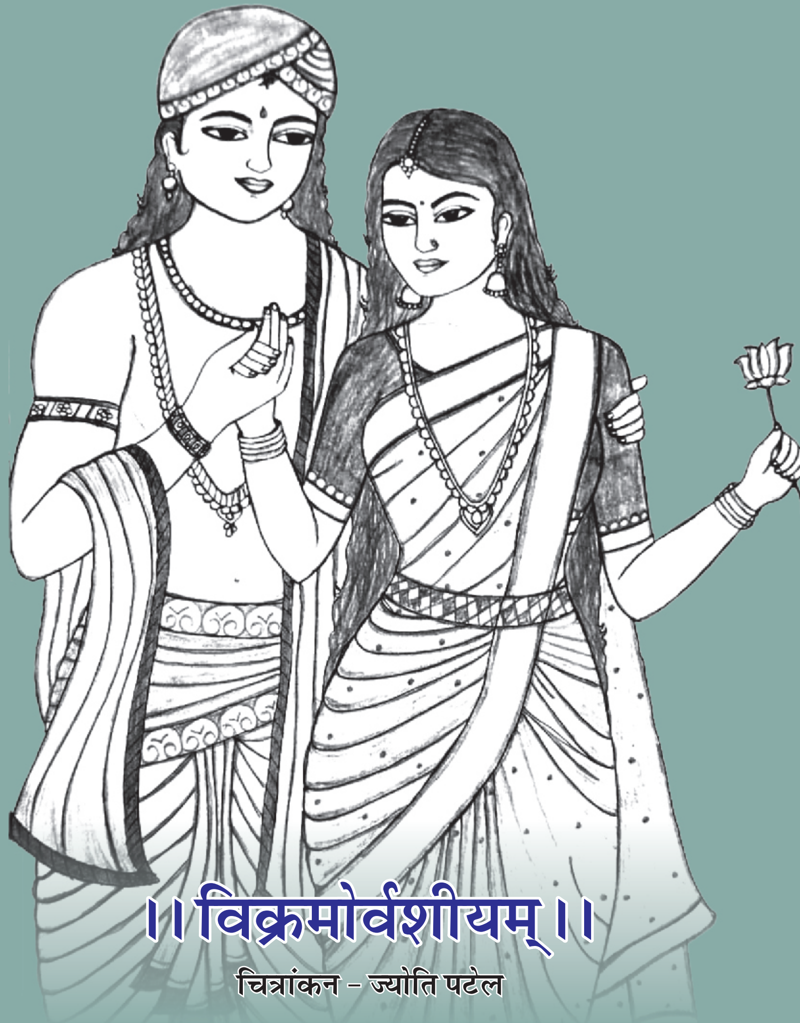

।।विक्रमोर्वशीयम्।।

चित्रांकन – ज्योति पटेल

प्रकाशक

नाट्य परिषद्, संस्कृत विभाग

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

सागर (म. प्र.) पिनकोड - 470003